इकाई 1 सामाजिक रूपांतरण और समस्याएँ

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 सामाजिक रूपांतरण की अवधारणा

1.2.1 आधुनिकीकरण का प्रारूप

1.2.2 मार्क्सवादी क्रांतिकारी प्रारूप

1.3 रूपांतरण और सामाजिक समस्याएँ

1.3.1 परंपरागत और आधुनिक समाज

1.3.2 रूपांतरण के पूर्व और पश्चात्

1.3.3 श्रृंखलाबद्धता के उदाहरण

1.4 सामाजिक समस्या की अवधारणा

1.4.1 जनसाधारण का प्रतिबोधन

1.4.2 सामाजिक आदर्श और यथार्थ

1.4.3 सार्थक संख्या द्वारा मान्यता

1.5 परिभाषाएँ

1.5.1 सामाजिक समस्याओं की विशेषताएँ

1.5.2 सामाजिक समस्याओं के प्रकार

1.6 सामाजिक समस्याएँ और सामाजिक आंदोलन

1.6.1 क्रियान्वयन में अवरोध

1.6.2 आंदोलन के सोपान

1.7 सामाजिक समस्याएँ और सामाजिक नीति

1.7.1 नीति, विचारधारा और कल्याण

1.8 सारांश

1.9 शब्दावली

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य सामाजिक रूपांतरण और सामाजिक समस्याओं के मध्य संबंध का वर्णन करना है। आपके द्वारा इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति संभव होगी :

- सामाजिक रूपांतरण, इसके दो प्रारूपों – "आधुनिकीकरण" तथा "क्रांति" की अवधारणा को सीखना और उनका समालोचनात्मक मूल्यांकन;
- सामाजिक रूपांतरण और सामाजिक समस्याओं के मध्य संबंध को समझना;
- सामाजिक समस्याओं की अवधारणा और संबंधित प्रश्नों का वर्णन;
- सामाजिक समस्याओं की सुस्पष्ट परिभाषाएँ, विशेषताएँ और प्रकार;

- सामाजिक समस्याओं, संस्थाओं और आंदोलनों के मध्य श्रृंखलाबद्धता का विवेचन;. और
- रूपांतरण और समस्याओं के संबंध में नीति-संबंधी निहित आशय को स्पष्ट करना।

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई की विषयवस्तु सामाजिक रूपांतरण और सामाजिक समस्याएँ हैं। निःसंदेह आपको इन दोनों प्रक्रियाओं के मध्य के संबंध को समझना है। समाज और सामाजिक समस्याओं में से कोई भी स्थिर नहीं है। सामाजिक समस्याएँ घनिष्ठ रूप से सामाजिक संरचना, विचारधाराओं, मूल्यों, अभिवृत्तियों, संस्थाओं, शक्ति, प्राधिकार और समाज के हितों से जुड़ी हुई हैं। सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया सामाजिक जीवन के उपर्युक्त विभिन्न पक्षों में परिवर्तन लाती है और साथ ही साथ नयी सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न करती है।

सर्वप्रथम, हम सामाजिक रूपांतरण की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को समझने की चेष्टा करेंगे। समाजशास्त्र के प्रारंभ में "उद्‌विकास" और "प्रगति" की अवधारणाएँ समाज के गत्यात्मक पक्ष को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होती थीं। धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि ये अवधारणाएँ "मूल्यों से भारित" है इसलिए इनके स्थान पर "सामाजिक परिवतर्न" की अवधारणा का प्रयोग किया गया जिसे अधिक निरपेक्ष तथा मूल्यों से स्वतंत्र माना गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् सामाजिक विज्ञानों की शब्दावली में "विकास " और "आधुनिकीकरण " की अवधारणाओं ने एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया। यह दोनों अवधारणाएँ विकसित, औद्योगीकृत, पूँजीवादी और लोकतांत्रिक समाजों की विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित समाज वैज्ञानिकों के एक समूह ने "आधुनिकीकरण" के स्थान पर "क्रांति" के प्रयोग को वरीयता दी। ये लोग पूँजीवादी प्रणाली का कायाकल्प करना चाहते थे।

"सामाजिक रूपांतरण" एक विस्तृत अवधारणा है जो सामाजिक गत्यात्मकता को दर्शाती है। सामाजिक रूपांतरण की अवधारणा में एक ओर उद्‌विकास, प्रगति और परिवर्तन तथा दूसरी ओर विकास, आधुनिकीकरण और क्रांति का अर्थ समाविष्ट है।

सामाजिक रूपांतरण और सामाजिक समस्याएँ एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हैं। समाज स्थिर नहीं है इसके उपरांत भी समाज के प्रभुत्वशील समूह किसी भी तरह समाज पर अपनी पकड़ बनाए रखने की ओर दमनकारी विधियों द्वारा अपने निहित स्वार्थों की सुरक्षा का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यदि नकारात्मक रूप से अपनी बात कही जाए तो, यदि सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया का दमन किया जाता है तो यह अनेक नई समस्याएँ उत्पन्न करती है। दूसरी ओर यदि सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से चलती रहती है तो, पुरानी व्यवस्था के अवनति और नई व्यवस्था के उद्‌भव के बीच संक्रमण काल में समाज सामंजस्य की समस्याओं का सामना करता है।

1.2 सामाजिक रूपांतरण की अवधारणा

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् "सामाजिक रूपांतरण" की अवधारणा का सामाजिक विज्ञानों में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस अवधारणा का शाब्दिक अर्थ "परिवर्तनशील स्वरूप", "प्रतीति" या "लक्षण" अथवा मान्यताओं में बदलाव से है। कार्ल मार्क्स द्वारा विशेष रूप से अपनी पुस्तक "जर्मन आइडियोलॉजी" (1846) में विशेष रूप से इस अवधारणा को प्रयुक्त किया गया इसका आशय सामाजिक परिवर्तन के उस पक्ष से है जो त्वरित परिवर्तन या

क्रांति की तरफ बढ़ते हुए समाज में अंतर्विरोधों की वृद्धि को दर्शाता है। मार्क्स अनुभव करता है कि सामाजिक विकास के कुछ सोपानों पर उत्पादन की भौतिक शक्तियों और उत्पादन के प्रचलित नियमों के मध्य संघर्ष होता है। इन अंतर्विरोधों पर आधारित संघर्ष सामाजिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त करता है। सामाजिक क्रांति की इस अवस्था को मार्क्स ने त्वरित सामाजिक रूपांतरण की अवधि कहा है। सामाजिक रूपांतरण समाज के स्वरूप में परिवर्तन या नवीन विरचनाओं की उत्पत्ति को निर्दिष्ट करता है। रजनी कोठारी (1988) का दृष्टिकोण है कि सामाजिक रूपांतरण के "आधुनिकीकरण" तथा "क्रांति" दो मुख्य प्रारूप है। इन्हें निम्नलिखित प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है:

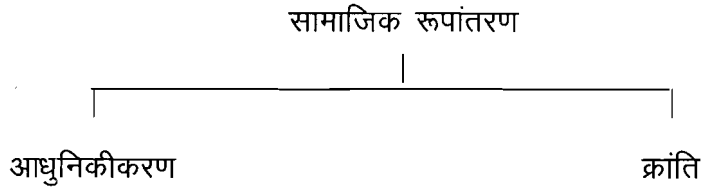

हम रूपांतरण के इन दोनों प्रारूपों की बारी-बारी से विवेचना करेंगे।

1.2.1 आधुनिकीकरण का प्रारूप

आधुनिकीकरण एक अवधारणा के रूप में पश्चिमी यूरोप, तथा उत्तरी अमेरिका के औद्योगिक, पूँजीवादी और लोकतांत्रिक समाजों के विचारधाराओं तथा मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। आधुनिकीकृत संरचना के विपरीत एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका की सामाजिक संरचना, कृषीय, परंपरागत, प्रथा-आधारित तथा प्रौद्योगिक और आर्थिक रूप से पिछड़ी हुई है। जैसा कि डेनियल लर्नर (1964) ने स्पष्ट किया है, आधुनिकीकरण साक्षरता, राजनैतिक सहभागिता, नगरीकरण, व्यावसायिक गतिशीलता और समानुभूति का द्योतक है। आधुनिकीकरण की दूसरी विशेषताएँ मुक्त बाजार, औद्योगिकरण, लोकतांत्रिक, राज्य और आधुनिक शिक्षा है। आधुनिकीकरण के पाँच प्रमुख आयाम यथा – प्रौद्यागिकी, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक हैं। अपने घटकों के साथ ये निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

आधुनिकीकरण

प्रौद्योगिक	**आर्थिक**	**राजनीतिक**	**सामाजिक**	**मनोवैज्ञानिक**
• ऊर्जा के निर्जीव स्रोत	• बाज़ार	• स्वतंत्रता	• गतिशीलता	• सर्वदेशीय-मन
• आधुनिक यंत्र	• पूँजी	• व्यक्तिवादिता	• व्यावसायिक विभिन्नीकरण	• उपलब्धियाँ
• भारी प्रौद्योगिकी	• वस्तु या जिन्स • उपभोगवादिता	• लोकतंत्र • सहभागिता	• सार्वभौमवाद • विशिष्टता • नगरीय-औद्योगिक संस्कृति • साक्षरता और आधुनिक शिक्षा	• पूर्वाभिमुखीकरण • समानुभूति

आधुनिकीकरण के प्रारूप में रूपांतरण को लगातार, विकासीय, क्रमिक और सीधा माना जाता है। इस क्रमिक प्रक्रिया में परिवर्तन एक दीर्घ अवधि का परिणाम है। यह उल्लेखनीय है कि आधुनिकीकरण की प्रगति समाज में संरचनात्मक रूपांतरण को चित्रित करती है।

जैसा कि बताया जा चुका है, विकास का आधुनिकीकरण प्रारूप का औद्योगिकी और औद्योगिक समाज की प्रक्रिया साथ घनिष्ठ संबंध है। हम बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हैं। औद्यागिक समाज को भी पिछले कई दशकों से अद्‌भुत परिवर्तनों से गुजरना पड़ा।

1.2.2 मार्क्सवादी क्रांतिकारी प्रारूप

इस प्रारूप में परिवर्तन मनुष्य की मध्यस्थता द्वारा लाया जाता है। जैसा कि ऐंग्लस ने निर्दिष्ट किया है कि मनुष्य ही वह एकमात्र प्राणी है जो अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप रूपांतरण लाने में समर्थ है।

फ्रांस (1779) तथा अमेरिका (1789) की क्रांति से पृथक इस शताब्दी में सोवियत संघ (1917) तथा चीन (1949) में क्रांतिकारी सामाजिक रूपांतरण का प्रभावशाली परीक्षण किया गया। इस प्रारूप के प्रतिपादकों के अनुसार औद्योगिक पूँजीवादी प्रणाली मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण से आक्रांत है। इसने अपूर्व सामाजिक विषमताओं को उत्पन्न किया। औद्योगिकीकरण, भारी प्रौद्योगिकी के उपयोग तथा व्यापक पैमाने पर उत्पादन के होते हुए भी, आधुनिकीकरण के पूँजीवादी प्रारूप में मनुष्य ने अपनी गरिमा खो दी है। क्रांतिकारी रूपांतरण ही विषमता, शोषण, बेकारी तथा अमानवीयकरण का उन्मूलन कर सकता है।

मार्क्सवाद-लेनिनवादी क्रांतिकारी रूपांतरण की अवधारणा का अंतिम लक्ष्य समानता पर आधारित वर्गरहित तथा राज्यविहीन समाज का निर्माण करना है। क्रांति के पश्चात् संक्रमण की अवस्था में, क्रांतिकारी रूपांतरण पर आधारित समाज की निम्नांकित विशेषताओं की विशेष रूप से चर्चा की जा सकती है :

रूपांतरण के क्रांतिकारी प्रारूप पर आधारित समाज

(संक्रमणकालीन अवस्था)

उत्पादन के साधनों का सामूहिक स्वामित्व	*सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद पर आधारित शक्ति-संरचना*	*एकमात्र राजनीतिक दल (साम्यवादी दल) और उसके पोलिटब्यूरो पर आधारित निर्णय*

कोष्ठक 1.1

संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण

भारतीय प्रसंग में, रूपांतरण की दो प्रक्रियाओं – "संस्कृतिकरण" और "पश्चिमीकरण" के मध्य एक स्पष्ट भेद किया जा सकता है। श्रीनिवास द्वारा प्रयुक्त संस्कृतिकरण यह निर्दिष्ट करता है कि उच्च जातियों के आचरणों और प्रथाओं का निम्न जातियों द्वारा किस प्रकार अनुकरण किया जाता है, जबकि पश्चिमीकरण का आशय भारतीय समाज पर पश्चिमी संस्कृति, मूल्यों और संस्थाओं के संघात से है। आधुनिकीकरण की मूलभूत विशेषताएँ पश्चिमीकरण की विशेषताओं के सदृश है।

इन प्रारूपों का समालोचनात्मक मूल्यांकन

मानव समाज ने रूपांतरण के दोनों प्रारूपों – "आधुनिकीकरण" तथा "क्रांति" का अनुभव किया है। जैसा कि राजनी कोठारी ने उल्लेख किया है मानव ने इन दोनो प्रारूपों के मध्य चलने वाली तीव्र प्रतियोगिता को देखा है जिससे शीत युद्ध, विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्र, पारमाणविक अस्त्रों की धमकी, विश्व का दो शक्ति समूहों में विभाजन (सोवियत संघ के विघटन से पूर्व) और दूसरों पर प्रभुत्व स्थापन जैसी विश्वव्यापी समस्याओं का जन्म हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय चिंतन पूर्ण रूप से आशावादी था। प्रगति में इसकी पूर्ण आस्था थी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जोसेफ जे. स्पेंग्लर (डिक्लाइन ऑफ द वेस्ट) तथा पी.ए. सोरोकिन (सोशियो-कल्चरल डाइनामिक्स) द्वारा पश्चिमी सभ्यता, इसके विकास, प्रतिमान और भौतिक उन्नति के विरोध में स्वर उठाए गए। इन लेखकों ने बल दिया है कि पश्चिमी सभ्यता जो कि भौतिकवाद, औद्योगिकीकरण और आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रतिनिधित्व करती है, अवनति की ओर बढ़ रही है।

कार्ल मानहाइम (मैन एंड सोसायटी इन एन एज़ ऑपा रिक्न्स्ट्रक्शन), एरिक फ्राम (सेन सोसायटी) और पी.एल. बर्गर तथा अन्य (होमलेस माइन्ड) ने आधुनिकीकरण के औद्योगिक पूँजीवादी प्रतिमान की अवधारणा का गहन विश्लेषण किया है। उनका दृष्टिकोण है कि पश्चिम के औद्योगिकीकृत पूँजीवादी समाज निम्नलिखित दिशाओं की ओर बढ़ रहे हैं :

- अवनति,
- विघटन और विसंगठन,
- सांस्कृतिक मूल-हीनता,
- परिवार और धर्म जैसी संस्थाओं का दुर्बल होना,
- व्यक्तियों की स्वायत्तता में ह्रास, तथा
- एक जन-समाज का उद्भव।

क्रांति के प्रतिफल के रूप में साम्यवादी क्रियाकलापों, इसकी उत्पादन व्यवस्था, आर्थिक संगठन और शक्ति संरचना की क्रुश्चेव, ज़िलास और गोर्वाचेव ने आलोचना की। एक प्रणाली के रूप में इसने अधिनायकवाद, पुलिस आतंक, देश निष्कासन, मानवाधिकारों का हनन, उत्पादन में गिरावट, अर्थव्यवस्था का पतन तथा एक दलीय पदाधिकारियों पर आधारित नए वर्ग एवं राज्य अधिकारियों को उत्पन्न किया। रूपांतरण के दोनों प्रारूप हिंसा, संसाधनों का असमान वितरण, निर्धनता, बेकारी जैसी सामाजिक समस्याओं का समाधान न पा सके। हमें यह ध्यान मे रखना है कि जब समाज एक संरचना से दूसरी संरचना की ओर बढ़ना प्रारंभ करता है तो कुछ समस्याएँ निश्चित रूप से उत्पन्न होती हैं। समाज जब एक निर्माण से दूसरे निर्माण की ओर अथवा रूपांतरण के एक सोपान से दूसरे सोपान की ओर बढ़ता है तो इन दोनों स्थितियों के मध्य की अवधि "संक्रमण" की स्थिति मानी जाती है। किसी भी समाज में संक्रमण का काल सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सामंजस्य, सांस्कृतिक समायोजन और आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्याएँ उत्पन्न करता है। समाज चुनौतियों और प्रत्युत्तर के प्रतिरूप पर आगे बढ़ता है। जब कभी समाज पर कोई चुनौती आती है तब वह इसका प्रत्युत्तर देने की चेष्टा करता है। जब प्रत्युत्तर प्रभावी होता है तब सकारात्मक रूपांतरण तथा विकास होता है। जब सामाजिक समस्याएँ व्यापक मात्रा में होती हैं और प्रत्युत्तर चुनौतियों का सामना नहीं कर पाता तब समाज में अधोगामी अवस्था आती है। सरल शब्दों में कहा जाए तो सामाजिक समस्याएँ सामाजिक रूपांतरण का परिणाम है। सामाजिक समस्याओं के समाधान के प्रयत्न सामाजिक रूपांतरण को प्रारंभ कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

i) सामाजिक रूपांतरण के अर्थ को आठ पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) सामाजिक रूपांतरण के प्रारूपों का उल्लेख कीजिए तथा उनके द्वारा उत्पादित मुख्य समस्याओं की गणना आठ पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) पश्चिमी, भौतिकवादी, पूँजीवादी आधुनिकीकरण के प्रारूप के प्रमुख आलोचकों के नाम उनकी पुस्तकों के शीर्षक के साथ बताइए :

क) .....

.....

ख) .....

.....

ग) .....

.....

घ) .....

.....

च) .....

.....

iv) सामाजिक रूपांतरण के क्रांतिकारी प्रारूप की आलोचना पाँच पंक्तियों में लिखिए:

.....

.....

.....

.....

.....

1.3 रूपांतरण और सामाजिक समस्याएँ

रूपांतरण की प्रक्रिया में समाज परंपरागत संरचना से आधुनिक समाज संरचना की ओर अग्रसर होता है। विद्वानों ने भी उल्लेख किया है कि सूचना और संचार प्रौद्योगिकी के तीव्र प्रसार, औद्यागिक विकास और भौतिक संचार नेटवर्क इत्यादि के फलस्वरूप मानव समाज ज्यादा से ज्यादा सार्वभौमिक हो रहे हैं। इसके मध्य "संक्रमण" की अवस्था होती है जिसमें अनेकों समस्याएँ पाई जाती हैं।

1.3.1 परंपरागत और आधुनिक समाज

कृषि, ग्राम, लघुस्तरीय अविकसित प्रौद्योगिकी, प्रथाएँ और सरल सामाजिक संरचना, परंपरागत समाजों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। कहा जाता है कि परंपरागत समाजों में समाजिक संबंधों में और समस्याओं में तालमेल होता है। संस्थाओं, स्वीकृत प्रतिमानों तथा व्यवहार के प्रतिरूपों के मध्य अनुरूपता पाई जाती है। सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि प्रथाओं, जनशक्तियों और लोकाचारों द्वारा कार्य करती है। परंपरागत समाजों में प्रत्याशाएँ और उपलब्धियाँ घनिष्ठ सहसंबंध की ओर उन्मुख होती हैं।

आधुनिक समाज की मुख्य विशेषताएँ उद्योग, नगर, भारी प्रौद्योगिकी, विधि का शासन, लोकतंत्र और जटिल सामाजिक संरचनाएँ हैं। परंपरागत समाज से आधुनिक समाज की ओर रूपांतरग के फलस्वरूप नए सामाजिक संबंधों और नई सामाजिक भूमिका की शुरुआत, नए लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निर्धारित नए लक्ष्यों के पूर्ववर्ती व्यवहार को अप्रभावी बना देती है। इसकी तनावों और कुंठाओं में परिणति होती है। परिवर्तनों का सामना करने के लिए व्यवहार के नए प्रतिरूप उत्पन्न होते हैं। पुरानी स्थापित व्यवस्था परिवर्तित होती है तथा वहाँ भ्रॉति होती है। बहुत से सांस्कृतिक मदों में परिवर्तन (उदाहरण के लिए – प्रौद्योगिकी की स्वीकृति) का आशय जीवन में वैज्ञानिक अभिवृत्ति, कार्य के स्थान पर समय पालन, सामाजिक संगठनों के नवीन स्वरूपों जैसे – ट्रेड यूनियन की स्वीकृति से है जो परंपरागत मूल्यों से भिन्न हैं। रूपांतरण की अवस्था में लोगों को नई परिस्थितियों से सामंजस्य करने में समय लगता है। जिसमें पुरानी परिस्थितियों को पूरी तरह छोड़ा नहीं जाता और नवीन परिस्थितियों को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं जाता।

1.3.2 रूपांतरण के पूर्व और पश्चात्

जब कभी भी क्रमिक अथवा क्रांतिकारी रूपांतरण होता है तब समाज में कुछ निश्चित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। समझने के उद्देश्य से हम समाज के दो सोपानों – रूपांतरण के पूर्व और रूपांतरण के पश्चात् पर ध्यान देंगे। पूर्व-रूपांतरण की अवस्था में लोग अपनी जीवन शैली, सामाजिक संबंधों, प्रतिमानों, मूल्यों, उत्पादक व्यवस्था और उपभोग के तरीकों को विकसित कर लेते हैं। रूपांतरण के जरिए लोगों से यह आशा की जाती है कि वे नवीन

आवश्यकताओं से स्वतः समायोजित होंगे। संक्रमणकालीन स्थिति में लोग पुरानी आदतों को बदलने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।

इस बात की व्याख्या भारतीय समाज के उदाहरण से की जा सकती है। भारत ने अपनी स्वतंत्रता संघर्षों के रास्ते से – कभी क्रांतिकारी तरीकों द्वारा (उदाहरण को लिए सन् 1857 व 1942 का विद्रोह), तथा व्यापक रूप से उपनिवेशवाद के विरुद्ध शांतिपूर्ण किंतु दृढ़ प्रतिरोध द्वारा प्राप्त की। भारत एक प्राचीन सभ्यता होने के नाते कुछ परंपरागत संस्थाओं जैसे – जाति, संयुक्त परिवार और अस्पृश्यता से भी युक्त है। भारतीय समाज, परंपरागत सामाजिक संरचना से, आधुनिक सामाजिक संरचना की ओर बढ़ रहा है। वर्षों पुरानी परंपरागत संस्थाओं से अलग हटकर अब कुछ नयी संरचनाएँ संवैधानिक प्रावधानों जैसे आधुनिक राज्य संसदीय लोकतंत्र और समाज के नियोजित विकास हेतु बनाये संगठनों पर आधारित है। स्वतंत्रता के पश्चात संवैधानिक प्रावधानों द्वारा भारत में समाजिक रूपांतरण और नियोजित विकास, अस्पृश्यता उन्मूलन और न्यायोचित तथा समानता पर आधारित समाज की रचना हेतु सम्मिलित प्रयास किए जा रहे हैं। इन प्रयत्नों के होते हुए आज भी भारत के कई भागों में अस्पृश्यता किसी न किसी रूप में व्यवहारत है।

1.3.3 श्रृंखलाबद्धता के उदाहरण

सामाजिक रूपांतरण से कुछ समस्याएँ सीधे जुड़ी हैं। आधुनिक समाज में त्वरित आर्थिक विकास और औद्योगिकीकरण की प्रक्रियाएँ अपना स्थान लेने को बाध्य हैं। ये आधुनिकीकरण की सूचक हैं। लेकिन राज्य ही ये क्षेत्रीय असंतुलन, प्रदूषण, पारिस्थितिकी अपकर्ष, गंदी बस्तियों से जुड़ी-हिंसा, अपराध और दुराचार से संबंधित समस्याएँ भी उत्पन्न करती हैं।

माना जाता है कि लोकतंत्र सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करता है। यह वैधानिक और राजनीतिक समानता में विश्वास करता है। यह भी माना जाता है कि इससे मानव की गरिमा में वृद्धि हुई है। लेकिन दुर्भाग्यवश चुनाव ने जो कि लोकतंत्र का आवश्यक अंग है, भारत में क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता और जातिवाद को बढ़ावा दिया है। सम्पन्नता और अवकाश आधुनिक समाज के सूचक हैं। साथ ही ये अत्याधिक औद्योगिक समाजों एवं भारतीय समाज के धनाढ्य वर्ग में एकाकीपन, मद्यपान तथा मादक-द्रव्य व्यसन की समस्याएँ कर रहे हैं।

अभ्यास

एक कारखाने से प्रदूषण कैसे प्रभावित होता है? इस पर अपनी जानकारी के आधार पर दो पृष्ठों की टिप्पणी लिखिए।

1.4 सामाजिक समस्या की अवधारणा

सभी समाजों में कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं जो उन पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। सहज बुद्धि से सामाजिक समस्याएँ उन स्थितियों को माना जाता है जो समाज में विस्तृत रूप से फैली होती है और उस पर हानिकारक प्रभाव डालती है। यद्यपि यह बहुत सरल स्थिति नहीं है। एक समय में जिसे हानिकारक नहीं माना जाता उसे कुछ समय पश्चात् हानिकारक माना जा सकता है। धूम्रपान को बहुत समय तक गंभीर समस्या नहीं माना जाता था। अब स्वास्थ्य आपदाओं के प्रति बढ़ती जागरूकता से यह गंभीर चिंता का विषय बन गया है। ऐसा लगता है कि सामाजिक समस्याओं को समझना आसान है परंतु जब उनका समाधान करने का प्रयत्न किया है तो सामाजिक समस्याओं की जटिलताएँ प्रकट होती है।

एक समाज में जिसे सामाजिक समस्या माना जाता है, आवश्यक नहीं है कि उसे दूसरे समाज में उसी प्रकार समस्या माना जाए। यह प्रतिबोधन समाज में प्रतिमानों और मूल्यों पर आधारित होता है। कुछ समाजों में तलाक एक सामाजिक समस्या होती है, दूसरे समाजों में वह समस्या नहीं होती। इसी प्रकार से मद्यपान को भी ले सकते हैं। एक विस्तृत और विजातीय समाज में, इस संबंध में विभिन्न मत पाए जाते हैं। सभी समाजों में कुछ इस प्रकार के व्यवहार होते हैं, जिन्हें विचलनकारी या हानिकारक माना जाता है जैसे हत्या, बलात्कार, मानसिक रूग्णता। इन स्थितियों में कोई मूल्य-संघर्ष नहीं होता। हालांकि, भिन्न-भिन्न समाजों में इन समस्याओं के समाधान के रास्ते अलग-अलग होते हैं।

सामाजिक समस्याओं के अवधारणीकरण में बहुत से मुद्दे सम्मिलित होते हैं जिनका वर्णन निम्नवत है :

- किस सोपान पर कोई विशिष्ट दशा सामाजिक समस्या मानी जाती है?
- कैसे "क्या वास्तव में अस्तित्व में है" और "क्या होना चाहिए" के मध्य के अंतराल को निर्दिष्ट किया जाता है?
- सामाजिक समस्या के निर्धारण की कसौटी क्या है?

उपर्युक्त प्रश्न निम्नलिखित बिंदुओं से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं :

क) जनसाधारण का प्रतिबोधन

ख) सामाजिक आदर्श और यथार्थ

ग) एक सार्थक संख्या द्वारा मान्यता।

अब हम इन बिंदुओं पर बारी-बारी से विचार करेंगे।

कोष्ठक 1.2

संकट

संकट एक चिकित्साशास्त्रीय अवधारणा है जो रोगी की रुग्णता की नाजुक स्थिति को दर्शाता है। बहुत से समाजशास्त्री जैसे – कार्ल मॉनहाइम, एल्बॉट सोलोमन और बनोर्ड रोजनबर्ग आदि ने आधुनिक समाज की रुग्णता को स्पष्ट करने के लिए विघटन या विचलन के स्थान पर संकट की अवधारणा के प्रयोग को वरीयता दी है।

1.4.1 जनसाधारण का प्रतिबोधन

प्रायः एक सामाजिक दशा जो समाज के हित में नहीं है लम्बे अंतराल तक बिना किसी पहचान के अस्तित्व में बनी रह सकती है। ऐसी दशा तभी एक सामाजिक समस्या बनती है जब वह एक समस्या के रूप में देखी जाती है। निर्धनता बहुत समय से भारतीय समाज के साथ जुड़ी रही है लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही "गरीबी हटाओ" कार्यक्रम हमारी नियोजन प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण घटक बना।

जनसाधारण का प्रतिबोधन इस बात पर निर्भर करता है कि कोई समस्या कैसे दृष्टिगोचर होती है। अपराध की पहचान आसानी से होती है और लोग इसका समस्या के रूप में प्रतिबोधन करते हैं। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, बहुत सी समस्याएँ अस्तित्व में तो हो सकती हैं लेकिन उनका प्रतिबोधन नहीं होता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो किसी विशेष परिस्थिति से लोगों को अवगत कराने की चेष्टा करते हैं। सामाजिक आंदोलन इसी

प्रकार प्रारंभ होते हैं। बहुत से समाजों में महिलाएँ अनेकों निर्योग्यताओं, जैसे – संपत्ति पर उनका स्वामित्व न होना, विधवा पुनर्विवाह पर रोक, तलाक का निषेध, असमान वेतन आदि से पीड़ित होती हैं। इन परिस्थितियों को कुछ समाजों ने केवल कुछ दशकों पूर्व ही समस्या के रूप में माना। महिलाओं का मुक्ति आंदोलन उनकी दशा के प्रति लोगों को जागरूक बनाने की चेष्टा कर रहा है। इस तरह कहा जा सकता है कि जनसाधारण में सार्थक संख्या में लोगों का होना आवश्यक है जो एक विशेष परिस्थिति को समस्यामूलक माने।

1.4.2 सामाजिक आदर्श और यथार्थ

सामाजिक समस्याएँ "क्या वास्तविक रूप में अस्तित्व में हैं" की तुलना में "क्या होना चाहिए या क्या आदर्श के रूप में माना जाता है" के अंतराल को दर्शाती हैं। सामाजिक आदर्श उसकी मूल्य प्रणाली पर आधारित होते हैं। सामाजिक समस्याएँ एक समाज के अवांछनीय दशाओं के रूप में परिभाषित की जा सकती हैं अवांछनीय क्या है, यह मूल्यों द्वारा परिभाषित होता है। क्या अच्छा और क्या बुरा है, इसका निर्धारण मूल्य करते हैं। पूर्व में यह इंगित किया गया है कि विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न मूल्य होते हैं। अतः एक समाज में जो बुरा या अवांछनीय माना जाता है उसे दूसरे समाज में वैसा भी माना जा सकता है।

सामाजिक मूल्य गत्यात्मक हैं – वे परिवर्तित होते रहते हैं। कुछ वर्षों पूर्व जिसे एक समस्या माना जाता रहा, अब संभव है कि अवांछनीय न माना जाए। कुछ वर्षों पूर्व, लड़कों और लड़कियों का विद्यालय और महाविद्यालय में साथ-साथ पढ़ना अधिकांश लोगों द्वारा अनुमोदित नहीं था। अब इसका बहुत कम विरोध होता है। कुछ समय पूर्व तक प्रदूषण – कल-कारखानों के धुएँ, कूड़ा-करकट नदियों में डालना, वनों को काटना आदि से लोग बहुत चिंतित नहीं होते थे। यद्यपि, अब पर्यावरण संरक्षण के लिए जागरूकता तथा प्रबल इच्छा है। असंतुलित पारिस्थितिकी के यथार्थ और संतुलित तथा लाभप्रद पर्यावरण के आदर्श में अंतराल दिखाई पड़ रहा है।

1.4.3 सार्थक संख्या द्वारा मान्यता

कोई सामाजिक दशा तब तक सामाजिक समस्या नहीं बनती है, जब तक कि वह पर्याप्त लोगों द्वारा समस्या के रूप में मान्य न हो जाए। मत-निर्माता लोगों के सोच-विचार को प्रभावित कर सकते हैं। पहले प्रदूषण और वनों की कटाई के विषय में कुछ किया जा सकता है, इस पर बहुत थोड़े से लोगों के मन में विचार था। इन समस्याओं द्वारा समाज पर पड़ने वाले गंभीर परिणामों के प्रति अब अधिक जागरूकता है। पेड़ों की कटाई से होने वाले दुष्प्रभावों को कम करने क लिए प्रयास किए जा रहे हैं। यदि लोगों के छोटे समूह द्वारा किसी विशेष परिस्थिति को हानिकारक माना जाता है तो उन्हें लोगों को शिक्षित करने की आवश्यकता है जिससे जन-जागरूकता हो।

1.5 परिभाषाएँ

सामाजिक समस्याओं के विभिन्न दृष्टिकोणों और सिद्धांतों की दृष्टि से इसकी एक सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन कार्य है। मर्टन और निसबेट (संपा.) (1971) के अनुसार जहाँ तक सामाजिक समस्याओं की परिभाषा का प्रश्न है, कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह परस्पर विरोधी सिद्धांतों की अव्यवस्था मात्र है। लेकिन समाजशास्त्र में सैद्धांतिक बहुलवाद की स्थिति है जिसमें अक्सर विभिन्न सिद्धांत एक दूसरे के पूरक होते हैं। सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए सिद्धांतों और दृष्टिकोणों की विवेचना हम विस्तृत रूप से इस खंड की इकाई 2 में करेंगे।

निसबेट का मानना है कि सामाजिक समस्याएं व्यवहार का ऐसा प्रतिरूप है जो समाज के बड़े वर्ग द्वारा सामाजिक प्रतिमानों के विरुद्ध माना जाता है (आर.के. मर्टन एंड राबर्ट निसबेट (संपा.) (1971)। मर्टन का विचार है कि सामाजिक समस्याएँ स्वीकृत सामाजिक आदर्शों से विचलन हैं और वे दुष्प्रकार्यात्मक होती हैं।

दूसरी ओर स्पेक्टर और किट्सस ने सामाजिक समस्याओं को परिभाषित करते हुए कहा है कि यह समूहों की क्रियाकला है जो संगठनों, संस्थाओं और अभिकरणों की उन दशाओं का विरोध करते हैं, जिन्हें वे शिकायत योग्य मानते हैं।

इन परिभाषाओं से दो स्पष्ट परिप्रेक्ष्य प्रकट होते हैं :

- सामाजिक समस्याएँ स्वीकृत प्रतिमानों का अतिक्रमण और स्वीकृत सामाजिक आदर्शों से विचलन हैं।
- वे एक प्रकार से कुछ शिकायतों के प्रति प्रतिरोध के समान हैं।

1.5.1 सामाजिक समस्याओं की विशेषताएँ

अब हम सामाजिक समस्याओं की विशेषताओं को समझने का प्रयास करेंगे। वे निम्नवत हैं:

i) एक सामाजिक समस्या बहुत से कारकों से मिलकर बनती है

पूर्व में दर्शाया गया है कि सामाजिक समस्या के मूल में कार्यकारण संबंध होता है। इसका यह आशय नहीं है कि सामाजिक समस्या की व्याख्या केवल एक कारक द्वारा की जा सकती है। निरक्षरता के पीछे बहुत से कारक है उनमें से कुछ प्रमुख हैं – लोगों की शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति, बहुत से क्षेत्रों में विद्यालय का अभाव, लड़कियों की परिस्थिति, छोटे बच्चों का बड़े बच्चों द्वारा देखभाल, कुपोषण और निर्धनता। निरक्षरता की समस्या के समाधान के लिए इन सभी समस्याओं को भी ध्यान में रखना होगा।

ii) सामाजिक समस्याएँ अंतःसंबंधित हैं

प्रायः विभिन्न सामाजिक समस्याओं के मध्य आपसी संबंध होते हैं। अस्वस्थता का संबंध निर्धनता, बेकारी, चिकित्सा की सुविधाओं की अनुपलब्धता तथा महिलाओं की परिस्थिति से है। इन सभी "कार्य-कारण" के मध्य के संबंधों को जानना बहुत दुरुह कार्य नहीं है।

iii) सामाजिक समस्याएँ व्यक्तियों को विभिन्न तरीकों से प्रभावित करती हैं

मुद्रास्फीति की अवस्था में कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा इससे अधिक प्रभावित होते हैं। निर्धन या निश्चित आय वाले लोग साधन संपन्न लोगों की तुलना में इसे बड़ी समस्या मानते हैं। दहेज, धनवालों की अपेक्षा निर्धनों के लिए बहुत बड़ी समस्या है। उन परिवारों में जिनमें लड़कियाँ अधिक हैं, दहेज एक भयावह समस्या है। उनके लिए जो कम शिक्षित हैं, या कोई हस्तकौशल नहीं जानते हैं, बेकारी एक गंभीर समस्या है। यह भी संभव है कि कुछ समूह इन समस्याओं से दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रभावित हो रहे हों जैसे – महिलाएँ, कमजोर वर्ग, अल्पसंख्यक, ग्रामीण तथा नगरीय निर्धन लोग।

iv) सामाजिक समस्याएँ सभी लोगों को प्रभावित करती हैं

लोग समाज में एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। एक समूह को जो समस्या प्रभावित करती है वह समय के साथ समाज के अधिकांश सदस्यों को भी प्रभावित करेगी। बहुत

कम लोग इस योग्य होते हैं जो हिंसा, बेकारी, मुद्रास्फीति, साम्प्रदायिक दंगों तथा भ्रष्टाचार आदि जैसी समस्याओं से अपनी पूर्ण सुरक्षा कर पाते हैं।

नीथ हेनरी (1978) का यह मानना उचित ही है कि सामाजिक समस्याएं समाजशास्त्रीय प्रक्रिया विचारधारा की दृष्टि से निरूपति तथा विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टिकोणों की विषयवस्तु हैं।

बोध प्रश्न 2

i) किसी समाज के लिए कोई विशेष परिस्थिति कब और कैसे हानिकारक मानी जाती है तथा यह कैसे सामाजिक समस्या का रूप ग्रहण करती है? दस पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) "सामाजिक समस्या" की परिभाषा, आठ पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) सामाजिक समस्या पर दो पुस्तकों के नाम का उनके लेख/संपादक के नाम सहित उल्लेख कीजिए।

क) .....

.....

ख) .....

.....

iv) सामाजिक समस्याओं की विशेषताएँ गिनाइए :

क) .....

.....

ख) .....

.....

ग) .....

.....

घ) .....

.....

1.5.2 सामाजिक समस्याओं के प्रकार

मर्टन ने सामाजिक समस्याओं का वर्गीकरण निम्न दो भागों में किया है :

i) सामाजिक विघटन

ii) विचलनकारी व्यवहार।

सभी सामाजिक समस्याओं में विघटन तथा विचलन के कुछ तत्व पाए जाते हैं।

i) सामाजिक विघटन

मर्टन के मतानुसार सामाजिक विघटन दो स्थितियों को दर्शाता है :

- सामाजिक प्रणाली में अपर्याप्तता,
- परिस्थिति और भूमिका की निष्प्रभावी कार्यप्रणाली।

सामाजिक विघटन के निश्चित स्रोत होते हैं। सभी समाजों में मूल्यों और हितों पर कुछ सहमति पायी जाती है। जब कभी भी इस सहमति की मात्रा में संघर्षशील हितों से अव्यवस्था आती है तब हम उस विशेष समाज में विघटन की प्रवृत्ति पाते हैं। इसी प्रकार की अवस्था परिस्थिति और भूमिका में भी पायी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति की अनेक परिस्थितियाँ होती हैं जैसे – पिता, पति, राजनीतिक दल का सदस्य, व्यवसायी, अपने व्यावसायिक संगठन का सदस्य, आदि। वह अपनी भूमिकाएँ तद्नुसार निभाता है। सामाजिक जीवन में वह भूमिकाओं की प्राथमिकताओं को निर्धारित करता है और तद्नुसार व्यवहार करता है। लेकिन यदि विभिन्न परिस्थितियों और भूमिकाओं के बीच संघर्ष है और लोगों का एक समूह इस स्थिति में नहीं है कि वह अपनी प्राथमिकताओं को निर्धारित कर सके या संघर्षरत भूमिकाओं में पुनर्मेल स्थापित कर सके तो वह समूह सामाजिक विघटन की तरफ अग्रसर होने को बाध्य होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया लोगों को समूह की भाषा, प्रथाओं, परंपराओं, संस्कृति और मूल्यों को सीखने में सहायता प्रदान करती है। यदि समाजीकरण की प्रक्रिया परिवार, विद्यालय या स्वजन-समूहों के स्तर पर दोषपूर्ण होती है तो वह समूह के सदस्यों के व्यक्तियों तथा स्वयं समूह के संगठित कार्यकलापों को प्रतिकूल ढ़ंग से प्रभावित करती है। समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों को नियमित करने के लिए सामाजिक नियंत्रण की औपचारिक

तथा अनौपचारिक कार्यप्रणाली विकसित कर लेता है। जब कभी भी यह कार्यप्रणाली प्रभावी ढंग से कार्य नहीं करती तब समाज में विघटन की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

सामाजिक विघटन, प्रभावकारी संस्थाओं के कार्यकलापों का असफल होना, पारिवारिक विघटन, विवाह विच्छेद, निर्धनता, सामूहिक हिंसा, जनसंख्या विस्फोट, सामुदायिक विघटन और नगरीय समस्याओं जैसे गंदी बस्तियों तथा अमानवीय जीवन दशाओं में प्रकट होता है।

ii) विचलनकारी व्यवहार

विचलित व्यवहार की अवधारणा का प्रयोग समाजशास्त्रियों द्वारा गंभीर अपराधों के साथ ही आचार संहिताओं के उल्लंघन को सम्मिलित करने हेतु किया जाता है। प्रत्येक समाज में साधारण व्यहवार के प्रायः स्वीकृत विचार होते हैं। जब कभी भी कोई इन स्वीकृत प्रतिमानों से अलग हटता है और भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है तो उसका यह व्यवहार असामान्य या विचलनकारी व्यवहार माना जाता है।

अपराध, बाल अपराध, मानसिक अस्वस्थता, मादक द्रव्य व्यसन और मद्यपान विचलनकारी व्यवहार के कुछ उदाहरण हैं।

कोष्ठक 1.3

सामाजिक व्याधिका

सामाजिक व्याधिकी समाजशास्त्र का एक उपखंड है जो अवधारणात्मक रूप से चिकित्साशास्त्र में अपनाया गया है। समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक विघटन और सामाजिक समस्याओं के शीर्षक से बहुत सी पुस्तकें लिखी गई हैं। समाजशास्त्र का वह उपखंड जो इन समस्याओं से संबंधित होता है उसे प्रायः सामाजिक समस्या या विचलन का समाजशास्त्र कहा जाता है। कुछ समाजशास्त्री जो संकट के पक्ष पर जोर देते हैं इस उपखंड को सामाजिक व्याधिकी कहना पसंद करते हैं।

1.6 सामाजिक समस्याएँ और सामाजिक आंदोलन

सामाजिक समस्याएँ विभिन्न परिस्थितियों के अंतर्गत पुरानी घिसी-पिटी संस्थाओं के प्रतिफल हैं। उदाहरण के लिए, आज भी विश्व के बहुत से देशों में, एक संस्था के रूप में राजशाही, लोकतांत्रिक आकांक्षाओं के विरुद्ध दमनकारी उपायों के लिए उत्तरदायी हैं। इसी प्रकार से, भारत में अस्पृश्यता की समस्या जाति प्रथा से जुड़ी हुई है। हमारे समाज में, तय किए गए विवाहों की व्यवस्था ही मूलतः दहेज एवं दहेज से होने वाली मौतों का कारण है। संस्थागत स्थितियों को छोड़कर, कभी-कभी विकास के कार्यक्रमों से भी सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। वनों की कटाई का कारण निर्माण कार्यों, रेलमार्ग, फर्नीचर और ईंधन के लिए व्यापक मात्रा में इमारती लकड़ियों की आवश्यकता ही है। औद्योगिकीकरण और कारखाना प्रणाली के विस्तार ने ही वायु, जल और पृथ्वी को प्रदूषित किया है। बड़े-बांधों, ऊर्जा परियोजनाओं, राजमार्गों इत्यादि के निर्माण से स्थानीय लोगों का बड़े-पैमाने पर विस्थापन हुआ है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक समस्याएँ सामाजिक आदर्शों और वास्तविक व्यवहार के मध्य के अंतराल का भी परिणाम हैं। भ्रष्टाचार के विरुद्ध बहुत-सी बातें तथा मूल्य आधारित राजनीति के लिए नारे, समाचार पत्रों, नेताओं और बुद्धिजीवियों इन सभी ने सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध सामाजिक आंदोलनों के लिए स्थिति पैदा की है। फिर भी हमारे समाज में सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार तथा राजनीति के

अपराधीकरण में वृद्धि ही हुई है। जैसा कि जे.आर. फेयगिन ने उल्लेख किया है कि जनता द्वारा सामाजिक समस्याओं और सामाजिक परिवर्तन के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन और आंदोलनों का संगठन अत्यंत महत्वपूर्ण है।

1.6.1 क्रियान्वयन में अवरोध

सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध आंदोलनों को आयोजित करना सरल कार्य नहीं है। बहुत से ऐसे निहित स्वार्थ समूह होते हैं। जो चाहते हैं कि यथास्थिति निरंतर बनी रहे। वनों के ठेकेदार पेड़ों को काटे जाने संबंधी रोक का विरोध करेंगे। शराब की दुकान के मालिक मद्य निषेध का कभी भी पक्ष नहीं लेंगे। एक समय पश्चात् आंदोलन, सरकार तथा अन्य संस्थाओं को परिस्थितियों को मान्यता देने एवं दावों की वैधानिकता को मनवाने में समर्थ होते हैं। इसके परिणामस्वरूप सरकार द्वारा इस प्रकार की नीतियाँ बनाई जाती हैं जो परिस्थिति के अनुसार कार्य करें, यथा वनों की कटाई के विरुद्ध नियम, स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए बहुत से कानून (समान वेतन, दहेज विरोधी कानून, सती प्रथा, उत्तराधिकारी संबंधी आदि) नीतियों का बनना ही स्वयं में पर्याप्त नहीं है इसे क्रियान्वित करना होता है। प्रायः इसमें विलम्ब या अपर्याप्त प्रयास होता है। तब आंदोलन को नीतियों के क्रियान्वयन पर ध्यान केंद्रित करना पड़ता है। कई बार समस्या का पूर्ण समाधान नहीं होता है। सामाजिक आंदोलन दर्शाते हैं कि लोगों के सामूहिक प्रयत्न अधिकारियों को क्रियाशील बना देते हैं।

1.6.2 आंदोलन के सोपान

किसी समाज में अक्सर पुरानी संस्थात्मक स्थितियों, दोषपूर्ण कार्यक्रम तथा आदर्शों और आचरणों में बढ़ते अंतर को या तो अधिकांश शक्तिप्रिय लोगों द्वारा अनुभव नहीं किया जाता है या उस पर ध्यान नहीं दिया जाता है। कुछ लोग इस योग्य होते हैं कि इन समस्याओं पर ध्यान दें। प्रथम सोपान पर, सामाजिक समस्याओं के प्रति, कुछ लोगों की या एक छोटे समूह की जागरूकता होती है, द्वितीय सोपान पर, वे अपने दृष्टिकोण को लोगों के बीच प्रचारित करने की चेष्टा करते हैं, तृतीय सोपान पर, संगठित रूप से असहमति, विरोध तथा प्रदर्शन होता है और अंत में यह एक आंदोलन के निर्माण की ओर अग्रसर होता है। यदि हम सती प्रथा का उदाहरण लें जो भारत में 19वीं शताब्दी में प्रचलित थी और राजा राममोहन राय ने जिसके विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ किया था जो हम पाते हैं कि सती प्रथा के विरुद्ध आंदोलन उन सभी दिशाओं से होकर गुजरा है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। आजकल, सम्पूर्ण विश्व में और मुख्य रूप से भारत में महिलाओं के हितों तथा अधिकारों की रक्षा हेतु एक शक्तिशाली महिला आंदोलन चल रहा है। भारतीय महिलाओं के संगठन, प्रबुद्ध नागरिकों और जनसंचार के माध्यमों के साथ, दहेज तथा दहेज से होने वाली मौतों के विरुद्ध संघर्षरत हैं। इसी प्रकार पर्यावरणविदों को पारिस्थितिकी अपकर्ष और प्रदूषण के विरुद्ध आंदोलन है। उत्तर प्रदेश के पर्वतीय भाग में प्रारंभ किए गए "चिपको आंदोलन" ने जो वनों की कटाई के विरुद्ध है, विश्वव्यापी ध्यान आकर्षित किया है। स्वयंसेवी संगठनों और अधिकारियों द्वारा मादक द्रव्य-व्यसन तथा मद्यपान के विरुद्ध जागरूकता पैदा करने का प्रयास किया जा रहा है।

सामाजिक समस्याओं के सुधारवादी उपायों तथा सामाजिक आंदोलन के बीच एक निकट का संबंध पाया जाता है। सामाजिक आंदोलन तब उत्पन्न होता है जब कुछ लोग यह अनुभव करते हैं कि एक विशेष परिस्थिति समाज के लिए लाभप्रद नहीं है और उसे परिवर्तित करने के लिए कुछ किया जाना चाहिए।

1.7 सामाजिक समस्याएँ और सामाजिक नीति

सामाजिक नीति सरकार के उस दृष्टिकोण को दर्शाती है जिसे वह किसी विशेष परिस्थिति के प्रति रखती है तथा उसका किस प्रकार मुकाबला करती है। भारत में शिक्षा, महिला, पर्यावरण, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जन-जाति, नगरीकरण तथा मादक द्रव्य व्यसन से संबंधित सामाजिक नीति है। सामाजिक आंदोलन सामाजिक समस्याओं और सामाजिक नीति का आपस में प्रगाढ़ संबंध होता है।

सामाजिक आंदोलन सरकार पर यह दबाव रखते हैं कि वह सामाजिक समस्याओं के नियंत्रण के लिए सुधारवादी कार्यक्रमों को तैयार करे। इस प्रसंग में हमें यह ध्यान रखना होगा कि मात्र नीति को स्वीकारने और उसकी घोषणा करने से सामाजिक समस्याओं का समाधन नहीं होता है। शारदा एक्ट बाल विवाह को रोकने के लिए बनाया गया था लेकिन वह बाल-विवाह को पूरी तरह से रोकने में सफल नहीं रहा। अस्पृश्यता के विरुद्ध सामाजिक विधानों को पांचवें दशक के मध्य में पारित किया गया था लेकिन वह आज तक हमारे समाज से अस्पृश्यता संबंधी व्यवहार का पूर्ण रूप से उन्मूलन नहीं कर सका। संवैधानिक प्रावधानों के होते हुए भी विद्यालय जाने योग्य सभी बालक विद्यालय नहीं जा पाते हैं।

वास्तव में, सुदृढ़ सामाजिक आंदोलन, जन-जागरूकता और आधिकारिक नीतियाँ – इन तीनों को आपस में मिलकर सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध कार्य करना चाहिए। इस प्रसंग में हमें यह ध्यान रखना होगा कि आधुनिक समाज में राज्य एक अत्यधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण संस्था है। सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध संघर्ष में इसकी बहुत अहम भूमिका है। लेकिन राज्य के हस्तक्षेप की अपनी सीमाएँ हैं और यह अधिक प्रभावी ढंग से तभी कारगर हो सकती हैं जब राज्य के कार्यक्रमों और स्वीकृत नीतियों को जन-समर्थन प्राप्त हो।

1.7.1 नीति, विचारधारा और कल्याण

हमें अभी एक ओर सामाजिक नीतियों और सामाजिक कल्याण तथा दूसरी ओर सामाजिक नीति और सामाजिक विचारधारा के मध्य के संबंध को समझना है। सामाजिक नीतियों और सामाजिक कल्याणकारी नीतियों के मध्य भिन्नता को स्पष्ट करना कठिन है क्योंकि कुछ ऐसे समूह हैं जिन्हें सामाजिक नीतियों के अंतर्गत रखा जाता है पर उन लोगों को कल्याण की भी आवश्यकता है।

संपूर्ण विश्व में राज्य, विचारधाराओं पर ध्यान न देकर, कल्याणकारी नीतियाँ स्वीकार कर रहे हैं जैसे कि बाल-कल्याण, युवा-कल्याण, महिला-कल्याण, वृद्ध-कल्याण, कमज़ोर वर्गों का कल्याण, रोज़गार संबंधी नीतियाँ, सुरक्षा, स्वास्थ्य कार्यक्रम, शिक्षा, पारिस्थितिकी तथा ग्रामीण-स्तरीय विकास। इन नीतियों ने बहुत-सी सामाजिक समस्याओं के जोखिमों को रोकने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सामाजिक समस्याओं से संबंधित नीतियाँ, विचारधारा पर आधारित होती हैं। पूँजीवादी दृष्टिकोण यह होगा कि खुला बाजार और मुक्त अर्थव्यवस्था समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी। व्यक्ति अपने कल्याण की देखभाल कर सकते हैं। समाजवादी यह अनुभव करते हैं कि राज्य के हस्तक्षेप द्वारा सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाया जा सकता है। इसीलिए एक सरकार अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के आधार पर नीतियों को प्रतिपादित करती है। सभी सामाजिक समस्याओं से संबंधित कोई एक व्यापक नीति नहीं हो सकती है। प्रत्येक समस्या को अलग-अलग सुलझाना होगा। अक्सर विशेष समस्याओं से संबंधित कानून पारित किए जाते हैं। उदाहरणार्थ – मादक द्रव्य-व्यसन, दहेज, मद्य निषेध, बाल-मज़दूर आदि। यह स्पष्ट होगा कि इनमें प्रत्येक से एक विशेष प्रकार का व्यवहार किया जाए।

i) सामाजिक विघटन की परिभाषा उपयुक्त उदाहरणों सहित पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) विचलित व्यवहार क्या है? उपयुक्त उदाहरणों सहित चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

iii) सामाजिक आंदोलन के विभिन्न सोपानों का उल्लेख चार पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iv) सामाजिक नीति को परिभाषित कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.8 सारांश

इस इकाई का प्रारंभ रूपांतरण की अवधारणा तथा इसके दो प्रारूपों – आधुनिकीकरण और क्रांति से हुआ। इस इकाई में सामाजिक रूपांतरण और समस्याओं के मध्य संबंध, अवधारणाएँ, परिभाषाएँ, विशेषताएँ और सामाजिक समस्याओं के प्रकारों की भी विवेचना की गई है। सामाजिक समस्याओं, संस्थाओं और आंदोलनों के मध्य की श्रृंखलाबद्धता का भी इस इकाई में विवेचन किया गया है। और अंत में रूपांतरण और समस्याओं से संबंधित नीति संबंधी निहित आशयों पर भी, इस इकाई में प्रकाश डाला गया है।

1.9 शब्दावली

सामाजिक रूपांतरण : यह एक विस्तृत अवधारणा है जिसमें एक ओर उद्‌विकास, प्रगति, परिवर्तन तथा दूसरी ओर विकास आधुनिकीकरण और क्रांति का अर्थ सम्मिलित है। इसका शाब्दिक अर्थ सामाजिक जीवन के स्वरूप, आकृति तथा चरित्र में परिवर्तन से है।

आधुनिकीकरण : एक परंपरागत कृषक, ग्रामीण, प्रथा-आधारित विशिष्टतावादी संरचना से नगरीय, औद्योगिक, प्रौद्योगिकी तथा सार्वभौमिकीय संरचना में होने वाले विकास की प्रक्रिया को आधुनिकीकरण कहा जाता है।

क्रांति : हिंसात्मक या अहिंसात्मक अप्रत्याशित सामाजिक परिवर्तन जो परिस्थिति को मोड़ दे या उसमें आमूल परिवर्तन लाये उसे क्रांति कहते हैं।

सामाजिक समस्याएँ : सामाजिक व्यवहार के प्रतिरूप जो स्वीकृत सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन या शिकायतों के प्रति प्रतिरोध हैं, सामाजिक समस्याएँ कही जाती हैं।

विचलित व्यवहार : समाजशास्त्री इस अवधारणा के अत्यंत गंभीर अपराधों और नैतिक संहिताओं के उल्लंघन को सम्मिलित करते हैं। जब कभी लोगों द्वारा स्वीकृत "सामान्य व्यवहार" का उल्लंघन किसी के व्यवहार द्वारा होता है तो उसे विचलित व्यवहार की संज्ञा दी जाती है।

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) सामाजिक रूपांतरण एक व्यापक अवधारणा के रूप में सामाजिक गत्यात्मकता को इंगित करने के लिए प्रयुक्त होता है। इस अवधारणा का शाब्दिक अर्थ सामाजिक स्वरूप, आकृति अथवा चरित्र के परिवर्तन अथवा अपनी मूल पहचान को खो देने वाले बदलाव से है। मार्क्स के अनुसार रूपांतरण सामाजिक परिवर्तन का वह पक्ष है जो समाज में उत्पन्न होने वाले उन अंतर्विरोधों की ओर इंगित करता है जो समाज को त्वरित परिवतर्न या क्रांति की तरफ अग्रसर करता है। सामाजिक रूपांतरण उस परिवर्तन को निर्दिष्ट करता है जो समाज के स्वरूप में परिवर्तन या नवीन विरचनों की उत्पत्ति करता है।

ii) क) आधुनिकीकरण

यह उस अर्थव्यवस्था, राजनीति और औद्योगीकृत पूँजीवादी समाज का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें या तो विपुल समृद्धि है और या तो अत्यधिक अभाव या कष्ट। रूपांतरण का यह प्रतिरूप मानव जाति के एक बड़े भाग में निर्धनता, बेकारी और वंचना के लिए तथा एक छोटे हिस्से में विपुल समृद्धि, अत्युत्पादन और अत्युपभोग के लिए उत्तरदायी है।

ख) क्रांति

साम्यवाद के कार्यप्रणाली की, क्रांति के प्रतिफल के रूप में अपने साहचर्यो – तानाशाही, पुलिस आतंक, देश निकाला, मानवाधिकारों का हनन, उत्पादन में अवनति, अर्थव्यवस्था का पतन और दलीय पदाधिकारियों और राज्याधिकारियों के नए वर्ग की रचना के लिए आलोचना की जाती रही है।

iii) क) जोसेफ जे स्पेंगलेर : द डिक्लाइन ऑफ द वेस्ट

ख) पी.ए. सोरोकिन : द सोशल एंड कल्चरल डाइनमिक्स

ग) कार्ल मैनहीम : मैन एंड सोसायटी : इन एन एज ऑफ रिकान्स्ट्रक्शन

घ) पेल्नी, एल. बर्जर : होमलेस माइन्ड एंड अदर्स

बोध प्रश्न 2

i) सामाजिक समस्याएँ वे व्यापक दशाएँ हैं जिनका समाज के लिए हानिकारक परिणाम होता है। हानिकारक होने का प्रतिबोधन समाज के प्रतिमानों और मूल्यों पर निर्भर करता है। सामाजिक रूपांतरण से कुछ समस्याएँ सीधे जुड़ी होती हैं। तीव्र औद्योगीकरण, क्षेत्रीय असंतुलन, प्रदूषण और गंदी बस्तियों की समस्याएँ उत्पन्न करता है। निम्नलिखित दशाओं में एक स्थिति हानिकारक मानी जाती है और सामाजिक समस्या हो जाती है:

क) सामाजिक आदर्शों और वास्तविकताओं के मध्य अंतर

ख) एक सार्थक संख्या द्वारा मान्यता

ii) सामाजिक समस्याएँ समाज के एक बड़े भाग द्वारा व्यवहार का ऐसा प्रतिरूप मानी जाती हैं जिनसे स्वीकृत सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन होता है। ये स्वीकृत सामाजिक आदर्शों से विचलन को इंगित करती हैं। इसीलिए वे दुष्प्रकार्यात्मक हैं। दूसरी परिभाषा, सामाजिक समस्याओं को समूह का वह क्रियाकलाप मानती है जो इन परिस्थितियों को जिन्हें वे शिकायतपूर्ण मानते हैं, के विरुद्ध प्रतिरोध से संबंधित हैं।

iii) क) राबर्ट के. मर्टन एंड राबर्ट निसबेट : कंटम्पोरेरी सोशल प्राब्लम्स

ख) नीथ, हेनरी : सोशल प्राब्लम्स इंस्टीट्यूशनल एंड इंटर पर्सनल पर्सपेकटिव्स।

iv) क) एक सामाजिक समस्या बहुत से कारकों से उत्पन्न होती है।

ख) सामाजिक समस्याएँ अंतः संबंधित हैं।

ग) सामाजिक समस्याएँ व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती हैं।

घ) सामाजिक समस्याएँ सभी लोगों को प्रभावित करती हैं।

बोध प्रश्न 3

i) सामाजिक विघटन प्रभावशील संस्थागत कार्य प्रणाली के टूटन को दर्शाता है। जब कभी भी समाज में संघर्षरत मूल्यों के कारण संतुलन बिगड़ता है तो सम्यक् समाजीकरण का अभाव तथा सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि में दुर्बलता आती है। समाज की यह अवस्था सामाजिक विघटन कहलाती है। इसके उदाहरण हैं – पारिवारिक विघटन, वैवाहिक असफलता और सामुदायिक विघटन।

ii) प्रायः प्रत्येक समाज में "सामान्य" व्यवहार के स्वीकृत विचार होते हैं। जब कभी कोई स्वीकृत प्रतिमानों से अलग हटता है और भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है तो उसका वह व्यवहार असामान्य या विचलित व्यवहार माना जाता है। विचलित व्यवहार के अपराध, बाल-अपराध, मानसिक असंतुलन, आदि उदाहरण हैं।

iii) क) कुछ व्यक्तियों में जागरूकता

ख) लोगों के बीच अपने दृष्टिकोणों को फैलाना

ग) संगठित मतभेद, विरोध, प्रदर्शन

घ) अंत में, एक आंदोलन का निर्माण

iv) सामाजिक नीति सरकार का वह दृष्टिकोण है जो वह किसी विशेष परिस्थिति के प्रति रखती है और वह तद्नरूप उस परिस्थिति का मुकाबला करती है।

इकाई 2 दृष्टिकोण एवं प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 आरंभिक दृष्टिकोण

- 2.2.1 आस्थाएं और अंधविश्वास
- 2.2.2 क्लासिकी दृष्टिकोण
- 2.2.3 भौतिक शारीरिक दृष्टिकोण
- 2.2.4 आलोचनात्मक समीक्षा

2.3 समकालीन दृष्टिकोण

- 2.3.1 प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
- 2.3.2 मार्क्सवादी दृष्टिकोण
- 2.3.3 सामाजिक समस्याओं का गांधीवादी दृष्टिकोण

2.4 इन दृष्टिकोणों की अपर्याप्तता

- 2.4.1 प्रकार्यवादी दृष्टिकोण का समीक्षात्मक पुनर्विवेचन
- 2.4.2 मार्क्सवादी दृष्टिकोण की समालोचना
- 2.4.3 गांधीवादी दृष्टिकोण पर पुनर्दृष्टि

2.5 समकालीन सामाजिक वास्तविकता : दुष्क्रियात्मक पक्ष

- 2.5.1 विश्व स्तरीय दुष्क्रियाएं
- 2.5.2 स्थानीय दुष्क्रियाएं

2.6 रूपांतरण की प्रतिमानों एवं सामाजिक समस्याएँ

- 2.6.1 उदारतावादी-पूँजीवादी प्रतिमान
- 2.6.2 साम्यवादी प्रतिमान
- 2.6.3 लोकतंत्रीय समाजवाद की प्रतिमान
- 2.6.4 भारतीय प्रयोग और गांधीवादी प्रतिमान

2.7 राज्य हस्तक्षेप की सीमाएँ

- 2.7.1 अहस्तक्षेप (लेसेफेयर) की नीति
- 2.7.2 सामूहिकतावादी - विचारधाराएं
- 2.7.3 सीमाएं

2.8 सारांश

2.9 शब्दावली

2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

प्रथम इकाई में हमने सामाजिक रूपांतरण एवं समस्याओं की व्याख्या की। प्रथम इकाई को पढ़ने के बाद आपने इन दोनों संप्रत्ययों एवं इनके संबंध को समझ लिया होगा।

अब इकाई 2 में हम सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण एवं विकास की प्रतिमानों की परिचर्चा कर रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोण समझ सकेंगे;
- प्रकार्यवादी, मार्क्सवादी एवं गांधीवादी दृष्टिकोणों के मूल निरूपण की व्याख्या कर सकेंगे;
- इन दृष्टिकोणों की अपर्याप्तता का परीक्षण कर सकेंगे;
- सामाजिक-आर्थिक विकास के प्रकार्यात्मक पक्षों का अर्थ एवं वैकल्पिक दृष्टिकोणों की आवश्यकता समझ सकेंगे;
- विकास की विभिन्न प्रतिमानों का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- राज्य की भूमिकाओं एवं राज्य के हस्तक्षेप को स्पष्ट कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

रूपांतरण के प्रत्यय से आप इकाई 1 में परिचित हो चुके हैं। सभी समाजों में किसी न किसी रूप में मंद या तीव्र परिवर्तन होता है। उन समाजों में जहाँ रूपांतरण की प्रक्रिया मंद होती है, बदलती हुई दशाओं से समायोजन करने में कठिनाइयाँ कम होती हैं। कुल मिलाकर, सामाजिक रूपांतरण की मंद प्रक्रिया जनजातीय एवं कृषिक संरचनाओं में दिखाई देती है, जबकि नगरीय – औद्योगिक सामाजिक संरचना में, जिनके नगर, उच्च प्रौद्यागिकी, आधुनिक उत्पादन, उपभोक्तावाद, परिवहन एवं संचार के त्वरित साधन, प्रवासन, गतिशीलता, अनामता, द्वितीयक समूह एवं अवैयक्तिक संबंध विशेष लक्षण हैं, यह प्रक्रिया अधिक तीव्र होती है।

सामाजिक रूपांतरण के त्वरित होने से उत्पन्न तनाव और समाज की अपने संरचनात्मक ढाँचे को बदलती हुई दशाओं के अनुकूल पुनः ढालने की आंशिक अयोग्यता का होना भी, या तो सामाजिक व्यवस्था की वर्तमान चुनौतियों को सशक्त करता है या नए तनाव या समस्याएँ पैदा करता है।

नगरीकरण का उदाहरण लेकर इस बिंदु की व्याख्या की जा सकती है। नगरीकरण, एक प्रक्रिया के रूप में, सामाजिक रूपांतरण का एक महत्वपूर्ण सूचक है। साथ ही यह प्रक्रिया सामाजिक समस्याएँ जैसे निर्धनता, बेकारी, नगरों में अत्यधिक भीड़, आवास का अभाव, नगरीय सुविधाओं की कमी, अवैयक्तिक संबंध, गंदी बस्तियाँ तथा ऐसा पर्यावरण जो बाल अपराध, अपराध तथा समाज विरोधी क्रियाओं को जन्म देती है। एक सामाजिक प्राणी के रूप में मानव एक ओर, त्वरित सामाजिक रूपांतरण का सामना करता है और दूसरी ओर सामाजिक रूपांतरण से जनित सामाजिक समस्याओं के उचित हल ढूँढने का सतत प्रयास करता है।

यह स्पष्ट है कि सामाजिक समस्याएँ समाजों को दुष्प्रभावित करती हैं तथा उनकी प्रकृति को समझने और उत्तर प्राप्त करने के लिए यह सार्थक होगा कि विभिन्न समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों की व्याख्या की जाए तो सामाजिक समस्याओं की प्रकृति एवं उनकी उत्पत्ति को समझने के क्रम में विकसित हुई हैं। इस बिंदु पर ध्यान रखना होगा कि समाज का संबंध सामान्य एवं असामान्य दोनों दशाओं से है। समाज सुखी परिवारों से उतना ही संबंधित है जितना कि दुखी या समस्याओं से ग्रसित परिवारों से। समाजशास्त्र का एक विद्यार्थी सामाजिक समस्याओं का अध्ययन इसलिए करता है ताकि वह असमान्य सामाजिक दशाओं को जो सामाजिक प्रकार्यात्मक पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं, अच्छी तरह समझा सके। सामाजिक एवं वैयक्तिक समस्याओं में निकट संबंध है। वे समस्याएँ जिनकी प्रकृति का आभास वैयक्तिक है जैसे बीमारी, वैयक्तिक हिंसा, कुपोषण, आदि, सामाजिक दशाओं से जुड़ी हुई हैं जो हजारों व्यक्तियों को, उसी प्रकार की जीवन स्थितियों में पीड़ित करती हैं।

2.2 आरंभिक दृष्टिकोण

ऐतिहासिक अर्थ में सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तब जब राज्य तथा शासकीय अभिजन का प्रमुख संबंध कानून एवं व्यवस्था से था, मुख्य सामाजिक समस्या के रूप में अपराध की ही गणना होती थी। एक समस्या के रूप में अपराध ने पूर्वकालीन सामाजिक विचारकों का ध्यान आकर्षित किया। उस समय के अनेक अभ्यास या तो विश्वासों एवं अंधविश्वासों के रूप में थे या अकाल, महामारी एवं अपराध की समस्याओं के गंभीर तथा व्यवस्थित अर्थ समझने से संबंधित थे। समझने के उद्देश्य से उनका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

- विश्वास एवं अंधविश्वास
- शास्त्रीय दृष्टिकोण
- भौतिक शारीरिक दृष्टिकोण

2.2.1 आस्थाएं और अंधविश्वास

मानव जीवन की आदिम अवस्था से आरंभ होकर आज तक मानव अकाल, दुर्लभता, महामारी, हिंसा, हत्या एवं अपराध का सामना करता रहा है। अनेक पूर्वकालीन समाजों में या समाज के कुछ भागों में आज भी इन समस्याओं को आत्माओं, प्रेतों, जादूगरनियों के प्रभावों का परिणाम माना जाता है। कार्य-कारण संबंध के मध्य उचित समझ का न होना ऐसे विश्वासों का आधार है।

2.2.2 क्लासिकी दृष्टिकोण

अठारहवीं शताब्दी से प्रांरभ होकर अपराधों को अधिक व्यवस्थित रूप से समझने के प्रयास किए गए। सर्वप्रथम सीजर बीकारियाँ (1764) जो एक इटली निवासी था तथा जेरमी बेन्थम (1823) जो एक अंग्रेज था, इन दोनों ने एक सामाजिक समस्या के रूप में अपराध के कारणों की व्याख्या के गंभीर प्रयास किए। उनके निरूपण शास्त्रीय सिद्धांत या दृष्टिकोण के रूप में जाने जाते हैं। इस सिद्धांत में सुखवाद या मानव में सुख के खोज की प्रकृति पर बल था। सुखवादी दृष्टिकोण स्वीकृत सामाजिक प्रतिमान के उल्लंघन को अभिप्रेरित करते हैं। इस प्रकार से परिणामतः अपराध होते हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ लोगों को अपराध करने में सुख मिलता है अर्थात् अपराध उनके लिए उपयोगितावादी हैं।

2.2.3 भौतिक शारीरिक दृष्टिकोण

बाद में कुछ आनुभविक या प्रत्यक्षवादी प्रयास किए गए जिससे अपराध की एक सामाजिक समस्या के रूप में व्याख्या की गई। सीजर लोम्ब्रोसो ने (1836-1909), जो इटली निवासी था, भौतिक शारीरिक गुणों से अपराध के संबंध का अध्ययन किया। इसलिए, यह दृष्टिकोण भौतिक शारीरिक दृष्टिकोण या अपराध के सिद्धांतों के इटेलियन सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध है। चूँकि उसने अपने कल्पित अभिग्रहों को आनुभविक पद्धतियों से सत्यापित करने का प्रयास किया, इसे अपराध की व्याख्या का प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण भी कहा गया है। लोम्ब्रोसो के अनुसार :

- अपराधियों के कुछ निश्चित जन्मजात शारीरिक गुण होते हैं,
- अपराधियों के शारीरिक गुण सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होते हैं,

2.2.4 आलोचनात्मक समीक्षा

इन दृष्टिकोणों की आलोचनात्मक समीक्षा इनकी परिसीमाओं को दर्शाती है जो निम्नलिखित हैं:

- प्रथम दृष्टिकोण अंधविश्वासों और अज्ञानता पर आधारित था,
- बाद के दोनों दृष्टिकोण आज केवल ऐतिहासिक महत्व रखते हैं,
- वे अपराध के वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित नहीं हैं,
- शास्त्रीय तथा भौतिक शारीरिक दृष्टिकोण व्यक्ति पर केंद्रित हैं,
- उन्होंने सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक कारकों पर दृष्टि नहीं रखी है।

बोध प्रश्न 1

i) नगरीय औद्योगिक सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषताओं का तीन पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

ii) अपराध के शास्त्रीय दृष्टिकोण के दो प्रमुख प्रतिपादकों का जिस देश में उनका जन्म हुआ था – उसके सहित उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iii) अपराध को सामाजिक समस्या के रूप में मानने वाले भौतिक शारीरिक दृष्टिकोण के एक प्रमुख प्रतिपादक का नाम उनके मूल देश सहित इंगित कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iv) पूर्वकालीन दृष्टिकोणों की परिसीमाओं का विवेचन आठ पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.3 समकालीन दृष्टिकोण

उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय समाज में एक बड़े पैमाने पर सामाजिक रूपांतरण हुआ जिसकी विशेषता यह थी कि गिरजाघर, राजतंत्र, सामंतवाद की पकड़ तथा अधिकारों में ह्रास हुआ एवं धर्म निरपेक्ष वैचारिकी, लोकतंत्रीय राज्य तथा औद्योगिक क्रांति का उदय हुआ। उसी के अनुरूप विचारों, विश्लेषण की पद्धतियों तथा संप्रत्ययीकरण में परिवर्तन हुआ।

इस शताब्दी में समाज विज्ञान के क्षेत्र में दो सुस्पष्ट बौद्धिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं :

- प्रथम प्रवृत्ति में प्रमुख बल सामाजिक व्यवस्था की केन्द्रिकता पर था जिसके प्रमुख घटक पर्यवेक्षण, बंधुत्व संसक्ति एवं एकीकरण थे।
- दूसरी प्रवृत्ति में, सामाजिक गत्यात्मकता केंद्रीय विषय वस्तु थी जिसके घटक विरोधाभास एवं संघर्ष थे।

इन दोनों बौद्धिक प्रवृत्तियों से प्रकार्यवादी एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोणों का उद्भव हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत पूर्णतया ब्रिटिश शासन की अधीनता के अंदर आ चुका था। ऐसी सामाजिक राजनीतिक पृष्ठभूमि में गांधीवादी विचार पद्धति ने अधीनता, उपनिवेशी सांस्कृतिक प्रभुत्व, ग्रामीण उद्योगों के ह्रास एवं अंधविश्वास की पकड़, भय तथा अस्पृश्यता की समस्याओं को जड़ से उखड़ फेंकने का रास्ता दिखाया।

समकालीन सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण में एक निश्चित बदलाव दृष्टिगोचर होता है। इसकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित ढंग से की जा सकती है :

- सामाजिक समस्याओं, उनकी उत्पत्ति की पूर्वकालीन व्याख्या व्यक्तियों के प्रसंग में की जाती थी। अब, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक या संरचनात्मक कारकों पर बल है।
- पूर्वकालीन विश्लेषण के मुख्य बल सामाजिक व्यवस्था के अनुरक्षण तथा संतुलन के पर्यवेक्षण पर था जो कि सामाजिक परिवर्तन को एक संदेहास्पद घटना के रूप में मानता था। अब यह स्वीकार किया गया है कि तनाव तथा सामाजिक समस्याओं का उद्भव सामाजिक प्रणाली में विरोधाभास के कारण होता है जिसका हल किया जा सकता है। समकालीन समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं की प्रकृति एवं उत्पत्ति की व्याख्या के भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य पाए जाते हैं। इन परिप्रेक्ष्यों ने दो प्रमुख दृष्टिकोणों को जन्म दिया है जो निम्नलिखित हैं :
- प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण
- मार्क्सवादी दृष्टिकोण

भारतीय संदर्भ में अपने राजनीतिक आंदोलन एवं सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रयोगों के प्रकाश में गांधी ने सामाजिक समस्याओं की समाप्ति एवं भारतीय समाज के पुनर्गठन के लिए एक वैचारिक ढाँचा विकसित किया। इस तरह सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण का तीसरा पक्ष गांधीवादी दृष्टिकोण है।

2.3.1 प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण समाज को एक प्रणाली के रूप में प्रस्तुत करता है, इसके अनुसार समाज अंतःसंबद्ध भागों का एक समुच्चय है जो सब मिलकर एक समग्र की रचना करते हैं। विश्लेषण की मूल इकाई समाज है तथा उसके विभिन्न भागों को उनके समग्र के संबंध में समझा जाता है। इस प्रकार सामाजिक संस्थाएँ, जैसे कि परिवार तथा धर्म का प्रकार्यवादियों द्वारा विश्लेषण, सामाजिक प्रणाली के एक भाग के रूप में, न कि पृथक इकाइयों के रूप में किया जाता है।

इस प्रकार समाज के सभी भाग प्रकार्यात्मक हैं जहाँ तक कि वे व्यवस्था कायम रखते हैं और उनकी स्वस्थ उत्तरजीविता में योगदान देते हैं। प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण दुष्क्रिया के प्रत्यय को किसी सामाजिक संस्था के प्रभावों के लिए भी प्रयोग करता है जो समाज के अनुरक्षण को कम करते हैं। दुष्क्रिया का प्रत्यय सामाजिक समस्याओं के आधुनिक अध्ययन के विशेष महत्व रखता है।

प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण दो समाजशास्त्रियों – अगस्त काम्टे एवं हरबर्ट स्पेंसर की कृतियों में स्पष्ट है। बाद में, उसका विकास इमाइल दुर्खीम ने किया। टेलकेट पारसन्स एवं राबर्ट के मर्टन ने उसका परिष्कार किया। पूर्वकालीन प्रकार्यवादियों ने जीव और मानव शरीर में सादृश्यता प्रदान की। जिस प्रकार एक जीव कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ रखता है जिनकी संतुष्टि उसकी उत्तरजीविता के लिए अनिवार्य है उसी प्रकार समाज की कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति उसकी निरंतरता के लिए आवश्यक है। पूर्वकालीन प्रकार्यवादियों का मुख्य बल निम्नलिखित बिंदुओं पर था :

- भागों (व्यक्तियों, परिवार, धर्म, शिक्षा, विधि इत्यादि) तथा समग्र (समाज) के बीच संबंधों का अच्छी तरह बुना होना,
- व्यवस्था का सरलतापूर्वक कार्य करना,
- व्यवस्था को कायम रखना,
- संसक्ति, तथा
- सामाजिक बंधुत्व

i) प्रकार्यवादी पूर्वापेक्षाएँ

इस दृष्टिकोण के प्रमुख उपादानों में कुछ प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ (सामाजिक अस्तित्व की आवश्यक दशाएँ) हैं। ये एकात्मकता, अनुकूलन एवं अनुरक्षण की प्रक्रियाओं को मजबूत करती हैं। इनके साथ ही ये पूर्वापेक्षाएँ समाज के सुचारू प्रकार्य में भी सहायता देती है। मुख्य पूर्वापेक्षाएँ निम्नलिखित हैं :

- भूमिका विभिन्नीकरण,
- संचार,
- प्रतिमानात्मक नियमन,

- समाजीकरण, और
- सामाजिक नियमन।

ii) भूमिका की अवधारणा

प्रकार्यात्मक विश्लेषण में "भूमिका" की अवधारणा का महत्वपूर्ण स्थान है। उसका अर्थ उस कार्य से है जो एक व्यक्ति का एक संस्था से करने की आशा की जाती है। व्यक्तियों को उनके व्यक्तिगत अभिप्रेरकों तथा सामाजिक आवश्यकता के आधार पर भूमिका सौंपी जाती है। इस तरह की भूमिका निष्पादित करने वाले लोग एक स्थिति या वर्ग के होते हैं। सभी समाजों में व्यक्तियों की एवं संस्थाओं के क्षेत्र में भूमिका विभिन्नीकरण पाया जाता है। ऐसे व्यक्तियों के समूह भिन्न-भिन्न भूमिका निष्पादित करते हैं। उसी प्रकार सामाजिक संस्थाएँ जैसे परिवार एवं धर्म भी अपनी सौंपी हुई तथा प्रत्याशित भूमिका निष्पादित करते हैं जो एक दूसरे से भिन्न होती है।

प्रकार्यवादी विश्लेषण के अनुसार यदि प्रकार्यवादी पूर्वापेक्षाएँ भंग हो जाती हैं, यदि भूमिका विभिन्नीकरण या भूमिका निष्पादन उचित नहीं है तो समाज की प्रकार्यात्मकता प्रभावित होगी और विभिन्न सामाजिक समस्याओं का उत्पन्न होना निश्चित है।

सामान्य निरूपणों की व्याख्या करने के बाद अब हम कुछ प्रमुख प्रकार्यवादी विचारकों के दृष्टिकोण की विशिष्ट व्याख्या में प्रवेश करते हैं :

iii) सामाजिक तथ्य और प्रतिमानहीनता

प्रकार्यवादी विश्लेषण में जिस प्रकार से भागों तथा समय के बीच संबंध की व्याख्या की गई है, उससे ऐसा आभास होता है कि समग्र भागों का एक योग है। फिर भी, दुर्खीम ने इस निरूपण को अपने श्रम विभाजन, धर्म तथा आत्महत्या के अध्ययनों में स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार किया है।

दुर्खीम के विश्लेषण के प्रमुख बिंदु निम्नलिखित हैं :

- समाज की स्वजातिक प्रकृति,
- सामाजिक तथ्य, तथा
- प्रतिमानहीनता।

उसके अनुसार समाज एक स्व-विकसित वास्तविकता है (उसके शब्दों में यह वास्तविकता स्वजातिक है) जो कि व्यक्तियों से बाह्य है तथा उन पर आरोपित है। एक समाज के सदस्य सामाजिक तथ्यों द्वारा बाध्य हैं जो कि दुर्खीम द्वारा कार्य करने, सोचने तथा अनुभूति के ढंगों के रूप में परिभाषित किए गए हैं। ये व्यक्तियों से बाह्य हैं तथा बाध्यकारिता की शक्ति रखते हैं, जिसके कारण व्यक्तियों को सामाजिक तथ्यों के पालन करने की बाध्यता होती है।

दुर्खीम के विश्लेषण में, सामाजिक तथ्यों को सामान्य तथा व्याधिकीय प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। श्रम विभाजन, धर्म, विधि एवं नैतिकता सामान्य सामाजिक तथ्य हैं, जबकि प्रतिमान हीनता समाज की व्याधिकीय दशा है। श्रम विभाजन के उग्र स्वरूप की विशेषताएँ घातक प्रतिस्पर्धा, हित अभिविन्यास तथा व्यक्तियों में समाज का अभाव के रूप में प्रकट होती हैं। ऐसी स्थिति में प्रतिमान हीनता की प्रवृत्तियों का विकास होता है। दुर्खीम के प्रत्यय में, प्रतिमान हीनता एक प्रमुख सामाजिक समस्या है। दुर्खीम का विचार है कि अति विभिन्नीकरण तथा उग्र श्रम विभाजन होने पर सामूहिक अंतरात्मा की प्रबलता में कमी आती

है। ऐसी स्थिति में एक समूह के सदस्यों की क्रियाएँ सामान्य सामाजिक आदर्शों द्वारा नियमित नहीं हो सकतीं। विभिन्नीकरण का उग्र रूप सामान्य विश्वासों, नैतिकता तथा आदर्शों का अभाव प्रमाणविहीनता उत्पन्न करता है जिसे दुर्खीम द्वारा प्रतिमान हीनता कहा गया है।

अभ्यास 1

अपने ग्राम/स्थानीय क्षेत्र/कार्यालय के व्यक्तिगत बोध के आधार पर इन तीन क्षेत्रों में से किसी एक पर दो पृष्ठों में श्रम विभाजन की वास्तविक प्रकार्यात्मकता पर एक नोट लिखिए।

iv) सामाजिक व्यवस्था तथा मूल्य-मतैक्य

जिस प्रकार दुर्खीम का प्रमुख संबंध सामाजिक एकात्मकता के विषय से है उसी प्रकार, पारसन्स सामाजिक व्यवस्था पर बल देता है, जिसे अपनी पुस्तक "द सोशल सिस्टम" में विकसित किया है। उसका कहना है कि सामाजिक जीवन का मुख्य लक्षण पारस्परिक लाभ तथा शांतिपूर्ण सहयोग है, न कि पारस्परिक शत्रुता तथा विनाश। पारसन्स का विश्वास है कि सामान्य मूल्यों के प्रति वचनबद्धता केवल समाज के लिए व्यवस्था का एक आधार प्रदान करती है।

पारसन्स के अनुसार "मूल्य-मतैक्य" समाज में आधारभूत संयोजन सिद्धांत का निर्माण करता है। सामान्य लक्ष्य, एकता तथा सहयोग की व्युत्पत्ति सहभाजित मूल्यों, एकता एवं सहयोग से हुई है। क्या वांछनीय तथा उपयुक्त है, इसकी सामान्य संकल्पना मूल्य प्रदान करते हैं। विशिष्ट स्थितियों में लक्ष्य दिशा देते हैं। भूमिकाएँ साधन प्रदान करती हैं जिनसे मूल्यों तथा लक्ष्यों को कार्य में परिणति किया जाता है।

पारसन्स के अनुसार दो प्रमुख ढंगों से सामाजिक संतुलन (व्यवस्था के सभी अंगों का संतुलन) कायम रहता है :

- प्रथम में समाजीकरण होता है जिसके माध्यम से मूल्यों का संचार एक पीढ़ी से दूसरी में होता है तथा मूल्यों को आत्मसात किया जाता है जिससे वे व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन सकें। पश्चिमी समाज में परिवार तथा शिक्षा व्यवस्था इस प्रकार्य से संबंधित प्रमुख संस्थाएँ हैं।
- दूसरे, सामाजिक नियंत्रण की विभिन्न विधियों के द्वारा भी यह कायम रहता है जो विचलन को रोकती हैं और व्यवस्था को बनाए रखती हैं। इस प्रकार, समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रियाएँ प्रणाली के संतुलन और व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए आधारभूत हैं।

इस प्रकार समाजीकरण तथा सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रियाएँ समूह के सदस्यों के मध्य "मूल्य-मतैक्य" की चेतना का संचार करती हैं और व्यवस्था के अनुरक्षण में सहायक होती हैं।

पारसन्स के अनुसार अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण और प्रतिरूप अनुरक्षण प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ हैं। समाज के अस्तित्व के लिए ये अनिवार्य पूर्व दशाएँ हैं।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि मूल्य-मतैक्य, व्यवस्था, समाजीकरण और सामाजिक नियंत्रण के अभाव में सामाजिक समस्याएँ पैदा होती हैं।

मूल्य-मतैक्य, सामाजिक संतुलन तथा व्यवस्था, प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाओं, अनुकूलन, लक्ष्य प्राप्ति, एकीकरण तथा प्रतिरूप अनुरक्षण के अभाव में दुर्बल हो जाती हैं। इस स्थिति में समाज को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

अभ्यास 2

भारत में विभिन्न धर्मों, भाषाओं तथा क्षेत्रों के लोगों के सामाजिक एकीकरण की प्रकृति पर दो पृष्ठों में एक टिप्पणी तैयार कीजिए।

v) सामाजिक दुष्क्रिया, प्रतिमानहीनता और संरचना

मर्टन कहता है कि सामाजिक समस्याएँ वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ दोनों पक्ष रखती हैं जिन्हें वह गोचर एवं अगोचर अथवा अंतर्निहित की संज्ञा देता है। उसके अनुसार केवल गोचर सामाजिक समस्याओं, जिन्हें स्पष्ट रूप से समाज में पहचाना गया है, का ही केवल अध्ययन नहीं किया जाए बल्कि अगोचर सामाजिक समस्याओं का भी अध्ययन किया जाए, जो कि उन दशाओं की ओर संकेत करती हैं जिनका प्रचलित हितों एवं मूल्यों से विरोध है, परंतु सामान्यतः ऐसा माना नहीं जाता। गोचर समस्याएँ व्यक्त एवं वस्तुनिष्ठ हैं जबकि अगोचर समस्याएँ दबी हुई अथवा अंतर्निहित होती हैं। सामाजिक समस्याओं के दोनों गोचर तथा अगोचर पक्ष, दुष्क्रिया से प्रभावित होते हैं।

मर्टन के विश्लेषण में सामाजिक समस्याओं का अध्ययन व्यवहार के प्रतिमान, विश्वास तथा संगठन के दुष्क्रिया पर भी केंद्रित हैं केवल उनके प्रकार्यों पर ही नहीं। मर्टन के अनुसार एक सामाजिक दुष्क्रिया एक प्रक्रिया है जो सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता तथा अस्तित्व को क्षतिग्रस्त करती है। यह प्रत्यय इस भ्रम को तोड़ता है कि समाज में हर चीज़ सद्भाव एवं एकीकरण के लिए ही कार्य करती है।

एक सामाजिक दुष्क्रिया व्यवस्था के एक विशेष भाग की प्रकार्यात्मक आवश्यकता की पूर्ति में एक विशिष्ट अपर्याप्तता है। दुष्क्रिया परिणामों का एक समुच्चय प्रदान करता है जो कि एक सामाजिक व्यवस्था में प्रकार्यों की आवश्यकताओं में हस्तक्षेप करता है। उदाहरणार्थ, ग्रामों से नगरों को बड़े पैमाने पर प्रवासन सामाजिक एकात्मकता, जनांकिकीय रचना तथा ग्रामीण जीवन के आचार तत्व को कायम रखने के लिए दुष्क्रियात्मक है। साथ ही, वह नगरीय जीवन के लिए भी दुष्क्रियात्मक है क्योंकि वह भीड़-भाड़ में वृद्धि करता है और नगरीय सुख सुविधाओं में कमी पैदा करता है। एक सामाजिक व्यवस्था में वही सामाजिक प्रतिरूप कुछ के लिए दुष्क्रियात्मक और दूसरों के लिए प्रकार्यात्मक हो सकता है।

मर्टन ने सुझाव दिया कि सामाजिक संरचना की कुछ दशाएँ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं जिसमें सामाजिक संहिताओं का अतिलंघन एक सामान्य प्रत्युत्तर बन जाता है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक संरचना के तत्वों में दो तत्व सामाजिक समस्याओं की अध्ययन सुलभता के उद्देश्य से महत्वपूर्ण हैं। इस प्रसंग में, सामाजिक संरचना के दो पक्ष दृष्टि में रखना आवश्यक है :

- प्रथम में, संस्कृति द्वारा परिभाषित लक्ष्य सम्मिलित हैं। इसमें आकांक्षात्मक संदर्भ समाविष्ट हैं। इन सांस्कृतिक आकांक्षाओं में से कुछ मानव की मौलिक प्रेरणाओं से संबंधित हैं परंतु वे उनके द्वारा निर्धारित नहीं होती।
- संरचना का दूसरा पक्ष समाज द्वारा अनुमोदित साधन है।

प्रत्येक सामाजिक समूह अपने सांस्कृतिक उद्देश्यों के साथ उस नियमन को जोड़ता है जो इन उद्देश्यों की ओर बढ़ने के लिए अनुमोदित पद्धतियों की संस्थाओं में मूलरूप से निहित हैं।

लक्ष्यों तथा संस्थागत साधनों पर विभिन्न विभेदक बल के कारण समाज अस्थिर हो जाता है और वहाँ प्रतिमानहीनता विकसित होती है।

इस तरह मर्टन द्वारा प्रतिपादित प्रतिमानहीनता का सिद्धांत – तथा अवसरों की संरचनाएँ बताती हैं कि विभिन्न प्रकार के विचलित व्यवहार की दरें वहाँ सबसे उच्च होती हैं जहाँ संस्कृति द्वारा उत्प्रेरित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समाज द्वारा प्रदत्त विधिसंगत साधनों तक लोगों के पहुंचने के अवसरों का अभाव होता हे। उदाहरणार्थ, संस्कृति इसकी पुष्टि करती है कि एक समाज के सभी सदस्यों को अपनी सामाजिक परिस्थिति सुधारने का अधिकार है, परंतु उसके लिए स्वीकृत साधनों से वे वंचित कर दिए जाते हैं। अवसरों की यह अस्वीकृति सामाजिक समस्याओं के संरचनात्मक स्रोतों को समझने में सहायक हो सकती हैं।

बोध प्रश्न 2

i) दुष्क्रिया क्या है? सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में उसके महत्व का वर्णन आठ पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) अगोचर प्रकार्य की परिभाषा कीजिए तथा प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण में उसकी महत्ता चार पंक्तियों में दर्शाइए।

.....

.....

.....

.....

2.3.2 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्स इस सरल अभिमत से आरंभ करता है कि जीवित रहने के लिए मानव को भोजन तथा भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करना आवश्यक है। इस क्रिया में वह अन्य व्यक्तियों से संबंध स्थापित करता है। सरल आखेट चरण से जटिल औद्योगिक चरण तक उत्पादन एक सामाजिक उद्यम है।

प्रागैतिहासिक समाजों के अलावा सभी समाज आधारभूत विरोधाभास रखते हैं जिसका अर्थ है कि वे अपने वर्तमान स्वरूप में जीवित न रहेंगे। इन प्रतिवादों में निर्धन का शोषण धनी के द्वारा सन्निहित है। उदाहरणार्थ, सामंती समाज में जमींदार कृषिदास का शोषण करते थे। पूँजीवादी समाज में पूँजीपति अपने श्रमिकों का शोषण करते हैं। यह इन दोनों वर्गों के बीच हितों का मूलभूत संघर्ष उत्पन्न करता है क्योंकि एक, दूसरे की लागत पर लाभ उठाता है।

मार्क्स के अनुसार, पूँजीवादी व्यवस्था अनेक सामाजिक समस्याओं से ग्रसित है जैसे कि :

- मानव का मानव के द्वारा शोषण,
- असमानता और गरीबी,
- अपने द्वारा उत्पादित वस्तु से श्रमिक का अलगाव
- अपमानविकीकरण।

इस प्रसंग में हम मार्क्सवादी सैद्धांतिक ढाँचे में असमता तथा निर्धनता की विशेष रूप से विवेचना करना चाहेंगे। यह दोनों समस्याएँ भारतीय समाज से विशेष रूप से संबंधित हैं।

i) असमानता

मार्क्स के अनुसार असमानता सभी समाजों में घटित होती है क्योंकि उत्पादन के साधनों का असमान वितरण है।

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में एक समाज की समता पर आधारित प्रमुख पूर्वापेक्षा है कि "हर एक को उसकी आवश्यकतानुसार" जबकि पूँजीवादी व्यवस्था में तथा प्रकार्यवादी विश्लेषण में"हर एक को उसकी क्षमता के अनुसार" पर बल दिया जाता है।

प्रकार्यवादी तथा मार्क्सवादी असमता के स्रोतों पर असहमत हैं। दोनों सहमत हैं कि असमता समाज में श्रम विभाजन से जुड़ी है। मार्क्स ने बल देकर कहा कि सामाजिक असमता अंतिम रूप से आर्थिक असमानता तथा वंचन का परिणाम है। प्रकार्यवादियों के अनुसार स्तरीकरण समाज के लिए प्रकार्यात्मक है तथा स्तरीकृत समाजों में सामाजिक असमता का होना स्वाभाविक है। सभी मानवों के गुण, योग्यता, निष्पादन तथा उपलब्धियाँ समान नहीं होतीं। इस प्रकार प्रकार्यवादी विश्लेषण में सामाजिक असमता भी प्रकार्यवादी दिखाई देती है।

ii) निर्धनता

पूँजीवादी समाज मे निर्धनता, मार्क्स के अनुसार, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के द्वारा जनित असमानता के संदर्भ में ही समझी जा सकती है। उत्पादन के साधनों के जो स्वामी हैं, उन्हीं के पास धन का संकेंद्रण पाया जाता है। श्रमिक वर्ग के सदस्य केवल अपने श्रम के स्वामी हैं जिसे वे श्रमिक बाजार में मज़दूरी के बदले बेचने के लिए बाध्य है।

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में, पूँजीवादी समाज में राज्य शासक वर्ग के हितों का परावर्तन करता है, इसलिए, सरकारी उपायों से निर्धनता के कठोर प्रभावों को कम करने के सिवाय बहुत थोड़ी आशा की जा सकती है।

पूँजीवादी समाजों में भी सामाजिक कल्याण एवं सुरक्षा को इसलिए अपनाया गया है ताकि निर्धन एवं सामाजिक रूप से वंचित लोगों की कठिनाइयों को कम किया जा सके। इन उपायों ने सहायतार्थी की सहायता की है परंतु उनका परिणाम धन का, धनी से निर्धन को, पुनः वितरण नहीं है। अति निर्धनता तथा कुछ ही हाथों में धन का एकत्र हो जाना पूँजीवादी

व्यवस्था के अपरिहार्य परिणाम हैं। निर्धनता का हल सामाजिक सुरक्षा के उपायों में सुधार नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था में सामाजिक समस्याओं की तरह उसके लिए सामाजिक संरचना में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

2.3.3 सामाजिक समस्याओं का गांधीवादी दृष्टिकोण

गांधीवादी दृष्टिकोण को उचित रूप से समझने के लिए, उसके मूलभूत परिप्रेक्ष्य तथा तात्कालिक सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों में स्पष्ट भेद करना आवश्यक है। जहाँ तक कि उसके मूलभूत परिप्रेक्ष्य का संबंध है, गांधी एक नैतिक व्यवस्था की रचना चाहते थे, जो सत्य, अहिंसा, बंधुत्व, स्वराज्य, शक्ति एवं अर्थव्यवस्था का विकेंद्रीकरण, सादगी एवं निश्चित शांतिपूर्ण साधनों द्वारा अन्याय का प्रतिरोध, जिसे सत्याग्रह कहा जाता है, पर आधारित हो।

गांधी के युग में भारतीय समाज के सामने अनेक सामाजिक समस्याएँ थीं। इनमें से कुछ बड़े और अन्य छोटे पैमाने की थीं जैसे कि स्त्रियों की निम्न स्थिति, अस्पृश्यता, निर्धनता, निरक्षरता, उपनिवेशी शिक्षा, ग्रामीण पुनर्निर्माण तथा दैनिक राजनीतिक समस्याएँ। जब गांधी भारतीय राजनीतिक पटल पर एक राजनीतिक एवं एक सामाजिक विचारक के रूप में प्रकट हुए वह इनकी गंभीरता से परिचित थे।

i) साधन एवं साध्य

सामाजिक समस्याओं का गांधीवादी दृष्टिकोण साधन तथा साध्य को एक समग्र का भाग मानता है जिसका लोकातीत संदर्भ है, मार्क्स की तरह नहीं जो साध्य पर विशेष बल देता है। गांधी एक शोषणरहित सामाजिक व्यवस्था के पक्षधर थे क्योंकि वह भली प्रकार समझते थे कि हिंसा एक शोषणपूर्ण व्यवस्था में निहित होती है। गांधी के जीवन का महत लक्ष्य भारत के लिए "स्वराज्य" की प्राप्ति था। उनका सामाजिक-राजनैतिक दर्शन सत्य, अहिंसा और साध्य-साधन की एकता पर आधारित था।

गांधी के लिए साधन उपकरण मात्र नहीं है, वे सृजनशील क्षमता से परिपूर्ण हैं। उनकी रचनात्मक साधनों की खोज ने जो एक सकारात्मक आध्यात्मिक निर्णय से निःसृत है मानव जाति को एक ऐसा नैतिक अस्त्र प्रदान किया जो सब प्रकार के उत्पीड़नों का विरोध करने के लिए है – चाहे ये उत्पीड़न सामाजिक व्यवस्था के अंदर से किए गए हों या बाहर से। गांधी ने इस नैतिक अस्त्र को "सत्याग्रह" के नाम से पुकारा है। उनके लिए केवल साध्य सही नहीं बल्कि उनके प्राप्त करने वाले साधन भी उतने ही पवित्र होने चाहिए।

ii) नवीन आर्थिक व्यवस्था

गांधी ने कहा है कि एक अहिंसात्मक समाज की रचना कारखाने की सभ्यता पर नहीं हो सकती है बल्कि उसकी रचना स्व-निर्भर गाँवों से ही हो सकती है। आज की प्रचलित हिंसा की जड़ें मुख्यतः आर्थिक कारकों में हैं तथा उसका उपचार समाज में धन के केंद्रीयकरण को हटाना है। उत्पादन व्यवस्था को आवश्यकताओं के प्रगतिशील तथा नियमित अल्पीकरण के आदर्श पर आधारित होना चाहिए न कि आवश्यकताओं के बहुलीकरण पर। अर्थव्यवस्था को जीवन केंद्रित होना चाहिए न कि वस्तुओं के विशाल उत्पादन पर। इसका अर्थ है कि सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को आवश्यकतानुकूल उत्पादन के आध्यात्मिक सिद्धांत पर चलना चाहिए न कि अधिकतमकरण सिद्धांत पर। परिणामतः इसे एक शोषणरहित अर्थव्यवस्था होना है जो सरल और सीमित औद्योगिकी पर आधारित हो। सामाजिक और आर्थिक संगठन पर विकेंद्रीकरण होना चाहिए – जिसका आधार आवश्यकतानुकूल स्वायत्तता

का सिद्धांत हो। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को स्पर्धारहित तथा अर्जनशीलतारहित होना चाहिए जिसका आधार न्यासिता का सिद्धांत हो।

iii) असमानता

गांधीवादी दृष्टिकोण यह विचार प्रस्तुत करता है कि आर्थिक समता का लक्ष्य मज़दूरी की समानता है जो कि ईमानदारी से दिन भर काम करने पर एक व्यक्ति को दी जाती है, चाहे वह एक वकील, डॉक्टर, शिक्षक या मेहतर हो। समानता की इस स्थिति में पहुंचने के लिए अग्रिम उन्नतिशील प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

अतः गांधीवादी विचारों में आर्थिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि सभी व्यक्ति शब्दार्थ के अनुसार समान धनराशि अथवा सांसारिक वस्तुओं की समान तादाद उनके कब्जे में होगी। यह संभव है कि धनवान और निर्धन के बीच अंतर को कम किया जाए। उन थोड़े से धनवान व्यक्तियों को जिनके पास राष्ट्र की संपत्ति का बहुत बड़ा अंश एकत्रित है सामान्य रूप से नीचे की ओर समतल करना चाहिए तथा उन लाखों निर्धन, मूक व्यक्तियों के स्तर को ऊपर की ओर ले जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त हर एक को एक संतुलित आहार, रहने के लिए समुचित आवास, अपने तन को ढकने के लिए पर्याप्त कपड़ा, बच्चों को शिक्षित करने की सुविधाएँ तथा यथेष्ट चिकित्सा संबंधी सहायता निश्चित रूप से मिलनी चाहिए। अतः आर्थिक समानता का वास्तविक अर्थ है कि "हर एक को उसकी आवश्यकतानुसार सुविधाएँ प्राप्त हों"। गांधी एक प्राणहीन समानता पैदा नहीं करना चाहते थे। जहाँ हर एक मानव अपनी योग्यता के अधिक से अधिक प्रयोग की संभावना में अक्षम हो जाए या अक्षम कर दिया जाए क्योंकि ऐसा समाज अपने विनाश के बीज साथ ही वहन करता है।

वे चाहते थे कि धनी अपनी संपत्ति को निर्धन की धरोहर मानकर रखें ताकि उनके लिए वह उनको छोड़ सकें। हिंसात्मक ढंग से धनी को संपत्ति से बेदखल कर देने से आर्थिक समता की स्थिति को नहीं लाया जा सकता। हिंसात्मक क्रिया से समाज को कोई लाभ नहीं होता क्योंकि उससे एक मानव के स्वाभाविक गुण नष्ट हो जाते हैं जो कि उत्पादन करने की योग्यता रखता हो तथा संपत्ति में वृद्धि कर सकता हो।

iv) जाति व्यवस्था एवं अस्पृश्यता

अपने पहले के लेखों में गांधी वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति अनुकूल जान पड़ते हैं जिसमें उनका निहित अर्थ आत्म-संयम, संरक्षण तथा शक्ति की मितव्ययिता है। किसी एक वर्ण को दूसरे से अन्यायपूर्ण अपनी उच्च परिस्थिति के हक की माँग करना मानवीय प्रतिष्ठा को नकारना है, और विशेषतया समाज के उस भाग के लिए जिसे एक अनुचित ढंग से अस्पृश्य माना जाता हो। अस्पृश्यता एक अभिशाप है जो हमको प्राप्त हुई है। जब तक हिंदू अस्पृश्यता को अपने धर्म का हिस्सा मानते रहेंगे, तब तक स्वराज नहीं प्राप्त हो सकता।

v) रचनात्मक कार्यक्रम

गांधी जी ने अंस्पृश्यों को "हरिजन" नाम से संबोधित किया था। वे अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए इतने चिंतित थे कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की साधारण सदस्यता से इस्तीफा दे दिया और केवल अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए काम करने का निश्चय किया।

अस्पृश्यता को दूर करने तथा खादी को प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त गांधीवादी रचनात्मक कार्यक्रम में सांप्रदायिक एकता, मद्य निषेध, ग्रामीण स्वच्छता, स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य-विज्ञान, बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा तथा साक्षरता, स्त्रियों का उत्थान, हिंदी का प्रसार, आर्थिक समानता के लिए कार्य, आदिवासियों की सेवा तथा छात्रों, किसानों एवं श्रमिकों का सहयोग सम्मिलित है।

गांधीवादी विचारधारा में सामुदायिक व्यवस्था के उद्देश्य शोषणरहित जीवन पर निर्भर थे जो कि गांधी के द्वारा प्रदत्त ग्यारह संकल्पों से समरसता रखे थे। ये संकल्प थ -- सत्य, अहिंसा, स्वाद नियंत्रण, चोरी न करना, अपरिग्रह, अभय, स्वदेशी, अस्पृश्यता हटाया जाना, श्रम, सहनशीलता करना तथा धर्मों में समानता।

बोध प्रश्न 3

i) कार्ल मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज की क्या सामाजिक समस्याएं होती हैं? सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) गांधीवादी विचारधारा की प्रमुख विशेषताएं बताइए। आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.4 इन दृष्टिकोणों की अपर्याप्तता

प्रकार्यवादी, मार्क्सवादी तथा गांधीवादी दृष्टिकोणों ने अपने परिप्रेक्ष्य में सामाजिक समस्याओं को समझने का प्रयास किया है। कोई भी दृष्टिकोण अंतिम नहीं माना जा सकता। हमको ध्यान रखना है कि इन दृष्टिकोणों का अपने काल एवं उद्‌गम-स्थान की आवश्यकताओं के अनुसार उद्‌भव हुआ। शास्त्रीय प्रकार्यवादी जैसे काम्टे, स्पेंसर, दुर्खीम का संबंध उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय समाज की समस्याओं से था जो कि रूपांतरण की प्रक्रिया की नवीन चुनौतियों का अनुभव कर रहा था अर्थात् ग्रामीण से नगरीय, कृषि से औद्योगिक, सामंती से पूँजीवादी व्यवस्था की ओर बढ़ रहा थ। स्वाभाविक रूप से उनका संबंध समाज के पुनर्गठन, प्रकार्यात्मक एकीकरण तथा सामाजिक एकात्मकता से था। दूसरी ओर कार्ल मार्क्स का अधिकांश संबंध मानव समाज के ऐतिहासिक विकास, औद्योगिकीकरण एवं

पूँजीवाद से उत्पन्न समस्याओं से था जैसे कि परकीयकरण अथवा सिवसंवधन, मानव का मानव द्वारा शोषण, अमानवीकरण तथा कार्य करने की दशाएँ। गांधी का प्रमुख संबंध भारतीय समाज की समस्याओं से था जैसे कि उपनिवेशवाद, साम्राज्यवादी शोषण, स्त्रियों की परिस्थिति, मद्यपान, ग्रामीण समुदायों का दुर्बल होना तथा विनाश की ओर बढ़ना तथा घरेलू उद्योग धंधों का विनाश होना, इत्यादि।

इन विचारधाराओं की कुछ सीमाएं थी जिनके बारे में प्रश्न भी उठाए गए। आइए, इन सीमाओं की एक-एक कर पहचान करें।

2.4.1 प्रकार्यवादी दृष्टिकोण का समीक्षात्मक पुनर्विवेचन

इन दृष्टिकोणों की अपर्याप्तता के विषय में सवाल उठाए गए हैं। संक्षेप में हम इन दृष्टिकोणों की अपर्याप्तता का विवेचन करेंगे। प्रकार्यवादी दृष्टिकोण की इन मूलभूत प्रस्तावनाओं पर पी.ए. सोरोकिन ने अपनी पुस्तक "सोशियालोजिकल थियरीज़ टुडे", 1996 में आपत्ति की है। सोरोकिन के अनुसार, दासों एवं स्वामियों, अधीन तथा उनके विजेताओं के सहभाजित अभिविन्यासों तथा लक्ष्यों में समानता नहीं है जबकि यह तथ्य है कि वे एक ही समाज के भाग हैं। दुष्क्रियात्मक पक्षों के विषय में, सोरोकिन सवाल करता है कि सुकरात, ईसा तथा मार्क्स की क्रियाओं को क्या कहा जा सकता है – प्रकार्यवादी या दुष्क्रियावादी। पूर्वकालीन ईसाई समुदायों द्वारा दिया गया बल या नागरिक अधिकारों के लिए काम करने वालों के द्वारा दिया गया बल अनुकूलन पर है या प्रतिकूलन पर। इन प्रश्नों के उत्तर इस पर निर्भर होंगे कि हम अपनी पहचान क्रमशः इन समाजों में किस पक्ष के साथ रखते हैं।

प्रकार्यवादी दृष्टिकोण अपने विवेचन में एक प्रभाव को एक कारण मानती है। वह व्याख्या करती है कि एक व्यवस्था के भाग इसलिए अस्तित्व रखते हैं क्योंकि उनके लाभदायक परिणाम समग्र व्यवस्था के लिए हैं। इसके अतिरिक्त, वह मानव क्रियाओं का निर्धारणवादी दृष्टिकोण प्रदान करता है क्योंकि यह वर्णन किया गया है कि मानव का व्यवहार व्यवस्था द्वारा निर्धारित है। मानव को एक स्वचालित यंत्र, कार्यक्रमबद्ध, निदेशित तथा व्यवस्था द्वारा नियंत्रित चित्रित किया गया है।

एल्विन गूल्डनर कहता है कि साध्यों तथा मूल्यों, जिनका मानव अनुसरण करता है कि महत्ता पर बल देते समय पारसन्स कभी नहीं पूछता कि ये किसके साध्य या मूल्य हैं। थोड़े से प्रकार्यवादी इस संभावना को स्वीकार करते हैं कि समाज में कुछ समूह अपने ही हितों के संदर्भ में क्रिया करते हुए दूसरों पर प्रभाव जमाते हैं। इस दृष्टिकोण से, सामाजिक व्यवस्था शक्तिमान के द्वारा आरोपित है तथा मूल्य-मतैक्य केवल प्रभावी समूह की स्थिति को वैधता प्रदान करता है।

प्रकार्यवादी, इस प्रकार के हितों के संघर्ष का मान्यता प्रदान करने में असफल हैं जिनमें अस्थिरता तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है। संघर्ष भी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है, अतएव सामाजिक समस्याओं के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में समान रूप से सार्थक हैं। प्रकार्यवादी दृष्टिकोण में, ऐतिहासिक व्याख्याओं को समाज तथा उसकी समस्याओं को समझने में बहुत कम स्थान दिया गया है।

2.4.2 मार्क्सवादी दृष्टिकोण की समालोचना

दोनों, प्रकार्यवादी तथा मार्क्सवादी, प्रकृति में निर्धारणवादी हैं। पहले में निर्धारणवादी कारक सामाजिक व्यवस्था है जबकि दूसरे में वह कारक उत्पादन की पद्धति तथा अर्थव्यवस्था है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आलोचनात्मक समीक्षा में हमको मार्क्सवाद के निम्नलिखित दो पक्षों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए :

- मार्क्सवाद एक सिद्धांत के रूप में,
- मार्क्सवाद एक कार्यान्वयन के रूप में।

पहले पक्ष के संबंध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने भौतिक शक्तियों तथा संघर्ष की भूमिका पर अत्याधिक बल दिया है। उसने पूँजीवादी समाज की वर्ग संरचना का अति-सरलीकरण किया है जिसमें नवीन धंधे, व्यवस्था तथा मध्य वर्ग को ध्यान से हटा दिया है।

कार्यान्वयन में मार्क्सवादी कल्पनालोक पहले की सोवियत यूनियन के साम्यवादी राज्यों तथा पूर्वी यूरोप द्वारा प्राप्त न हो सका। साम्यवादी राज्यों की विशेषताएँ थीं : तानाशाही पुलिस राज्य, अकुशलता एवं भ्रष्टाचार। परिणामतः न केवल मार्क्सवादी राज्य ढ़ह गए बल्कि मार्क्सवाद का स्वप्न सोवियत यूनियन तथा पूर्वी यूरोप में चकनाचूर हो गया।

मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि अंत में मध्य वर्ग समाप्त हो जाएगा और केवल दो वर्ग रहेंगे अर्थात् पूँजीपति तथा श्रमिक वर्ग। परंतु एक विपरीत प्रक्रिया प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है जिसके द्वारा समृद्ध हाथ से काम करने वाले श्रमिकों की बढ़ती हुई संख्या मध्यवर्ती स्तर में प्रवेश करके मध्य वर्ग बनता जा रहा है जहाँ जनसंख्या में बहु-संख्या मध्यम वर्ग की है न कि श्रमिक वर्ग की। यह प्रक्रिया दोनों पूँजीवादी तथा साम्यवादी समाजों में दृष्टिगोचर हो रही है।

जिलास के अनुसार साम्यवादी राज्यों में एक नए वर्ग का उदय हुआ जिसमें, साम्यवादी नेता भी शामिल थे। इस वर्ग के पास राजनीतिक शक्ति और बेहतर अवसर उपलब्ध थे। साम्यवादी राज्यों में भी वर्ग, संरचना और नए वर्ग का अधिसंख्यक वर्ग पर अधिपत्य पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सका।

सामाजिक समस्याओं के कई कारण थे। किसी एक कारण से विश्लेषण संभव नहीं था। हालांकि मार्क्स ने केवल आर्थिक कारणों पर ही बल दिया था। इसके अलावा संस्कृति और सामाजिक संरचना के समग्र दृष्टिकोण में अन्तिम परिणाम पर बल देना बहुत तर्कसंगत नहीं था।

समाज बदल रहा था। कई प्रवृत्तियां एक दूसरे में घुल मिल रही थीं, कई में टकराव हो रहा था। इससे नई चेतना पैदा हो रही थी और इसके परिणामस्वरूप पहले से अलग प्रकार की सामाजिक समस्याएं पैदा हो रहीं थीं। सामाजिक समस्याओं को एकीकृत दृष्टिकोण के संदर्भ में दिक् और काल का संदर्भ महत्वपूण हो गया।

2.4.3 गांधीवादी दृष्टिकोण पर पुनर्दृष्टि

गांधीवादी दृष्टिकोण वर्तमान व्यवस्था की आलोचनात्मक समीक्षा करता है, एक नवीन समाज के निश्चित मूल तत्वों को प्रस्तुत करता है तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए एक पद्धतिशास्त्र प्रदान करता है। आलोचकों की युक्ति है कि गांधीवादी दृष्टिकोण में मौलिकता का अभाव तथा यह परंपरात्मक भारतीय विचारों, समाजवाद तथा उदारतावाद का एक सम्मिश्रण वह आदर्शवादी है तथा सामाजिक वास्तविकता की रूक्ष प्रकृति से परे है। अन्याय के प्रतिकार की गांधीवादी सत्याग्रह की पद्धति आज किसी न किसी रूप में सारे विश्व में मान्य है। संयुक्त राज्य अमेरिका में निवास करने वाले लोगों ने गोरों के अन्याय से मुक्ति के लिए इस पद्धति का सफलतापूवर्क उपयोग किया है। दक्षिण अफ्रीका के नस्ल

विरोधी संघर्ष में भी इस पद्धति का उपयोग किया गया है। पूर्वी यूरोप की जनता ने साम्यवादी तानाशाही के विरुद्ध भी इसका उपयोग किया है।

अभ्यास 3

किसी गांधीवादी रचनात्मक कार्यक्रम (जैसे कि गांधी आश्रम, हरिजन सेवक संघ या आदिम जाति सेवक संघ) के कार्यों पर एक पृष्ठ का एक नोट लिखिए।

2.5 समकालीन सामाजिक वास्तविकता : दुष्क्रियात्मक पक्ष

वे क्रियाएँ तथा दशाएँ जो समाज की सरल प्रकार्यात्मकता पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है दुष्क्रियात्मक कहलाती है। समाजशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग मर्टन ने किया। सभी समाजों में अपराध, बाल अपराध, मद्यपान, मादक द्रव्य व्यसन, वेश्यावृत्ति, निर्धनता तथा सामाजिक-आर्थिक असमानता दुष्क्रियात्मक स्वीकार की गई हैं।

समकालीन समाज में अनेक दुष्क्रियात्मक क्रियाएँ एवं दशाएँ हैं जो विश्व, राष्ट्रीय तथा स्थानीय स्तर पर पाई जाती हैं। इन तीनों स्तरों की दुष्क्रियात्मक क्रियाएँ एक दूसरे से बड़ी गहराई से जुड़ी हुई हैं।

2.5.1 विश्व स्तरीय दुष्क्रियाएं

कई ऐसी संस्थाएँ हैं जो विश्व स्तर पर कार्य करती हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद "लीग ऑफ नेशंस" की स्थापना भविष्य में होने वाले युद्धों की रोकथाम और विभिन्न राष्ट्रों के बीच पारस्परिक समझ की अभिवृद्धि के लिए हुई थी। यह अपने कार्यों को प्रभावशाली ढंग से पूरा न कर सकी। अंत में सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत हो गई। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में भीषण बर्बादी हुई। जब तक यू.एस.एस.आर. विघटित नहीं हुआ तब तक शीत युद्ध की धमकी और आणविक अस्त्रों के भय का अनुभव विश्वव्यापी स्तर पर मानव जाति द्वारा किया गया। हाल ही के दशकों में धार्मिक रूढ़िवाद के उद्‌भव से बेरोज़गार की दर में वृद्धि, अर्थव्यवस्था की मंदवृद्धि, सार्वभौमिक आतंकवाद के आविर्भाव की प्रबल सार्वभौमिक चुनौतियाँ हैं।

दुनिया अब भूमंडलीकृत हो गई है, इसलिए सामाजिक समस्याएं राष्ट्रीय सीमाओं में कैद नहीं रह गई हैं परंतु कुछ समस्याएं कुछ खास देशों में ही प्रमुख रूप से सक्रिय है। इस संदर्भ में हम राष्ट्रीय स्तर पर भारत की कुछ दुष्क्रियाओं और समस्याओं की चर्चा करने जा रहे हैं। संस्था के रूप में धर्म का काम आदमी आदमी के बीच भाईचारा और सौहार्द फैलाना है। दुर्भाग्यवश भारत में विभाजन के सम्प्रदायवाद के दुष्क्रियात्मक पक्षों को बढ़ावा दिया है। इसके परिणामस्वरूप यहां कट्टरपंथ और आतंकवाद ने काफी तबाही मचाई है।

इसी प्रकार भारतीय समाज की कुछ विशिष्ट समस्याएं हैं, गरीबी, अस्पृश्यता, जातिवाद और भ्रष्टाचार, जो भारतीय प्रजातंत्र को नीचे से झकझोर देता है।

2.5.2 स्थानीय दुष्क्रियाएं

भारतीय समाज की कुछ अन्य दुष्क्रियात्मक दशाएँ हैं जो स्थान विशेष, क्षेत्र अथवा राज्यों से संबंधित हैं। उदाहरणार्थ आतंकवादी गतिविधियाँ मुख्यतया कश्मीर, और पूर्वोत्तर राज्यों में केंद्रित हैं। इसी तरह, जातीय हिंसा, लिंग आधारित सामाजिक भेदभाव, संरक्षणवाद इत्यादि दुष्क्रियात्मक गतिविधियों के स्थानीय रूप हैं।

वास्तविक प्रश्न यह है कि कैसे और क्यों ऐसी दुष्क्रियात्मक दशाएँ समाज में विकसित होती हैं। भिन्न-भिन्न समाजों में समस्याओं के अपने विशिष्ट संदर्भ होते हैं। भारत की सामाजिक, आर्थिक दशाओं तथा पश्चिमी यूरोप एवं उत्तरी अमरीका में अंतर है। इस प्रकार इन समाजों के सम्मुख जिन सामाजिक समस्याओं की चुनौती है उनमें भी अंतर है।

एक समाज में दुष्क्रियाओं का निकट संबंध सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक विकास से होता है। पश्चिमी औद्योगिक पूँजीवादी समाज जो वैचारिक समर्थन प्रकार्यात्मक सिद्धांत से प्राप्त करते हैं अपराधों, बाल अपराध, मद्यपान, अकेलापन, यौन अपराध मानसिक व्यवधान, तलाक की बढ़ती हुई दर तथा बढ़ती आर्थिक असमानता की चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। उसी प्रकार से, पहले के सोवियत रूस में तथा पूर्वी यूरोप में, जहाँ पिछले सात दशकों से शोषण, अपमानवीयकरण, अजनवीपन तथा सामाजिक-आर्थिक असमानता से मुक्त समाज की रचना का प्रयास किया गया था, वह भी दुःस्वप्न सिद्ध हुआ है। भारतीय समाज भी जहाँ गांधी ने अपने सत्य, अहिंसा तथा नैतिक व्यवस्था के प्रयोग किए आज हिंसा, आतंकवाद, अपराध एवं भ्रष्टाचार की बढ़ती हुई चुनौतियों का सामना कर रहा है।

इन तथ्यों के प्रकाश में यह आवश्यक है कि वैकल्पिक प्रतिमानों को विकसित किया जाए। जो कि सामाजिक समस्याओं की प्रकृति की व्याख्या सामाजिक-आर्थिक विकास के संदर्भ में कर सकें।

2.6 रूपांतरण की प्रतिमानों एवं सामाजिक समस्याएँ

पिछले कुछ वर्षों में प्रतिमान के प्रत्यय का सामाजिक विज्ञानों में बहुधा प्रयोग हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ है – एक शब्द की विभक्तियाँ जिसे उदाहरण के लिए सारणीबद्ध किया गया है, या भिन्न-भिन्न शब्दों या मोड़ या वक्र के व्याकरणिक संबंधों को व्यक्त करना। इस प्रकार प्रतिमान का प्रत्यय व्याकरण से आया है। सर्वप्रथम, सामाजिक विज्ञानों में प्रतिमान प्रत्यय का सैद्धांतिक तथा दार्शनिक निरूपण थामस एस. कुन ने अपनी पुस्तक "द स्ट्रक्चर ऑफ साइन्टीफिक रिवोल्यूशन'', 1962, में किया था। सामाजिक विज्ञानों में इस प्रत्यय का प्रयोग विचारों का लीक से हटना, विचारों में क्रांति, उत्कट विवेचन तथा वाद-विवाद के उपरांत पुराने विचारों के स्थान पर विचारों की नवीन परंपराओं के उद्भव के अर्थ में किया जाता है।

दो सौ साल के दर्मियान सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास के प्रतिमानों के बारे में एक बड़े पैमाने पर वाद-विवाद चल रहा है। इस प्रक्रिया में, विचारों में बदलाव हुए तथा एक वैचारिकी के स्थान पर दूसरी वैचारिकी को अपनाया गया। आधुनिक शब्दावली में इसे प्रतिमान का बदलाव कहा जा सकता है या विकास की पुरानी प्रतिमान के स्थान पर विकास की नवीन प्रतिमान का उद्भव हुआ। विकास की इन प्रतिमानों को हम इन निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

- उदारतावादी-पूँजीपति
- साम्यवादी
- लोकतंत्रीय समाजवादी।
- भारतीय प्रयोग और गांधीवादी प्रतिमान

2.6.1 उदारतावादी-पूँजीवादी प्रतिमान

उदारतावादी औद्योगिक लोकतंत्र ने विचारों के नवीन प्रतिमानों को जनित किया जो पूर्वकालों के विचारों में पूर्णतया भिन्न थे। इस प्रतिमान का प्रमुख बल लोकतंत्र, राजनीतिक

स्वतंत्रता, स्वतंत्र उद्यम, औद्योगिकीकरण, आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा जन उत्पादन पर था। इन विचारों के अमल के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक राज्य, बड़े पैमाने का औद्योगिकीकरण, ग्रामों से नगरों को प्रवासन, यूरोप एवं उत्तरी अमरीका में अपूर्वगामी नगरीकरण जैसी प्रक्रियाएँ तीव्रता के साथ उभरीं। इनके फलस्वरूप नामहीनता, अवैयक्तिक संबंध तथा सामाजिक नियंत्रण की परंपरात्मक पद्धति में दिखाई पड़ता है।

लोकतंत्रीय पूँजीवादी समाज अपने नागरिकों को रहन सहन का एक न्यूनतम स्तर तथा पर्याप्त राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान करने में सफल हुआ है। साथ ही, विकसित तथा औद्योगीकृत समाज अपराध, श्वेतवसन अपराध, युद्ध का भय, बाल अपराध, प्रतिमानहीनता, मानसिक स्वास्थ्य समस्या, प्रजाति पर आधारित भेदभाव तथा उदासीनता से पीड़ित हैं। निर्धनता तथा लिंग भेद की समस्याओं के समाधान में वह सफल नहीं हुआ है। सन् 1992 में अमेरिका में उपद्रव हुए। प्रजातीय घृणा की वृद्धि का एक उदाहरण है। इसी तरह की गोचर व अगोचर प्रजातीय घृणा की प्रवृत्तियाँ इंग्लैंड, जर्मनी तथा फ्रांस में भी दिखाई देती हैं।

2.6.2 साम्यवादी प्रतिमान

सामाजिक तथा आर्थिक विकास की साम्यवादी प्रतिमान मुख्यतः मार्क्स तथा लेनिन के सिद्धांतों पर आधारित है। साम्यवादी वैचारिकी पूँजीवादी वैचारिकी की विरोधी है। उसका प्रमुख बल सामूहिकता, साम्यवादी राज्य द्वारा उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण, सर्वहारा तथा अधिनायकत्व तथा उत्पादन के साधनों तथा स्रोतों का उपयोग श्रमिक वर्ग के हित के लिए करने पर है। अपने शास्त्रीय विश्लेषण में मार्क्स का विचार था कि उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था ने वर्ग संघर्ष, शोषण, सामाजिक तथा आर्थिक असमानता, श्रमिक वर्ग का दमन तथा उनका उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से विसंबंधन की समस्याएँ पैदा किया है।

साम्यवाद का दावा है कि वह सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था का विकल्प प्रदान करता है। पूँजीवादी व्यवस्था से पैदा हुई इन सामाजिक समस्याओं का उसके द्वारा समाधान मान लिया गया था। एक वैकल्पिक प्रतिमान की तरह साम्यवाद सोवियत रूस में 1917 से 191 तक, चीन में 1949 से, पूर्वी यूरोप के अधिकांश देशों में 1945 से 1991, वियतनाम में 1945 तथा क्यूबा में 1955 से अमल में लाया गया। साम्यवादी समाज अनेक सामाजिक राजनीतिक समस्याओं से पीड़ित रहे जैसे कि अधिनायकत्व, स्वतंत्रता का अभाव, बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार, अकुशलता, तलाक मे वृद्धि, त्रस्त करने वाली गर्भपात की दर, अकेलापन तथा भय का मनस्ताप। साम्यवादी समाज निर्धनता की समस्या, जीवन के गुणात्मक पक्ष के एक न्यूनतम स्तर का अभाव, इत्यादि पूर्ण रूप से हल न कर सके। परिणामतः साम्यवाद केवल सोवियत रूस में ही नहीं बल्कि पूर्वीय यूरोप में भी ढह गया।

2.6.3 लोकतंत्रीय समाजवाद की प्रतिमान

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से विचारकों के एक समूह ने विशेषतया इंगलैंड में फेबियन तथा फ्रांस एवं जर्मनी में भी कुछ अन्य लोगों ने साम्यवाद के दावे के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया। उनका विचार था कि पूँजीवाद तथा साम्यवाद दोनों प्रणालियाँ औद्योगिक तथा प्रौद्योगिक क्रांति द्वारा प्रदत्त चुनौतियों का प्रत्युत्तर देने में अक्षम हैं। पूँजीवाद आर्थिक स्वतंत्रता नहीं प्रदान कर सकता है और साम्यवाद राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं दे सकता है। दोनों प्रणालियाँ मानवीय गरिमा को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती हैं। नया समाज तभी बन सकता है जब मानव सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक असमानताओं और उनकी शक्ति से उत्पन्न तनाव से स्वतंत्र हो।

अनेक पश्चिमी यूरोपीय देशों के समाजवादी तथा श्रमिक दलों ने प्रथम महायुद्ध के बाद शक्ति प्रदान की। ब्रिटेन में श्रमिक दल, स्वीडन तथा जर्मनी में सामाजिक लोकतंत्रीय दल ने अपने देशों में लोकतंत्रीय समाजवाद के आदर्शों को लागू करने की कोशिश की। ठोस अर्थों में, उनके सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक आदर्शों ने श्रमिक वर्ग के हितों के लिए सामाजिक सुरक्षा के उपायों का रूप ग्रहण किया। जैसे कि ब्रिटेन, फ्रांस, स्वीडन, जर्मनी में प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, कार्य की सुरक्षा, रोज़गार, न्यूनतम मजदूरी, स्वास्थ्य योजना के प्रयास किए गए।

राज्य की हस्तक्षेप की नीति होते हुए भी अपराध, बाल अपराध, प्रजातीय भेद भाव, लिंग भेद, मादक द्रव्य व्यसन, यौन अपराध, बेकारी, मद्यपान, तलाक की वृद्धि तथा वेश्यावृत्ति इत्यादि समस्याएँ स्वीडन, फ्रांस तथा जर्मनी में जहाँ लोकतंत्रीय समाजवादी किसी न किसी काल में शक्ति में रहे थे, हल न हो सकीं।

2.6.4 भारतीय प्रयोग और गांधीवादी प्रतिमान

1947 के बाद भारत के आजाद होने पर लोकतांत्रिक समाजवाद निश्चित अर्थव्यवस्था और गांधीवादी दर्शन के पालन की नीति अपनाई गई।

स्वाधीनता के बाद भारत ने गांधीवादी विचारधारा के साथ ही साथ लोकतांत्रिक समाजवादी पथ का अनुसरण किया। भारत ने सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था सामाजिक-आर्थिक नियोजन, पंचवर्षीय योजनाएँ, सामुदायिक विकास, निर्धनता की समाप्ति, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के हित की नीति, सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के सामाजिक कल्याण पर विशेष बल दिया। शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा तथा श्रमिकों की सुरक्षा में भी अनेक प्रयास किए गए।

भारत में निर्धनता, अस्वास्थ्य, नगरीय केंद्रों में गंदी बस्तियाँ, निरक्षरता, मादक द्रव्य व्यसन में वृद्धि, मद्यपान, अस्पृश्यता, बढ़ता हुआ आतकंवाद एवं हिंसा को आज तक हल नहीं किया जा सका है। इस संदर्भ में हमको ध्यान में रखना है कि यह समस्याएँ केवल राज्य के हस्तक्षेप द्वारा हल नहीं की जा सकतीं। राज्य की अपनी भी सीमाएँ होती हैं।

2.7 राज्य हस्तक्षेप की सीमाएँ

आधुनिक काल में राज्य ताकतवर संस्था के रूप में उभरा। 17वीं शताब्दी में यूरोप में यह प्रक्रिया शुरू हुई, जिससे चर्च की ताकत में लगातार कमी आई। चर्च और राज्यों के अधिकारों का बंटवारा हुआ। यह प्रक्रिया निम्नलिखित दो चरणों से होकर गुजरी:

- अहस्तक्षेप (लेसेफेयर) की नीति
- सामूहिकतावादी विचारधाराओं का उदय

2.7.1 अहस्तक्षेप (लैसेफेयर) की नीति

उन्नीसवीं शताब्दी में "अहस्तक्षेप नीति" पर अधिक बल था जिसका अर्थ है नागरिक के दैनिक जीवन में राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप। राज्य का प्रमुख उद्देश्य केवल कानून को बाध्यतापूर्वक लागू करना तथा व्यवस्था कायम करना होना चाहिए और राज्य को नागरिकों के हितों की रक्षा के लिए कल्याणकारी उपाय की पहल नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपना हित देखना-समझना चाहिए।

2.7.2 सामूहिकतावादी-विचारधाराएं

साम्यवादी, समाजवादी तथा फांसीवाद वैचारिकी के प्रभाव में सामाजिक समस्याओं का सामना करने तथा कल्याणकारी उपायों के संवर्धन में राज्य की भूमिका पर अधिक बल दिया जा रहा था। 1929 की विशाल मंदी के पश्चात् पूँजीवादी राज्यों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रांस ने भी अर्थव्यवस्था तथा बाज़ार के नियमन के लिए हस्तक्षेप किया। इन राज्यों ने बेकारी नियंत्रित करने के लिए, कारखानों के बंद होने की समस्या तथा असुरक्षा की समस्या के लिए कुछ विशेष कदम उठाए।

राज्य सबसे शक्तिशाली संस्था है और निस्संदेह उसकी भूमिकाएँ हिंसा, सांप्रदायिकता, सामाजिक भेदभाव के नियंत्रण में तथा सामाजिक सुरक्षा तथा सेवायोजन के संवर्धन में बहुत महत्व रखती हैं।

2.7.3 सीमाएं

अहस्तक्षेप की नीति का पूंजीवादी राज्यों ने पूरी तरह अनुकरण नहीं किया। 1919 के बाद खास तौर पर राज्य ने कई क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया। इसी प्रकार राज्य हस्तक्षेप के सामूहिकतावादी विचारधाराएं भी सफल नहीं हुई। परंतु राज्य के हस्तक्षेप की सीमाएँ हैं। सामाजिक चेतना, नागरिकता का भाव, जनता में दायित्व की भावना के द्वारा सामाजिक समस्याओं को और प्रभावी रूप से रोका जा सकता है। जब तक समाज द्वारा कल्याणकारी उपायों की स्वीकृति नहीं होगी राज्य द्वारा किए गए प्रयास प्रभावी नहीं हो सकते। इस प्रकार हमको ध्यान में रखना होगा कि राज्य द्वारा प्रारंभ किए गए उपाय अपनी सीमाएँ रखते हैं। समाज तथा राज्य दोनों मिलकर सामाजिक समस्याओं द्वारा उपस्थित चुनौतियों का प्रभावपूर्ण समाधान कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 4

i) प्रकार्यवादी एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोणों की प्रमुख अपर्याप्तताओं का चार-चार पंक्तियों में वर्णन कीजिए।

क) .....

.....

.....

.....

ख) .....

.....

.....

.....

ii) प्रतिमान का क्या अर्थ है?

क) .....

.....

2.8 सारांश

इस इकाई का विषय प्रवेश सामाजिक रूपांतरण तथा सामाजिक समस्याओं के पारस्परिक संबंध पर विचार से होता है। सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए पूर्वकालीन तथा आधुनिक दृष्टिकोण तथा उनके बीच अंतर का वर्णन इस इकाई में किया गया है। आपने प्रकार्यवादी, मार्क्सवादी दृष्टिकोणों एवं गांधीवादी विचारों तथा उनकी अपर्याप्तता की जानकारी विस्तार से प्राप्त कर ली है। इसके उपरांत विकास तथा उसके द्वारा जनित समस्याओं की प्रतिमानों का भी वर्णन किया गया है। इस इकाई के अंतिम भाग में सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रदान करने में राज्य की क्रियाओं की परिसीमाओं पर हमने प्रकाश डाला है।

2.9 शब्दावली

प्रतिमानहीनता : सर्वप्रथम, इस शब्द का प्रयोग एमिल दुर्खीम ने एक समाज में प्रमाणहीनता तथा व्यक्तियों में समाज के अभाव के संकेतक के रूप में किया था। ऐसी स्थिति में, एक व्यक्ति या समूह यह निर्णय नहीं ले पाता कि क्या करना चाहिए या क्या नहीं करना चाहिए।

दुष्क्रिया : किसी घटना या क्रिया के परिणाम जो एक समाज की प्रकार्यात्मकता, एकता तथा स्थायित्व पर विरोधी प्रभाव डालते हैं।

सत्याग्रह : अन्याय के प्रति शांतिपूर्ण एवं सत्यशील प्रतिरोध।

प्रतिमान : इस प्रत्यय का शाब्दिक अर्थ शब्द के स्वर परिवर्तन या भिन्न-भिन्न शब्दों के मध्य एक व्याकरणीय संबंध से है। सामाजिक विज्ञान में इसका प्रयोग थामस एस. क्यून ने 1962 में विचारों के लीक से हटने अथवा विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन के अर्थ में किया था।

सामूहिक चेतना : दुर्खीम ने इस प्रत्यय के, फ्रांसीसी प्रतिरूप "ला कांस्यन्स क्लेक्टीव" का प्रयोग सामान्य विश्वासों एवं समाज के स्वीकृत प्रमाणों जो सामाजिक एकात्मकता का संवर्धन करते हैं, के लिए किया था।

परकीयकरण : इसका अर्थ पृथक्करण, अजनबीपन अथवा विच्छिन्नता से है। इस अवधारणा का प्रयोग हीगेल ने किया था परंतु एक समाजशास्त्रीय प्रत्यय के रूप में इसे कार्ल मार्क्स ने विकसित किया।

पूँजीवाद : एक आर्थिक व्यवस्था जिसके तत्व उत्पादन के साधनों का वैयक्तिक स्वामित्व, प्रतिस्पर्धा, निर्बाध बाजार तथा लाभ की एक प्रबल अभिप्रेरणा है।

साम्यवाद : एक सामाजिक दर्शन के रूप में, आर्थिक सेवाओं तथा उत्पादन के भौतिक साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व का प्रतिनिधित्व करता है। इसका विश्वास राज्य द्वारा नियंत्रण तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में है।

विघटन : इस प्रत्यय का अर्थ सामाजिक व्यवस्था या उसकी क्रियाओं में विच्छेद से है।

2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) नगरीय औद्योगिक सामाजिक संरचना की विशेषता त्वरित सामाजिक रूपांतरण,

नगरों, उच्च प्रौद्योगिकी, आधुनिक उत्पादन, उपभोक्तावाद, परिवहन एवं संचार के त्वरित साधन, प्रवासन, गतिशीलता, द्वितीयक समूह तथा अवैयक्तिक संबंधों का होना है।

ii) क) सीजर बेकारिया (1786), इटली

ख) जेरमी बेन्थम (1823), इंग्लैंड

ii) सीजर लाब्रोसो (1936-1909), इटली।

iv)
- अपराध तथा अन्य सामाजिक समस्याओं का पूर्वकालीन बोध अंध विश्वास एवं अज्ञानता पर आधारित था।
- शास्त्रीय तथा भौतिक शारीरिक दृष्टिकोणों की आज केवल ऐतिहासिक महत्ता है। वे व्यक्तियों पर केंद्रित हैं।
- उन्होंने सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक तत्वों पर पर्याप्त बल नहीं दिया है।

बोध प्रश्न 2

i) दुष्क्रिया एक घटना या क्रिया का परिणाम है जो एक समाज की प्रकार्यात्मकता, एकता एवं स्थायित्व पर विरोधी प्रभाव डालती है। सिद्धांत की इस प्रवृत्ति को कि एक समाज की प्रत्येक वस्तु सद्भाव तथा एकीकरण के लिए कार्य करती है, यह प्रत्यय रोकता है। सामाजिक दुष्क्रिया प्रणाली के एक भाग की, किसी प्रकार्यात्मक आवश्यकता की पूर्ति के लिए विशिष्ट अपर्याप्तता है।

ii) मर्टन के अनुसार, प्रकार्य एवं सामाजिक समस्याएँ दोनों आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ पक्ष रखती हैं। गोचर प्रकार्य प्रकट एवं वस्तुनिष्ठ है, अगोचर प्रकार्य छिपे हुए तथा आत्मनिष्ठ हैं। अगोचर सामाजिक समस्याएँ उन दशाओं की ओर संकेत करती हैं जो सामयिक हितों तथा मूल्य के लिए विषमता रखती हैं परंतु उनके सारगुण को लोग ऐसा समझ नहीं पाते।

बोध प्रश्न 3

i) मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था की कई सीमाएं होती हैं जैसे :

- अन्तर्मूत अन्तर्विरोध
- मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण
- अपने ही उत्पादों से मजदूरों का अलगाव
- अमानवीयता, निर्धनता और असमानता

मार्क्स के अनुसार सामाजिक-आर्थिक असमानता पूंजीवादी व्यवस्था की प्रमुख समस्या है यहां बल मानव आवश्यकता पर नहीं मानव क्षमता पर होता है।

ii) गांधीवादी दर्शन सत्य और अहिंसा पर आधारित नैतिक व्यवस्था कायम करने पर बल देता है। इसमें राज्य के हस्तक्षेप का अवकाश नहीं है। गांधी जी सत्ता और अर्थव्यवस्था के विकेंद्रीकरण में दृढ़ विश्वास रखते थे। सत्यग्रह अन्याय से लड़ने का उनका प्रमुख हथियार था। गांधी जी ने भारत में अस्पृश्यता और मद्यपान के खिलाफ अनवरत लड़ाई लड़ी और लोगों का लामबंद किया।

i) क) प्रकार्यवादी दृष्टिकोण समाज में विद्यमान विरोधाभास तथा भिन्न-भिन्न समूहों तथा वर्गों के बीच हितों के टकराव पर दृष्टि नहीं डालता। वह एक प्रभाव को एक कारण मानता है। वह मानव क्रिया का निर्धारणवादी दृष्टिकोण प्रदान करता हैं। सामाजिक व्यवस्था को प्रकार्यवादी एक सक्रिय अभिकर्ता के रूप में दर्शाते हैं, जबकि वास्तव में केवल मानव ही क्रिया करते हैं।

ख) एक सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद ने भौतिक शक्तियों तथा संघर्ष की भूमिका पर अत्यधिक बल दिया है। उसने पूँजीवादी समाज की वर्ग संरचना का अतिसरलीकरण किया है।

ii) इस प्रत्यय का शाब्दिक अर्थ एक शब्द की विभक्तियाँ हैं या भिन्न-भिन्न शब्दों के मध्य व्याकरणीय संबंध है। समाज विज्ञानों में सर्वप्रथम थॉमस क्यून ने 1962 में इसका प्रयोग विचार के लिए लीक से हटने अथवा वैचारिक क्रांति या बहुत वाद-विवाद या चर्चा के उपरांत विचारों में क्रांति के अर्थ में किया था।

iii) क) उदार, पूँजीवाद,

ख) साम्यवाद,

ग) लोकतंत्रीय समाजवाद।

घ) गांधीवादी

इकाई 3 सामाजिक समस्याएँ : भारतीय संदर्भ में

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 सामाजिक रूपांतरण और समस्याएँ

- 3.2.1 सामाजिक समस्याएँ : ऐतिहासिक चरण
- 3.2.2 सामाजिक समस्याएँ : समकालीन चरण
- 3.2.3 संरचनात्मक रूपांतरण और सामाजिक समस्याएं
- 3.2.4 संरचनात्मक पतन और असंगतियाँ
- 3.2.5 नरम राज्य

3.3 सामाजिक कारक और सामाजिक समस्याएँ

- 3.3.1 प्रमुख सामाजिक कारक

3.4 भारतीय जनसंख्या की विजातीयता

- 3.4.1 धर्म
- 3.4.2 जाति
- 3.4.3 भाषा
- 3.4.4 जनजातियाँ
- 3.4.5 अल्पसंख्यक
- 3.4.6 जनसंख्या विस्फोट

3.5 सांस्कृतिक तत्व

- 3.5.1 भाग्यवाद
- 3.5.2 विशिष्टतावाद
- 3.5.3 सार्वजनिक संपत्ति के प्रति दृष्टिकोण
- 3.5.4 पितृसत्तात्मक व्यवस्था

3.6 अर्थव्यवस्था, गरीबी और शिक्षा

- 3.6.1 बाल श्रमिक
- 3.6.2 निरक्षरता और शिक्षा
- 3.6.3 शिक्षा प्रणाली
- 3.6.4 औद्योगीकरण और शहरीकरण

3.7 राज्य और राज्य व्यवस्था

- 3.7.1 निर्वाचन प्रक्रिया

3.8 सारांश

3.9 शब्दावली

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का पूरी तरह से अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित बातों के विषय में समर्थ होंगे :

- भारतीय संदर्भ में सामाजिक रूपांतरण और सामाजिक समस्याओं के संबंधों का इतिहासगत बोध;
- संरचनात्मक रूपांतरण तथा सामाजिक समस्याओं के परस्पर संबंध का वर्णन;
- सामाजिक कारकों और सामाजिक समस्याओं के संबंध का स्पष्टीकरण; तथा
- भारत में इन समस्याओं को निपटाने के लिए राज्य के हस्तक्षेप के स्वरूप का इंगितीकरण।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम "सामाजिक समस्याएँ – भारतीय संदर्भ में" पर चर्चा करना चाहेंगे। भारतीय समाज में कुछ अनूठी विशेषताएँ हैं। आज भी भारतीय समाज अपने सुदूर अतीत से किसी न किसी रूप में निरंतरता बनाए हुए हैं। भारतीय समाज के आरंभिक काल में वर्णाश्रम, जाति, संयुक्त परिवार प्रणाली और ग्राम समुदाय जैसी सामाजिक संस्थाओं का उदय हुआ जो आधुनिक युग में भी बहुत सी सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी हैं। भारत अति प्राचीन काल से ही एक बहु धर्मावलंबी, बहु भाषा-भाषी, तथा बहु क्षेत्रीय समाज रहा है। भारतीय समाज की इन विविधताओं ने महत्वपूर्ण सांस्कृतिक योगदान किया है और ये विविधताएँ ही भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत की शक्ति का स्रोत है। किंतु इसके साथ ही इन विविधताओं ने भारतीय समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता के क्षेत्र में अनेक चुनौतियों को भी जन्म दिया है।

3.2 सामाजिक रूपांतरण और सामाजिक समस्याएँ

हम इस पाठ्यक्रम की इकाई 1 में सामाजिक रूपांतरण और सामाजिक समस्याओं के बीच सैद्धांतिक संबंधों पर चर्चा कर चुके हैं। इस इकाई में, इस संबंध को भारत के विशेष संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है।

इस संदर्भ में सामाजिक रूपांतरण और उनका सामाजिक समस्याओं से संबंधों के निम्नलिखित पहलुओं को ध्यान में रखना होगा :

- ऐतिहासिक, और
- सरंचनात्मक।

सामाजिक रूपांतरण और उसका सामाजिक समस्याओं के संबंधों के इतिहासगत बोध को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है :

- विभिन्न ऐतिहासिक कालों अर्थात प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक (19वीं शताब्दी तक) काल के माध्यम से सामाजिक समस्याओं की समझ,
- समकालीन सामाजिक समस्याएँ।

3.2.1 सामाजिक समस्याएँ : ऐतिहासिक चरण

भारतीय समाज एक प्राचीन सभ्यता का अंग होने के कारण, विभिन्न ऐतिहासिक कालों से होकर गुजरा है। भारत में वैदिक काल ने भारत में एक ऐसी सभ्यता का बीज बोया जिसकी विशेषता अत्यंत समुन्नत दर्शन, ज्योतिष विज्ञान और औषधि विज्ञान हैं। इसका संस्थागत

आधार वर्णाश्रम और जाति, धार्मिक अनुष्ठानों पर जोर, अनुष्ठानकर्ताओं की अन्य लोगों की तुलना में उच्च स्थिति तथा पशुओं की बलि चढ़ाने के इर्द-गिर्द केंद्रित था। भारतीय सभ्यता के आरंभिक चरण में प्रमुख सामाजिक समस्याएँ निम्नलिखित थीं :

- दो प्रमुख सामाजिक समूहों अर्थात आर्य और दास अथवा दस्यु के बीच पारस्परिक संघर्ष जैसा कि वैदिक ग्रंथों में वर्णित है।
- सामाजिक वर्गीकरण के पालन पर जोर।
- अनुष्ठान सम्पन्न करने पर बल।
- पशुओं की बलि चढ़ाना।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म इन प्रथाओं के विरोध में उभरे थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि वैदिक और उत्तर वैदिक युग में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति काफी ऊँची थी। इस युग में बाल विवाह आमतौर पर नहीं होते थे।

भारत का इस्लाम से संपर्क संघर्ष, क्रमिक अभियोजन, बढ़ता समन्वय और सांप्रदायिक वैमनस्य की पुनरावृत्ति के विभिन्न चरणों से होकर गुजरा है। मुस्लिम शासन के अभ्युदय के साथ भारत में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं :

i) पहली प्रवृत्ति बढ़ती हुई अंतर्मुखनिता तथा अन्य लोगों के प्रति दूरी बनाए रखने की थी।

इससे शुचिता और प्रदूषण की धारणा तथा छुआछूत की प्रथा को बल मिला। इस युग में समुद्र यात्रा पर कठोर प्रतिबंध लगाए गए। फलस्वरूप भारतीयों में सर्वप्रथम तो उद्यम तथा साहसिक कार्य की भावना में कमी आई। द्वितीय स्तर पर बाहरी विश्व के साथ भारतीयों का संपर्क भी कम हुआ।

ii) आक्रमणों और संघर्षों के प्रारंभिक चरण में हिंदुओं में सती प्रथा और बाल विवाह की शुरुआत एक प्रकार से आत्म सुरक्षात्मक विधि के रूप में हुई। मुस्लिम जनसंख्या का केवल थोड़ा-सा भाग अफगानिस्तान, ईरान, तुर्की और अरब देशों से भारत में आप्रवासित हुआ था। शेष वे स्थानीय लोग थे जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया। हिंदुओं के संपर्क में आने तथा धर्म परिवर्तन के कारण भारत में मुसलमानों पर जाति प्रथा का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार सामाजिक ऊंच-नीच विभाजन भारत के मुसलमानों में भी शुरू हो गया।

iii) दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति अभिजनों तथा ऊँची जाति के हिंदुओं के एक वर्ग द्वारा मुसलमान शासकों के रीति-रिवाजों का अनुकरण के रूप में दिखाई पड़ती है। इसे उत्तर भारत में ऊँची जाति की महिलाओं में परदा प्रथा को प्रोत्साहन मिला।

मध्ययुग में भक्ति आंदोलन ने समता का संदेश देकर तथा धार्मिक कर्मकाण्डों, जाति प्रथा एवं छुआछूत के विरुद्ध आवाज़ उठाकर भारतीय सभ्यता के मानवतावादी तत्वों को फिर से बलशाली किया। छुआछूत, बाल विवाह, सती प्रथा और शिशु हत्या, संगठित रूप से ठगी जैसी प्रथाओं में भारतीय समाज में विशेषकर मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में भरपूर वृद्धि हुई। धार्मिक विश्वासों ने भी तंबाकू, गांजा और अफीम के नशे को भारत के कुछ हिस्सों और वर्गों में प्रोत्साहित किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल तक भारत में औपनिवेशिक शासन पूर्णतः स्थापित हो चुका था। 1820 के बाद इस शासन ने सुधारवादी रुख अपनाया। इस अवधि में बड़े पैमाने पर प्रचलित सती और ठगी प्रथाओं के उन्मूलन के लिए अनेक सामाजिक सुधार कार्यक्रम तैयार किए।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में सती, विधवा विवाह, आधुनिक शिक्षा का प्रसार, बाल विवाह तथा छुआछूत की बुराइयों जैसी सामाजिक समस्याओं से संबंधित प्रश्न समाज सुधारकों द्वारा उठाए गए।

उन्नीसवीं शताब्दी में चार प्रमुख सुधार आंदोलन चलाए गए।

- राजा राममोहन राय के नेतृत्व में चलाया गया ब्रह्म समाज,
- स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा प्रतिपादित आर्य समाज,
- महादेव गोविंद रानाडे द्वारा चलाया गया प्रार्थना समाज,
- रामकृष्ण परमहंस की प्रेरणा से स्वामी विवेकानंद द्वारा चलाया गया रामकृष्ण मिशन।

इन सुधार आंदोलनों ने छुआछूत, सती, शिशु हत्या जैसी प्रथाओं का विरोध किया तथा विधवा पुनर्विवाह और आधुनिक शिक्षा का प्रचार किया। राजा राममोहन राय के अथक प्रयासों से सती प्रथा को सन् 1829 में कानूनी तौर पर समाप्त कर दिया गया। आर्य समाज ने पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाति प्रथा की कठोरता को कमजोर करने तथा छुआछूत की प्रथा को कम करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रार्थना समाज के कार्यकलाप मुख्यतया बंबई प्रेसीडेंसी तक ही सीमित थे। रामकृष्ण मिशन ने शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया।

3.2.2 सामाजिक समस्याएँ : समकालीन चरण

आज के भारत की सामाजिक समस्याएं हैं। हालांकि इन्हें सामाजिक समस्याएं कहा जाता है परन्तु कुछ समस्याएं सामाजिक सांस्कृतिक हैं तो कुछ आर्थिक और वैधानिक। इसलिए समकालीन सामाजिक समस्याओं को निम्नलिखित कोटियों में विभाजित किया जा सकता हैः

i) **सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याएंः** साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता जनसंख्या विस्फोट, बाल शोषण, अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्ग, महिलाएं, यद्यपान और नशापान की समस्याएं।

ii) **आर्थिक समस्याएंः** गरीबी, बेरोज़गारी, काला धन।

iii) **वैधानिक समस्याएंः** अनाचार, हिंसा और आतंकवाद।

यह वर्गीकरण केवल समझाने की सुविधा के लिए किया गया है। ये सब एक दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं। ग़रीबी आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक समस्या भी है। इसी प्रकार समुदायवाद का भी आर्थिक कारकों से गहरा रिश्ता है। अपराध और अनाचार वैधानिक मामले हैं परंतु ये सामाजिक और आर्थिक कारकों से भी जुड़े हैं।

भारतीय समाज में पहले भी विलिना चरणों में सामाजिक समस्याओं के खिलाफ सामाजिक आंदोलन आयोजित किए जाते रहे हैं। इसी प्रकार आज भी समुदायवाद, जातिवाद, छुआछूत, निरक्षरता मद्यपान और नशापान के खिलाफ सामाजिक और आर्थिक आंदोलन चलाए जा रहे हैं। 1919 में गांधी जी राष्ट्रीय आंदोलन के नेता बनकर उभरे। उन्होंने हरिजनों आदिवासियों और महिलाओं को ऊपर उठाने के लिए रचनात्मक कार्यक्रम बनाया। उन्होंने शिका और ग्रामीण उद्योग को भी पुनर्संगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने समुदायवाद छुआछूत और मद्यपान के खिलाफ लड़ाई लडी।

समकालीन युग में महिलाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़ी जातियों और मज़दूरों के हितों की रक्षा के लिए आंदोलन चलाए गए। पर्यावरण ह्रास, नशे की लत और भारत में बच्चों के शोषण के खिलाफ कई स्वयंसेवी संस्थाएं काम कर रही हैं।

3.2.3 संरचनात्मक रूपांतरण और सामाजिक समस्याएँ

संरचनात्मक रूपांतरण के संदर्भ में भारतीय सामाजिक समस्याओं को समझने के कतिपय प्रयास किए गए हैं। भारतीय संदर्भ में रूपांतरण के तीन रूप उपलब्ध हैं।

- संस्कृतिकरण,
- पश्चिमीकरण, और
- आधुनिकीकरण।

संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसमें निम्न जातियां उच्च जातियों के अनुष्ठानों और रीति रिवाज का अनुकरण कर या फिर रोमांचक ढ़ंग से समाज के ऊपरी पायदान पर पहुँच जाते हैं। यह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है परन्तु सामाजिक हैसियत और पेशे में संस्कृतिकरण के कारण आया उच्च स्तरीय बदलाव भी एक संरचनात्मक प्रक्रिया है।

पश्चिम और खासतौर पर इंगलैंड के सम्पर्क में आने पर भारत में रूपांतरण की रेल चल पड़ी जिसे पश्चिमीकरण के नाम से जाना जाता है। इसमें प्रशासन कानून और शिक्षा पर पश्चिम और अंग्रेज़ी भाषा का प्रभाव स्पष्ट है। पश्चिमी जीवनशैली के प्रभाव में शिक्षित और शहरी भारतवासियों के एक बड़े हिस्से में खानपान, पहनावा, बोली और आदतों को पश्चिम शैली में ढ़ाल लिया। पश्चिम के अनुकरण से पश्चिमी लोकतंत्र के मूल्य औद्योगिकरण और पूंजीवाद का समावेश हुआ। पश्चिमीकरण का सांस्कृतिक के साथ-साथ संरचनात्मक आयाम भी है। औपनिवेशिक प्रशासन के तहत शहरी केन्द्रों का उदय हुआ। आधुनिक शिक्षा अर्थव्यवस्था के उद्योग से रोज़गार जुड़े तथा शिक्षा प्रशासन, न्यायपालिका और प्रेस के प्रभाव से शहरी मध्यवर्ग का उदय हुआ। ये सब संरचनात्मक परिवर्तन थे। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं भारतीय संदर्भ में आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण का गहरा आपसी रिश्ता है। औपनिवेशिक प्रशासन में शिक्षा राजनीतिक भागीदारी, शहरीकरण, देशांतरण, गत्यात्मकता, मुद्रा, बाज़ार, आधुनिक प्रौद्योगिकी, संचार के माध्यम और औद्योगिकरण जैसे आधुनिकीकरण को प्रमुख घटकों को मुहैया करवाया। आज़ादी के बाद इनमें और भी तेजी आई। आज़ाद भारत ने आधुनिक संविधान अपनाया। धर्म निर्पेक्ष लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना की और नियोजित सामाजिक-आर्थिक विकास की नीति अपनाई, लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण किया और गरीब तबकों के लिए संरक्षणात्मक भेदभाव की नीति अपनाई।

असल सवाल यह है कि भारत में इन संरचनात्मक रूपांतरणों से किस प्रकार की सामाजिक समस्याएं पैदा हुई? भारतीय समाज में अन्तर्विरोधों के बावजूद मार्क्स द्वारा परिभाषित और इकाई 1 में व्याख्याति क्रांति भारत में नहीं हुई। संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण के रूप में रूपांतरण की यह प्रक्रिया कमोबेश भारतीय संदर्भ में बना किसी रूकावट के धीरे-धीरे होता चला गया।

3.2.4 संरचनात्मक पतन और असंगतियाँ

निम्नलिखित दो अवधारणाएँ संरचनात्मक रूपांतरण और सामाजिक समस्याओं के बीच में संबंधों को समझने में सहायक होंगी :

- संरचनात्मक विगठन, और
- संरचनात्मक असंगतियाँ।

संरचनात्मक विगठन की अवधारणा का प्रयोग टालकॉट पारसन्स द्वारा किया गया है। उनके अनुसार इसका अभिप्राय प्रणाली जन्य ऐसी कठोरता से है जो सामाजिक रूपांतरण का प्रतिरोध करने या उसमें बाधा डालने का प्रयास करती है। इससे प्रणाली विगठन उत्पन्न होता है। तीसरी दुनिया के देशों में स्वातंत्र्योत्तर काल में आधुनिकीकरण के प्रति बढ़ती हुई ललक रही है। इन देशों ने अर्थव्यवस्था, औद्योगीकरण, आधुनिकी प्रविधि, साक्षरता और विवेकशीलता, नागरिक संस्कृति और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के संरचनात्मक आधार के बिना ही संसदीय लोकतंत्र, वयस्क मताधिकार, आधुनिक संविधान की अवधारणाओं को पश्चिम से उधार लेकर अपनाया। परिणामस्वरूप उन देशों में लोकतंत्र सफल न हो सका जो पहले उपनिवेश रहे चुके थे। नृजातीय, सांप्रदायिक, जनजातीय, क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाएँ इन देशों में इतनी शक्तिशाली हो चुकी हैं कि वे लोकतंत्र, आधुनिक राष्ट्र राज्य और नागरिक समाज की आधारभूत संरचना का भी क्षरण कर रही हैं। ऐसा भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका और अफ्रीका के अन्य देशों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहा है। भारतीय समाज में सामाजिक रूपातरण का प्रभाव निम्नलिखित रूप में दिखाई देता है :

- एक ओर तो रूपांतरण के तीन प्रतिमानों ने सामंजस्य की नई समस्याएँ पैदा की हैं जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

- वहीं दूसरी ओर समय-समय पर सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया का प्रतिरोध भी हुआ है। इस संदर्भ में हम अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की अर्ध सामाजिक गतिशीलता की आकांक्षा के प्रतिरोध, महिलाओं के अधिकार के समुचित दावों की अस्वीकृति एवं सही अथवा गलत किसी तरह से भी भूमि सुधार के कार्य में बाधा उत्पन्न करने के उदाहरण दे सकते हैं।

  भारतीय संदर्भ में संरचनात्मक असंगतियाँ भी दिखाई देती हैं। ये सामाजिक विघटन और सामाजिक समस्याओं के लक्षण और कारण दोनों हैं। असंगतियों का अर्थ यह है कि एक ही संरचना के अंतर्गत दो विपरीत उप संरचनाओं का होना, जो कि एक दूसरे के संगत न हों। एक ओर तो भारत में अतिपरिष्कृत और आधुनिक महानगरीय उच्च तथा उच्च मध्यम वर्ग हैं जो उपभोक्तावाद से प्रभावित है। दूसरी ओर, भारत में बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं, जो आदिवासी और ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। जहाँ आसानी से पहुँचा भी नहीं जा सकता और जिन्होंने रेलगाड़ी तक भी नहीं देखी होगी। भारतीय समाज का एक छोटा वर्ग जेट युग में रहता है जबकि भारत की एक बड़ी जनसंख्या आज भी बैलगाड़ी पर निर्भर है। यह स्थिति धनी और निर्धन, ग्रामीण और नगरीय लोगों के बीच अंतर होने का स्पष्ट सूचक है जिससे विभिन्न समूहों और स्तरों के बीच खाई पैदा होती है। ये संरचनात्मक असंगतियाँ भारतीय समाज में विद्यमान गरीबी, असमानता, दुर्गमता तथा वंचकता की सूचक हैं।

3.2.5 नरम राज्य

गुन्नार मिर्डाल ने अपनी पुस्तक "एशियन ड्रामा" में भारत सहित एशिया के अनेक देशों में आधुनिकीकरण से उत्पन्न समस्याओं के विषय में उल्लेख किया है। उनका मानना है कि शक्तिशाली राज्य, प्रभावी सरकार एवं कठोर निर्णय लेने तथा अपने देश के कानून को सख्ती से लागू करने की उनकी क्षमता आधुनिक यूरोपीय समाज की प्रमुख विशेषताएँ हैं किंतु आमतौर पर दक्षिण एशियाई देशों में और विशेषकर भारत में स्वातंत्र्योत्तर काल में शासकीय अभिजन द्वारा एक ऐसे पथ का अनुकरण किया जा रहा है जिसे मिर्डाल ने नरम राज्य की नीति की संज्ञा दी है। राजनीति के लोकतांत्रीकरण ने इस नीति को और भी मज़बूत किया है। इसने राष्ट्र राज्य को अपने देश के कानून को लागू करने की क्षमता को

कमजोर किया है। परिणामस्वरूप अपराध, हिंसा, आतंकवाद, कानून के उल्लंघन, राजनीतिक जीवन में भ्रष्टाचार और राजनीति के अपराधीकरण में काफी बढ़ोत्तरी हुई है।

बोध प्रश्न 1

i) भारत के निम्नलिखित ऐतिहासिक अवस्थाओं में प्रमुख सामाजिक समस्याओं का वर्णन करें।

क) प्राचीन

.....

.....

.....

.....

.....

ख) मध्ययुगीन

.....

.....

.....

ग) आधुनिक

.....

.....

.....

.....

घ) समकालीन

.....

.....

.....

.....

ii) उन्नीसवीं शताब्दी के चार प्रमुख सुधार आंदोलनों के नाम बताएँ :

क) .....

ख) .....

ग) .....

घ) .....

iii) भारत में रूपांतरण के तीन प्रमुख रूप बताएँ :

क) .....

ख) .....

ग) .....

3.3 सामाजिक कारक और सामाजिक समस्याएँ

सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है जो किसी समाज विशेष में वस्तुपरक रूप में विद्यमान रहती है और वह समाज आंतरिक रूप से उस समस्या को वांछनीय मानता है। अतः सामाजिक समस्या समाज सापेक्ष है या उसका एक सामाजिक संदर्भ होता है। इसलिए सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए उनके सामाजिक संदर्भों को समझना अपेक्षित है।

सामाजिक संदर्भ पर चर्चा ऐतिहासिक या संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। इससे पहले हमने यह स्पष्ट किया है कि भारत में विभिन्न ऐतिहासिक अवस्थाओं में किस प्रकार से विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। अब हम विभिन्न समस्याओं से जुड़े प्रमुख सामाजिक कारकों को समझने का प्रयास करेंगे।

3.3.1 प्रमुख सामाजिक कारक

भारत की सामाजिक समस्याओं – भारतीय समाज में उनके उत्पन्न होने तथा बने रहने के अध्ययन के लिए भारत की उन सामाजिक स्थितियों को समझना अपेक्षित है जिनमें उन समस्याओं का अस्तित्व बना रहता है। जहाँ तक सामाजिक समस्याओं का संबंध है, भारत में सामाजिक संदर्भ के अंग बनने वाले कुछ प्रमुख कारक निम्न प्रकार हैं :

- भारतीय जनसंख्या की विजातियाँ,
- सांस्कृतिक तत्व,
- अर्थव्यवस्था, निर्धनता और शिक्षा,
- राज्य और राजनीतिक व्यवस्थाए
- नगरीकरण और औद्योगीकरण।

3.4 भारतीय जनसंख्या की विजातीयता

भारत एक विजातीय समाज है – जहाँ अनेक धर्म, जातियाँ एवं भाषायी और जनजातीय समूह हैं। भारतीय जनसंख्या का यह विजातीय स्वरूप भारत में बहुत सी सामाजिक समस्याओं का कारण रहा है।

3.4.1 धर्म

समाज के बहु-धर्मावलंबी स्वरूप तथा विभिन्न धर्मों के बीच होने वाले संघर्ष से भारत में सांप्रदायिक समस्याओं को बढ़ावा मिला है। भारत में संप्रदायवाद – अंतर्धार्मिक समूहों के विकृत संबंधों के रूप में – विशेष रूप से हिंदुओं और मुसलमानों के बिगड़े संबंधों के रूप में, एक गंभीर समस्या है। यह समस्या ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में मुसलमानों के

आक्रमण, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच प्रारंभिक संघर्ष, ब्रिटिश शासन और सांप्रदायिक विभाजन को प्रोत्साहित करने की उनकी नीति, राजनीतिक सत्ता, सेवा और संसाधनों के लिए स्पर्धा क्रे साथ जुड़ी हुई है।

धीरे-धीरे संप्रदायवाद की समस्या ने हिंदू और सिखों के संबंधों को भी प्रभावित किया है। भारत में एक बड़ी संख्या में सिख रहते हैं। उनकी अधिकांश आबादी देश के अपेक्षाकृत विकसित क्षेत्र पंजाब में है। पंजाब में सांप्रदायिक राजनीति और आगे चलकर आतंकवाद का उदय किस प्रकार हुआ, इसे समझने के लिए इस क्षेत्र (पंजाब) में शक्तिशाली समुदाय के रूप में तथा समूचे राष्ट्र में अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में उनके होने जैसे तथ्य पर ही विचार करना समीचीन होगा। इस संदर्भ में इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि पंजाब में हिंदुओं और सिखों में आतकंवाद के कुहासे में भी काफी समझदारी और मैत्री भाव दिखाया है। धर्मनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा में सभी धर्मों को समान माना जाता है और एक धर्म का दूसरे धर्म से कोई भेद नहीं होता है। जैसा कि मिर्डाल ने कहा है, "ढुलमुल नीति वाले राज्य" की नीति ने और सांप्रदायिक संगठनों के विरुद्ध कठोर निर्णय न लेने की प्रवृत्ति ने भी भारत में संप्रदायवाद की समस्याओं को बढ़ावा दिया है। धर्म का प्रयोग करके चुनाव जीतने के पक्ष पर ध्यान केंद्रित करने से भी भारत में स्वातंत्र्योत्तर काल में सांप्रदायिकता में वृद्धि हुई है।

3.4.2 जाति

भारतीय सामाजिक ढाँचे का दूसरा तत्व जाति प्रणाली है। जाति प्रणाली ने भारतीय समाज को बहुत से समूहों में बाँट दिया है जिससे उनके बीच विभिन्न प्रकार से और विभिन्न अंशों में सबंधों पर प्रभाव पड़ा है। यह भारत में विभिन्न सामाजिक समस्याओं का मूल कारण है। एक समस्या के रूप में जातिवाद से एक जाति का दूसरी जाति से भेदभाव उत्पन्न होता है और सर्वहितवाद के सिद्धांत का उल्लंघन करके एक जाति के लोगों द्वारा अपनी जाति के लोगों का पक्ष लेने की विशिष्टतापरक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जाति के आधार पर सामाजिक-राजनीतिक हैसियत प्राप्त करने की प्रथा और जाति को ध्यान में रखकर शिक्षा और रोज़गार के मामले में पक्ष लेना और विरोध करना जाति की प्रमुख विशेषताएँ हैं। भारत की सामाजिक स्थिति के अंतर्गत कमजोर वर्गों के लिए उठाए गए कल्याणकारी कार्यक्रमों के लिए कोई भी जाति का मानदण्ड अपनाने का औचित्य ठहरा सकता है। साथ ही ऐसे कल्याणकारी उपायों से तनाव और विवाद उत्पन्न हुए हैं जिससे कि जातिवादी प्रवृत्तियाँ उजागर हुई हैं।

जाति प्रणाली से भारत में शिक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। पारंपरिक रूप से जाति ने शिक्षा के लिए लोगों की योग्यता को निर्धारित किया। पारंपरिक प्रणाली के अंतर्गत शिक्षा, ऊंची जातियों का ही परम अधिकार मानी जाती थी। इस परंपरा के अंतर्गत ज्ञान को ऊंची जातियों तक ही सीमित कर देने के दुराग्रह से जन सामान्य को शिक्षा नहीं मिल पाई। यह भारत में बड़े पैमाने पर निरक्षरता की समसया के कारणों में से एक है।

3.4.3 भाषा

भारतीय समाज का दूसरा पहलू यह है कि उसमें बहुत सी भाषाएँ बोली जाती हैं जिससे भिन्न-भिन्न भाषायी समुदायों के बीच प्रायः विवाद उत्पन्न होता है। भारत ने भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करके सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ को स्वीकार कर लिया है जिससे भाषायी पहचान बनाने का प्रोत्साहन मिला है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि एक राष्ट्र के रूप में भारत एक ऐसी राष्ट्रभाषा अपनाने में असमर्थ रहा है जो सभी को स्वीकार्य

हो और जो संपर्क भाषा के रूप में प्रभावी ढंग से कार्य कर सके। ऐतिहासिक कारणों से उच्च शिक्षा, प्रशासन और कूटनीति के लिए अंग्रेजी अभी भी, संपर्क भाषा के रूप में बनी हुई है। इस संदर्भ में इसका संबंध दो स्तरो पर है :

- राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेज़ी और हिंदी के संबंध का प्रश्न है, और
- राज्य स्तर पर अंग्रेज़ी, हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं के संबंध का प्रश्न है।

इस विशिष्ट भाषायी स्वरूप से उत्पन्न स्थिति ने बहुत से राज्यों के बीच सीमा विवादों और शैक्षिक संस्थाओं में शिक्षण के माध्यम के प्रश्न जैसी समस्याओं को उत्पन्न किया है। इन सभी मुद्दों से राष्ट्रीय एकता पर बुरा प्रभाव पड़ा है। इनसे तनाव और विवाद उत्पन्न हुए हैं।

3.4.4 जनजातियाँ

भारत, जनजातियों की बड़ी आबादी वाला देश है। भारत में जनजातियों का समाज एक समान नहीं है। वे जीवन पद्धति, बाहरी दुनिया से संपर्क कल्याण और विकास कार्यक्रमों को अपनाने की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न हैं। जनजातियों को एक लम्बे अरसे से भारतीय समाज की मुख्यधारा से अलग रखा गया है जो कि उनके पिछड़ेपन का कारण है। इसके अलावा उन गैर-जनजातियों ने विभिन्न प्रकार से उनका शोषण किया जिनके वे संपर्क में आए हैं। एक तरफ गैर-जनजाति के लोगों ने आर्थिक उपलब्धि के लिए जनजातियों का शोषण किया, दूसरी तरफ वे विजनजातीयकरण की समस्या का सामना कर रहे हैं जिससे जनजातीय संस्कृति और जीवन-पद्धति के खो देने या उसका ह्रास होने की समस्या उत्पन्न होती है। इस संदर्भ में भारत की जनजातियों की मुख्य समस्या पिछड़ापन, शोषण, विजनजातीयकरण, जातीय तनाव, विभिन्न प्रकार के जनजातीय आंदोलन तथा भारत के कतिपय भागों में जनजातियों के बागी हो जाने की है।

3.4.5 अल्पसंख्यक

भारतीय समाज में व्याप्त विषमता से भारत में अल्पसंख्यकों की समस्या उत्पन्न हुई है। भारत में पहचाने गए प्रमुख अल्पसंख्यक समाज, धार्मिक और भाषायी हैं। धार्मिक अल्पसंख्यकों की समस्या राष्ट्रीय स्तर पर मानी जा सकती है तथा भाषायी अल्पसंख्यकों की प्रासंगिकता राज्य स्तर पर है। धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यकों के अलावा जातीय गैर जनजातीय समाज भी, परिस्थिति विशेष में एक समाज का दूसरे समाज से पारस्परिक संबंधों के संदर्भ में अल्पसंख्यक समाज का दर्जा पा सकते हैं।

3.4.6 जनसंख्या विस्फोट

भारत में समस्याओं को उत्पन्न करने वाला अन्य सामाजिक कारक, जनसंख्या विस्फोट है। भारत में जनसंख्या इस शताब्दी के दौरान खूब बढ़ी है। आम लोगों के लिए विकास और कल्याण कार्यक्रम, बढ़ती हुई जनसंख्या के अनुपात में लोगों तक नहीं पहुँच पाए हैं। परिणामस्वरूप जन-सामान्य, जिनकी संख्या लगातार बढ़ रही है, को विकास कार्यक्रमों से मिले लाभ संभावना से बहुत नीचे रहे हैं।

जनसंख्या में वृद्धि होने से भारत में गरीबी, बेरोज़गारी और निरक्षरता की समस्या और गहरी हुई है। यह एक सच्चाई है कि इन समस्याओं से प्रभावित होने वाले लोगों की संख्या लगातार बढ़ रही है। जनसंख्या का एकदम बड़ा आकार भी एक ऐसा कारक है जो विभिन्न प्रकार की बढ़ती हुई समस्याओं के लिए जिम्मेदार होता है। जाति या जनजाति का आकार

जितना बड़ा होगा, राष्ट्रीय एकता के दाव पर अपनी संकीर्ण या जातीय पहचान को जोरदार ढंग से व्यक्त करने की प्रवृत्ति उतनी ही बड़ी होगी।

भारत में पर्याप्त संख्या में शारीरिक रूप से विकलांग भी हैं। वे जीवित रहने का लिए समाज पर पूर्णतया आश्रित हैं। देश में इतनी अधिक संस्थाएँ नहीं है कि शारीरिक रूप से विकलांग लोगों को विभिन्न आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जा सके। उनमें से तो बहुत से भिखारी बनकर सड़कों पर भीख माँगने लग जाते हैं जो कि एक अन्य सामाजिक समस्या है।

भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या से जमीन, पूँजी और जंगल के संसाधनों के लिए माँग बढ़ रही है। बढ़ती हुई जनसंख्या से ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में, जमीन की भूख बढ़ती जा रही है। राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था पर बढ़ते हुए बोझ के कारण शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, ग्रामीण विकास, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़ी जातियों, युवाओं और महिलाओं आदि के कल्याण जैसे कल्याणकारी कार्यक्रमों और सामाजिक सेवाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। ईंधन और इमारती लकड़ी की आवश्यकता तथा फसल उपजाने एवं रहने के लिए ज़मीन की भूख, धीरे-धीरे वन संपदा समाप्त करती जा रही है। वन क्षेत्रों को धीरे-धीरे अनवरत वनों के उजड़ने से उत्पन्न पारिस्थितिकीय असंतुलन के प्रतिकूल प्रभाव - वर्षा की बदलती हुई स्थिति, बढ़ते हुए भू-रक्षण, बाढ़, पशुओं के लिए चारे और गरीब लोगों के लिए जलाने की लकड़ी की भारी कमी के रूप में स्पष्टतः दिखाई देते हैं।

कोष्ठक 3.01

भारत में राज्यों एवं केंद्रशासित प्रदेशों में जनसंख्या, वृद्धि, लिंग अनुपात, घनत्व और साक्षरता दर

राज्य / संघ शासित प्रदेश	आबादी	वृद्धि दर 1991-01	सेक्स अनुपात	घनत्व	साक्षरता दर		
					कुल	पुरुष	महिला
भारत	1,027,015,247	21.34	933	324	65.37	75.85	54.16
जम्मू एवं कश्मीर	10,069,917	29.04	900	99	54.46	65.75	41.82
हिमाचल प्रदेश	6,007,248	17.53	970	103	77.13	86.02	68.8
पंजाब	24,289,296	19.76	874	482	69.95	75.63	63.55
चण्डीगढ़	900,914	40.33	773	7,903	81.76	85.65	76.65
उत्तरांचल	8,479,562	19.20	964	159	72.28	84.01	60.26
हरियाणा	21,082,989	28.06	861	477	68.59	79.25	56.31
दिल्ली	13,782,957	46.31	821	9294	81.82	87.37	75.0
राजस्थान	56,473,112	28.33	922	165	61.03	76.46	44.34
उत्तर प्रदेश	1,66,052,859	25.80	898	389	57.36	70.23	42.9
बिहार	82,878,796	28.43	921	880	47.53	60.32	33.6
सिक्किम	540,493	32.98	875	76	69.68	76.73	61.49
अरूणाचल प्रदेश	1,091,117	26.21	901	13	54.74	69.07	44.24
नागालैंड	1,988,636	64.41	909	120	67.11	71.77	61.92
मणिपुर	2,388,634	30.02	978	107	68.87	77.87	59.7
मिजोरम	891,058	29.18	938	42	88.49	90.6	86.0

मेघालय	2,306,069	29.94	975	103	63.31	66.14	60.41
असम	26,638,407	18.85	932	340	64.28	71.9	56.30
पश्चिम बंगाल	80,221,171	17.84	934	904	69.22	77.58	60.22
झारखंड	26,909,428	23.19	941	338	54.13	67.9	39.4
उड़ीसा	36,706,920	15.94	972	236	63.61	76.0	51.0
छत्तीसगढ़	20,795,956	18.06	990	154	65.2	77.8	52.4
मध्य प्रदेश	60,385,118	24.34	620	158	64.09	76.7	50.3
गुजरात	50,596,992	22.48	921	258	69.97	80.50	58.60
दमन एवं द्वीव	158,059	55.59	709	1411	81.1	88.4	70.4
दादर नागर हवेली	220,451	59.20	811	449	60.3	76.3	43.0
महाराष्ट्र	96,752,247	22.57	922	314	77.27	86.27	67.5
आंध्र प्रदेश	75,727,541	13.86	978	275	61.11	70.85	51.17
कर्नाटक	52,733,958	17.25	964	275	67.04	76.3	57.49
गोवा	1,343,998	14.89	960	363	82.32	88.9	75.5
लक्ष्यद्वीप	60,595	17.19	947	1894	87.52	93.1	81.5
केरला	31,838,619	9.42	1058	819	91.0	94.2	87.8
तमिलनाडु	62,110,839	11.19	986	478	73.5	82.3	64.5
पांडिचेरी	973,829	20.56	1001	2029	81.5	89.0	74.0
अंडमान निकोबार	356,265	26.94	846	43	81.2	86.0	75.3
त्रिपुरा	3,191,168	15.74	950	304	73.66	81.47	65.4

स्रोत : भारतीय जनगणना, 2001

बोध प्रश्न 2

i) धर्म और राजनीति पर चार पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

ii) चार पंक्तियों में जाति और शिक्षा के बीच संबंध का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iii) केंद्र और राज्य स्तर पर भाषा की समस्या पर चार पंक्तियों में विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iv) क) जनजातियों और ख) अल्पसंख्यकों की समस्याओं का उल्लेख तीन-तीन पंक्तियों में कीजिए।

क) .....

.....

.....

ख) .....

.....

.....

v) जनसंख्या दबाव के पाँच प्रमुख परिणामों का उल्लेख कीजिए।

क) .....

ख) .....

ग) .....

घ) .....

च) .....

3.5 सांस्कृतिक तत्व

भारत में कतिपय सांस्कृतिक तत्व ऐसे हैं जिन्होंने भारत में कुछ सामाजिक समस्याओं के बने रहने में खास योगदान किया है। इस संदर्भ में निम्नलिखित सांस्कृतिक विशेषताएँ विशेष तौर पर देखी जा सकती हैं :

- भाग्यवाद,
- विशिष्टतावाद,
- सार्वजनिक सपंत्ति के प्रति दृष्टिकोण,
- पितृसत्तात्मक व्यवस्था।

3.5.1 भाग्यवाद

भारत में सामाजिक समस्याओं से जुड़ा रहने वाला एक सांस्कृतिक तत्व भाग्यवाद है। "कर्म" और पुनर्जन्म के सिद्धांत में जीवन के प्रति भाग्यवादी प्रवृत्ति के मजबूत तत्व हैं – एक

ऐसी प्रवृत्ति जो जीवन में असफलता को भाग्य एवं कर्म के फल के रूप में स्वीकार करती है। भाग्य और कर्म का सिद्धांत अन्याय और शोषण के विरुद्ध जन सामान्य के प्रतिरोध को रोकने का एक तरीका सिद्ध हुआ है। छुआछूत, भेदभाव, बंधुआ मज़दूर जैसी कुप्रथाएँ लंबे समय तक भारत में रही हैं। उनके बने रहने के बारे में और इनसे प्रभावित लोगों ने इन्हें कोई चुनौती नहीं दी। ऐसा इसलिए हुआ कि प्रभावित लोगों ने इन प्रथाओं को अपने पिछले जन्म के कर्मों और भाग्य का फल माना। कल्याण और विकास कार्यक्रम, धर्मनिष्ठ भाग्यवाद में विश्वास करने वाले जन सामान्य की उदासीनता और भेदभाव के कारण ऐसी स्थिति में पीछे रह जाता है।

3.5.2 विशिष्टतावाद

भारतीय समाज में बड़े पैमाने पर पाई जाने वाली दूसरी सांस्कृतिक विशेषता, सर्वहितवाद के विरुद्ध विशिष्टतावाद है। यह अपने लोगों, अपने संबंधियों, अपनी जाति या धर्म के लोगों के लिए अत्यधिक ध्यान रखने की अवधारणा में झलकता है। प्रायः अपने निर्णय व कार्यों में सर्वहितवाद का मानव अलग-थलग रख दिया जाता है। हमारे समाज में चल रहे पक्षपात या भेदभाव जैसा भ्रष्टाचार सर्वहितवाद के मानदंडों के प्रति उपेक्षा के परिणाम है। जाति, जनजाति, धर्म, भाषा या क्षेत्र के आधार पर एक समाज का दूसरे समाज से कुछ आपसी विवाद भी अपनी-अपनी अलग पहचान बनाने और अपने को विशिष्ट मानने के आधार पर सामाजिक राजनीतिक हैसियत प्राप्त किए जाने की कोशिशों के कारण उत्पन्न हुए हैं।

3.5.3 सार्वजनिक संपत्ति के प्रति दृष्टिकोण

भारतीय समाज की दूसरी विशेषता, जिसका संबंध भ्रष्टाचार से है, सार्वजनिक संपत्ति और धन के प्रति उपेक्षा का भाव रखना है। ऐसा विश्वास है कि भारतीयों को यह औपनिवेशिक शासन की विरासत में मिला है। दुर्भाग्यवश भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी यह प्रवृत्ति अभी भी बनी हुई प्रतीत होती है। सार्वजनिक संपत्ति के प्रति इस प्रकार ध्यान न देना ही भ्रष्टाचार, काला धन, कर-चोरी, सार्वजनिक वस्तुओं के दुरुपयोग और सार्वजनिक निर्माण में निम्न कोटि की सामग्री के इस्तेमाल का एक मूल कारण है।

3.5.4 पितृसत्तात्मक व्यवस्था

जैसा कि विश्व में अन्यत्र भी है, भारतीय समाज के बहुत से समाजों में कुल मिलाकर पितृसत्तात्मक व्यवस्था रही है जिसमें पुरुष का प्रभुत्व होता है। भारतीय समाज में महिला की भूमिका की संकल्पना पत्नी और माँ के रूप में ही रही है। भारत में महिला की सामाजिक परिस्थिति पुरुष की तुलना में हीन मानी जाती रही है।

यह समस्या सांस्कृतिक आवश्यकताओं के कारण और भी गहरी हो जाती है। यह मानकर चला जाता है कि लड़का परिवार की वंश परंपरा को आगे चलाएगा और मृत्यु होने के बाद धार्मिक अनुष्ठान भी वही पूरा करेगा। इस धारणा ने लड़कों के लिए सांस्कृतिक रूप से तरजीह दी है और लड़की को निम्न दर्जा दिया है तथा उसे एक बोझ माना है। इससे महिलाएँ पुरुष की आधीनता का शिकार हुई हैं और सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उनके खिलाफ भेदभाव बरता जाता है। दहेज, बहू के साथ दुर्व्यवहार, पत्नियों को मारना-पीटना, निरक्षरता, व्यवसायगत भेदभाव, सामाजिक अलगाव और मनोवैज्ञानिक रूप से आश्रित होना आदि जिन समस्याओं का सामना महिलाओं को करना पड़ता है, उनका मूल कारण लड़के को वरीयता दिए जाने की अवधारणा में निहित है।

3.6 अर्थव्यवस्था, गरीबी और शिक्षा

आर्थिक रूप से भारत एक ऐसा देश रहा है, जहाँ कृषक समाज की प्रधानता रही है। स्वाभाविक रूप से मजदूर वर्ग की कृषि पर निर्भरता अधिक है। अल्प विकसित कृषि पर मजदूर वर्ग की इस प्रकार की अत्यधिक निर्भरता भारत में सामाजिक समस्याओं में से प्रमुख कारण हैं। इससे प्रत्यक्ष तौर पर गरीबी बढ़ती है जो कि भारत में बहुत-सी अन्य सामाजिक समस्याओं के मूल कारणों में एक है। कुपोषण, खराब स्वास्थ्य, भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति आदि का मूल कारण भारत में बड़े पैमाने पर गरीबी ही है।

भारतीय समाज में संपत्ति का असमान बँटवारा है। भारत के ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में व्याप्त गरीबी के बीच समृद्ध लोग भी रहते हैं। इस असमानता के कारण विकास और कल्याण सेवाओं के लाभ भी समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों को असमान रूप से प्राप्त होते हैं। परिणामस्वरूप, बड़ी संख्या में गरीबों में तथा समाज के पिछड़े वर्गों में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ। अर्थव्यवस्था, गरीबी और शिक्षा के बीच गहरा संबंध है। भारत में निरक्षरता का सीधा संबंध गरीबी से है। उच्च शिक्षा में अनियोजित वृद्धि से शिक्षित बेरोज़गारी की समस्या हुई है।

भारत में मानव विकास के कुछ पहलू

भारत उन देशों में से एक देश है जिसका मानव विकास सूचकांक में निम्न स्थान है। भारत के मानव विकास सूचकांक (2000) के कुछ पहलू नीचे दिए गए हैं :

कोष्ठक 3.02

	मानव विकास सूचकांक	आयु
1)	जन्म के वर्षों में जीवन प्रत्याशा	63.3 वर्ष
2)	प्रौढ़ साक्षरता (15 वर्ष और उससे अधिक)	57.2 प्रतिशत
3)	संयुक्त नामांकन दर	55 प्रतिशत
4)	संशोधित पेय जल संसाधनों का प्रयोग नहीं करने वाली जनसंख्या का प्रतिशत	12 प्रतिशत
5)	पाँच वर्ष से कम आयु के अल्प वज़न वाले बच्चों का प्रतिशत	47 प्रतिशत
6)	राष्ट्रीय गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों का प्रतिशत	35.0 प्रतिशत
7)	वार्षिक जनसंख्या वृद्धि दर	1.9 प्रतिशत
8)	शहरी जनसंख्या का प्रतिशत	27.7 प्रतिशत
9)	जनसंख्या जो पर्याप्त स्वच्छता सुविधाओं का प्रयोग नहीं करती	69 प्रतिशत
10)	कम वजन के बच्चे (पाँच वर्ष से कम)	47 प्रतिशत
11)	एच.आई.वी./एड्स में जीवनयापन कर रहे व्यक्ति	0.79 प्रतिशत

स्रोत : यू एन डी पी, 2003

3.6.1 बाल श्रमिक

बाल श्रमिक, जिससे कि देश में स्पष्टतया गरीबी प्रकट होती है, भारत में एक सामाजिक समस्या बन गए हैं। समाज के गरीब वर्गों के परिवारों की एक बड़ी संख्या अपने बच्चों की कमाई पर निर्भर रहने के लिए मजबूर है। वे ऐसी स्थिति में नहीं होते हैं कि अपने बच्चों को पूर्णकालिक स्कूली पढ़ाई के लिए या अंशकालिक पढ़ाई के लिए भी छोड़ सकें। इस प्रकार से जिन बच्चों की आयु स्कूल में पढ़ाई करने की होती है, वे मज़दूर के रूप में काम करते पाए जाते हैं।

कार्यरत बच्चों के परिवारों की आर्थिक मज़बूरियों के अलावा लघु उद्योगों को लगाने वाले कुछ मालिक भी बाल श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए वरीयता देते हैं। उनके लिए बाल श्रमिक सस्ते पड़ते हैं, इससे उत्पादन की लागत में कमी आती है और लाभ अधिक से अधिक होता है। इस प्रकार से बाल श्रमिकों को उनके माँ-बाप और उद्योगों के मालिकों दोनों ही के द्वारा प्रोत्साहन मिलता है। अतः भयंकर परिस्थितियों के अंतर्गत बच्चों के काम करने और कम मज़दूरी पाने के बावजूद, भारत में बाल श्रमिक फलते-फूलते हैं।

अभ्यास 1

कृपया अपने आसपास रहने वाले दस परिवारों की मासिक आय और उसके स्रोतों के आधार पर दो पृष्ठों की एक रिपोर्ट तैयार कीजिए।

3.6.2 निरक्षरता और शिक्षा

व्यापक पैमाने पर गरीबी का कुप्रभाव भारत में शिक्षा पर भी पड़ा है। देश में व्यापक स्तर पर निरक्षरता की समस्या, गरीबी की उस स्थिति का एक बड़ा परिणाम है जिसमें जन-सामान्य रहते हैं। गरीब लोग अपने जीवन-निर्वाह के लिए पहले से ही इतने दबे और चिंतित रहते हैं कि शिक्षा के प्रति उनका कोई रुझान ही नहीं होता है या समय ही नहीं मिल पाता है। गरीब व्यक्ति जब सुबह-शाम की रोटी का जुगाड़ करने के लिए संघर्ष कर रहा है तो उसे शिक्षा के मूल्यों के बारे में समझाना ही हास्यास्पद है। गरीब वर्ग के अधिकांश लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजने तक को तैयार नहीं होते। जो लोग अपने बच्चों को स्कूल में दाखिल करवा देते हैं उनमें से अधिकांश लोग अपने बच्चों को साक्षरता के किसी सार्थक मानक स्तर पर पहुंचने से पहले ही स्कूल भेजना बंद कर देते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत को व्यापक निरक्षरता की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। साक्षरता प्राप्त करने में सक्षम देश की जनसंख्या के लगभग 50 प्रतिशत लोग अभी भी निरक्षर हैं।

3.6.3 शिक्षा प्रणाली

शिक्षा प्रणाली समाज को विभिन्न तरीके से व्यापक स्तर पर प्रभावित करती है। भारत में उच्च स्तर पर शिक्षा का अंधाधुंध विस्तार, सामाजिक माँगों और राजनीतिक दबावों के कारण हुआ है। भारत में शिक्षा प्रणाली की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :

- व्यापक निरक्षरता,
- शिक्षा के सर्वसुलभीकरण के अप्राप्त लक्ष्य,
- प्राथमिक शिक्षा पर समुचित बल न दिया जाना,
- उच्च शिक्षा पर अनुचित जोर जो कि कुल मिलाकर प्रविधि, प्रबंधन, चिकित्सा संस्थानों और बड़े शहरों के कुछ कालेजों एवं विश्वविद्यालयों को छोड़कर गुणवत्ता की दृष्टि में स्तरीय नहीं है।

परिणामस्वरूप, यह देखने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया कि शिक्षा प्रणाली ने उच्च स्तर पर जिन शिक्षितों को जिस गुणवत्ता और संख्या में तैयार किया, वे देश की आर्थिक प्रणाली में खप न सके। इस अनियोजित विस्तार का कुल परिणाम यह रहा कि शिक्षित बेरोज़गारी और अल्प रोज़गारी में वृद्धि होती रही है। यह स्थिति स्पष्टतः ही आर्थिक प्रणाली की माँग से अधिक शिक्षितों को पैदा करने अथवा शिक्षा और अर्थव्यवस्था के बीच तालमेल न होने के कारण है।

भारत में अर्थव्यवस्था और शिक्षा के बीच तालमेल न होने का अन्य प्रकार भी है। यह ऐसी स्थिति है जिसमें भारत में कुछ शिक्षा संस्थाओं द्वारा पैदा किए गए कुछ उच्च योग्यता प्राप्त शिक्षितों को देश में अनेक अनुकूल पद नहीं मिल पाता है। परिणाम "प्रतिभा पलायन" होता है और भारत, सार्वजनिक संसाधनों की अत्यंत भारी कीमत पर उच्च योग्यता प्राप्त शिक्षितों की सर्वोत्तम श्रेणी को खो देता है।

3.6.4 औद्योगीकरण और शहरीकरण

भारत में औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया धीमी रही है। औद्योगीकरण देश के कुछ ही भागों में हुआ है। परिणाम यह हुआ कि कुछ शहरों की जनसंख्या में बेहद वृद्धि हुई। कुछ शहरों में जनसंख्या में इस बेहद वृद्धि से शहरी गरीबी, बेरोज़गारी, भीड़-भाड़, प्रदूषण, मलीन बस्तियाँ आदि जैसी विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।

ग्रामीण गरीबी और बेरोज़गारी ने शहरी समस्या को और भी बढ़ाया है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में आने वाले लोगों की संख्या इतनी अधिक थी कि शहरी क्षेत्र उन्हें पूरी तरह खपा नहीं सकते थे। चूँकि ग्रामीण क्षेत्रों से आने वालों की एक बड़ी संख्या निरक्षरों और अकुशल कामगारों की होती है, इसलिए वे अपने को शहरी आर्थिक स्थिति के अनुसार ढाल नहीं पाते हैं जिसके कारण वे बेरोज़गारी और गरीबी से ग्रस्त हो जाते हैं और कुछ असहाय स्त्रियों को अपनी जीविका के लिए मजबूरन वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है। इस प्रकार से जहाँ एक और शहरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया, विकास का लक्षण होती है, वहीं दूसरी ओर भारत में इसका अपना प्रतिकूल पहलू भी है जो कि सामाजिक समस्याओं के रूप में उभरती है।

3.7 राज्य और राज्य व्यवस्था

भारत में सामाजिक समस्याओं को रोकने या उनका समाधान पाने के लिए राज्य का हस्तक्षेप बहुत महत्वपूर्ण रहा है। औपनिवेशिक काल के प्रारंभ में सती प्रथा (1829) को मिटाने तथा ठगी पर नियंत्रण लगाने के लिए राज्य द्वारा कई कदम उठाए गए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अंतर्सामुदायिक और अंतर्जातीय विवाह के लिए कानूनी अवसर प्रदान करने हेतु कई कदम उठाए गए। बाल विवाह को रोकने के लिए (1929) में "शारदा एक्ट" पारित किया गया। स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत ने एक लोकतांत्रिक, संप्रभुतासंपन्न, धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी समाज गठित करने का संकल्प लिया। संविधान में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, पिछड़े वर्गों, महिलाओं और बच्चों के हितों की सुरक्षा के लिए विशेष प्रावधान किए गए।

छुआछूत की प्रथा को एक अपराध घोषित किया गया। हिंदू समाज में सामान्य तौर पर और "हिंदू विवाह प्रथा" में विशेष तौर पर सुधार किए जाने के लिए हिंदू विवाह अधिनियम और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम जैसे कुछ विशेष उपाय अपनाए गए। युवाओं, बच्चों और सामान्य रूप से विकलांग व्यक्तियों के लिए कल्याण कार्यक्रम चलाए गए। भारतीय समाज

में सामाजिक-आर्थिक बदलाव लाने के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ चलाई गईं। 1970 के बाद गरीबी हटाने, ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम विकास और रोज़गार सृजन के लिए विशेष ध्यान दिया गया।

इन कार्यक्रमों का प्रभाव भारत के लोगों के सामाजिक-आर्थिक जीवन पर दिखाई देता है। पर्याप्त उपलब्धियों के बावजूद भारत अभी भी गरीबी, बेरोज़गारी और भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग तंगहाली की जिंदगी जीने जैसे बहुत सी समस्याओं से ग्रस्त है। स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय राजनीति और निर्वाचन प्रक्रिया द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण भी हमारी बहुत सी सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी है।

3.7.1 निर्वाचन प्रक्रिया

राजनीतिक दृष्टि से भारत में बहुदलीय प्रणाली है और संसदीय लोकतंत्र है। आदर्शतः राजनीतिक दलों का गठन सर्वहितवाद की विचारधारा पर होता है और नागरिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सर्वहितवाद के सिद्धांत पर अपने प्रतिनिधियों को चुनेंगे। किंतु वास्तव में विशिष्टतावादी प्रवृत्तियाँ, देश की निर्वाचन प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किसी को भी इस बात का पता चल सकता है कि राजनीतिक दल, संप्रदाय अथवा क्षेत्रीय संकीर्णता के आधार पर बनते हैं और राजनीतिक दलों तथा व्यक्तियों द्वारा जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र के आधार पर राजनीतिक लामबंदी की जाती है। इस प्रकार के राजनीतिक क्रियाकलाप, स्वस्थ लोकतंत्रीय राज्य व्यवस्था का नकार है। इससे अलगाववादी संघर्ष भी होता है और कमज़ोर वर्गों एवं भाषायी तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों के प्रति अत्याचार भी बढ़ता है। इस प्रकार से वर्तमान स्वरूप की राजनीतिक कार्य-शैली तथा निर्वाचन प्रक्रिया संप्रदायवाद, जातिवाद, और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच संघर्षों की समस्याओं को जन्म दे रही है।

3.8 सारांश

इस इकाई में सर्वप्रथम सामाजिक रूपांतरण और सामाजिक समस्याओं के बीच संबंध पर चर्चा की गई है। भारतीय संदर्भ में सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया को ऐतिहासिक और ढाँचागत पहलुओं की दृष्टि से स्पष्ट किया गया है। इसके बाद सामाजिक कारकों और सामाजिक समस्याओं, सांस्कृतिक तत्वों और सांस्कृतिक समस्याओं, अर्थव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और सामाजिक समस्याओं के बीच संबंधों की परख की गई है। अंत में हमने इन समस्याओं तथा भारतीय राज्य-व्यवस्था की वास्तविक कार्य शैली से उत्पन्न समस्याओं से निपटने के लिए राज्य की भूमिका पर चर्चा की है।

3.9 शब्दावली

संरचनात्मक पतन : इस संकल्पना का प्रयोग टालकॉट पारसन ने किया है जिसका मतलब है – एक ऐसी कठोर प्रणाली, जिसके अंतर्गत सामाजिक रूपांतरण का प्रतिरोध करने या उसमें बाधा डालने के लिए प्रयास किया जाता है और इसके फलस्वरूप सामाजिक ढाँचे में खराबी उत्पन्न होती है। प्रणालीजन्य कठोरता के विरुद्ध लोगों द्वारा सामूहिक प्रयास के रूप में उठाए गए कदमों को मार्क्सवादियों ने "क्रांति" की संज्ञा दी है।

संरचनात्मक विसंगतियाँ : इस संकल्पना का अभिप्राय यह है कि एक ही ढाँचे के अंतर्गत दो विपरीत उप-ढाँचे का होना जो कि एक-दूसरे से असंगत होते हैं।

नरम राज्य : इस संकल्पना का प्रयोग गुन्नार मिर्डाल ने अपनी पुस्तक "एशियन ड्रामा : एन एन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी ऑफ नेशन्स" में किया है। इस संकल्पना से उनका अभिप्राय नव स्वतंत्र एशियाई राज्यों की ऐसी कार्य शैली से है जिससे इन राज्यों को देश के कानून को लागू करने के लिए कठिन निर्णय लेना मुश्किल होता है।

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) क) जातिगत श्रेष्ठता, धार्मिक कर्मकाण्डों पर अत्यधिक जोर, कठोर उच्च परंपरा, पुरोहितों की उच्च स्थिति, पशु बलि।

ख) उपेक्षा, अंधविश्वास की प्रवृत्ति, शुद्धता और अपवित्रता की गहरी धारणा छुआछूत, बाल-विवाह, महिलाओं की निम्न स्थिति, विधवा को विधवा की ही तरह जीने का कड़ाई से पालन।

ग) सती, विधवापन, बाल विवाह, निरक्षरता, छुआछूत, ठगी, अंधविश्वास।

घ) संप्रदायवाद, छुआछूत, जनसंख्या विस्फोट, कमजोर वर्गों की समस्याएँ, शराब एवं नशीले पदार्थों का सेवन, गरीबी, बेरोज़गारी, काला धन, अपराध, अपचार और हिंसा।

ii) आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और रामकृष्ण मिशन।

iii) क) संस्कृतिकरण

ख) पश्चिमीकरण

ग) आधुनिकीकरण

बोध प्रश्न 2

i) भारतीय समाज बहु-धार्मिक समाज है। औपनिवेशिक काल में विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच विशेषकर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संबंधों को राजनीतिक रंग दे दिया गया था। इससे संप्रदायवाद नाम की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला जो कि आपसी संदेहों, सांप्रदायिक विचारधाराओं, सत्ता, सेवा और संसाधनों के लिए स्पर्धा के कारण और भी मजबूत हुई है।

ii) पारंपरिक भारतीय प्रणाली के अंतर्गत शिक्षा, मुख्यतया ऊंची जातियों तक सीमित हुआ करती थी। इससे बड़े पैमाने पर प्रत्येक के लिए शिक्षा का प्रसार न हो सका। यह भारत में व्यापक स्तर पर फैली निरक्षरता के कारणों में से एक है।

iii) भारत में उच्च शिक्षा, प्रशासन और कूटनीतिक के लिए अंग्रेज़ी संपर्क भाषा के रूप में बनी रही। शिक्षण के माध्यम एवं प्रशासन के लिए केंद्र स्तर पर अंग्रेज़ी और हिंदी के बीच संबंध का प्रश्न है और राज्य स्तर पर प्रश्न अंग्रेज़ी, हिंदी और क्षेत्रीय भाषा के बीच है।

iv) क) भारत में अनेक जन-जातियाँ हैं और वे भारत की जनसंख्या का लगभग सात प्रतिशत है। वे अपने रीति-रिवाजों के अनुसार बिल्कुल भिन्न होते हैं। उन्हें अलग-थलग रखा जाता है और उनका शोषण किया जाता है। वे विजनजातीयकरण की समस्या का सामना भी कर रहे हैं।

ख) भारत में धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यक रहते हैं। कभी-कभार जातियों और जनजातियों को भी निर्दिष्ट क्षेत्रों के अंतर्गत अल्पसंख्यक के रूप में माना जाता है।

v) क) विकास और कल्याण कार्यक्रमों पर प्रतिकूल प्रभाव,

ख) गरीबी,

ग) निरक्षरत,

घ) जमीन, पूँजी, जंगल और अन्य संसाधनों पर बढ़ता हुआ दबाव,

बोध प्रश्न 3

i) क) अपने संबंधियों, जाति और जनजाति या धर्म के लोगों को अत्यधिक महत्व देना।

ख) पक्षता से जुड़ा हुआ भ्रष्टाचार,

ग) भेदभाव,

घ) विभिन्न समूहों का आपसी संपर्क।

ii) सार्वजनिक संपत्ति के प्रति इस प्रकार से ध्यान न देना ही भ्रष्टाचार, काला धन, कर-चोरी, सार्वजनिक संपत्ति का दुरुपयोग और सार्वजनिक निर्माण कार्य में घटिया स्तर की सामग्री के इस्तेमाल का मूल कारण।

iii) अर्थव्यवस्था, गरीबी और शिक्षा के बीच एक गहरा संबंध है। भारत में निरक्षरता की समस्या गरीबी से सीधे जुड़ी हुई है। भारतीय संदर्भ में अर्थव्यवस्था और शिक्षा के बीच गलत तालमेल है।

iv) वस्तुतः विशिष्टतावादी प्रवृत्तियाँ देश की निर्वाचन-प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। बहुत से राजनीतिक दलों का गठन संप्रदायवाद और क्षेत्रवाद के आधार पर हुआ है। निर्वाचन के समय जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार की राजनीतिक लाभबंदी भी भारत में बहुत सी सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी हैं।

संदर्भ

राम, 1992 : *सोशल प्रॉब्लम्स इन इंडिया,* रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।

हर्नर एवं गोनयन, 1987: *द स्ट्रक्चर ऑफ सोसियोलाजिकल थ्योरी,* चौथा संस्करण, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।

केनैथ हेनरी, 1978 : *सोशल प्रॉब्लम्स : इंस्टीट्यूशनल एंड ट्यूटर पर्सनल प्रेस्पेक्टिवस,* स्कॉट फोसमैन एंड कं., लंदन।

कोठारी रजनी, 1988 : *ट्रांसफॉरमेशन एंड सरवाइवल : इन सर्च ऑफ ह्यूमन वर्ल्ड ऑर्डर,* अजंता पब्लिकेशंस, दिल्ली।

लर्नर डेनियल, 1964, *द पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसाइटी,* द फ्री प्रेस, लंदन।

पोलांकी कार्ल, 1957, *द ग्रेट ट्रांसफॉरमेशन : द पोलिटिकल ऐंड इकोनोमिक थारिजन ऑफ टाइम,* बेकन प्रेस, बास्टन।

मरटोन रॉबर्ट एंड निसबेट रॉबर्ट, 1976 : *कान्टेम्परेरी सोशल प्रॉब्लम्स,* हरकोर्ट बरेस, आरवैनोविच, इन्टरनेशनल एडिटिंग, न्यूयार्क, शिकागो।

योगेन्द्र सिंह, 1988, *मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रैडिशन,* पुनर्पुद्रण, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर।

NOTES

इकाई 4 सामाजिक जनसांख्यिकी

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भारत में जनसंख्या का आकार और विकास

- 4.2.1 जनसंख्या का आकार और विकास
- 4.2.2 जनसंख्या परिवर्तन के निर्धारक तत्व
- 4.2.3 जनसंख्या के आकार और विकास के परिणाम

4.3 जनन क्षमता

- 4.3.1 जनन क्षमता का मापन
- 4.3.2 भारत में जनन क्षमता का स्तर और प्रवृत्तियाँ
- 4.3.3 उच्च जनन क्षमता के निर्धारक तत्व
- 4.3.4 उच्च जनन क्षमता के परिणाम

4.4 मृत्यु दर

- 4.4.1 मृत्यु दर का मापन
- 4.4.2 भारत में मृत्यु दर का स्तर और उसकी प्रवृत्ति
- 4.4.3 गिरते मृत्यु दर के निर्धारक तत्व
- 4.4.4 गिरते मृत्यु दर के परिणाम
- 4.4.5 भारत में नवजात मृत्यु दर के स्तर और प्रवृत्ति
- 4.4.6 नवजात मृत्यु दर और बाल मृत्यु दर के निर्धारक तत्व
- 4.4.7 उच्च नवजात और बाल मृत्यु दर के परिणाम

4.5 आयु और लिंग संरचना

- 4.5.1 आयु संरचना
- 4.5.2 लिंग संरचना

4.6 परिवार नियोजन और परिवार कल्याण

- 4.6.1 परिवार नियोजन और परिवार कल्याण की अवधारणा
- 4.6.2 परिवार नियोजन के मार्ग में आने वाली बाधाएँ

4.7 भारत की जनसंख्या नीति

- 4.7.1 वर्तमान जनसंख्या नीति के अवयव
- 4.7.2 परिवार कल्याण कार्यक्रम की उपलब्धियाँ
- 4.7.3 बदलती प्रवृत्तियाँ

4.8 सारांश

4.9 शब्दावली

4.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारत में सामाजिक समस्या के सामाजिक जनसांख्यिकी के विभिन्न आयामों की चर्चा की गई है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- भारत में जनसांख्यिकी परिस्थिति के विभिन्न आयामों यथा – जनसंख्या का आकार और विकास, प्रजनन-क्षमता, मृत्यु दर और जनसंख्या की आयु तथा लिंग संरचना का वर्णन;
- भारत में जनसांख्यिकी परिस्थिति के इन आयामों के निर्धारक तत्व और परिणामों की व्याख्या;
- परिवार नियोजन और परिवार कल्याण की अवधारणा तथा परिवार नियोजन की स्वीकृति में आने वाली बाधाओं की परीक्षा;
- भारत की जनसंख्या नीति की ताज़ा स्थिति का विवरण और उसकी व्याख्या; और
- ताज़ा उपलब्धियों के आलोक में परिवार कल्याण कार्यक्रम के भवि-य की संभावनाओं के वर्णन के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

4.1 प्रस्तावना

"जनसांख्यिकी" शब्द लैटिन शब्द "डेमोस" से लिया गया है, जिसका अर्थ होता है – लोग। इस तरह जनसांख्यिकी जनसंख्या का विज्ञान है । एक ओर, जनसांख्यिकी आकार, संरचना, लक्षणों, मानव आबादी में परिवर्तनों और क्षेत्रीय वितरण से संबंधित मात्रात्मक अध्ययन है । दूसरी ओर, यह जनसंख्या-विकास के अंतर्निहित कारणों अथवा निर्धारक तत्वों से भी संबंधित है । यह जनसंख्या घटक और परिस्थितयाँ साथ ही उनमें जैविकीय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विन्यास के संदर्भ में आते परिवर्तनों की व्याख्या करने का प्रयास करता है । सामाजिक जनसांख्यिकी, जनसंख्या घटक को मुख्यतः सामाजिक स्तर पर देखता है ।

उपर्युक्त दृ-टिकोण को ध्यान में रखते हुए इस इकाई का भाग 4.2 भारत की जनसंख्या के आकार और विकास तथा उनके परिणामों का वर्णन करता है । भाग 4.3 में भारत में जनन क्षमता और इसके निर्धारक तत्वों तथा उच्च जनन क्षमता के परिणामों को दर्शाता है । भाग 4.4 में भारत में मृत्यु दर, इसके निर्धारकों और गिरते मृत्यु दर के साथ नवजात और बाल मृत्यु दर के परिणामों की विस्तृत चर्चा की गई है । भारतीय जनसंख्या की आयु और लिंग संरचना की विवेचना भाग 4.5 में की गई है, जो आयु संरचना के निर्धारकों की भी समीक्षा करता है । भाग 4.6 परिवार नियोजन और परिवार कल्याण तथा परिवार नियोजन के रास्ते में आने वाली बाधाओं से संबंधित है । अंत में भाग 4.7 भारत की जनसंख्या नीति, इसकी उत्पत्ति और इसके अवयव, परिवार कल्याण कार्यक्रम की उपलब्धियों एवं भवि-य में इसकी संभावनाओं को आलोकित करता है ।

4.2 भारत में जनसंख्या का आकार और विकास

भारत जैसे विकासशील देश में जनसंख्या का आकार और विकास जनसांख्यिकी घटक के महत्वपूर्ण अवयव हैं । इनका हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है । अतः हम अपनी चर्चा जनसंख्या के आकार और विकास एवं इसके सामाजिक-आर्थिक परिणामों से प्रारंभ करेंगे ।

4.2.1 जनसंख्या का आकार और विकास

भारत विश्व में चीन के बाद दूसरा सर्वाधिक आबादी वाला देश है । इसकी आबादी 2001 की जनगणना के अनुसार, 103 करोड़ है, 1991 के बाद की जनगणना के बाद जनसंख्या में 18 करोड़ की वृद्धि हुई है । इसका मतलब यह हुआ कि भारत में प्रतिव-र्ा लगभग 1 करोड़ 8 लाख लोगों की बढ़ोत्तरी होती है । यह आस्ट्रेलिया की जनसंख्या से भी ज्यादा है।

भारत की जनसंख्या आजादी के बाद दो गुने से भी ज्यादा बढ़ी है । आजादी के बाद 1951 में हुए प्रथम जनगणना में जनसंख्या 36 करोड़ थी, जिसमें 1941-51 के दशक में वार्-िक वृद्धि की औसत दर 1.25 प्रतिशत इंगित की गई थी। जहाँ, 1991-2001 में वृद्धि की वार्-िक औसत दर 2.1 प्रतिशत है और decodal वृद्धि दर 21.32 प्रतिशत है ।

4.2.2 जनसंख्या परिवर्तन के निर्धारक तत्व

तीन तथ्य किसी भी देश की जनसंख्या के आकार में परिवर्तन के कारक होते है : जनन क्षमता, मृत्यु दर और देशांतरण। इन तथ्यों से अंतिम, अर्थात देशांतरण भारतीय संदर्भ में जनसंख्या वृद्धि में कोई अहम् भूमिका नहीं निभाता, अतः यह आवश्यक हो जाता है कि अन्य दो तथ्यों, जनन-क्षमता और मृत्यु-दर की विस्तार से चर्चा की जाए ।

4.2.3 जनसंख्या के आकार और विकास के परिणाम

भारत की जनसंख्या का आकार स्वयं ही चौंकाने वाला है और यह ऊँची दर से बढ़ रहा है । विकास कार्यक्रमों के माध्यम से गहन प्रयासों के बावजूद, उपलब्धियाँ बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल पा रही हैं ।

प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की पैदावार की इन व-र्ों में बढ़ोत्तरी हुई है, किंतु जनसंख्या की ऊँची दर के कारण प्रति व्यक्ति वृद्धि क्षीण हो रही है । इन व-र्ों में आवास की कमी में भी वृद्धि हुई है । स्वास्थ्य और चिकित्सा सेवा का वांछित स्तर प्राप्त नहीं किया जा सका है । इसलिए रा-ट्रीय उत्पादन की वास्तविक वृद्धि की प्रवृत्ति, प्रति व्यक्ति आय में परिलक्षित नहीं हो पा रही है । बेरोजगारी और अर्ध-बेरोजगारी से संबंधित स्थिति यह दर्शाती है कि रोजगार-बाजार इस बढ़ती हुई विशाल श्रम शक्ति का उपयोग करने में असमर्थ है ।

जनसंख्या वृद्धि की दर अत्यधिक ऊँची भी प्रतीत हो सकती है । तथापि जब यह विशाल जनसंख्या के आधार पर लागू किया जाता है तो जनसंख्या में यह वृद्धि पर्याप्त चौकाने वाली है।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर टिक ($\surd$) का निशान लगाइए ।

i) 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की आबादी

क) 65 करोड़ थी।

ख) 85 करोड़ थी।

ग) 103 करोड़ थी।

घ) 113 करोड़ थी ।

ii) भारत के विशाल आकार और उच्च जनसंख्या विकास दर के क्या परिणाम हैं? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.3 जनन क्षमता

जैसा कि आप जानते हैं, जनन क्षमता जनसंख्या वृद्धि का एक महत्वपूर्ण निर्धारक है । इस खंड में हम उच्च जनन क्षमता के मापन स्तर और प्रवृत्ति और परिणामों की चर्चा करेंगे ।

4.3.1 जनन क्षमता का मापन

प्रारंभ में बहु-संतानोत्पादकता और जनन क्षमता के मध्य अंतर स्प-ट करना आवश्यक है । बहुसंतानोत्पादकता का तात्पर्य पुनःउत्पादन के शारीरिक सामर्थ्य से है और जनन क्षमता व्यक्ति या समूह के वास्तविक प्रजनन क्रिया से संबंधित है ।

जहाँ बहु-संतानोत्पादकता का कोई सीधा मापन नहीं है, जनन क्षमता का अध्ययन जनन के आँकड़े से किया जा सकता है । स्थूल जन्म दर, जनन-क्षमता का एक महत्वपूर्ण मापन है, जिसके लिए केवल जीवित जन्म अर्थात् बच्चे जो जीवित जन्म लेते हैं, उनका हिसाब रखा जाता है । स्थूल जन्म दर की गणना कैलेण्डर व-र्ा के दरम्यान एक क्षेत्र विशे-ा में हुए जीवित जन्म को उस व-र्ा के मध्य-व-र्ा की जनसंख्या से विभाजित कर दिया जाता है । स्थूल जन्म दर सामान्यतया प्रति हजार जनसंख्या से दर्शाया जाता है । यह निम्न तरीके से परिगणित किया जाता है :

$$\frac{\text{एक व-र्ा के दरम्यान कुल जीवित जन्मों की संख्या}}{\text{उस व-र्ा के मध्य कुल जनसंख्या}} \times 1000$$

स्थूल जन्म दर जनसंख्या वृद्धि दर में जनन क्षमता के योगदान की ओर सीधा इशारा करता है । यह कतिपय कमियों से प्रभावित होता है, खासकर इसलिए कि यह संख्या उस पूरी जनसंख्या को सूचित करती है, जिसमें पुरु-ा साथ ही अल्प-वयस्क और अति वयस्क औरतें सम्मिलत हैं, जो जैविकीय रूप से संतानोत्पादन करने में सक्षम नहीं हैं । कतिपय ऐसे अधिक परिमार्जित जनन क्षमता मापक भी हैं, जो इन कमियों से रहित हैं, तथा – सामान्य जन्म दर, अवस्था विशे-ा जन्म दर इत्यादि, किंतु वे हमारी चर्चा के वि-ाय नहीं हैं ।

4.3.2 भारत में जनन क्षमता का स्तर और प्रवृत्तियाँ

अन्य विकासशील देशों की तरह भारत में स्थूल पर्याप्त उच्च रहा है । बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में भारत के लिए संभावित जन्म दर 49.2 प्रति हजार था । 1951-61 के दशक

में, जो हमारी आजादी के बाद का दशक है, जन्म दर में 4 बिंदुओं की गिरावट आई और यह लगभग प्रति हजार जनसंख्या 45 थी । 1961 से, इस तरह यद्यपि बहुत तेजी से नहीं फिर भी लगातार गिरावट होती रही । नमूना पंजीकरण विधि के आकलन के अनुसार 1988 में भारत में जन्म दर 31.3 प्रति हजार जनसंख्या रही । उसी व-र्ा ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ यह 32.8 प्रति हजार थी, शहरी क्षेत्रों में 26.0 प्रति हजार जनसंख्या थी । नमूना पंजीकरण विधि के अनुसार 2002 में भारत में जन्म दर 25.8 प्रति हजार थी । राज्य स्तर पर इसमें व्यापक भिन्नता पाई गई ।

4.3.3 उच्च जनन क्षमता के निर्धारक तत्व

भारतीय स्त्रियों के उच्च प्रजनन क्षमता को कई तथ्य प्रभावित करते हैं । इनमें से कुछ तथ्यों की हम विवेचना करें :

i) बौद्ध धर्म को छोड़कर दुनिया का हर धर्म अपने अनुयायियों को जन्म देने और वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहित करता है । अतः यह एकदम से आश्चर्यजनक नहीं है कि इस भ्रामक धारणा और धर्मों तथा सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रबलता से समर्थित उच्च जनन क्षमता की प्रवृत्ति ने पारंपरिक भारत में परिवार के आकार के स्तर को अपने हिसाब से तय किया ।

ii) दूसरा तथ्य जो उच्च जनन क्षमता को आधार प्रदान करता है, वह है – वैवाहिक संस्था की सार्वभौमिकता । हिन्दुओं में एक पुरु-ा से यह आशा की जाती है कि वह अपने जीवन कि विभिन्न पड़ावों (आश्रम) के अपने कर्त्तव्यों को पूरा करे । विवाह ऐसा ही एक कर्त्तव्य माना जाता है । हिन्दू औरतों के लिए विवाह आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि वे मात्र इसी संस्कार की अधिकारी हैं, यद्यपि हिन्दू पुरु-ा के जीवन में कई संस्कार होते हैं ।

iii) हाल के व-र्ाों तक भारत में प्रथा के अनुसार हिन्दू लड़कियों की शादी उनके रजास्वला होने से पूर्व ही कर दी जाती थी । आज भी, बावजूद इस कानून के कि अट्ठारह व-र्ा से कम उम्र की लड़कियों की शादी नहीं हो सकती, उनकी शादी इससे पूर्व ही कर दी जाती है । भारत में, परंपरागत रूप से स्त्रियाँ कम उम्र से ही बच्चों को जन्म देने लग जाती हैं और जब तक जैविकीय रूप से इसके अयोग्य नहीं हो जाती हैं, ऐसा करती रहती हैं ।

iv) हर परंपरागत समाज की तरह, भारत में भी बच्चों को जन्म देने पर काफी जोर दिया जाता है । समाज उस औरत को तिरस्कारपूर्ण दृ-टि से देखता है जो संतानोत्पत्ति नहीं करती । वस्तुतः नई बहु परिवार में अपनी अंधकारपूर्ण स्थिति से तभी निकल पाती है, जब वह एक बच्चे को, खासकर लड़के को जन्म देती है ।

v) लड़के के लिए पक्षपातपूर्ण चाहत भारतीय संस्कृति से गहराई से जुड़ा है । पारिवारिक क्रम की निरंतरता बनाए रखने के लिए और माता-पिता की बुढ़ापे में देखरेख करने के लिए लड़कों की आवश्यकता महसूस की जाती है । हिन्दुओं में, लड़के की चाहत सिर्फ इसलिए नहीं होती है कि वह पारिवारिक क्रम को जारी रखे और बुढ़ापे में सुरक्षा प्रदान करे बल्कि इसलिए भी होती है कि वह औपचारिकता के साथ चिता को अग्नि दे और अपने पिता की आत्मा के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करे । भारतीय समाज में लड़के की चाहत इतनी प्रबल है कि एक पति-पत्नी कई लड़कियाँ होने के बावजूद कम से कम एक लड़के की उम्मीद में संतानोत्पत्ति जारी रखते हैं ।

vi) भाग्यवादी प्रवृत्ति भारतीय समाज में अंतर्निहित है और यह बचपन से सिखाई जाती है। ऐसी प्रवृत्ति संतानोत्पत्ति के संबंध में स्वनिर्णय के अधिकार को लागू करने के खिलाफ है । बच्चों को ईश्वर का उपहार समझा जाता है और उनकी संख्या निर्धारित करना मनु-य का काम नहीं है । नवजात और बाल मृत्यु की ऊँची दर भी वृहत परिवार के कारक हैं । एक पति-पत्नी इस उम्मीद में बहुत सारे बच्चे पैदा कर लेते हैं कि इनमें से कुछ तो जवान होने तक जिन्दा बच ही जाएंगे । औरतों की निम्न स्थिति भी उच्च जनन क्षमता की जिम्मेदार है । औरतें बिना कोई प्रश्न किए अत्यधिक संतानोत्पत्ति आत्म प्रदर्शन के किसी विकल्प के अभाव में करती चली जाती हैं ।

vii) इस तरह भारतीय समाज में अधिक बच्चे पैदा करना सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्य है । अतः भारतीय नारियों की जनन क्षमता अधिक है । बहुधा बच्चों की संख्या सीमित रखने का कोई आर्थिक अभिप्रेरण नहीं होता है क्योंकि जन्म देने वाले माता-पिता के जिम्मे अपने बच्चों की आवश्यकताओं को पूरा करने की तब तक जबावदेही नहीं होती है जब तक वृहत्तर परिवार के जिम्मे परिवार में जन्में सभी बच्चों के देखरेख की संयुक्त भागीदारी होती है ।

viii) पुनश्च गर्भ नियंत्रण विधि को विस्तार से अपनाने की कमी के कारण, भारतीय स्त्रियों की जनन क्षमता उच्च बनी हुई है ।

इन सभी कारकों को अलग-अलग करके नहीं देखा सकता । वास्तव में यह अनेक कारकों का सम्मिश्रण है, जो भारत में उच्च जन्म दर में अपना योगदान देते हैं । उच्च जनन क्षमता के तथ्यों के संबंध में विचार करते हुए यह भी आवश्यक है कि परंपरागत भारतीय मान्यताओं पर भी ध्यान दिया जाए जो दम्पत्ति के संतानोत्पत्ति से संबंधित व्यवहार को प्रभावित करता है । भारतीय उप-महाद्वीप में स्तनपान सार्वभौम रूप से प्रचलित है और इसका गर्भधारण पर एक नि-ोधात्मक प्रभाव पड़ता है । कतिपय वर्जनाएँ भी आसन्न प्रसव अवधि के बाद वाले समय में प्रचलित हैं, जब पति-पत्नी से शारीरिक संपर्क नहीं करने की आशा की जाती है। जन्म देने के समय माता-पिता के घर, खासकर पहली बार, जाने का प्रचलन भी देश के कई भागों में सामान्य है और इससे जन्म के बाद पति-पत्नी के बीच संपर्क होने में रुकावटें आती हैं जिससे गर्भधारण की प्रक्रिया टलती है । महीने के कुछ खास दिनों में भी संपर्क प्रतिबंधित होता है । सामान्यतया यह भी जानकारी में आया है कि दादी, नानी बन जाने के बाद भी कोई औरत संतानोत्पत्ति करती है तो उसकी स्थिति हास्यास्पद हो जाती है ।

4.3.4 उच्च जनन क्षमता के परिणाम

देश की जनसंख्या समस्या को व्यापक रूप से प्रभावित करने के अलावा, उच्च जनन क्षमता परिवार और समाज को कई तरह से प्रभावित करती है ।

औरतें अपने उत्पादक जीवन के सर्वोत्तम व-ों में संतानोत्पत्ति और उनके लालन-पालन से बंध जाती हैं । इस तरह वे अपनी क्षमता के प्रदर्शन और आत्म विकास के अन्य माध्यमों को ढूँढ़ने से वंचित रह जाती हैं । यह कुंठा को जन्म दे सकता है । अत्यधिक संतानोत्पत्ति उसके स्वयं के और उसके बच्चों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है । बहुत से बच्चों की देखभाल करना ऐसी औरतों के क्षीण शारीरिक और मानसिक शक्ति पर अतिरिक्त रूप से तनाव डालता है ।

बड़े परिवार के भरण-पो-ाण की जिम्मेदारी परिवार के कमाऊ व्यक्ति पर अतिरिक्त भार डालता है। न्यूनतम जीवनयापन के लिए निरंतर संघ-ार्ा से थकने लगता है । दैनिक जीवन की समस्याओं से बचने के लिए वह शराब आदि वयस्नों का सहारा ले सकता है जो परिवार के आर्थिक और भावनात्मक स्थिति को और भी बरबाद कर डालता है ।

उच्च जनन क्षमता का सामाजिक प्रभाव

बच्चे जो बहुधा अनचाहे, बिना प्यार के और तिरस्कृत होते हैं, अपनी मर्जी से अपना जीवन बसर करने के लिए छोड़ दिए जाते हैं । इसके परिणामस्वरूप ऐसे बच्चों में कभी-कभी अपराध प्रवृत्ति पनपने लगती है । बड़े परिवार के बच्चों को बहुधा बहुत कम उम्र से काम करना पड़ जाता है ताकि वे परिवार के क्षीण आर्थिक स्रोतों को बढ़ाने में सहयोग दे सकें । इस तरह वे स्कूल जाने और शिक्षा ग्रहण करने से वंचित रह जाते हैं । लड़की सबसे ज्यादा नुकसान उठाती है । वह बहुधा स्कूल ही नहीं भेजी जाती या छोटी उम्र में स्कूल जाने से रोक दी जाती है ताकि घरेलू कामकाज में अपनी माँ की मदद करें और जब उसकी माँ काम पर हो तो वह अपने से छोटे बच्चों की देखभाल करे । छोटी उम्र में विवाह उन्हें संतानोत्पत्ति की ओर ढकेलता है । इस तरह यह दू-ित चक्र चालू रहता है । बड़े परिवारों में बच्चे, लड़का या लड़की, इस प्रकार बचपन के आनंद से वंचित रह जाते हैं और अत्यंत छोटी उम्र में ही प्रौढ़ता प्राप्त कर लेते हैं ।

सुखी और स्वस्थ परिवार ही वह आधार है जिस पर स्वस्थ समाज का निर्माण होता है । अत्यधिक जनन क्षमता जो पारिवारिक असंतो-ा और अस्वस्थता के कारणों में से एक है, को स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए बदलने की आवश्यकता है ।

बोध प्रश्न 2

i) स्थूल जन्म दर गणना का सूत्र लिखें । लगभग दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

ii) भारत में उच्च जनन क्षमता के निर्धारकों को सूचीबद्ध कीजिए । उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

iii) परिवार और समाज के लिए उच्च जनन क्षमता के क्या परिणाम हैं ? उत्तर लगभग दस पंक्तियों में दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.4 मृत्यु दर

मृत्यु दर जनसंख्या का एक महत्वपूर्ण निर्धारक है। अब हम मृत्यु दर के कुछ महत्वपूर्ण आयामों की जाँच करेंगे ।

4.4.1 मृत्यु दर का मापन

मृत्यु दर के विश्ले-ाण में मृत्यु दर के बहुत से साधनों का उपयोग किया जाता है । मृत्यु दर की प्रक्रिया सामान्य जानकारी के लिए, मृत्यु दर के तीन मूल साधनों का वर्णन करना पर्याप्त है : स्थूल मृत्यु दर, जन्म से जीवन की आशा और नवजात शिशु मृत्यु दर ।

i) स्थूल मृत्यु दर

स्थूल मृत्यु दर एक कैलेण्डर व-र्ा में हुए संपूर्ण पंजीकृत मृत्यु का उस व-र्ा के मध्य व-र्ा में संपूर्ण जनसंख्या का एक हजार से गुणित अनुपात है । इसकी गणना निम्न प्रकार से की जाती है:

$$\frac{\text{एक व-र्ा के दरम्यान पंजीकृत मृत्यु}}{\text{उस व-र्ा के मध्य की समूची जनसंख्या}} \times 1000$$

स्थूल जन्म दर की तरह मृत्यु दर में कतिपय कमियाँ हैं । मुख्यतः चूँकि यह जनसंख्या के विभिन्न समूहों के मृत्यु दरों के अनुभवों को समाहित करता है । उम्र और लिंग संरचना का इसमें ध्यान नहीं रखा गया है । उदाहरण के लिए, किसी ऐसे देश की स्थूल मृत्यु दर जिसमें बड़ों की संख्या बहुत ज्यादा है, उतनी ही होगी जितनी किसी दूसरे देश की, जहाँ बुढ़ापे का यह अनुपात काफी कम है । इन देशों की मृत्यु दर की परिस्थितियों को समान नहीं माना जा सकता है । अतः, यह आवश्यक है कि आयु की मृत्यु दरों की गणना की जाए और स्त्री और पुरु-ों की अलग-अलग रपट प्रकाशित की जाए ।

ii) जन्म से जीवन की आशा

जन्म के आधार पर जीवन की प्रत्याशा मृत्यु दर के स्तर की अच्छी माप है क्योंकि यह जनसंख्या की आयु संरचना से प्रभावित नहीं होता है । ''औसत जीवन प्रत्याशा'' पद यह इंगित करता है कि खास समय व खास स्थान पर जहाँ यह अध्ययन किया जा रहा है, प्रतिव-र्ा हो रहे विशे-ा आयु की मृत्यु दर के खतरों के मध्य एक नवजात के औसत जीवन का या समान व-र्ा में पैदा हुए नवजात शिशु समूहों के औसत जीवन की आशा कितनी है। यह तरीका गणना करने के अर्थ में जटिल है किंतु समझना आसान है ।

iii) नवजात मृत्यु दर

जनसांख्यिकी में नवजात की परिभा-ाा इस प्रकार दी जाती है कि वे सभी बच्चे जो अपने जीवन के प्रथम व-र्ा में हैं और जिन्होंने अपने प्रथम जन्म दिन की औपचारिकता को पूरा नहीं किया है । नवजातों का अध्ययन पृथक रूप से किया जाता है क्योंकि जीवन के प्रथम व-र्ा में मृत्यु दर निर्विवाद रूप से उच्च है । भारत जैसे देश में जहाँ स्वास्थ्य की परिस्थितियाँ अच्छी नहीं हैं, सभी मृत्यु दर में नवजातों की संख्या यथे-ट है । उस तरह नवजात मृत्यु दर को बहुधा किसी देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति और जीवन का स्तर निर्धारित करने वाले सूचक के रूप में देखा जाता है ।

dk"Vd 1% uotkr eR;q nj dk ekiu

नवजात मृत्यु दर सामान्यतया एक कैलेण्डर व-र्ा में नवजात मृत्यु (एक व-र्ा के अंदर के बच्चों की मृत्यु) और उसी व-र्ा हुए पंजीकृत जीवित जन्म (बच्चे जो जीवित जन्म लेते हैं) का अनुपात निकाल कर परिगणन किया जाता है । यह गणन अग्रलिखित तरीके से किया जाता है :

$$\frac{\text{कैलेण्डर व-र्ा में पंजीकृत एक व-र्ा के अंदर मृत्यु की संख्या}}{\text{उसी व-र्ा के दरम्यान पंजीकृत जीवित जन्म}} \times 1000$$

उल्लेखनीय है कि यह अनुपात नवजात मृत्यु दर का लगभग एक माप है, चूँकि इस तथ्य के लिए कोई समायोजन नहीं किया गया है कि अध्ययन के चयनित व-र्ा में मरे कुछ बच्चे पिछले व-र्ा पैदा हुए थे ।

4.4.2 भारत में मृत्यु दर का स्तर और उसकी प्रवृत्ति

1921 तक भारत में स्थूल मृत्यु दर पर्याप्त उच्च थी (40 और 50 के बीच प्रति हजार जनसंख्या थी), जो 1911-21 के दशक में सर्वाधिक हो गई, जिसका मुख्य कारण था 1918 में इन्फ्लूएंजा महामारी से 1 करोड़ 50 लाख से अधिक लोगों की मृत्यु । 1911-21 से 1971-81 तक 60 व-र्ाों के दरम्यान वार्-िक औसत मृत्यु दर 48.6 प्रतिशत प्रति हजार जनसंख्या से गिरकर 14.9 प्रति हजार जनसंख्या हो गई । अर्थात् 69 प्रतिशत से भी ज्यादा की गिरावट आई । नमूना पंजीकरण विधि का अनुमान यह इंगित करता है कि व-र्ा 1988

के लिए *स्थूल मृत्यु दर 11.0 प्रति हजार जनसंख्या* थी । व-र्ा 2000 में स्थूल मृत्यु दर घटकर 8.5 प्रति हजार हो गई ।

इन व-र्ाों के दौरान जन्म के आधार पर औसत जीवन प्रत्याशा में भी बढ़ोत्तरी हुई है । 1911-21 के दौरान यह पुरु-ाों के लिए 19.4 व-र्ा, स्त्रियों के लिए 20.9 व-र्ा और दोनों लिंगों को मिलाकर 20.1 व-र्ा थी । आँकड़े देश के निम्नतम और दुनिया में कहीं भी निम्नतम में से एक माने जा सकते हैं । 1941-50 के दशक में ये आँकड़े पुरु-ाों के लिए 32.1 व-र्ा, स्त्रियों के लिए 31.7 व-र्ा और दोनों को एक साथ करने पर 32.1 व-र्ा थे । 1981 से 1986 की अवधि में जीवन प्रत्याशा पुरु-ाों के लिए 55.6 व-र्ा, महिलाओं के लिए 56.4 व-र्ा और दोनों लिंगों को मिलाकर 56.0 व-र्ा थी । ताजा आँकड़ा इंगित करता है कि भारत में औसत जीवन प्रत्याशा 63.3 व-र्ा की है जो महिलाओं के लिए 63.8 व-र्ा और पुरु-ाों के लिए 62.8 व-र्ा है ।

4.4.3 गिरते मृत्यु दर के निर्धारक तत्व

भारत में मृत्यु दर में आई गिरावट का प्रमुख कारण विकसित देशों से आयातित लोक-स्वास्थ्य और बीमारी की रोकथाम के उपाय हैं । इनमें डी.डी.टी. छिड़काव, संक्रामक और बचपन की बीमारियों तथा टी.बी., पोलियो, टाईफाइड, कॉलरा (हैजा) की रोकथाम के लिए पेन्सिलिन और वेक्सीन आदि शामिल हैं । खतरनाक (मारक रोग) यथा – प्लेग और चेचक का पूर्ण रूप से सफाया कर दिया गया है । स्वास्थ्य और चिकित्सा सेवा का देश के विभिन्न भागों में विस्तार और चिकित्सा विज्ञान की प्रगति ने भारत में मृत्यु दर कम करने में व्यापक योगदान दिया है । भयावह अकालों का असर भी रोकथाम और राहत के कार्यों के द्वारा काफी कम किया गया है । मृत्यु की दर को और कम करने के लिए अभी और बहुत कुछ करना बाकी है।

4.4.4 गिरते मृत्यु दर के परिणाम

चूँकि गिरती मृत्यु दर और बढ़ती जन्म दर को समानुपातिक न्यून जन्म दर के साथ नहीं जोड़ा जा सकता है, अतः मृत्यु दर में आई कमी जनसंख्या वृद्धि की तीव्रता का प्रमुख कारण रहा है। बढ़ी हुई जन्म दर के आधार पर औसत जीवन प्रत्याशा का परिणाम है बूढ़ों (अर्थात् वे जो 60 व-र्ा से ऊपर की उम्र के हैं) के अनुपात में वृद्धि । वर्तमान समय में भारत में बूढ़ों का प्रतिशत 6.49 (1981) विकसित देशों जितना ऊँचा नहीं है (उदाहरण के लिए 1984 में संयुक्त राज्य अमेरिका में 16.47) यद्यपि कुल संख्या पर्याप्त उच्च है ।

हमारे देश में बूढ़े व्यक्ति आवश्यक रूप से पारिवारिक आमदनी या रा-ट्रीय आय को बढ़ाने में मदद नहीं करते हैं । उनके भोजन एवं स्वास्थ्य या चिकित्सा देखभाल का खर्च वहन करना पड़ता है । जब संयुक्त परिवार के द्वारा पूरी मदद नहीं की जाती तो यह भार समाज के जिम्मे आ पड़ता है । सरकारी राशि से वृद्धों के लिए वृद्धावस्था पेंशन अथवा स्नेह पालन घर उपलब्ध कराए जाते हैं । अनेक राज्यों ने सीमित मात्रा में वृद्धों के लिए वृद्धावस्था पेंशन योजना शुरू कर दी है । भारत जैसे गरीब देश में इस प्रकार के उपायों को अमल में लाने के लिए राजनीतिक प्रतिबद्धता की आवश्यकता है ।

4.4.5 भारत में नवजात मृत्यु दर के स्तर और प्रवृत्ति

1969 में भारत में नवजात मृत्यु दर 140 प्रति हजार जीवित जन्म दर के समान ही उच्च थी । 1989 में नवजात मृत्यु दर 100 प्रति हजार जीवित जन्म दर से कम हो गई । सन 2000 तक 20 प्रति हजार जीवित जन्म के नवजात मृत्यु दर के लक्ष्य को प्राप्त करने के

लिए भारत को अभी एक लम्बा सफर तय करना है, जिसमें एक है - 2000 ई. तक सभी को स्वास्थ्य की सुरक्षा प्रदान करना । लेकिन व-र्ा 2002 में भारत में नवजात मृत्यु दर प्रति हजार 68 जीवित जन्म थी।

dk"Bd 2: भारत और इसके प्रमुख राज्यों में लिंगानुसार 0-4 व-र्ा की आयु के बच्चों की अनुमानित मृत्यु दर में भिन्नता, 1998

	कुल	पुरु-ा	महिला
भारत	22.5	21.0	24.1
आंध प्रदेश	18.1	17.8	18.4
असम	27.5	29.2	25.6
बिहार	22.9	21.2	24.8
गुजरात	19.6	18.5	20.9
हरियाणा	22.4	19.4	26.2
हिमाचल प्रदेश	16.7	14.1	19.7
कर्नाटक	16.7	16.5	16.8
केरल	3.6	4.2	3.0
मध्य प्रदेश	32.6	31.6	33.7
महारा-ट्र	12.7	11.2	14.3
उड़ीसा	29.0	28.7	29.4
पंजाब	16.8	15.9	17.9
राजस्थान	27.77	27.3	28.1
तमिलनाडु	13.0	12.3	13.8
उत्तर प्रदेश	29.6	25.3	34.5
पश्चिम बंगाल	15.0	16.2	13.8

स्त्रोतः *भारत के महापंजीयक,* नमूना पंजीकरण विधि

संपूर्ण भारतः ग्रामीण

कुल	पुरु-ा	महिला
24.8	23.2	26.6

संपूर्ण भारतः शहरी

कुल	पुरु-ा	महिला
12.8	12.0	13.6

4.4.6 नवजात मृत्यु दर और बाल मृत्यु दर के निर्धारक तत्व

नव प्रासूतिक अवधि के दौरान (अर्थात् बच्चे के जीवन के प्रथम चार सप्ताहों में) मृत्यु दर के निर्धारक पश्चात प्रासूतिक अवधि (अर्थात् 1 से 11 महीने की अवधि के मध्य) बालपन की अवधि के साथ (अर्थात् 1 से 4 व-र्ा के मध्य) की अवधि में पर्याप्त फर्क है ।

i) नव प्रासूतिक मृत्यु दर

नव प्रासूतिक मृत्यु दर में जैविकीय तथ्य निर्णायक भूमिका अदा करते हैं । ये तथ्य भी अंतः विकसित तथ्य के रूप में जाने जाते हैं ।

क) यह ज्ञात है कि उच्च प्रासूतिक मृत्यु दर तब होती है जबकि माँ अठारह व-र्ा से कम अथवा 35 व-र्ा की उम्र की हो, जबकि समानता 4 से ज्यादा है और दो जन्मों के मध्य का अंतर एक व-र्ा से कम है । ये परिस्थितियां हमारे देश में सामान्य हैं, जो उच्च नवजात मृत्यु का कारण बनती हैं ।

ख) तब जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन के द्वारा निर्दि-ट मानक यह स्प-ट करता है कि 2500 ग्राम से कम वजन के बच्चों के ऐसा बच्चा समझना चाहिए जिनके मर जाने की संभावना ज्यादा होती है और उन पर विशे-ा ध्यान देने की जरूरत होती है । 24 से 37 प्रतिशत तक भारतीय बच्चे 2500 ग्राम से कम वजन के होते हैं जिनकी कोई खास देख-रेख की संभावना नहीं होती।

ग) सामान्यतया गर्भवती महिलाओं की भलाई के लिए किए जाने वाले नव प्रासूतिक उपचार सावधानी की हमारे देश में कमी है । इस तरह, यह संभव नहीं है कि अधिक खतरे में पड़ी महिला को चिह्नित किया जा सके जिन्हें विशे-ा सावधानी की आवश्यकता है, जो बच्चे पैदा नहीं हुए हैं, उन्हें धनु-टंकार से उन्मुक्त करने के लिए टेन्टानस टाक्साइड इंजेक्शन दिया जाए और गर्भवती महिला को रक्त की कमी से बचाने के लिए आयरन और फोलिक एसिड की गोलियाँ दी जाएँ। एक माँ जिसमें खून की कमी होती है, वह कम वजन के बच्चे को जन्म देती है जिसके जीवित रहने की संभावनाएँ क्षीण होती हैं ।

घ) उच्च सफाई की प्रस्थिति और जन्म के समय चिकित्सा संबंधी सावधानी सुनिश्चित नहीं हैं, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में । प्रसव सामान्यतया दाई (अप्रिशिक्षित पारंपरिक प्रसव कराने वाली) के द्वारा अथवा किसी बुजुर्ग महिला से कराया जाता है । अभी भी हमारे देश के हर भाग में प्रशिक्षित दाई उपलब्ध कराने की योजना नहीं पहुँच पाई है ।

च) सौभाग्यवश हमारे देश में स्तनपान कराने की आदत सर्वत्र व्याप्त है । यह बच्चे की कई तरह के संक्रामक रोगों से रक्षा करता है । स्तनपान यद्यपि जन्म के 48 घंटे से 72 घंटे के बाद प्रारंभ किया जाता है और प्रथम 24 घंटे पूर्णतः निि-द्ध है । अगर बच्चे को जन्म के तत्काल बाद स्तन से लगाया जाए तो यह कोलोस्ट्रन (माँ के दूध की प्रथम धारा) के द्वारा माँ से कई प्रकार की विमुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

बच्चों को कतिपय बीमारियों से प्रतिरक्षित करने के इस अवसर से वंचित रखा जाता है जिससे उनमें नव प्रासूतिक मृत्यु दर की संभावना बढ़ जाती है ।

ii) नव प्रासूतिक अवधि के बाद बाल मृत्यु दर

नव प्रासूतिक अवधि के बाद बाल मृत्यु दर को प्रभावित करने वाले कारण सामान्यतः जैविकीय नहीं होते अपितु पर्यावरण और इसके प्रति व्यवहृत प्रक्रिया की उपज हैं । ये कारक भी बहिर्जात तथ्य के रूप में जाने जाते हैं ।

क) बचपन की सामान्य बीमारी यथा - डिप्थीरिया, कुकुर खाँसी, मीजल्स और पोलियो साथ ही क्षय रोग का नव प्रासूतिक अवधि के बाद और बाल मृत्यु दर को प्रभावित करने में काफी बड़ी भूमिका होती है । इन बीमारियों के कारण होने वाली मृत्यु को रोका जा सकता है किंतु या तो प्रतिरक्षण सेवा ग्रामीण क्षेत्र में उपलब्ध नहीं है अथवा ग्रामीण आबादी द्वारा अज्ञानता और अंधविश्वास के कारण अथवा निरपेक्षता के कारण उसे स्वीकृति नहीं मिल पाती ।

ख) डायरिया और इसके परिणामः निर्जलीकरण दूसरा तथ्य है जो नवप्रासूतिक अवधि के बाद और बाल मृत्यु की दर को बढ़ाने में अत्यधिक योगदान देता है । यह आकलन किया गया है कि प्रतिव-र्ा लगभग 15 लाख 5 व-र्ा से कम उम्र के बच्चे डायरिया के कारण मर जाते हैं, जिनमें से 60 से 70 प्रतिशत निर्जलीकरण के कारण करते हैं ।

मुँह द्वारा पुनर्जलीकरण चिकित्सा को हाल के व-र्ाों में आरंभ किए जाने से बच्चों की देखरेख में लगे लोगों को अधिक व्यय नहीं करना होता है और परेशानी भी कम होती है। पीने वाले पुनर्जलीकरण घोल को घर में एक चम्मच चीनी, थोड़े नमक और एक गिलास उबाले हुए पानी को मिश्रित कर तैयार किया जा सकता है । सरकारी स्वास्थ्य कार्यकर्ता अथवा स्थानीय स्वास्थ्य सलाहकार से भी घोल तैयार करने की सामग्री प्राप्त की जा सकती है । वस्तुतः बाधा है तो सिर्फ पुरातन पारंपरिक वह विश्वास जो बच्चे को डायरिया हो जाने पर दूध या किसी अन्य प्रकार का खाद्य पदार्थ देने की मनाही करता है । निर्जलीकरण जो कि डायरिया की वजह से होता है, इतना ज्यादा हो सकता है कि चिकित्सा में की गई थोड़ी-सी भी देरी जानलेवा हो सकती है । दूसरी ओर पीने वाला पुनर्जलीकरण घोल जो एक घरेलू इलाज माना जा सकता है, न केवल निर्जलीकरण से बचाता है, अपितु डायरिया को भी नियंत्रित करता है ।

ग) पो-ाण की कमी एक अन्य तथ्य है जो बाल मृत्यु दर को प्रभावित करता है । 1981 में किए गए एक अध्ययन में रा-ट्रीय पो-ाण संस्थान ने यह पाया कि लगभग 85 प्रतिशत चार व-र्ा से कम आयु के बच्चे कुपो-ाण का शिकार थे, जिनमें से लगभग 6 प्रतिशत गंभीर रूप से कुपोि-त थे ।

इन कुपोि-त बच्चों में डायरिया तथा अन्य दुर्बलताजन्य रोगों के होने की संभावना अधिक होती है, जिससे बाल्यावस्था की बीमारियों का आक्रमण हो सकता है । यह दूि-त परिधि जब तक शैक्षणिक और सेवा कार्यक्रम के द्वारा तोड़ा नहीं जाएगा तब तक उच्चा नवजात और बाल मृत्यु दर जारी रहेगी ।

4.4.7 उच्च नवजात और बाल मृत्यु दर के परिणाम

यह देखा गया है कि जहाँ कहीं भी नवजात और बाल मरणशीलता अधिक है, वहाँ प्रजनन भी अधिक है । पति-पत्नी जीवित बच्चों की संख्या देखते हैं न कि जन्में बच्चों की संख्या। उच्च नवजात बाल मृत्यु दर के कारण लोग इस आशा के चलते कि इनमें से कुछ तो जीवित रहेंगे और जवान होकर उनका सहारा बनेंगे, काफी बच्चे पैदा करते हैं । साथ ही, जब एक बच्चा मरता है, माता-पिता इसका स्थानापन्न दूसरा बच्चा यथाशीघ्र लाने की चे-टा करते हैं । यह भी ज्ञात है कि नवजात बच्चे की मृत्यु हो जाने से स्तनपान के कारण गर्भधारण में जो प्राकृतिक अवरोध होता है वह समाप्त हो जाता है । उस स्थिति में उसके गर्भधारण करने की संभावना बढ़ जाती है जो जनन क्षमता को बढ़ाती है ।

इस प्रकार, नवजात और बाल मरणशीलता की उच्च दर माता-पिता को भावनात्मक चोट देने के अलावा उच्च जनन क्षमता का कारण भी बनती है जिससे जनसंख्या की समस्या

उत्पन्न होती है। इन बच्चों की देखभाल, जो देश की बेहतरी के लिए कुछ करने से पूर्व ही काल कवलित हो जाते हैं भी देश के क्षीण स्रोत पर काफी प्रभाव डालते हैं । यहाँ फिर से याद दिलाने की आवश्यकता है कि किसी देश के नवजात मृत्यु दर उस देश की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और जीवन के स्तर का सूचक है ।

बोध प्रश्न 3

i) "औसत जीवन प्रत्याशा" अथवा "जीवन-आशा" को स्प-ट कीजिए । पाँच पंक्तियों में उत्तर दें ।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) नवजात प्रासूतिक मृत्यु दर से क्या अभिप्राय है? तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

iii) भारत में उच्च नव प्रासूतिक मृत्यु दर को कौन-से कारक बढ़ावा देते है? कम से कम सात कारकों का उल्लेख करें । तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

iv) उन तीन कारकों की सूची दीजिए जो भारत में उच्च नवजात और बाल मृत्यु दर में वृद्धि करते हैं । दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

4.5 आयु और लिंग संरचना

आयु और लिंग किसी जनसंख्या के बुनियादी अथवा जैविकीय गुण हैं । ये लक्षण अथवा गुण न केवल सांख्यिकी संरचना को प्रभावित करते हैं, अपितु जनसंख्या की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संरचना को भी प्रभावित करते हैं ।

आयु और लिंग भी महत्वपूर्ण तथ्य हैं, क्योंकि वे सामाजिक स्थिति के सूचक हैं । समाज में हर व्यक्ति की आयु और लिंग पर आधारित खास स्थिति होती है । प्रस्थिति और भूमिका सांस्कृतिक रूप से निर्धारित होती है और एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में भिन्न-भिन्न होती है। एक संस्कृति के अंदर प्रस्थिति और भूमिका समय के साथ बदल जाती है ।

पारंपरिक समाज में जहाँ आयु सम्मान चाहती है, आधुनिक समाज में हो सकता है वह युवकोन्मुख हो । जहाँ जनसंख्या की आयु संरचना में बूढ़ों के लिए स्थिति और भूमिका का निर्देश हो सकता है, वहीं लिंग संरचना सामाजिक वास्तविकता को प्रतिबिंबित कर सकती है ।

किसी जनसंख्या का आयु और लिंग संरचना का जन्म और मृत्यु दर, आंतरिक और अंतर्रा-ट्रीय देशांतरण, वैवाहिक प्रस्थिति संरचना, मानव शक्ति और कुल रा-ट्रीय उत्पाद का निर्धारक और परिणाम दोनों हैं । जनसंख्या की आयु संरचना के आधार पर ही शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, आवास इत्यादि के लिए योजना तैयार की जाती है ।

4.5.1 आयु संरचना

i) आयु संरचना का मापन

यह तरीका है कि आयु के आँकड़े का पाँच-पाँच व-र्ा के आयु समूहों में वर्गीकरण किया जाता है। जैसेः 0 - 5, 5 - 9, 10 - 14, 15 - 19 ..... । किसी जनसंख्या की आयु संरचना का अध्ययन करने का सबसे आसान तरीका पूर्ण संख्या का बहुत से पाँच-पाँच व-र्ा के आयु समूहों पर आधारित जनसंख्या का प्रतिशत विवरण है। यह प्रतिशत विवरण यह बताता है कि 100 में एक आयु समूह के कितने व्यक्ति हैं । यह तरीका किसी जनसंख्या की आयु संरचना का वर्णन करने की समझदारी के लिए उपयोगी है । इसका उपयोग किसी समय विशे-ा में दो या दो से अधिक जनसंख्या समूहों का विभिन्न समय में आयु संरचना की तुलना के लिए किया जा सकता है । आयु-लिंग पिरामिड का निर्माण भी आयु लिंग भौतिकी की मदद से किया जा सकता है।

dk"Bd 3% fuHkjrk vuqikr

जनसंख्या की संरचना के अध्ययन का अन्य तरीका — निर्भरता का अनुपात है । यह तरीका प्रति 100 कामगार पर आश्रित की संख्या इंगित करता है । तीन आयु समूह इस उद्देश्य के लिए चुने जाते हैं । 15 - 50 अथवा 15 - 64 आयु की जनसंख्या कामगार जनसंख्या मानी जाती है। 15 आयु से कम की जनसंख्या निर्भर बालक/बालिका और 60 या 65 से ऊपर की जनसंख्या वृद्धों की मानी जाती है । निर्भरता अनुपात की गणना निम्न सूत्र द्वारा की जाती हैः

निर्भरता अनुपात = $\frac{\text{0 - 14 आयु समूह की जनसंख्या + 60 + या 65 + आयु समूह की जनसंख्या}}{\text{15 -69 या 15 - 64 आयु समूह की जनसंख्या}}$

निर्भरता का अनुपात किसी जनसंख्या की आर्थिक निर्भरता का मोटे तौर पर अनुमान करता है और यह निर्भरता के भार के आयु समूह के मूल्यांकन के लिए पूर्ण तरीका नहीं है । उल्लेखनीय है कि कामगार आयु समूह के (15 - 59 अथवा 15 - 64) सभी व्यक्ति नियोजित नहीं हैं और वे सभी जो निर्भर आयु समूहों (0 - 14 और 60+ या 65+) में हैं आर्थिक रूप से निर्भर नहीं हैं। भारत जैसे देश में गरीब कृ-ाक, दस्तकार के बच्चे बहुत कम उम्र से माता-पिता के काम में हाथ बंटाने लगते हैं अथवा समाचार पत्र डालने या होटलों में काम करने लगते हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में बूढ़े स्वयं को किसी न किसी आर्थिक गतिविधि में लगाए रखते हैं क्योंकि कृ-ाि जन्य अर्थ में अवकाश प्राप्त की कोई उम्र नहीं है । इससे अलग डॉक्टरों, वकीलों, व्यापारियों और अन्य स्व-नियोजित व्यक्तियों की गतिविधियाँ हैं, जिनके लिए उम्र आर्थिक गतिविधियों से अवकाश ग्रहण का कोई कारक नहीं है ।

ii) भारत में आयु संरचना

निर्धारक और परिणामः भारत एक प्राचीन देश है, यहां 0–14 आयु वर्ष के बच्चों की आबादी सबसे ज्यादा है और 50 वर्ष से ऊपर आयु समूह के लोगों की संख्या लगातार बढ़ रही है।

1991 की जनसंख्या गणना के अनुसार भारत में बच्चों का निर्भरता अनुपात 67.2 था यानी कि 15.59 आयु समूह के कामकाजी 100 लोगों को 0–14 वर्ष के आयु समूह के 67.2 बच्चों का भरण पोषण करना पड़ता है। इसी प्रकार भारत में बुर्जुग लोगों की निर्भरता 12.2 है।

किसी जनसंख्या की आयु संरचना जनन क्षमता के स्तर, मृत्यु दर व देशांतरण से निर्धारित की जाती है । इन तीनां तथ्यों में, देशांतरण किसी जनसंख्या की आयु संरचना को तभी प्रभावित कर सकता है जबकि देशांतरित किसी एक वर्ग समूह के हों और देशांतरण का अनुपात अधिक हो ।

भारत में बच्चों की आबादी ज़्यादा है क्योंकि जन्म दर उच्च है और जन्में बच्चों की संख्या में वृद्धि हुई है । लगातार जारी उच्च जन्म दर के परिणामस्वरूप जनसंख्या में वयस्कों का अनुपात कम हुआ है और बच्चों का अनुपात बढ़ा है । दूसरी ओर आर्थिक रूप से विकसित देशों में जन्म दर कम होने की वजह से कम बच्चे पैदा होते हैं । निम्न जन्म दरों का परिणाम होता है वयस्कों के अनुपात में वृद्धि । किसी जनसंख्या की आयु संरचना निर्धारित करने में जनन क्षमता की भूमिका की तुलना मृत्यु दर से करने पर हम पाते हैं कि मृत्यु दर की भूमिका सीमित है, खासकर तब जब मृत्यु दर उच्च हो । मृत्यु दर में तेजी से कमी आने और जीवन अवधि के बढ़ जाने के फलस्वरूप बाल जनसंख्या में वृद्धि होती है क्योंकि सुधार का प्रथम लाभ नवजात और बच्चों को ही मिलता है । जितने ही नवजात और बच्चे जीवित रहते हैं, जनसंख्या में बाल अनुपात उतना ही बढ़ता है । भारत में ऐसा ही हुआ है । दूसरी ओर जब मृत्यु दर स्तर अत्यंत निम्न है तब नवजात अवस्था और बाल्यावस्था के दौरान जीवित रहने वालों की संख्या में अधिक बढ़ोत्तरी होने की संभावना रहती है और मृत्यु दर की स्थिति में कोई सुधार वृद्ध वर्ग समूह को प्रभावित करेगा और जनसंख्या को बूढ़ा करेगा। अर्थात् जनसंख्या में बूढ़ों का अनुपात बढ़ाएगा । यही स्थिति स्वीडन, यू.के., कनाडा, जापान, फ्रांस और आस्ट्रेलिया जैसे विकसित देशों में है ।

बच्चों की जनसंख्या का देश की अर्थव्यवस्था पर अतिशय भार है और उन पर तब जब वे स्वयं पारिवारिक अथवा रा-ट्रीय अर्थव्यवस्था की किसी मदद के योग्य नहीं होते हैं, शिक्षा, वस्त्र और आवास मुहैया कराना पड़ता है ।

भारतीय जनसंख्या के बाल आयु संरचना का एक दूसरा अभिप्राय है कि इसमें भवि-य के व-र्षों में जनसंख्या के उच्च वृद्धि की संभावना भी है । कुछ ही व-र्षों के अंदर, ये बच्चे बड़े हो जाएंगे, शादी करेंगे और बच्चे पैदा करना शुरू कर देंगे । जब बच्चे पैदा करने की उम्र में पति-पत्नी की संख्या (पत्नी 15-44 आयु समूह) ज्यादा होगी तो सामान्य जनन क्षमता के बावजूद जन्म दर के उच्च होने की आशा की जा सकती है । यह इस तरह उच्च जनसंख्या वृद्धि की ओर ले जाता है ।

4.5.2 लिंग संरचना

i) लिंग संरचना का मापन

किसी जनसंख्या की आयु संरचना का अध्ययन करने के लिए सामान्यतया दो तरीके अपनाए जाते हैं : (1) जनसंख्या में पुरु-ा का प्रतिशत या पुरु-ा अनुपात और (2) लिंग अनुपात । दोनों तरीकों में लिंग अनुपात जनसंख्या के अध्ययन के लिए प्रायः उपयोग किए जाते हैं ।

किसी जनसंख्या के लिंग अनुपात को या तो प्रति 1000 स्त्रियों में पुरु-ों की संख्या अथवा प्रति 1000 पुरु-ों में स्त्रियों की संख्या से दर्शाया जाता है । भारतीय जनगणना के प्रति 1000 पुरु-ों में स्त्रियों की संख्या को स्प-ट करने को प्रश्रय दिया है, यद्यपि लिंग अनुपात की परिभा-ाा जो पूरी दुनिया में प्रचलित है, वह है प्रति 1000 स्त्रियों में पुरु-ों की संख्या।

ii) भारत में लिंग अनुपात और इसके निर्धारक तत्व

बहुत से देशों में सामान्यतया कुल जनसंख्या का लिंग अनुपात औरतों के पक्ष में है अर्थात् जनसंख्या में पुरु-ों की अपेक्षा औरतों की संख्या अधिक है । जब परिस्थिति दूसरी होती है अर्थात् जब जनसंख्या में औरतों की अपेक्षा पुरु-ा ज्यादा होते हैं, तब यह आसान माना जाता है। जनगणना उपलब्ध जनसंख्या आँकड़ा निर्देशित करता है कि भारत में लिंग अनुपात सदैव औरतों के विपरीत रहा है अर्थात् प्रति हजार पुरु-ों में स्त्रियों की संख्या हजार से कम रही है। वास्तव में लिंग अनुपात लगातार (1901 में 972 से 1971 में 930) गिरा है । 1951 और 1981 की जनगणना में मामूली सुधार अंकित किया गया किंतु 1991 की जनगणना ने 5 अंकों की गिरावट 1981 में 934 से 1991 में 929 अंकित किया गया । 2001 में महिला लिंग अनुपात 933 था जो 1991 की गणना से बेहतर स्थिति थी।

किसी जनंसख्या के लिंग अनुपात को निर्धारित करने के लिए निम्नांकित तीन तथ्य जिम्मेदार होते हैं :

(1) जन्म का लिंग अनुपात (2) मृतकों का लिंग अनुपात (3) वास्तविक देशांतरितों का लिंग अनुपात । भारत जैसे विकासशील देश में इस सूची में अन्य तथ्य भी शामिल किए जा सकते हैं । इस बात की सदैव संभावना है कि औरतें कम अंकित हैं क्योंकि जनगणना परिगणक जब सूचना एकत्र करते हैं, तो गृहपति के द्वारा औरतों को घर के सदस्य के रूप में अंकित नहीं कराया जाता ।

इन सभी तथ्यों में औरतों की ऊँची मृत्यु दर भारत में लिंग अनुपात की सर्वाधिक मान्य व्याख्या लगती है, जो कि औरतों के विरुद्ध है । यद्यपि जैविकीय रूप से ये पुरु-ों से सबल हैं,किंतु भारत में औरतें सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से अलाभकारी स्थिति में हैं और सदियों से उन्हें निम्न स्थिति प्रदान की जाती रही है । ज्यादातर आयु समूहों में औरतों की मृत्यु दर पुरु-ों से ज्यादा है । अन्य तथ्यों में नवजात बच्चों का लिंग अनुपात निम्न देशों से ज्यादा भिन्न नहीं है । इस तरह, इस तथ्य को लिंग अनुपात जो औरतों के विपरीत है, भारतीय जनसांख्यिकी तस्वीर की एक विचित्रता का कारण नहीं माना जा सकता है । जहाँ तक पुरु-ों के अंतरराष्ट्रीय देशांतरण का संबंध है, यह अत्यंत मामूली है और इस तरह भारत में लिंग अनुपात को प्रभावित करना नहीं दीखता है । औरतों का जनगणना में कम अंकित हो पाने का अंकीय असंतुलन भारत में स्त्री-पुरु-ा के मध्य अंकीय असंतुलन के एक बहुत ही सूक्ष्म भाग की ही व्याख्या कर सकता है ।

बोध प्रश्न 4

i) भारत बाल जनंसख्या के साथ एक पुराना देश क्यों माना जाता है? अपना उत्तर चार पंक्तियों में दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

ii) भारत में लिंग अनुपात औरतों के पक्ष में क्यों नहीं है? तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

4.6 परिवार नियोजन और परिवार कल्याण

भारत में परिवार नियोजन और परिवार कल्याण की अवधारणा प्रायः सुनने में आती है । इससे क्या अभिप्राय है ?

4.6.1 परिवार नियोजन और परिवार कल्याण की अवधारणा

परिवार के स्तर पर परिवार नियोजन का अर्थ है सिर्फ इच्छित संख्या में बच्चों का होना और तब जब उनकी चाहत हो । इस तरह परिवार नियोजन से अभिप्राय परिवार के स्रोतों की क्षमता भर परिवार को सीमित रखना साथ ही बच्चों के मध्य उचित अंतर बनाए रखना दोनों है । परिवार नियोजन का अनुकूलन स्प-ट रूप से पति-पत्नी के गर्भ निरोधन के चेतन प्रयास की चाह करता है ।

सामाजिक आंदोलन के रूप में परिवार नियोजन का तात्पर्य अनुकूल वातावरण तैयार कर लोगों के बच्चा पैदा करने की धारणा को उनके संगठित प्रयास द्वारा परिवर्तित करना है । जन्म नियंत्रण आंदोलन जैसा कि इसे आंरभ में कहा गया था, का उद्देश्य औरतों को अतिशय पैदा करने से मुक्त कराना था और इसे औरतों की आत्म निर्णय के अधिकार द्वारा मुक्ति दिलाने के रूप में देखा गया था ।

परिवार नियोजन कार्यक्रम भी गतिविधियों के एक समान समूह को समाहित करता है, जो समय के साथ बच्चे पैदा करने की प्रवृत्ति में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से चलता रहता है। परिवार नियोजन कार्यक्रम का उद्देश्य या तो औरतों और उनके बच्चों की स्वास्थ्य प्रस्थिति को सुधारना अथवा जन्म दर कम करना तथा इस तरह देश की जनसंख्या नियंत्रण नीति के साथ बहुत से देश परिवार नियोजन के स्वास्थ्य दृ-टिकोण पर भी जोर देते हैं । परिवार नियोजन कार्यक्रम के कतिपय अवयव निम्न हैं :

i) सूचना, शिक्षा, सम्प्रे-ाण गतिविधियाँ;

ii) गर्भ-निरोधकों की आपूर्ति और सेवाएँ;

iii) अधिकारियों का प्रशिक्षण;

iv) शोध;

v) प्रशासकीय ढाँचा।

जब सरकार स्वयं को परिवार और समुदाय के संपूर्ण कल्याण को बढ़ाने के लिए परिवार नियोजन के माध्यम से प्रतिबद्धित होती है, तो कार्यक्रम शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रसूति और बाल सावधानी, परिवार नियोजन व पो-ाण के साथ विस्तृत गतिविधियों को समाहित कर लेता है। 1977 से भारतीय परिवार नियोजन कार्यक्रम समस्या के कल्याणकारी उपाय पर ज्यादा जोर देता हुआ परिवार कल्याण कार्यक्रम के रूप में जाना जाता है ।

4.6.2 परिवार नियोजन के मार्ग में आने वाली बाधाएँ

उप-भाग 4.3.3 में उच्च जनन क्षमता के निर्धारक तत्वों के अंतर्गत वर्णित अधिकांश कारण परिवार नियोजन की स्वीकृति में, जिसका अर्थ जनन क्षमता नियंत्रण होता है,बाधक का काम करते हैं । ये बाधाएँ हैं – भाग्यवादिता, भारतीय संस्कृति और भारतीय मतों में बच्चे पैदा करने पर दिया गया जोर ।

इसके साथ ही कतिपय परिवार नियोजन की विधियों का उपयोग भी कई कठिनाइयाँ खड़ी करती है । संभावित प्रतिकूल प्रभाव, बुरे गुण या उनका उपयोग जैसा अनुशासन चाहती है, को देखते हुए विधियाँ समान रूप से प्रभावी भी नहीं होती हैं । जहाँ स्त्री या पुरु-ा का बन्ध्याकरण सौ प्रतिशत प्रभावी माना जाता है IUD जैसी विधियां 95 प्रतिशत प्रभावी हैं, खाने वाली गोलियां लगभग 100 प्रतिशत प्रभावी है परंतु इसे नियमित रूप से खाना जरूरी होता है। और पारंपरिक गर्भ-निरोधक यथा – कंडोम मात्र 50 प्रतिशत प्रभावी है, इनकी सहज उपलब्धता और सेवा परिवार नियोजन के अभ्यास अथवा स्वीकृति के लिए एक आवश्यक शर्त है । इन सेवाओं और वस्तुओं की सहज उपलब्धता के अभाव में लोग चाहकर भी परिवार नियोजन को नहीं अपना पाते ।

अभ्यास 1

उप-भाग 4.3.3 (उच्च प्रजननता के निर्धारक) और उप-भाग 4.6.2 (परिवार नियोजन की रुकावटें) को ध्यानपूर्वक पढ़ें। अब आप समाज में व्याप्त परिस्थितियों एवं इन खंडों में वर्णित तथ्यों को मिलाकर एक लेख लिखें । अगर संभव हो तो अपने नोट को अध्ययन केंद्र के अपने साथ पढ़ने वालों से बदलें ।

4.7 भारत की जनसंख्या नीति

भारत विश्व का पहला देश है जहाँ एक पूर्ण रूप से सरकार समर्थित परिवार नियोजन कार्यक्रम है। यह प्रगति रात भर में नहीं हुई । इसकी बुनियाद बीसवीं सदी के आरंभ में ही डाल दी गई थी ।

स्वतंत्रता पूर्व के समय में भी अभिजात बुद्धिजीवी भारतीयों ने जनसंख्या की समस्या के प्रति अपना ध्यान दिया और गर्भ नियंत्रण की बात का समर्थन किया । यद्यपि, उनके ब्रिटिश शासक इस विवादास्पद मुद्दे से अलग रहे ।

गर्भ-नियंत्रण के लिए सहयोग स्प-ट था जब 1945 में सर जौसेफ मोरे की अध्यक्षता में स्थापित स्वास्थ्य सर्वेक्षण और विकास समिति ने यह प्रस्तावित किया कि माँ और बच्चों में सुधार के लिए गर्भ-नियंत्रण सेवाएँ मुहैया कराई जानी चाहिए । बुद्धिजीवियों की ओर से यह दबाव कि सरकार गर्भ-नियंत्रण पर विस्तृत सूचना और इसके अभ्यास को बढ़ावा देने के लिए एक नीति निर्धारित करे, स्वतंत्रता पूर्व के समय में यह विचार बढ़ रहा था ।

4.7.1 वर्तमान जनसंख्या नीति के अवयव

स्वतंत्रता के आगमन के बाद, प्रथम पंचव-ीय योजना (1951-56) के साथ ही देश के विकास की योजना में परिवार नियोजन को जनसंख्या नियंत्रण का तरीका मानकर सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई । बाद वाली प्रत्येक पंचव-ीय योजना में परिवार नियोजन कार्यक्रम के लिए बढ़ता हुआ आर्थिक निर्धारण भी परिवार नियोजन कार्यक्रम पर बढ़ते हुए दबाव को इंगित करता है ।

क) रा-ट्रीय जनसंख्या नीति, 1976 और 1977

यद्यपि सरकार द्वारा अधिगृहीत परिवार नियोजन कार्यक्रम में यह अंतर्निहित था, देश की जनसंख्या नीति प्रत्यक्ष रूप से स्प-ट न होने के कारण औपचारिक रूप से अस्प-ट रही । 16 अप्रैल, 1976 में रा-ट्रीय जनसंख्या नीति घो-ित की गई। यह जून 1977 में किंचित परिवर्तित की गई ।

अप्रैल 1977 में रा-ट्रीय जनसंख्या नीति प्रथम बार घो-ित किए जाने तक, भारत की जनसंख्या नीति सामान्यतया परिवार नीति मानी जाती थी । भारत की अंतर्रा-ट्रीय परिधि में आलोचना के आधारों में से यह एक था कि जनसंख्या नीति के अन्य समाधानों को यह अनदेखा कर देता था। जनसंख्या नीति के वक्तव्य ने जनसंख्या की समस्या के कतिपय पहलुओं यथा सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक के मध्य कुछ जटिल संबंधों को ध्यान में रखा । इसने जनसंख्या समस्या के निवारण के लिए समीचीन उपायों को समाहित किया, जिनमें से कई परिवार नियोजन से आगे बढ़े । नीति वक्तव्य में परिवार नियोजन कार्यक्रम की बेहतरी के उपाय समाहित थे ।

29 जून, 1977 को निर्गत परिवार कल्याण कार्यक्रम नीति का वक्तव्य वैसे किसी तरीके को समाप्त करता है, जिसमें बाध्यता अथवा दबाव की थोड़ी भी गुंजाइश है और समस्या कल्याण उपाय पर जोर डालती है । परिवार नियोजन कार्यक्रम का नाम भी बदलकर परिवार कल्याण कार्यक्रम हो गया जो सरकार की परिवार और समुदाय की कार्यक्रम के द्वारा संपूर्ण कल्याण बढ़ाने की चिंता को दर्शाता है ।

1976 में घो-ित रा-ट्रीय जनसंख्या नीति द्वारा निर्मित उपायों को बरकरार रखा गया है । ये निम्न हैं :

(2) विवाह के लिए कानून निम्नतम निर्धारित उम्र को बढ़ाकर लड़कियों के लिए 18 व-र्ा और लड़कों के लिए 21 व-र्ा करना । (2) 2001 तक 1971 की जनसंख्या रखना, हर परिस्थिति जहाँ जनसंख्या राज्य के साथ केंद्रीय स्रोतों की साझेदारी में कारक है, यथा – राज्य की योजनाओं के लिए केंद्रीय सहायता का आबंटन, करों और शुल्कों की सहायता राशि का हस्तांतरण (3) राज्य की योजनाओं को दी जाने वाली 8 प्रतिशत केंद्रीय सहयता को सिद्धांत रूप से उनके परिवार कल्याण कार्यक्रम के साथ जोड़ दिया जाना (4) औपचारिक स्कूली शिक्षा में जनसंख्या शिक्षा को जोड़ दिया जाना (5) परिवार कल्याण कार्यक्रम को हर माध्यम का उपयोग कर लोकप्रिय कराने की योजना (6) कार्यक्रम को लागू कराने में स्वयंसेवी संस्थाओं की सहभागिता (7) औपचारिक और अनौपचारिक माध्यम के द्वारा औरतों का शैक्षणिक स्तर बढ़ाना। नीति वक्तव्य ने यह भी घो-ित किया कि सरकार प्रजनक जैविकीय और गर्भ-निरोधण के क्षेत्र में होने वाले शोध पर विशे-ा ध्यान देगी।

ख) रा-ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000

भारत ने व-र्ा 2000 में एक नई रा-ट्रीय जनसंख्या नीति बनाई । इसमें व-र्ा 2010 तक कुछ सामाजिक-जनसांख्यिकी लक्ष्य प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया, जिसके फलस्वरूप व-र्ा 2045 तक जनसंख्या स्थिरता की स्थिति प्राप्त की जा सकती है । इस नीति में अब तक प्राप्त न किए जा सके कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों की पहचान की गई, जैसे – गर्भ-निरोधक स्वास्थ्य सेवा आधारिक संरचना, प्रशिक्षित स्वास्थ्य कार्मिक और निम्नलिखित हस्तक्षेप सहित एकीकृत सेवा की सुपुर्दगी:

i) सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों, प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों और उप-केंद्रों को सुदृढ़ बनाना,

ii) स्वास्थ्य कार्मिकों और स्वास्थ्य देखभाल प्रदान करने वालों की दक्षता में वृद्धि करना,

iii) संबंधित सामाजिक क्षेत्र कार्यक्रम के कार्यान्वयन में सम-अभिरूपता लाना, जिससे परिवार-कल्याण कार्यक्रम को परिवार कल्याण पर केंद्रित किया जा सके।

iv) चलती-फिरती स्वास्थ्य क्लीनिक और परामर्श सेवाओं द्वारा मूलभूत पुनःउत्पादक और बाल स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार कर गाँव और परिवार स्तर पर आवश्यक सेवाओं को एकीकृत करना और निजी चिकित्सा व्यवसायिकों की सेवाओं को प्रामाणिक बनाने की संभावनाओं का पता लगाना और लाभार्थी समूहों की पहचानकर उन्हें ये सेवाएँ प्रदान करना (भारत सरकार, 2003)।

4.7.2 परिवार कल्याण कार्यक्रम की उपल्बिधयाँ

देश में मार्च, 1989 तक, परिवार नियोजन की विधियों द्वारा सुरक्षित किए गए दम्पत्तियों की संख्या 64.79 मिलियन आँकी गई थी, जो अनुमानतः 138.9 मिलियन सक्षम दम्पत्तियों (प्रजनन आयु समूह 15-44 की पत्नियों के साथ) की 46.7 प्रतिशत थी । विभिन्न विधियों के उपयोग की प्रभावकता का आकलन करने पर जो बंध्याकरण और खाने वाली गोलियों के लिए 100 प्रतिशत, आई.यू.डी. के लिए 95 प्रतिशत और परम्परागत गर्भ निरोधक या कंडोम के लिए 50 प्रतिशत माना गया है । मार्च 1989 तक प्रभावकारी सुरक्षित किए गए दम्पतियों की संख्या 58.14 मिलियन, अर्थात् कुल सक्षम दम्पत्ति की 41.9 प्रतिशत थी।

बंध्याकरण सर्वाधिक स्वीकृत एवं व्यापक विधि है जो 29.8 प्रतिशत सक्षम दम्पत्तियों को सुरक्षित करती है । पूरे सक्षम दम्पत्तियों में से 5.9 प्रतिशत आई.यू.डी. के द्वारा पूरी तरह सुरक्षित किए जाते हैं । 45 प्रतिशत परम्परागत गर्भ-निरोधक द्वारा और 1.7 खाने वाली गोलियों द्वारा ।

जहाँ पुरु-ा और स्त्री बंध्याकरण जैसे – चरम विधि बड़ा हिस्सा बना रहना जारी है, ध्यान देने योग्य है कि स्त्री बंध्याकरण पुरु-ा बंध्याकरण की अपेक्षा कहीं ज्यादा पसंद किया जाता है : 1988-89 में किए गए बंध्याकरण का 86.8 प्रतिशत स्त्री बंध्याकरण का था ।

1987-88 के आँकड़े यह बताते हैं कि स्त्री बंध्याकरण (Vasectomy) स्वीकार करने वाली पत्नियों की औसतन उम्र 32.4 व-ार्ा है । Tubectomy को स्वीकार करने वाली महिलाओं का औसत 30.2 और IUD को स्वीकार करने का औसत 27.4 वर्ष है। इन दम्पत्तियों को स्त्री बंध्याकरण, पुरु-ा बंध्याकरण और आई.यू.डी. स्वीकार करते वक्त औसतन जीवित बच्चों की संख्या क्रमशः 3.6, 3.3 और 2.3 है ।

व-ार्ा 2001-2002 के दौरान देश में 47.27 लाख बंध्याकरण किया गया । इस अवधि में 62.02 लाख इंटरा-यूटेराइन डिवाइस अर्थात् आई.यू.डी. का इस्तेमाल किया गया । इसके अलावा 145.69 लाख व्यक्तियों द्वारा कंडोम और 74.75 लाख खाने वाली गोलियों अर्थात् ओ.पी. का सेवन किया गया । व-ार्ा 1992-93 में 40.06 प्रतिशत गर्भ निरोधक सामग्री को प्रयोग में लाया गया जो व-ार्ा 1998-99 में बढ़कर 48.2 प्रतिशत हो गई (भारत सरकार, 2003) ।

इससे यह परिलक्षित होता है कि सामान्यतया औरतों की सर्वाधिक प्रजनन अवधि 29 व-ार्ा बीत जाने और दम्पत्ति के द्वारा सरकार द्वारा प्रतिपादित 2 बच्चों की सीमा पार कर जाने के बाद ही परिवार नियोजन स्वीकार किए जाते हैं ।

परिवार नियोजन की उपलब्धियों में अंतर्राज्यीय विभिन्नता भी देखी जा सकती है । गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, महारा-ट्र, तमिलनाडु, पंजाब जैसे राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों जैसे दादर और नगर हवेली, दिल्ली और पांडिचेरी का प्रभावी रूप से सुरक्षित किए गए दम्पत्तियों की संख्या अखिल भारतीय औसत से ज्यादा है । दूसरे सभी राज्यों ने प्रभावी रूप से सुरक्षित किए गए दम्पत्तियों की संख्या भारतीय औसत से कम अंकित की है । इसका उपवाद मात्र आंध्र प्रदेश है, जहाँ का प्रतिशत अखिल भारतीय औसत के समान है ।

4.7.3 बदलती प्रवृत्तियाँ

यह स्प-ट है कि परिवार कल्याण कार्यक्रम आपातकाल के बाद लगे धक्के से धीरे-धीरे उभर रहा है, जिसके दौरान चौंकाने वाले परिणामों की आशा में कुछ दबाव देने वाली विधियाँ अपनाई गई थीं ।

देश के लिए दूरगामी लक्ष्य प्रतिस्थापन स्तर की एकता (एक या वास्तविक प्रजनन दर जब एक औरत सिर्फ एक लड़की से प्रतिस्थापित की जाएगी) । जनसांख्यिकी लक्ष्य जो रा-ट्रीय स्वास्थ्य नीति के हिस्से के रूप में प्रस्तुत की गई है, जो 2000 ई. तक 21 प्रति हजार जन्म संख्या की जन्म दर और 60 प्रतिशत प्रभावी सुरक्षा दर प्राप्त कर लेना है । सातवीं योजना (1990 तक) उससे संबंधित जो लक्ष्य प्राप्त करने हैं, वे हैं : 29.1 का स्थूल जन्म दर और 42 प्रतिशत प्रभावी दम्पत्ति सुरक्षा दर ।

भारत की जनसंख्या की बदलती प्रवृत्तियाँ नीचे सारणी में दी गई है ।

भारत में जनसंख्या-वृद्धि

जनगणना व-र्ा	दशकीय वृद्धि प्रतिशत	औसत चरघातांकी वृद्धि (प्रतिशत)
1971	24.80	2.20
1981	24.66	2.22
1991	23.86	2.14
2001	21.34	1.93

प्राचल (Parameter)	1951	1981	1991	वर्तमान स्तर
स्थूल जन्म दर (प्रति हजार जनसंख्या)	40.8	33.9 (एसआरएस)	29.5* (एसआरएस)	25.8 (एसआरएस 2000)
स्थूल जन्म दर (प्रति हजार जनसंख्या)	25.1 (एसआरएस)	12.5 (एसआरएस)	9.8* (एसआरएस 2000)	8.5
कुल जनन दर (औसत प्रति महिला)	6.0 (एसआरएस)	4.5 (एसआरएस)	3.6* (एनएफएचएस-II)	2.8
मात्र मृत्यु दर (प्रति 1 लाख जीवित जन्म)	437 (1992-93)	ज्ञात नहीं	ज्ञात नहीं	407 (1998)
नवजात मृत्यु दर (प्रति हजार जीवित जन्म)	146 (1951-61)	110 (एसआरएस)	80* (एसआरएस)	68 (एसआरएस 2000)

पति-पत्नी सुरक्षा दर (प्रतिशत)	10.4 (1971)	22.8	44.1	48.2 (एनएफएचएस-II)
जन्म के व-र्ा पर जीवन-प्रत्याशा (पुरु-ा)	37.2	54.1	60.6	63.87* (2001-02)
जन्म के व-र्ा पर जीवन-प्रत्याशा (महिला)	36.2	54.7	61.7 (1991-96)	66.9* (2001-02)

* इसमें जम्मू और कश्मीर के अलावा # प्रतिशत

एसआरएस = नमूना पंजीकरण विधि, भारत के महापंजीयक का कार्यालय

बोध प्रश्न 5

i) भारत की रा-ट्रीय जनसंख्या नीति में " परिवार नियोजन से अलग" कौन-से बड़े उपाय किए गए हैं? सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) किन तत्वों पर भारत के परिवार कल्याण का भवि-य निर्भर करता है ? छः पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4.8 सारांश

यह इकाई जनसांख्यिकी की परिभा-ाा से प्रारंभ होती है और निम्न संभावनाओं की जाँच करती है : मृत्यु दर, जनन क्षमता, जनसंख्या का संयोजन और देशांतरण । मापने के तकनीक दिए गए हैं और उसके सामाजिक और सांस्कृतिक दृ-टिकोणों को उजागर करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है । हमने भारत की जनसंख्या के आकार और विकास का वर्णन किया और उसके परिणामों की जाँच की । भारत में जनन क्षमता और मृत्यु दर के निर्धारकों और परिणामों की व्याख्या की गई है । भारत की जनसंख्या की उम्र और लिंग

संरचना उसके निर्धारक हैं और परिणाम वर्गीकृत किए गए हैं । परिवार नियोजन और परिवार कल्याण की अवधारणा और परिवार नियोजन की बाधाओं की चर्चा की गई है । भारत की जनसंख्या नीति, इसकी उत्पत्ति और अवयव, परिवार कार्यक्रम की उपलब्धियों और इसकी भवि-य की संभावनाएँ, अंत में जनसांख्यिकी स्तर पर की गई चर्चा सामाजिक समस्याओं को सुधारने के प्रयासों को जानने में मदद करता है ।

4.9 शब्दावली

जनन क्षमता : जनन क्षमता वास्तविक प्रजनक नि-पादन की ओर संकेत करता है, चाहे व्यक्ति अथवा समूह पर लागू किया गया हो, जीवित जन्मे बच्चों की संख्या के रूप में माप किया जाता है ।

जीवन की संभावना/जन्म से जीवन की औसत संभावना : नवजातों के दस्ते (अर्थात् उसी व-र्ा जन्में बच्चे) के जीवन की अध्ययन के समय देश की उम्र सापेक्ष मृत्यु दर के खतरे के खिलाफ औसत आशा ।

नव प्रासूतिक और नव प्रासूतिक पश्चात मृत्यु : जब कोई बच्चा जीवन के प्रथम चार सप्ताहों में मर जाता है तो यह नव प्रासूतिक मृत्यु के रूप में माना जाता है । जब बच्चा चार सप्ताह जीवित रहकर किंतु व-र्ा के पूरा होने से पूर्व मर जाता है, तो उस नव प्रासूतिक पश्चात मृत्यु कहते हैं ।

जनसंख्या वृद्धि दर : जनसंख्या वृद्धि मापने का एक तरीका उसकी गणना करना है जिस दर से जनसंख्या बढ़ती है । यह दो समय में किसी खास क्षेत्र की जनसंख्या के आकार का अंतर जानकर उसे पूर्व के समय की जनसंख्या के पूर्ण परिवर्तन के द्वारा विभाजित करके किया जाता है ।

लिंग अनुपात : लिंग अनुपात को प्रति 100 स्त्रियों में पुरु-ाों की संख्या या प्रति 100 पुरु-ाों में स्त्रियों की संख्या दोनों तरीकों से उजागर किया जा सकता है । भारतीय जनगणना ने लिंग अनुपात को प्रति 1000 पुरु-ाों में स्त्रियों की संख्या के रूप में परिभाि-ात किया है ।

4.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भांडे, आशा ए. और कनितकर, तारा 1992, *प्रिंसिपल ऑफ पॉपुलेशन स्टडीज,* बम्बई : हिमालय पब्लिशिंग हाउस (पाँचवां संस्करण), (अध्याय 7,8,9 और 15)।

मिश्रा, भास्कर डी, 1981, *एन इंट्रोडक्शन टु दी स्टडी ऑफ पॉपुलेशन,* साउथ एशियन पब्लिशर्स प्रा. लि. नई दिल्ली : (अध्याय 3 और 11)।

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) ख) 844 मिलियन

ii) विकास कार्यक्रम बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं के साथ तालमेल बैठाने में अक्षम रहे हैं । आवास, स्वास्थ्य सेवाएँ और रोजगार के अवसरों की देश में कमी है।

प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपज में बढ़ोत्तरी साधारण है और प्रति व्यक्ति आय निम्न है। ये समस्याएँ जनसंख्या के वृहत् आकार और उच्च जनसंख्या वृद्धि दर की देन हैं।

बोध प्रश्न 2

i) $\frac{\text{एक व-र्ा के भीतर जीवित जन्म}}{\text{व-र्ा के मध्य में कुल जनसंख्या}} \times 1000$

ii) (i) ज्यादातर धर्म उच्च जन्म दर को उत्साहित करते हैं, (ii) विवाह की सार्वभौमिकता, (iii) कम उम्र में विवाह, (iv) बच्चे पैदा करने पर जोर, (v) लड़कों की चाहत, (vi) भाग्यवादी, (vii) उच्च नवजात और बाल मृत्यु दर, (viii) औरतों की निम्न प्रस्थिति, (ix) संयुक्त परिवार ।

iii) औरतें अपने उत्पादक जीवन के सर्वोत्तम व-र्ाों में केवल बच्चे पैदा करने में लगी रहती हैं। अति संताने पैदा करना उनके स्वास्थ्य को प्रभावित करता है । कमाने वाला बड़े परिवार का भरण-पो-ाण करने में अक्षम होकर कुंठित हो जाता है । बच्चे बहुधा तिरस्कृत हो जाते हैं । वे अपराधी व्यवहार में संलग्न हो सकते हैं । उनसे बहुधा कम उम्र में ही स्कूल छोड़कर काम करने के लिए कहा जाता है । लड़की को शिक्षा नहीं दी जाती है और कम उम्र में ही उसकी शादी करवा कर जल्दी बच्चे पैदा करने के लिए छोड़ दी जाती हैं ।

बोध प्रश्न 3

i) पद "जीवन की औसत संभावना" या जीवन की संभावना यह दर्शाता है कि उस व-र्ा जन्में बच्चों की उस समय की मृत्यु दर के अनुसार, कितने व-र्ा जीवन की आशा है।

ii) नव-प्रासूतिक मृत्यु दर बच्चों के प्रथम चार सप्ताह के जीवन के दौरान मृत्यु को इंगित करता है ।

iii) क) 18 व-र्ा से कम उम्र की माँ, (ख) 4 से ज्यादा समानता, (ग) जन्मों के मध्य एक व-र्ा से कम का अंतराल, (घ) निम्न जन्म कालिक वजन, (च) प्रसूतिकालिक व्याधि निरोधी सावधानी का अभाव, (छ) घर पर अस्वास्थ्यकर वातावरण में कराया गया प्रसव, (ज) कोलोस्ट्रम (मातृ स्तन की प्रथम धार) बच्चों को नहीं दिया जाना।

iv) (क) बचपन की सामान्य बीमारियों का विमुक्तीकरण द्वारा नहीं बचाया जाना, (ख) डायरिया और निर्जलीकरण, (ग) पो-ाक तत्वों की कमी ।

बोध प्रश्न 4

i) भारत एक प्राचीन देश है । इसका इतिहास सदियों पुराना है । इसकी जनसंख्या बाल बहुल है अर्थात् जनसंख्या का 40 प्रतिशत 15 व-र्ा से कम उम्र का है । अमेरिका जैसे विकसित देश में यह प्रतिशत 22 के लगभग है ।

ii) मुख्यतः निम्न प्रस्थितिजन्य अवहेलना की वजह से भारत में लिंग अनुपात महिलाओं के प्रतिकूल है । अधिकांश आयु समूहों में महिलाओं की मृत्यु दर पुरु-ाों की अपेक्षा ज्यादा है ।

बोध प्रश्न 5

i) (क) विवाह की न्यूनतम उम्र बढ़ाना, (ख) स्कूलों में जनसंख्या की शिक्षा, (ग) औरतों की प्रस्थिति में सुधार, विशे-ततः शिक्षा के द्वारा, (घ) 2001 तक 1971 की जनसंख्या के आँकड़ों को हर स्थिति में, जहाँ जनसंख्या राज्यों के साथ केंद्रीय स्रोतों के बंटवारे का तत्व है, स्थिर कर देना, (च) राज्य की योजनाओं के लिए केंद्रीय सहायता को राज्य के परिवार कल्याण कार्यक्रम की उपलब्धि के साथ जोड़ना ।

ii) (क) परिवार नियोजन की विस्तृत स्वीकृति, (ख) परिवार नियोजन कार्यक्रम को निम्न उपलब्धि प्राप्त राज्यों यथा – बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश इत्यादि में सुधार ।

iii) कम उम्र के परिवार नियोजन स्वीकार करना और किसी भी स्थिति में लड़का हो या लड़की दो बच्चों तक ही परिवार को सीमित रखना ।

इकाई 5 देशांतरण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 देशांतरणः औचित्य, संकल्पना, स्वरूप और गुण

- 5.2.1 समाजशास्त्रीय औचित्य
- 5.2.2 संकल्पनाएँ
- 5.2.3 स्वरूप
- 5.2.4 गुण

5.3 देशांतरण के कारण

- 5.3.1 आर्थिक
- 5.3.2 सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक

5.4 देशांतरण के परिणाम

- 5.4.1 आर्थिक
- 5.4.2 जनसांख्यिकी
- 5.4.3 सामाजिक और मनोवैज्ञानिक

5.5 शरणार्थियों और विस्थापितों की समस्याएँ

5.6 देशांतरण नीति

5.7 सारांश

5.8 शब्दावली

5.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा ध्यान देशांतरण पर जनसांख्यिकी प्रक्रिया और समाज में सामाजिक परिवर्तन के रूप में है । इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- देशांतरण को व्याख्यायित कर सकेंगे;
- सामाजिक परिवर्तन के कारक के रूप में देशांतरण के महत्व का परीक्षण कर सकेंगे;
- देशांतरण के विभिन्न कारणों को स्पष्ट कर सकेंगे;
- ऐसे देशांतरण के परिणामों की राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में चर्चा कर सकेंगे; और
- देशांतरण नीति का विश्लेषण कर सकेंगे ।

5.1 प्रस्तावना

देशांतरण की परिभाषा सामान्यतया लोगों के सामान्य निवास स्थान के भौगोलिक परिवर्तन के रूप में की जाती है । किंतु यह अस्थायी और कम दूरी की गति से पृथक है । देशांतरण

आन्तिरक (राष्ट्रीय सीमान्तर्गत) या अंतर्राष्ट्रीय (अंतर्राष्ट्रीय रीमा के पार) हो सकता है । भाग 5.4 में देशांतरण के सामाजिक औचित्य और परिभाषा ओर संकल्पना की चर्चा के बाद हम सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीति और धार्मिक संदर्भ में देशांतरण के मुख्य निर्धारक कारकों की चर्चा करेंगे । देशांतरण के प्रकार यथा – ग्रामीण और शहरी, साथ ही साथ स्वैच्छिक और अस्वैच्छिक को भाग 5.5 में व्याख्यायित किया गया है । जब लोग राष्ट्रीय सीमा के अंतर्गत अथवा राष्ट्रीय सीमा के पार गतिमान होते हैं, तो क्या परिणाम सामने आते हैं, की चर्चा भाग 5.6 में की गई है और भाग 5.7 राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर प्रकाश डालता है । इस इकाई के भाग 5.8 में देशांतरण को प्रभावित करते राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों और देशांतरण की भविष्य की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है ।

5.2 देशांतरणः औचित्य, संकल्पना, स्वरूप और गुण

इस इकाई में आपको देशांतरण के समाजशास्त्रीय औचित्य और गुणों के विभिन्न आयामों से परिचित कराया जाएगा । आइए, इसके औचित्य से आरंभ करें ।

5.2.1 समाजशास्त्रीय औचित्य

देशांतरण जनसंख्या परिवर्तन का तीसरा घटक है, अन्य दो घटक हैं – मृत्यु दर और प्रजनन क्षमता, जिसका हमने इस खंड की इकाई 4 में अध्ययन किया है । तथापि, देशांतरण दो अन्य प्रक्रियाओं – मृत्यु दर और प्रजनन क्षमता से इस अर्थ में पृथक है कि उपर्युक्त दोनों की तरह यह जैविक कारक नहीं है, जो जैविक रूपरेखा के अंतर्गत क्रियाशील होता हो, यद्यपि यह सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक कारकों से प्रभावित होता है । देशांतरण प्रभावित लोगों की इच्छा से प्रभावित होता है । सामान्यतः प्रत्येक देशांतरण की गतिविधि तय की जाती है, अपवाद की स्थिति में ऐसा नहीं भी हो सकता है। अतः देशांतरण मानव जीवन का आर्थिक, सामाजिक और जनसांख्यिकी पर्यावरणीय बलों के प्रति व्यक्त संवेदना है ।

देशांतरण का अध्ययन जनसंख्या अध्ययनों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि प्रजनन क्षमता और मृत्यु दर के साथ यह जनसंख्या वृद्धि के आकार और दर को निर्धारित करता है साथ ही उसकी संरचना और गुणों का निर्धारण भी करता है । देशांतरण किसी देश की जनसंख्या वितरण में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है और किसी क्षेत्र के श्रम-शक्ति विकास को निर्धारित करता है । इस प्रकार, देशांतरण समाज में सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण लक्षण है ।

5.2.2 संकल्पनाएँ

सामान्य जन की भाषा में "देशांतरण" शब्द लोगों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने को कहते हैं । जनसांख्यिकी शब्दकोश के अनुसार, "देशांतरण भौतिक गत्यात्मकता या एक भौगोलिक इकाई से दूसरे के मध्य स्थानिक गत्यात्मकता है । सामान्यतया इसमें उत्पत्ति या जन्म स्थान से आवास परिवर्तित होकर गंतव्य स्थान में चला जाता है।" इस प्रकार के देशांतरण को स्थाई देशांतरण कहते हैं और इसे अन्य प्रकार की गतियों, जिसमें आवास का स्थाई परिवर्तन नहीं होता है, इसे पृथक रखना चाहिए । एवरेस्ट ली, एक सुविख्यात जनसांख्यिकीविद् देशांतरण को विस्तृत रूप से "स्थायी या अर्धस्थायी आवास परिवर्तन" के रूप में परिभाषित करते हैं । गति की दूरी या स्वैच्छिक, अस्वैच्छिक प्रकृति पर कोई बंधन नहीं दिया गया है । इसेन्सटाड्स के अनुसार, देशांतरण इंगित करता है "किसी व्यक्ति या

समूह के एक समाज से दूसरे समाज में भौतिक संक्रमण को । यह संक्रमण सामान्यतया एक सामाजिक परिवेश का परित्याग कर दूसरे को ग्रहण करने की प्रक्रिया को समाहित करता है"। मंगलम भी अपनी परिभाषा में लोगों के स्थायी विस्थापन पर दबाव देते हैं और देशांतरण को अपेक्षाकृत, लोगों के एक समूह द्वारा जिन्हें देशांतरित कहा जाता है, एक भौगोलिक स्थान से दूसरे में, स्थायी रूप से जाने को कहते हैं । यह देशांतरितों के निर्णय द्वारा गतिमान होता है । वे दो तुलनात्मक परिस्थितियों में मूल्यों के समुच्चयों का मापन और विचार करते हैं जो देशांतरितों के अंतःक्रियात्मक पद्धति में परिवर्तन का कारक होता है । छुट्टियों में घूमने जाना और नाविकों का पेशा इसमें समाहित नहीं है । मेहता ने राजस्थान के अपने अध्ययन में देशांतरण को गति की क्रिया या स्थानिक गत्यात्मकता के रूप में चित्रित किया है ।

इन सभी परिभाषाओं की समीक्षा यह इंगित करती है कि लगभग सभी विद्वानों ने समय और स्थान पर जोर दिया है और देशांतरण को स्थायी या अर्धस्थायी, एक स्थान से दूसरे स्थान को, गति के रूप में देखा है । संक्षेप में, जब कोई व्यक्ति अपना जन्म स्थान छोड़कर शहरी क्षेत्रों में आता है, कोई रोजगार शुरू करता है और वहाँ रहने लगता है, तो वह देशांतरण के रूप में जाना जाता है और क्रिया को देशांतरण कहा जाता है ।

5.2.3 स्वरूप

लोग देश के विभिन्न राज्यों में या राज्य के विभिन्न जिलों में या विभिन्न देशों में जा सकते हैं। अतः, आंतरिक और बाह्य देशांतरण के लिए भिन्न पदों का उपयोग किया जाता है । आंतरिक देशांतरण एक ही देश में एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन को इंगित करता है, जबकि बाह्य देशांतरण या अंतर्राष्ट्रीय देशांतरण एक देश से दूसरे देश में गमन को इंगित करता है ।

क) **आप्रवासन और उत्प्रवासनः** "आप्रवासन" किसी दूसरे देश में देशांतरण को कहते हैं और "उत्प्रवासन" देशान्तरगमन को । ये पद मात्र अंतर्राष्ट्रीय देशांतरण के संदर्भ में प्रयुक्त होते हैं । उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका या कनाडा में बस जाने के उद्देश्य से भारत छोड़ते देशांतरण संयुक्त राज्य अमरीका या कनाडा के आप्रवासी और भारत के उत्प्रवासी हुए ।

ख) **अंतःप्रवासन और बाह्य देशांतरणः** ये पद सिर्फ आंतरिक देशांतरण में प्रयुक्त होते हैं । "अंतःदेशांतरण" किसी खास क्षेत्र में देशांतरण को इंगित करता है । इस प्रकार, बिहार और उत्तर प्रदेश के लिए बाह्य देशांतरित हुए । पद "अंतः देशांतरण" देशांतरणों के गंतव्य क्षेत्र के संदर्भ में प्रयुक्त होता है और "बाह्य देशांतरण" देशांतरितों के जन्म स्थान या प्रस्थान के क्षेत्र के संदर्भ में ।

देशांतरण के मुख्य रूपों को मानचित्र के आकार में प्रदर्शित किया जा सकता है –

मानचित्र 1

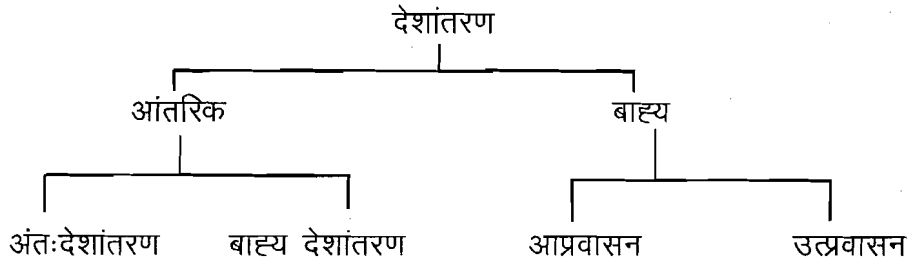

किसी देश में आंतरिक देशांतरण के तीन महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं । ये हैं – राष्ट्रीय जनगणना, जनसंख्या बही और सैम्पल सर्वेक्षण । भारत में आंतरिक देशांतरण से संबंधित आँकड़ों के सबसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं– राष्ट्रीय जनगणना और सैम्पल सर्वेक्षण ।

ग) भारत में आंतरिक देशांतरण के स्वरूप

भारत में देशांतरण से संबंधित सूचना समग्र रूप में और इसके विभिन्न भागों के लिए जनगणना के द्वारा प्राप्त किया जाता है । हाल के जनगणना आँकड़ों में बेहतर और सूक्ष्म प्रश्न पूछे गए हैं । वे देशांतरण पर हो रहे अध्ययनों में सुधार को दर्शाते हैं ।

भारतीय जनगणना 1872 के बाद से जन्म स्थान से देशांतरण की धाराओं की गणना प्रस्तुत करते हैं । तथापि, 1961 में जन्म स्थान ग्रामीण और शहरी रूपों में विभाजित था और स्थान देशांतरण के चार वर्ग: (i) जन्म स्थान के जिले के अंतर्गत, (ii) जिले के बाहर किंतु जन्मे राज्य के अंतर्गत, (iii) जन्म राज्य के बाहर यथा – अंतर्राज्यीय, और (iv) देश के बाहर, भी विभाजित थे । 1971 की जनगणना ने अंतिम आवास स्थान और 1981 की जनगणना ने देशांतरण के कारणों, जैसे प्रश्नों का समावेश कर इनके आँकड़ों को परिभाषित किया।

भारत में देशांतरितों को चार देशांतरण धाराओं – ग्रामीण से ग्रामीण, ग्रामीण से शहरी, शहरी से शहरी और शहरी से ग्रामीण में वर्गीकृत किया गया है । 1961 से ग्रामीण से ग्रामीण देशांतरण मुख्य देशांतरण धारा रही है । समय के साथ ग्रामीण से शहरी और शहरी से शहरी देशांतरण में भी महत्वपूर्ण वृद्धि होती रही है । अन्य महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि ग्रामीण से ग्रामीण देशांतरण में स्त्रियों के अनुपात कहीं ज्यादा है, जबकि अन्य तीन धाराओं में पुरुषों का अनुपात ज्यादा है। यह किस प्रकार संभव होता है। औरतों का आवास उनके विवाह के बाद परिवर्तित हो जाता है और नया स्थान पड़ोस में, जिले में हो सकता है ।

समय-समय पर शोधकर्ताओं ने स्थान, काल, आयतन और दिशा को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार के देशांतरण सुझाए हैं । स्थान के आधार पर आंतरिक देशांतरण की चार महत्वपूर्ण धाराएँ हैं । ये हैं:

i) ग्रामीण से ग्रामीण,

ii) ग्रामीण से शहरी,

iii) शहरी से शहरी,

iv) शहरी से ग्रामीण।

भारतीय जनगणना यह चार प्रकार का वर्गीकरण दर्शाती है । तथापि, कतिपय विकसित और अत्यधिक शहरीकरणयुक्त देशों में भी नगरों से उपनगर की ओर देशांतरण होता है ।

इन देशांतरण धाराओं का सापेक्षिक आकार और महत्व भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हो सकता है । कतिपय देशों में ग्रामीण से ग्रामीण देशांतरण ही मुख्य देशांतरण प्रकार है, जबकि दूसरे में यह ग्रामीण से शहरी है और कई अन्य में देशांतरितों का सबसे बड़ा अनुपात शहरी से शहरी का पाया जाता है । भारत में, यथापूर्व में स्पष्ट किया गया है, 1961, 1971, 1991 और 2001 की जनगणना में ग्रामीण से ग्रामीण देशांतरण ही मुख्य देशांतरण धारा थी । तथापि, समय के परिवर्तन के साथ ग्रामीण से शहरी देशांतरण के अनुपात में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई और यह वृद्धि 1960 के दशक की अपेक्षा 1970, 1980 और 1990 के दशकों में

कहीं ज्यादा हुई । देश में प्रमुख रूप से जो देशांतरण हुआ वह ग्रामीण से ग्रामीण था। गांव से शहर की ओर देशांतरण हुआ और इसमें अन्य सभी धाराओं में (ग्रामीण से शहरी, शहरी से शहरी और शहरी से ग्रामीण) पुरुषों का वर्चस्व रहा है, यद्यपि, यह ग्रामीण से शहरी धाराओं में कहीं ज्यादा रहा है । ग्रामीण से शहरी देशांतरण में पुरुषों के वर्चस्व का कारण देश के अन्य भागों का कृषि क्षेत्र में विकसित होना हो सकता है । खास राज्यों और नगरों में उद्योगों का विकास ग्रामीण से शहरी देशांतरण व दूसरा महत्वपूर्ण कारक हो सकता है। ग्रामीण से ग्रामीण देशांतरण में मुख्यतया औरतों का वर्चस्व रहा है । स्त्री देशांतरण मुख्य रूप से विवाह के क्रम में हुआ है, क्योंकि हिन्दू प्रथा के अनुसार दुल्हन दूसरे गाँव से लाई जाती हैं (ग्रामीण बहिर्विवाह) । राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे के अनुसार 46 प्रतिशत से ज्यादा शहरी क्षेत्रों में देशांतरण भी विवाह के कारण होता है । प्रथम संतानोत्पत्ति के लिए दुल्हन का अपने माता-पिता के यहाँ जाने की प्रथा भी आंतरिक देशांतरण का महत्वपूर्ण कारण है ।

समय पर आधारित वर्गीकरण ने देशांतरण को लंबी अभिसीमा देशांतरण और छोटी अभिसीमा या मौसमी देशांतरण के रूप में वर्गीकृत किया है । जब कोई लंबे समय के लिए जाता है तो इसे लंबी अभिसीमा देशांतरण कहा जाता है । वस्तुतः, जब एक प्रदेश ने दूसरे में जनसंख्या का स्थायी विस्थापन होता है, तो इसे स्थायी देशांतरण कहा जाता है । किंतु जब लोग अस्थायी कार्य केंद्र पर कुछ महीनों के लिए जाते हैं, और रहते हैं तो इसे आवधिक या मौसमी देशांतरण से अभिहित किया जाता है । उदाहरण के लिए, व्यस्त कृषि मौसम में अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है और आसपास के लोग मौसमी कार्य करने के लिए वहाँ पहुँच जाते हैं ।

इन दो प्रमुख प्रकारों के अतिरिक्त स्वैच्छिक या अस्वैच्छिक या बलपूर्वक कुशलता उत्सारण (जवान कुशल लोगों का देशांतरण) और शरणार्थियों और विस्थापितों का देशांतरण हो सकता है ।

5.2.4 गुण

देशांतरितों और देशांतरण के कुछ महत्वपूर्ण गुण होते हैं । एक खास गुण है – देशांतरितों का उम्र सापेक्ष होना । सामान्यतया, युवक अधिक गतिशील होते हैं । अधिकांश देशांतरण अध्ययनों, खासकर विकासशील देशों में पाया गया है कि ग्रामीण-शहरी देशांतरित मुख्यतया नव वयस्क और अपेक्षाकृत सुशिक्षित लोग होते हैं वनिस्पत उनके जो जन्म स्थान पर रह जाते हैं । यह स्पष्ट है कि रोजगार के लिए देशांतरण अधिकांश युवक ही करते हैं । स्त्री देशांतरण का बड़ा भाग जो विवाह से संबंधित होता है, युवावस्था में ही होता है । इस प्रकार लोगों में वयःसंधि और तीस के मध्य (15-35) गतिशील होने की प्रवृत्ति होती है, वनिस्पत अन्य अवस्थाओं के।

अन्य महत्वपूर्ण गुण है कि देशांतरितों की प्रवृत्ति उन स्थानों में जाने की है, जहाँ पूर्व देशांतरण किए लोगों का संपर्क है जो एक कड़ी का निर्माण करता है और श्रृंखलाबद्ध देशांतरण के रूप में जाना जाता है । अनेकों अध्ययन यह प्रदर्शित करते हैं कि लोग आँखें मूँदकर नये स्थानों पर नहीं चले जाते हैं । अक्सर उनके देशांतरण के पीछे संबंधियों और मित्रों की कड़ी और नेटवर्क होता है जो विभिन्न तरीकों से उनकी मदद करते हैं । कतिपय स्थितियों में, देशांतरित न केवल समान गंतव्य का चयन करते हैं, अपितु वे समान पेशा भी करते हैं । उदाहरण के लिए शोध यह उजागर करता है कि जयपुर के खास होटलों में लगभग सभी नौकर कुमाऊँ के एक उप-प्रदेश के होते हैं । हरियाणा और पंजाब के कृषि मजदूर मुख्यतया बिहार और उत्तर प्रदेश के होते हैं ।

बोध प्रश्न 1

i) देशांतरण का समाजशास्त्रीय औचित्य क्या है ? लगभग छः पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) देशांतरण को परिभाषित करने में किन महत्वपूर्ण परिवर्तियों का उपयोग किया गया है? चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

iii) निम्नांकित प्रकार के देशांतरणों को वर्गीकृत कीजिए :

क) केरल से खाड़ी देशों में

.....

ख) केरल से दिल्ली को

.....

ग) बिहार से वेस्ट इंडीज को

.....

घ) बांग्लादेश से लोगों का भारत आने को

.....

च) लोगों का कर्नाटक से राजस्थान आने को ।

.....

5.3 देशांतरण के कारण

यह जानना आवश्यक है कि क्यों कुछ लोग देशांतरण करते हैं, जबकि अन्य नहीं । महत्वपूर्ण कारक जो लोगों को देशांतरण करने के लिए प्रेरित करते हैं, को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : आर्थिक कारक, जनसांख्यिकी कारक, सामाजिक-सांस्कृतिक कारक और राजनीतिक कारक ।

5.3.1 आर्थिक

वस्तुतः, स्वैच्छिक देशांतरण का मुख्य कारण आर्थिक होता है । अधिकांश विकासशील देशों में निम्न कृषि आय, कृषिजन्य रोजगार और अर्धरोजगार आदि मुख्य कारक हैं जो देशांतरितों को रोजगार के बेहतर अवसरों के क्षेत्र की ओर प्रेरित करते हैं । जनसंख्या दबाव और परिणामी उच्च जन-भूमि औसत को गरीबी के एक महत्वपूर्ण कारकों के रूप में देखा जाता है जिसके कारण बाह्य देशांतरण होता है । इस प्रकार, लगभग हर अध्ययन यह इंगित करता है कि अधिकांश देशांतरित बेहतर आर्थिक अवसरों की खोज में ही निकले होते हैं । यह आंतरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही देशांतरणों के लिए एक समान सच है ।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारकों, जो देशांतरण को प्रेरित करते हैं, को "स्थान छोड़ने के कारक" और "लोगों को आकर्षित करने के कारक" के रूप में परिभाषित किया जाता है । दूसरे शब्दों में इनके द्वारा यह जाना जाता है कि लोग जन्म स्थान छोड़कर, परिस्थितियों की बाध्यता द्वारा स्थान छोड़ने के बाद जाते हैं या वे नये स्थान के आकर्षक परिस्थितियों द्वारा सम्मोहित होकर देशांतरण करते हैं । आइए, इन कारकों की थोड़ी विस्तार से चर्चा करें ।

i) स्थान छोड़ने के कारक

स्थान छोड़ने के कारक वे हैं, जो विभिन्न कारणों से व्यक्ति को जन्म स्थान को छोड़कर किसी अन्य स्थान पर जाने को बाध्य करते हैं । उदाहरण के लिए, गरीबीजन्य विपरीत आर्थिक स्थिति, निम्न उत्पादकता, बेरोजगारी, प्राकृतिक संसाधनों की समाप्ति और प्राकृतिक आपदाएं लोगों को बेहतर आर्थिक अवसरों की खोज में घर छोड़ने को बाध्य कर सकते हैं । अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा प्रायोजित एक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि श्रमिकों को कृषि कार्य छोड़कर अन्य रोजगार पेशे की तलाश में जाने का मुख्य कारक, उनकी गरीबी है। क्योंकि सामान्यतया कृषि में अर्थतंत्र के किसी अन्य क्षेत्र के मुकाबले आमदनी कम होती है। योजना आयोग के अनुमान के अनुसार ग्रामीण जनसंख्या का एक-तिहाई से ज्यादा भाग गरीबी रेखा के नीचे गुजर कर रहा है । जनसंख्या में हुई तीव्र वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति उपलब्ध कृषि क्षेत्र में कमी हुई और ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारों और अर्ध-बेरोजगारों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण लोग शहर की ओर ठेले जा रहे हैं । ग्रामीण क्षेत्रों में आमदनी के वैकल्पिक साधनों की अनुपलब्धता भी देशांतरण का अन्य कारण है । इसके साथ-साथ संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था और तत्संबंधी नियम जो संपत्ति के विभाजन पर रोक लगाए होते हैं, भी युवकों को काम की तलाश में शहरों की ओर देशांतरण करने का बाध्य करते हैं । यहाँ तक कि खेतों के उप-विभाजन, जिससे इतने छोटे टुकड़े बनते हैं, जिस पर एक परिवार बसर नहीं कर सकता है, देशांतरण को बढ़ावा देता है ।

ii) लोगों को आकर्षित करने के कारक

लोगों को आकर्षित करने के कारक उन कारकों को कहते हैं, जो किसी क्षेत्र विशेष में देशांतरितों को आकर्षित करते हैं, यथा – बेहतर रोजगार के अवसर, उच्च मजदूरी दर, बेहतर काम की स्थितियाँ और जीवन की बेहतर सुविधाएँ इत्यादि । जब उद्योग, वाणिज्य और व्यापार का त्वरित विकास होता है, तो सामान्यतया नगर की ओर देशांतरण होता है। हाल के वर्षों में भारतीयों की संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और अब मध्य-पूर्व में बड़ी संख्या में लोगों के देशांतरण का कारण बेहतर रोजगार के अवसरों का उपलब्ध होना है । उच्च मजदूरी और जीवन की बेहतर सुविधाएँ, विभिन्न प्रकार के पेशों में अपने रुचि के अनुकूल काम पसंद करने की सुविधा आदि जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में मदद करते हैं।

कभी-कभी बेहतर सांस्कृतिक और अनुरजनिक प्रकारों और शहर की चकाचौंध भी देशांतरितों को नगरों की ओर आकर्षित करती हैं । तथापि, लोगों को आकर्षित करने के कारक मात्र ग्रामीण-शहरी देशांतरण में ही नहीं, अपितु अन्य प्रकार के आंतरिक और अंतर्राष्ट्रीय देशांतरण में भी प्रभावकारी होते हैं ।

कभी-कभी एक प्रश्न पूछा जाता है कि कौन-सा कारक ज्यादा महत्वपूर्ण है – स्थान छोड़ने के कारक या लोगों को आकर्षित करने के कारक। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि स्थान छोड़ने के कारक या लोगों को आकर्षित करने के कारक की अपेक्षा अधिक शक्तिवान हैं क्योंकि शहरी आकर्षणों की अपेक्षा ग्रामीण समस्याएँ ही जनसंख्या के विस्थापन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं । दूसरी ओर, वे जो लोगों को आकर्षित करने के कारकों को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं, शहरी पूँजी निवेश और परिणामी बढ़ते रोजगार और व्यापारिक अवसरों और शहरी जीवन क्रम के बढ़ते आकर्षण पर ज्यादा जोर देते हैं ।

स्थान छोड़ने के कारक और लोगों को आकर्षित करने के कारकों को देशांतरण की धारणाओं के लिए वर्गीकृत करना देशांतरण के निर्धारकों के विश्लेषण में लाभकारी है, किंतु सिर्फ इन्हीं कारकों के माध्यम से तमाम देशांतरणकारी गतियों को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है । तथापि, कभी-कभी देशांतरण स्थान छोड़ने के कारक और लोगों को आकर्षित करने के कारकों से पृथक-पृथक प्रभावित न होकर संयुक्त रूप से प्रभावित होते हैं।

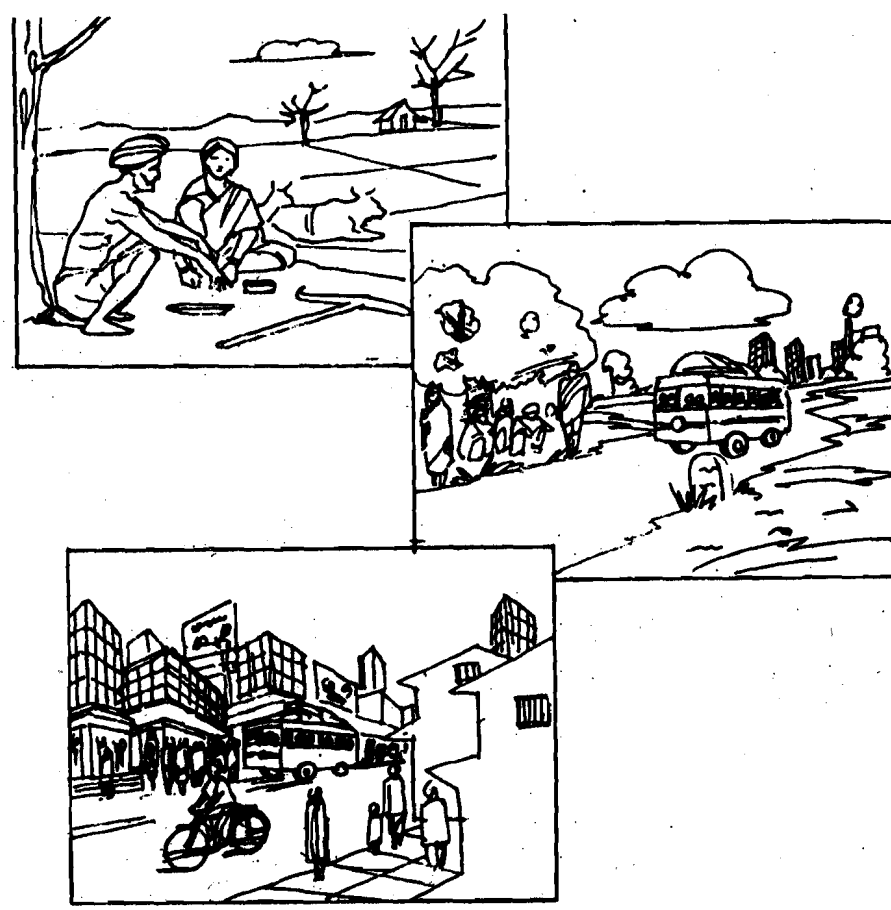

iii) **वापस भेजने वाले कारक**

भारत में, और अन्य विकासशील देशों में भी, अन्य महत्वपूर्ण कारक जो देशांतरण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं – "वापस भेजने वाले कारक" हैं । भारत में, आशीष बोस के अनुसार, शहरी श्रम शक्ति अत्यधिक है और शहरी बेरोजगारी की दर काफी है और अर्ध-

बेरोजगारों की लम्बी कतारें हैं । ये सभी कारक ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों में आने वाले देशांतरितों की नयी धारा को विपरीत रूप से प्रभावित करते हैं । वे इन्हें "वापस भेजने वाले कारक" के रूप में अभिहित करते हैं। वे कहते हैं कि अगर शहरी क्षेत्रों में रोजगार के नये अवसर उत्पन्न होते हैं, और अगर किसी विशेष कुशलता की स्थिति नहीं हो, तो प्रथम व्यक्ति जो इसे हस्तगत करेगा वह है – शहरी क्षेत्रों में निवास करने वाला सीमान्त रोजगार।

5.3.2 सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक

ढकेलते और घींचते कारकों के अतिरिक्त देशांतरण में सामाजिक और सांस्कृतिक कारक भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं । कभी-कभी पारिवारिक विग्रह भी देशांतरण का कारण बनता है। विकसित संचार व्यवस्थाएँ, यथा – परिवहन, रेडियो और दूरदर्शन का प्रभाव, सिनेमा, शहरीकृत शिक्षा और परिणामी प्रवृत्तियों और मूल्यों में परिवर्तन भी देशांतरण को बढ़ावा देते हैं ।

कभी-कभी राजनीतिक कारक भी देशांतरण को बढ़ावा या निरुत्साहित करते हैं । उदाहरण के लिए, हमारे देश में, " स्थानीय लोगों के लिए कार्यनीति" का राज्य सरकारों द्वारा स्वीकरण निश्चित रूप से अन्य राज्यों से देशांतरण को प्रभावित करेगा । बम्बई में शिव सेना का उत्थान और इसका देशांतरितों के प्रति घृणा और स्थानीय विशिष्ट राष्ट्रीयता के नाम पर यदा-कदा उभरती हिंसा, एक महत्वपूर्ण घटना है । कलकत्ता में भी बंगाली-मारवाड़ी संघर्ष का दूरगामी परिणाम होगा और अब आसाम और तमिलनाडु अन्य ऐसे उदाहरण हैं। इस प्रकार, राजनीतिक प्रवृत्ति और लोगों की दृष्टि भी बहुत हद तक देशांतरण को प्रभावित करती हैं । पंजाब और कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियों के कारण भी देशांतरण हुए हैं।

कोष्ठक 1: देशांतरण के कारण

जनगणना के आँकड़ों का विश्लेषण

भारतीय जनगणना में देशांतरण के कारणों का आँकड़ा सर्वप्रथम 1981 की जनगणना में संग्रह किया गया । ये कारण निम्नांकित तालिका में दिए जा रहे हैं :

तालिका 1: प्रत्येक लिंग का स्थायी देशांतरण वितरण प्रतिशत देशांतरण के कारणों के द्वारा, भारत, 1981

लिंग	देशांतरण के लिए कारण	कुल	ग्रामीण से ग्रामीण	शहरी से ग्रामीण	शहरी से शहरी	शहरी से ग्रामीण
पुरुष	रोजगार	30.79	19.49	47.49	41.12	27.00
	शिक्षा	5.15	4.18	8.07	5.20	3.17
	संबंधित	30.57	33.74	23.54	31.52	31.89
	विवाह	3.05	5.46	1.17	0.99	2.23
	अन्य	30.44	37.12	19.73	21.18	35.73
		100.00	100.00	100.00	100.00	100.00
स्त्री	रोजगार	1.92	1.13	4.20	4.46	3.34
	शिक्षा	0.88	0.43	2.58	2.21	1.00
	संबंधित	14.72	8.64	29.27	35.89	21.23
	विवाह	72.34	81.73	51.53	43.56	59.33
	अन्य	10.14	8.07	12.42	13.88	15.10
		100.00	100.00	100.00	100.00	100.00

पुरुष देशांतरितों के ग्रामीण से शहरी और शहरी से शहरी आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि रोजगार सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है । इन देशांतरण धाराओं के अनुसार शिक्षा मात्र 3 से 8 प्रतिशत देशांतरण का कारण है । औरतों में, जैसा कि अनुमानित था, विवाह देशांतरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है और उसके बाद संबंधित देशांतरण । रोजगार और शिक्षा औरतों के बहुत थोड़े देशांतरण का कारण है ।

आर्थिक कारकों के अतिरिक्त, कभी-कभी शैक्षणिक अवसरों की कमी, चिकित्सकीय सुविधाएँ और पारंपरिक ग्रामीण संरचना की रुकावटों से बाहर निकलने की इच्छा के साथ-साथ अन्य सुविधाएँ भी लोगों को ग्रामीण क्षेत्रों से बाहर ढकेलती हैं । तथापि, ढकेले जाने वाली स्थितियों से उत्पन्न सभी देशांतरण ग्रामीण क्षेत्रों में ही सीमित नहीं है, लोग अविकसित और अल्प समृद्ध से विकसित और समृद्ध क्षेत्रों की ओर देशांतरण करते रहे हैं।

अभ्यास

यह पता लगाइए कि आपके पड़ोस के दो परिवारों में, जब वे यहाँ आये तो कितने सदस्य शहर के बाहर पैदा हुए हैं और उनके यहाँ आने के पीछे क्या कारण थे? तब इन स्थितियों से देशांतरणों के कारणों और प्रकारों का विस्तारित करने की कोशिश करें । अपनी टिप्पणी की, अगर हो सके तो, अध्ययन केंद्र के अन्य छात्रों के साथ तुलना करें ।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

i) ग्रामीण लोगों के बाह्य देशांतरण के महत्वपूर्ण कारणों में एक है:

   क) जनसंख्या का बढ़ता दबाव
   ख) ग्रामीण गरीबी
   ग) ग्रामीण बेरोजगारी
   घ) उपर्युक्त सभी ।

ii) कारक जो देशांतरण के लिए देशांतरितों को आकर्षित करते हैं:

   क) ठेलते कारक
   ख) घींचते कारक
   ग) पीछे ठेलते कारक
   घ) उपर्युक्त सभी।

iii) निम्नांकित में से कौन देशांतरण का एक प्रकार नहीं है?

   क) ग्रामीण से ग्रामीण
   ख) ग्रामीण से शहरी
   ग) शहरी से शहरी
   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

5.4 देशांतरण के परिणाम

देशांतरण के विभिन्न परिणाम होते हैं । तथापि, इस इकाई में चर्चित कुछ महत्वपूर्ण परिणाम हैं – आर्थिक, जनसांख्यिकी, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक । ये परिणाम लाभप्रद और नुकसानदेह, दोनों हैं । इनमें से कुछ छोड़े गए स्थान को और कुछ गंतव्य स्थान को प्रभावित करते हैं ।

5.4.1 आर्थिक

अधिक श्रमिकों वाले प्रदेश से देशांतरण उस प्रदेश के श्रम की औसत उत्पादकता को बढ़ाने में मदद करते हैं क्योंकि इससे श्रम के कुशल और बेहतर उपयोग करने की प्रवृत्ति का विकास होता है । दूसरी ओर, ऐसी धारणा है कि देशांतरण उत्प्रवासन प्रदेश को विपरीत रूप से प्रभावित करता है और आप्रवासन क्षेत्र को लाभ पहुँचाता है और अपेक्षाकृत कम विकसित प्रदेश से विकसित प्रदेशों में कुशल लोगों के देशांतरण के कारण प्रादेशिक असमानता में वृद्धि होती है । किंतु अगर ग्रामीण क्षेत्रों में वैकल्पिक अवसरों का अभाव है, तो अधिक समाज के उद्यमी सदस्यों के बहिर्गमन को नुकसान नहीं माना जा सकता है । जब तक देशांतरण अतिरिक्त श्रम को आकर्षित करता रहता है, यह उत्प्रवासन क्षेत्र को लाभ ही पहुँचाता है । इसका प्रतिकूल प्रभाव तभी पड़ता है, जब प्रदेश की प्रगति की कीमत पर मानव संसाधनों का उत्सारण होता है । अन्य महत्वपूर्ण बिंदु यह है कि जब देशांतरण बेरोजगारों और अर्ध-बेरोजगारों का होता है तो यह क्षेत्र के बाकी बचे लोगों की स्थिति को सुधारने में मदद करता है क्योंकि प्रति व्यक्ति खपत में, देशांतरण के कारण वृद्धि होती है।

तथापि, श्रम शक्ति भेंजने वाला क्षेत्र आर्क रूप से लाभान्वित होता है और क्योंकि देशांतरित पैसों के साथ लौटते हैं । भारत में, ग्रामीण आबादी का शहरों में आने के कारण शहरों से गाँवों की ओर धन गमन का स्थिर मार्ग प्रशस्त हुआ है। अधिकांश देशांतरित अकेले पुरुष होते हैं जो शहरी रोजगार प्राप्ति के बाद अपनी आमदनी का एक हिस्सा अन्य साधनों पर पल रहे अपने ग्रामीण परिवार के भरण-पोषण के लिए भेजते हैं । साथ ही, यह परिवार के बचत को भी प्रभावित करता है क्योंकि कभी-कभी देशांतरित अपने साथ पैसा (पारिवारिक बचत) लेकर जाते हैं, जो उनकी यात्रा और नये स्थान पर जाकर रहने के लिए आवश्यक होता है । हाल के समय में, मध्य-पूर्व में देशांतरण में हुई अचानक वृद्धि के कारण हमारे देश में विदेशी मुद्रा के प्रेषण में अत्यधिक वृद्धि हुई है । 1979 में यह पाया गया कि केरल जैसे छोटे राज्य का वार्षिक प्रेषण 4000 मिलियन रुपया था ।

खाड़ी देशों से आते पैसों के कारण गृह-निर्माण, कृषि-भूमि की खरीद और व्यापार और उद्योगों में निवेश हुआ । इसने पारिवारिक खपत बढ़ाने में भी योगदान दिया है । पैसे बच्चों की शिक्षा पर भी खर्च किए जाते रहे हैं । दूसरी ओर, लोगों के बहिर्गमन ने श्रम शक्ति के अभाव की स्थिति उत्पन्न कर मजदूरी में वृद्धि कर दी है ।

5.4.2 जनसांख्यिकी

देशांतरण का, छोड़ते और गंतव्य प्रदेशों के उम्र, लिंग और पेशागत संयोजन पर सीधा असर पड़ता है । अविवाहित युवकों के देशांतरण के फलस्वरूप लिंग अनुपात में असंतुलन आया है । गाँवों से युवकों का पलायन अन्य समूहों, यथा – औरत, बच्चों और बूढ़ों के अनुपात की वृद्धि करता है । इसके कारण ग्रामीण क्षेत्रों में जन्म दर में कमी आने की प्रवृत्ति आती है । ग्रामीण पुरुषों का अपनी पत्नी से लंबे समय के लिए पृथकता भी जन्म दरों में कमी का कारण बनती है ।

5.4.3 सामाजिक और मनोवैज्ञानिक

शहरी जीवन देशांतरितों में कतिपय सामाजिक परिवर्तन लाते हैं । ऐसे देशांतरित जो समय-समय पर लौटकर अपने जन्म स्थान जाते रहते हैं या किसी प्रकार के संपर्क में रहते हैं, के द्वारा भी कुछ नवीन विचार ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँचते रहते हैं। अनेक अध्ययन लौटते देशांतरितों की गत्यात्मकता को तकनीकी परिवर्तन का कारण मानते हैं जो अपने साथ पैसा,

ज्ञान और विभिन्न उत्पादन तकनीकों का अनुभव लाते हैं । जो कृषि का मशीनीकरण और व्यापारीकरण कर सकता है । एक बड़ी संख्या में पूर्व सैनिक, सेवानिवृत्ति के बाद अपने गाँवों को जाते हैं और इनका अपने गाँवों में प्रयोग करते हैं । शहरी और विभिन्न संस्कृतियों का संपर्क भी देशांतरितों की प्रवृत्ति में परिवर्तन का कारण होता है और उन्हें अधिक आधुनिक अभिविन्यास और उपभोक्ता संस्कृति का विकास करने को प्रेरित करता है ।

दूसरी ओर देशांतरण जिसके कारण परिवार के वयस्क पुरुष लंबे समय के लिए परिवार से बाहर रहते हैं, बहुधा परिवार के विखंडन का कारण बन जाता है और औरतों और बच्चों को विभिन्न प्रकार के काम करने पड़ते हैं और परिवार के नीति निर्धारण में भागीदारी करनी पड़ती है । अध्ययनों ने केरल में परिवारों से पुरुषों की अनुपस्थिति के अनेक दुखद परिणाम दिखाए हैं । न्यूरोसिस, हिस्टीरिया और कुण्ठा देशांतरित पुरुषों की स्त्रियों में वृद्धि करता है । खाड़ी धूम ने परिवारों के मानसिक स्वास्थ्य की बलि ली है ।

बोध प्रश्न 3

i) किस प्रकार मजदूर भेजने वाला प्रदेश देशांतरण की प्रक्रिया से लाभान्वित होता है? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) देशांतरण के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिणामों के बारे में लिखिए। लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

शरणार्थियों का विशाल संख्या में बहिर्गमनः

क) गन्तव्य देश के लिए कोई समस्या उत्पन्न नहीं कर सकता है।

ख) गन्तव्य देश के लिए आर्थिक समस्या उत्पन्न कर सकता है।

ग) गन्तव्य देश के लिए मात्र स्वास्थ्य और पारिस्थितिकी समस्या उत्पन्न कर सकता है।

घ) शरणार्थियों के आयतन के अनुसार सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ उत्पन्न कर सकता है ।

5.5 शरणार्थियों और विस्थापितों की समस्याएँ

कभी-कभी राजनीतिक और धार्मिक बाधाओं या युद्ध के कारण लोग बाध्य होकर पलायन करते हैं । ऐसी गलियाँ लोगों को पड़ोसी देशों की ओर ले जाकर शरणार्थी के रूप में खड़ा कर देती हैं। संयुक्त राष्ट्र दस्तावेज ऐसे हर व्यक्ति को शरणार्थी घोषित करता है, जो "जाति, धर्म राष्ट्रीयता, किसी खास सामाजिक समूह या राजनीतिक धारणा की सदस्यता के कारण अत्याचार के भय से अपनी राष्ट्रीयता के देश से बाहर है और जो उपर्युक्त भय के कारण पुनः उसी देश में वापस जाने से कतराता है"। (सं.रा. 1984) ।

इस प्रकार, बड़ी संख्या में लोगों का अंतर्राष्ट्रीय पलायन राजनीतिक, धार्मिक या जातीय चरित्र की बाध्यता के कारण हुआ है । शायद इस सदी का सबसे बड़ा पलायन भारतीय उप-महाद्वीप में ही हुआ है । 1947 में देश का भारतीय गणराज्य और पाकिस्तान के विभाजन ने प्रत्येक देश में एक दूसरे से बड़ी संख्या में लोगों को पलायन करने को बाध्य किया । अनुमानतः लगभग 7 मिलियन लोग भारत से पाकिस्तान गए और लगभग 8 मिलियन पाकिस्तान से भारत आए । 1971 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के कारण भी बड़ी संख्या में लोग पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) से भारत के उत्तर-पूर्वी राज्यों में शरणार्थी बनकर आए और प्रदेश के लिए एक स्थायी समस्या बनकर रह गए हैं । ठीक उसी प्रकार जैसे बिहारी मुसलमानों की समस्या पाकिस्तान और बांग्लादेश के लिए है ।

इतिहास के कुछ सर्वाधिक विशाल बलात अंतर्राष्ट्रीय देशांतरण एशिया में हाल के समय में हुए हैं। उदाहरण के लिए, 1975 के बाद के बारह वर्षों में लगभग 1.7 मिलियन से अधिक शरणार्थियों ने वियतनाम, कंपूचिया और लाओस से पलायन किया है । 1979 की रूस के अफगानिस्तान में हस्तक्षेप के फलस्वरूप 2.7 मिलियन लोग भागकर पाकिस्तन में और 1.5 मिलियन ईरान में स्थायी तौर पर रहने को चले गए । इनमें से अधिकांश अब तक पड़ोसी देशों में तंबुओं में रह रहे हैं । हाल में, श्रीलंका में उत्पन्न राजनीतिक व्यवधानों के कारण बड़ी संख्या में तमिल भारत आए हैं और तमिलनाडु में रह रहे हैं ।

यह देखा जाता है कि मानवता के आधार पर अक्सर शरणार्थियों को विभिन्न देशों की सरकार द्वारा आश्रय दिया जाता है । तथापि, शरणार्थियों का अचानक वेग स्थानीय समाज पर अत्यधिक दबाव उत्पन्न करता है । इसके कारण आवश्यक वस्तुओं की कमी, पारिस्थितिकी असंतुलन और स्वास्थ्यजन्य विपदाएँ शरण देने वाले देश के समक्ष समस्या बनकर खड़ी होती है । विशाल आकार और विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक आयाम अनेक समस्याओं को उत्पन्न करते हैं, खासकर गंतव्य देश के लिए । कभी-कभी वे गंतव्य देश में राजनीतिक अशांति उत्पन्न कर देते हैं । वे समूहों का निर्माण कर स्वयं

को संगठित करते हैं और सरकार को छूट देने के लिए दबाव डालते हैं । उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड, कनाडा और श्रीलंका देशांतरण के कारण जातीय संकट का सामना कर रहे हैं । कभी-कभी यह स्थानीय लोगों और देशांतरितों के मध्य भिड़ंत भी करा देता है । श्रीलंका इसका ज्वलंत उदाहरण है ।

5.6 देशांतरण नीति

भारत में अंतर्राष्ट्रीय और आंतरिक देशांतरण के प्रतिमान को नियंत्रित करने के संबंध में अल्प ध्यान दिया गया है । अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देश में आप्रवासियों और उत्प्रवासियों का नवीनतम आँकड़ा भी उपलब्ध नहीं है, यद्यपि अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय देशांतरण पारपत्र और वीजा अनुमति इत्यादि के द्वारा नियंत्रित होता है । विभिन्न मंचों से भारत से मेघा-उत्सारण से संबंधित प्रश्न उठाए गए हैं, किंतु इसे रोकने के संदर्भ में कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया है क्योंकि देश में पर्याप्त संख्या में शिक्षित बेरोजगार पड़े हुए हैं । यह भी हाल ही की घटना है कि भारत सरकार के श्रम मंत्रालय ने भारतीय उत्प्रवासियों के हित की रक्षा के लिए एक सेल की स्थापना की है जो अन्य देशों में, खासकर मध्य-पूर्व में कुशल श्रमिक, अर्ध-कुशल श्रमिक और अकुशल श्रमिक की तरह कार्यरत हैं ।

राष्ट्रीय स्तर पर सरकार ने आंतरिक देशांतरण से संबंधित समस्याओं के लिए कोई रुचि नहीं दिखाई है और इस प्रकार किसी नीति का निर्माण नहीं हो पाया है । यद्यपि ग्रामीण से ग्रामीण देशांतरण जैसा कि पूर्व में बताया गया है, ने पुरुषों और स्त्रियों में देशांतरण की मुख्य धारा का निर्माण किया है । यद्यपि 1981 की जनगणना के अतिरिक्त इस देशांतरण को प्रभावित करते कारकों के संबंध में अति अल्प जानकारी है । चूँकि ग्रामीण से ग्रामीण देशांतरण का अधिकांश भाग संबंधित या अस्पष्ट कारणों से है, इसे ज्यादा स्पष्टता के साथ समझना आवश्यक है ।

देश के विभिन्न भागों में, खासकर उन भागों में जो हरित क्रांति से गुजर रहे हैं, कृषि श्रमिकों का मौसमी देशांतरण बड़ी संख्या में होता है । इन देशांतरितों के आयतन और उनके ठहरने की अवधि के बारे में कोई खास जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

ग्रामीण से शहरी देशांतरण, ग्रामीण से ग्रामीण देशांतरण के बाद सबसे अधिक संख्या में होता है और यह शहरीकरण नीतियों और कार्यक्रमों द्वारा प्रभावित होता है । चौथी और पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक गतिविधियों के स्थानिक वितरण के सामंजस्य पर बल दिया गया था और बड़े नगरों के अनियंत्रित विकास को रोकने की आवश्यकता पर जोर दिया गया था ।

नगरों (मिलियन आबादी से ऊपर) के त्वरित विकास से उत्पन्न समस्याओं को स्वीकारते हुए सरकार अब ऐसी नीतियों को लागू करना चाह रही है, जो बड़े नगरों की ओर देशांतरण को नियंत्रित करने में सहयोगी होंगी । 1980 के दशक में छोटे शहरों के पर्याप्त संरचनात्मक और अन्य सुविधाओं के विकास पर जोर दिया गया था ताकि वे ग्रामीण प्रदेशों के विकास और सेवा केंद्र के रूप में अपनी भूमिका अदा कर सकें । योजना आयोग ने छोटे और मध्य दर्जे के शहरों में नये उद्योगों और अन्य वाणिज्यिक और पेशागत संस्थानों की आवश्यकता पर बल दिया । इस खंड की इकाई 6 में हम इन समस्याओं की विस्तार से समीक्षा करेंगे।

इस प्रकार, किसी विशेष देशांतरण नीति के अभाव में भविष्य के देशांतरण प्रवाह की दिशा के बारे मं भविष्यवाणी करना कठिन है । तथापि, सरकार की छोटे, मध्यम और माध्यमिक नगरों के विकास पर बल देने की नीति को देखते हुए यह आशा की जाती है कि माध्यमिक

नगर और मध्यम शहर भविष्य में अधिक देशांतरितों को आकर्षित कर पाएंगे । यद्यपि बढ़ते उद्योगों के साथ औद्योगिक नगर नये देशांतरितों को आकर्षित करते ही रहेंगे, शिक्षित युवक-युवतियों में छोटे शहरों और नगरों में सफेदपोश काम पाने की अधिक प्रवृत्ति रहेगी।

बोध प्रश्न 4

सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाएँ ।

i) हाल के वर्षों में भारत सरकार के श्रम मंत्रालय ने भारतीय उत्प्रवासियों के हित की रक्षार्थ एक सेल की स्थापना की है, जो कार्यरत है:

   क) दूसरे देशों में सिर्फ कुशल श्रमिकों के रूप में।

   ख) दूसरे देशों में सिर्फ अकुशल श्रमिकों के रूप में।

   ग) दूसरे देशों में सिर्फ अर्ध-कुशल श्रमिकों के रूप में।

   घ) उपर्युक्त सभी ।

ii) सरकार की छोटे, मध्यम और मध्यस्थ नगरों को विकसित करने की प्रवृत्ति से यह आशा की जाती है कि:

   क) मध्यस्थ नगर भविष्य में अधिक देशांतरितों को आकर्षित करेंगे और बड़े नगरों का महत्व कम होता जाएगा ।

   ख) यद्यपि बड़े नगर देशांतरितों को आकर्षित करते रहेंगे किंतु शिक्षित युवक-युवतियों में छोटे शहरों और नगरों में सफेदपोश कार्य पाने की प्रवृत्ति अधिक होगी ।

   ग) भविष्य में ग्रामीण से शहरी देशांतरण रुक जाएगा ।

   घ) उपर्युक्त सभी सही हैं ।

5.7 सारांश

इस इकाई में हमने व्याख्यायित किया है कि देशांतरण, जो लोगों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया को समाहित करता है, एक महत्वपूर्ण जनसांख्यिकी क्रिया है जो किसी देश की जनसंख्या के स्थानिक वितरण को प्रभावित करता है । तब हमने उन कारकों पर प्रकाश डाला है, जो लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए प्रेरित करते हैं । इसी से संबंधित है गति के प्रकार जो लोग दिशा और गति की अवधि के संदर्भ में करते हैं, और ये गतियाँ स्वैच्छिक या अस्वैच्छिक हैं । तब हम देशांतरण के परिणामों पर आते हैं । दूसरे शब्दों में, उन जगहों, जहाँ से लोग चलते हैं और जहाँ पहुँचते हैं, का क्या परिणाम होता है । हमने शरणार्थियों और विस्थापितों द्वारा उत्पन्न की जाने वाली समस्याओं की चर्चा की है । अंत में, देशांतरण नीति पर प्रकाश डाला है ।

5.8 शब्दावली

प्रजनन क्षमता : प्रजनन की जैविक संभावनाएँ।

देशांतरण : एक खास समय के लिए लोगों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना।

मृत्यु दर : एक खास समय में यह किसी देश की मृत्यु का अनुपात है ।

5.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिन्हा और अताउल्ला, 11987, *माइग्रेशन इन इंटरडिसीप्लीनरी एप्रोच,* सीमा पब्लिशर्स, दिल्ली।

प्रेमी, एम.के 1980, *अरबन आउट माइग्रेशनः ए स्टडी ऑफ इट्सनेचर एंड कंस्क्वेंसेज,* स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) देशांतरण मानव के परिवेश में कार्यरत आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जनसांख्यिकी बलों के प्रति संवेदना का परिणाम है । यह जनसंख्या वृद्धि के आकार और दर निर्धारित करता है, साथ ही साथ इसकी संरचना और गुणों और किसी क्षेत्र के श्रमिक बलों को भी निर्धारित करता है । यह सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण लक्षण है ।

ii) विद्वान समय और स्थान पर एक महत्वपूर्ण परिवर्ती के रूप में बल देते हैं और देशांतरण को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थायी या अर्ध-स्थायी रूप से गति के रूप में परिभाषित करते हैं ।

iii) क) उत्प्रवासन,

ख) बाह्य-देशांतरण,

ग) आप्रवासन,

घ) अंतः देशांतरण।

बोध प्रश्न 2

i) क) घ

ख) ख

ग) घ

बोध प्रश्न 3

i) चूँकि देशांतरण श्रम के उचित उपयोग के लिए प्रेरित करता है, अतः यह उस क्षेत्र के श्रमिकों को उत्पादकता को बढ़ाता है । यह प्रदेश देशांतरितों द्वारा लाए गए पैसों से आर्थिक रूप से लाभान्वित होता है । इसके कारण उपभोक्ता शिक्षा, उत्पादन की तकनीक के स्तर में वृद्धि होती है ।

ii) अनेक स्थितियों में देशांतरण के कारण परिवार से लंबे समय के लिए पुरुष सदस्य बाहर रहते हैं । यह परिवार के विखंडन का कारण बन जाता है । इन परिस्थितियों में औरतें, बच्चे अक्सर अधिक भार वहन करते हैं । उन्हें पूर्व की अपेक्षा अधिक कार्य करना पड़ता है । अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि हिस्टीरिया और कुण्ठा की समस्या केरल के प्राव्रजिक पुरुषों की स्त्रियों में बढ़ रही है ।

iii) घ

बोध प्रश्न 4

i) घ

ii) ख

इकाई 6 नगरीकरण

इकाई की रूपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 जनसांख्यिकी तथा सामाजिक आयाम

- 6.2.1 जनसांख्यिकीय आयाम
- 6.2.2 सामाजिक आयाम

6.3 शहरी क्षेत्रों की समस्याएँ

- 6.3.1 अति-नगरीकरण (Over Urbanization)
- 6.3.2 अपर्याप्त आवास
- 6.3.3 असुरक्षित और अपर्याप्त जल-आपूर्ति
- 6.3.4 अप्रभावी और अपर्याप्त परिवहन
- 6.3.5 प्रदू-ाण
- 6.3.6 पर्यावरण संबंधी गिरावट

6.4 गंदी व तंग बस्तियों की समस्याएँ

- 6.4.1 गंदी व तंग बस्तियों में रहने वाली जनसंख्या
- 6.4.2 गंदी व तंग बस्तियों का उद्गम (Emergence)

6.5 सामाजिक परिणाम – अपराध, अलगाव तथा कुसमायोजन

- 6.5.1 अपराध (Crime)
- 6.5.2 अलगाव (Isolation)
- 6.5.3 कुसमायोजन (Maladjustment)
- 6.5.4 नगरीय समस्याओं को हल करने के लिए कुछ प्रयास

6.6 शहरी समस्याओं पर राज्य की नीति

- 6.6.1 नगर में जमीन तथा आवास से संबंधित सामाजिक कानूनीकरण
- 6.6.2 गंदी व तंग बस्तियों को हटाकर नये आवास निर्माण के कार्यक्रम
- 6.6.3 पंचव-ीय योजनाएँ

6.7 सारांश

6.8 शब्दावली

6.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य नगरीकरण के अर्थ को स्प-ट करना तथा उन प्रमुख समस्याओं के बारे में संकेत देना है, जो भारत में शहरीकरण के अभूतपूर्व विकास के कारण उत्पन्न हुई हैं।

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- नगरीकरण के अर्थ एवं सामाजिक आयामों को स्प-ट कर सकेंगे;

- अतिनगरीकरण तथा इससे जुड़ी समस्याएँ मुख्यतः इस प्रश्न के विशे-ा संदर्भ में कि क्या वास्तव में अतिनगरीकरण हुआ है? इसका वर्णन कर सकेंगे;
- भारत के शहरों में आवास, जल आपूर्ति, परिवहन एवं प्रदू-ाण संबंधी समस्याओं के संबंध में चर्चा कर सकेंगे;
- भारतीय नगरों में गंदी बस्तियों की समस्याओं को परख सकेंगे;
- नगरों में रहने वाले लोगों के जीवन तथा उनके कार्यकलापों के संबंध में नगरीकरण के प्रमुख सामाजिक परिणामों का विश्ले-ाण कर सकेंगे; और
- शहरी आवास, जल आपूर्ति, सफाई संबंधी व्यवस्था आदि पर राज्य नीति का विवेचन कर सकेंगे ।

6.1 प्रस्तावना

इससे पहले इस खंड की दो इकाइयों में हम भारत में सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में सामाजिक जनसांख्यिकी तथा प्रशासन के संबंध में विवेचन कर चुके हैं । इस इकाई में शहरी क्षेत्रों की सामाजिक समस्याओं के महत्वपूर्ण पक्षों पर चर्चा करेंगे । इस इकाई के आरंभ में शहरीकरण के विभिन्न आयामों जैसे कि जनसांख्यिकी और सामाजिक वि-ायों का विवेचन करेंगे । जनसांख्यिकी पहलुओं में शहरी जनसंख्या, नगरों, महानगरों के शहरों तथा उनकी तत्कालीन प्रवृत्तियों के विकास से संबंधित वि-ायों को शामिल किया है । इसके सामाजिक पहलुओं में हमने जीवन शैली, प्रारंभिक और परवर्ती शहरीकरण तथा सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन के रूप में विचार किया है । इस इकाई में अतिशहरीकरण, आवास, जल-आपूर्ति, परिवहन, प्रदू-ाण तथा पर्यावरण संबंधी गिरावट से जुड़ी समस्याओं के विशे-ा संदर्भ सहित शहरी क्षेत्र की सामाजिक समस्याओं के बारे में विस्तारपूर्वक जानकारी उपलब्ध कराई गई है । इस इकाई में गंदी व तंग बस्तियों की समस्याओं के वि-ाय में भी चर्चा की गई है । शहरीकरण के कारण विभिन्न नकारात्मक सामाजिक बुराइयों जैसे – अपराध, अलगाव, कुसमायोजन इत्यादि पनपते हैं । इस इकाई में इन अवांछनीय परिणामों तथा इन परिणामों पर नियंत्रण करने के लिए उपायों के संबंध में अध्ययन किया गया है और अंत में हमने शहरी आवास, जल-आपूर्ति तथा सफाई व्यवस्था पर राज्य नीति का विवेचन किया है। इस खंड में हमने शहरी भूमि और गंदी बस्तियों का उन्मूलन करके आवास कार्यक्रमों को तैयार करने के संबंध में सामाजिक विधि निर्माता तथा पंचव-ीय योजनाओं में शहरी विकास का विवेचन किया है ।

6.2 जनसांख्यिकी तथा सामाजिक आयाम

हम आपको ई.एस.ओ.- 02 के खंड 1, इकाई 4 में भारत में शहरीकरण के ढाँचे का परिचय करा चुके हैं । इस इकाई में हम सम-सामयिक भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया से जुड़ी हुई सामाजिक समस्याओं के संबंध में विवेचन करेंगे । इन समस्याओं का विवेचन करने से पहले, आइए, हम भारत में जनसांख्यिकीय तथा शहरीकरण के सामाजिक आयामों पर विहंगम दृ-टि डालें ।

6.2.1 जनसांख्यिकीय आयाम

साधारण शब्दों में शहीरकरण की प्रक्रिया अर्थ नगरों और शहरों की जनसंख्या में वृद्धि होता है । समाजशास्त्र की दृ-टि से यह देहाती समुदायों में शहरी जीवन शैली के प्रवेश और

विस्तार की प्रक्रिया का द्योतक है इस प्रकार शहरीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण पक्ष जनसांख्यिकी है । उसी प्रकार वह एक सामाजिक आयाम भी है । वर्तमान समय में व्यापक औद्योगिकीकरण के कारण शहरीकरण की प्रक्रिया समस्त विश्व में खासतौर से तीसरी दुनिया के देशों में अभूतपूर्व गति से फैल चुकी है । शहरीकरण के वर्तमान दर के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आने वाले कुछ ही दशकों में तीसरी दुनिया के देशों के नगरों की जनसंख्या आज के औद्योगिक समाजों की कुल जनसंख्या से दो गुना हो जाएगी ।

i) शहरों और महानगरों में शहरी जनसंख्या में वृद्धि

यद्यपि भारत को गाँवों का देश कहा जाता है, लेकिन इसके शहरों की जनसंख्या विश्व में दूसरे स्थान पर है । भारत के शहरों में 307 मिलियन (30.7 करोड़) लोग रहते हैं । व-र्ा 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की 30.5 प्रतिशत जनसंख्या शहरी क्षेत्रों में रहती है। पिछले दशकों में शहरी जनसंख्या में भारी वृद्धि हुई है । व-र्ा 1951 में शहरी क्षेत्रों में 17.29 प्रतिशत जनसंख्या थी जो व-र्ा 2001 में बढ़कर 30.5 प्रतिशत हो गई है । विभिन्न सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक कारणों के कारण शहरी जनसंख्या की दस वार्-िक वृद्धि दर में भिन्न्ता पाई गई है । भारत में शहरीकरण की व्यापक तस्वीर तालिका 1 में नीचे दर्शाई गई हैः

तालिका 1: भारत की कुल जनसंख्या और शहरी जनसंख्या

0"k	कस्बों की संख्या	शहर (मिलि. जनसंख्या) सहित यू ए	शहरी जनसंख्या (मिलि.)	शहरी जनसंख्या (कुल का %)	शहरों की दशवार्-िक वृद्धि दर	यू.ए जनसंख्या (मिलि.)	दशवार्-िक वृद्धि दर
1901	1827	–	238.9	10.84	–	–	–
1911	1815	1	252.1	10.29	0.17	–	–
1921	1949	2	251.3	11.18	8.30	–	–
1931	2072	2	279.0	11.99	19.07	–	–
1941	2250	2	318.7	13.86	32.04	–	–
1951	2843	5	361.1	17.29	41.34	28.10	–
1961	2365	7	437.2	17.97	25.84	40.07	42.61
1971	2590	9	548.2	19.91	38.93	62.21	55.27
1981	3378	12	683.3	23.34	46.12	95.69	53.81
1991	3768	23	844.3	25.72	36.16	141.15	47.51
2001	-	40	1027.0	30.5	44.25	213.00	50.90

स्त्रोतः भारत की जनगणना, 2001

ई.एस.ओ-02 के खंड 1 में आपने भारत में शहरीकरण के प्रतिरूप या पैटर्न के बारे में विस्तार से अवश्य पढ़ा होगा । फिर भी और अधिक स्प-टीकरण के लिए आप जानना चाहते होंगे किः (क) दो तिहाई से अधिक शहरी जनसंख्या शहरी-समूह यू.ए अर्थात् एक मिलियन (10 लाख) से अधिक जनसंख्या वाले शहरों में रहती है (तालिका 2 देखें), (ख) भारत में शहरीकरण का स्वरूप वि-ाम है (तालिका 3 देखें), (ग) यद्यपि शहरीकरण के अनेक सकारात्मक पहलू हैं, लेकिन इनके साथ ही अनेक शहरी समस्याएँ भी जुड़ी होती हैं।

तालिका 2: शहरी जनसंख्या का वितरण, 2001

भारत/राज्य/संघ शासित प्रदेश	कुल	शहरी	शहरी का प्रतिशत
दिल्ली	1.3	1.2	92.31
चंडीगढ़	0.9	0.8	88.89
पांडिचेरी	0.97	0.6	61.86
अंडमान एवं निकोबार द्वीप	0.23	0.12	52.17
गोवा	1.3	0.67	51.54
मिजोरम	0.8	0.4	50.00
तमिलनाडु	62.1	27.2	43.80
लक्षद्वीप	0.06	0.026	43.33
महारा-ट्र	96	41	42.71
दमन एवं दीव	0.15	0.057	38.00
गुजरात	50.5	18.9	37.43
पंजाब	24	8.2	34.17
कर्नाटक	52.7	17.9	33.97
हरियाणा	21	6	28.57
पश्चिम बंगाल	80	22.5	28.13
मणिपुर	2	0.56	28.00
आंध्र प्रदेश	75	20.5	27.33
मध्य प्रदेश	60.4	16.1	26.66
केरल	31.8	8.3	26.10
जम्मू एवं कश्मीर	10	2.5	25.00
दादर एवं नगर हवेली	0.2	0.05	25.00
उत्तराँचल	8.5	2.1	24.71
राजस्थान	56	13	23.21
अरुणाचल प्रदेश	0.87	0.2	22.99
झारखंड	26.9	6	22.30
उत्तर प्रदेश	166	34.4	20.72
छतीसगढ़	20.8	4.2	20.19
मेघालय	2	0.4	20.00
त्रिपुरा	3.2	0.5	15.63
उड़ीसा	36.7	5.5	14.99
असम	26.6	3.4	1278.00
सिक्किम	0.5	0.06	12.00
हिमाचल प्रदेश	5.4	0.6	11.11
बिहार	82	8.7	10.61
नागालैंड	1.9	0.2	10.53
भारत	1027	285	2775

स्रोतः भारत की जनगणना, 2001, भारत सरकार प्रेस, नई दिल्ली

तालिका 3: भारत में महानगरों की संख्या में वृद्धि

नाम	1951	1961	1971	1981	1991	2001	50 के दशक में दसवार्षिक वृद्धि(%)	60 के दशक में दसवार्षिक वृद्धि(%)	70 के दशक में दसवार्षिक वृद्धि(%)	80 के दशक में दसवार्षिक वृद्धि(%)	90 के दशक में दसवार्षिक वृद्धि(%)
कोलकात्ता	4.67	5.98	7.42	9.19	10.86	13.2	28.1	24.1	23.9	18.2	21.5
बृहद् मुम्बई	2.97	4.15	5.97	8.23	12.56	16.4	39.7	43.9	37.9	52.6	30.6
दिल्ली	1.43	2.36	3.65	5.71	8.37	12.8	65.0	54.7	56.4	46.6	52.9
चेन्नई	1.54	1.95	3.17	4.28	5.36	6.4	26.6	62.6	35.0	25.2	19.4
हैदराबाद	1.13	1.25	1.8	2.53	4.27	5.5	10.6	44.0	40.6	68.8	28.8
बेंगलूर	–	1.2	1.65	2.91	4.11	5.7	–	37.5	76.4	41.2	38.7
अहमदाबाद	–	1.21	1.74	2.51	3.27	4.5	–	43.8	44.3	30.3	37.6
पुणे	–	–	1.14	1.68	2.44	3.8	–	–	47.4	45.2	55.7
कानपुर	–	–	1.28	1.69	2.1	2.7	–	–	32.0	24.3	28.6
लखनऊ	–	–	–	1.01	1.66	2.3	–	–	–	64.4	38.6
नागपुर	–	–	–	1.3	1.65	2.1	–	–	–	26.9	27.3
जयपुर नगर निगम	–	–	–	1.00	1.51	2.3	–	–	–	51.0	52.3
सूरत	–	–	–	–	1.51	2.8	–	–	–	–	85.4
कोयम्बतूर	–	–	–	–	1.51	2.8	–	–	–	–	85.4
कोचीन	–	–	–	–	1.13	1.4	–	–	–	–	23.9
वडोदरा	–	–	–	–	1.11	1.5	–	–	–	–	35.1
इंदौर	–	–	–	–	1.1	1.6	–	–	–	–	45.5
मदुरै	–	–	–	–	1.09	1.2	–	–	–	–	10.1
भोपाल	–	–	–	–	1.06	1.5	–	–	–	–	41.5
विशाखापट्टनम	–	–	–	–	1.04	1.3	–	–	–	–	25.0
वाराणसी	–	–	–	–	1.01	1.2	–	–	–	–	18.8
लुधियाना नगर निगम	–	–	–	–	1.01	1.4	–	–	–	–	38.6
पटना	–	–	–	–	1.09	1.7	–	–	–	–	56.0
आगरा	–	–	–	–	1.01	1.3	–	–	–	–	28.7
मेरठ	–	–	–	–	1	1.2	–	–	–	–	20.0

टिप्पणी: ये आँकड़े जयपुर, लुधियाना, आगरा और मेरठ को छोड़कर शे-ा शहरों के आसपास इकट्ठी संपूर्ण शहरी जनसंख्या को दर्शाते हैं।

स्रोतः भारत की जनगणना, 2001, भारत सरकार प्रेस, नई दिल्ली ।

1981–1991 के दौरान विशाखापट्टनम में सबसे ज्यादा विकास दर था यानी कि 73.9 प्रतिशत, इसके बाद हैदराबाद (67.9 प्रतिशत), लुधियाना (66.7 प्रतिशत), सूरत (66.0 प्रतिशत), (65.7 प्रतिशत) और भोपाल (55.8 प्रतिशत)।

नवीन प्रवृत्तियाँ

संक्षेप में, जनसांख्यिकी प्रवृत्तियाँ उजागर करती हैं कि यद्यपि भारत में नगरीय आबादी का अनुपात तुलनात्मक रूप से कम है, फिर भी, कुल संख्या के संदर्भ में, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, भारत की नगरीय आबादी कई विकसित देशों की कुल जनसंख्या

से अधिक है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 21वीं शताब्दी के प्रारंभ में करीब 32 करोड़ लोग भारत के नगरों में रहने लगेंगे ।

तृतीय विश्व के देशों में नगरी आबादी की तीव्र वृद्धि ने एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया है कि नगरों में अत्यधिक जनसंख्या के दबाव के फलस्वरूप जन-सुविधाओं का उपलब्ध होना कठिन हो गया है । भारत के महानगरों में इस तरह की परिस्थिति ने स्थानीय प्रशासन को बढ़ती हुई आबादी का सामना करने में तथा कोई स्थायी हल ढूँढ़ने में असमर्थ बना दिया है । सामाजिक विज्ञानों में "अतिनगरीकरण" की विवादास्पद धारणा का निर्माण इन परिस्थितियों को समझने के लिए हुआ है । भारत तथा तृतीय विश्व के अन्य देशों में नगरीय जीवन की तीव्र गति से हो रही वृद्धि की अधोगति को रोकने के लिए एक व्यवस्थित नगरीय-नीति तथा नगरीय पुनरुद्धार के कार्यक्रम अत्यावश्यक हो गए हैं ।

6.2.2 सामाजिक आयाम

शहरीकरण की प्रक्रिया को जनसांख्यिकी तथा सामाजिक दोनों संदर्भों में स्प-ट किया गया है। जनसांख्यिकी के अर्थ में शहरी विकास की प्रक्रिया को स्प-ट करने के लिए विस्तार से प्रयोग किया गया है । इस अर्थ में यह एक निश्चित समय बिंदु पर कुल आबादी के अनुपात का द्योतक है । समाजशास्त्र में नगरीकरण शब्द का उपयोग एक विशि-ट जीवन शैली को दर्शाने हेतु भी होता है जो नगरों में विशाल, सघन तथा पंचरंगी आबादी के कारण जन्म लेती है । यह जीवन शैली गाँवों में रहने वाले लोगों के जीवन एवं क्रियाओं से भिन्न होती है। इस भाग में हम शहरीकरण के सामाजिक पहलुओं पर चर्चा करेंगे । आइए, इसे हम लुई बर्थ के सूत्र से आरंभ करते हैं ।

i) नगरीय जीवन शैली

लुई बर्थ की " नगरीय जीवन शैली" का सूत्र यह प्रस्थापित करता है कि एक शहर अपेक्षाकृत विशाल, सघन एवं सामाजिक तौर से पंचरंगी लोगों के आबादी के कारण नगरवासियों में विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों और व्यवहार के प्रारूपों को जन्म देता है। इसके अलावा लुई बर्थ यह भी दावा करते हैं कि शहर का प्रभाव शहर की भौगोलिक सीमाओं से व्यापक होता है । अतः शहर अपने आसपास के गाँवों तथा दूर-दूर के समुदायों को अपनी परिधि में खींच लेता है। दूसरे शब्दों में, नगरीय जीवन शैली एक मात्र नगरवासियों की ही विशि-टता नहीं है, अपितु नगर की छाप यानी कि नगरीकरण का प्रभाव नगर की प्रशासनिक सीमाओं से भी दूर-दूर तक फैलता रहता है । संक्षेप में, जनसांख्यिकी अर्थ में नगरीकरण समस्त समाज के परिप्रेक्ष्य में नगरीय आबादी के वृद्धि के प्रवाहों का द्योतक है तथा समाजशास्त्रीय अर्थ में यह विशि-ट जीवन शैली का द्योतक है जो खासतौर से नगर के साथ जुड़ी एवं एक ऐसी प्रक्रिया है, जो ग्रामीण क्षेत्रों को शहरी क्षेत्रों में रूपांतरित करती है ।

ii) प्राथमिक तथा द्वितीयक नगरीकरण

रोबर्ट रेडफील्ड तथा मिल्टन सिंगर ने नगर विकास तथा नगरीकरण के एक संस्कृति पर होने वाले प्रभावों के संदर्भ में नगरों की भूमिका समझाते वक्त नगर को सांस्कृतिक नव-प्रयोग (Cultural Innovation), सांस्कृतिक प्रसारण एवं प्रगति (Diffusion and Progress) के एक केंद्र की तरह परिभाि-ात किया है ।

उन्होंने नगरीकरण की प्रक्रिया को दो श्रेणियों में विभाजित किया है :

क) प्राथमिक नगरीकरण;

ख) द्वितीयक नगरीकरण;

इनके अनुसार प्राथमिक नगरीकरण के प्रवाह राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक, बौद्धिक तथा कलात्मक प्रवृत्तियों की श्रे-ठ परंपरा की प्रजालिकाओं से संकलित करते हैं । द्वितीयक नगरीकरण की प्रक्रिया शहर के औद्योगिक काल में क्रियाशील होती है और पंचरंगी विकास इसका एक गुण होता है । इस तरह से द्वितीयक नगरीकरण के प्रभाव विघटनकारी होते हैं। उन्होंने लिखा कि द्वितीयक नगरीकरण के सामान्य परिणाम स्थानीय संस्कृतियों के साथ असंगत हों वैसी मनोदशा द्वारा स्थानीय एवं परंपरागत संस्कृतियों को क्षीण करना या उनका दमन करना है । प्राथमिक नगरीकरण से क्षेत्रीय परंपराओं को बल मिलता है, उनमें वृद्धि होती है और नगर इसके अधिकेंद्र बन जाते हैं । दूसरे प्रकार के नगरीकरण से नगर में बाहरी तत्व शामिल हो जाते हैं ।

iii) सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन

समुदायिक रहन सहन और सामाजिक संबंधों पर नगरीकरण का प्रभाव पड़ता है। नगरीकरण के फलस्वरूप सामुदायिक जीवन के संबंध अवैयक्तिक, औपचारिक, तथा ध्येयलक्षी संविदात्मक (Contractual) एवं अल्पजीवी होने लगते हैं । नगरीकरण की गति के साथ-साथ कृ-ि से गैर-कृ-ि क्षेत्र की आर्थिक क्रियाओं के रूपांतर को भी वेग मिलता है । दूसरे शब्दों में, ज्यों-ज्यों नगरीकरण के क्षेत्र में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों द्वितीयक तथा तृतीयक क्षेत्र की आर्थिक क्रियाओं में लगे हुए लोगों का अनुपात भी बढ़ता जाता है । साथ ही साथ श्रम विभाजन एवं श्रम का विशे-ीकरण भी बढ़ता जाता है । इसके अलावा नगरीकरण की प्रक्रिया परंपरागत संस्थाओं और सामाजिक नियंत्रण की परंपरागत संस्थाओं के सहित व्यवहार के प्रतिमानों को तोड़ती है । यह एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण करती है कि जहाँ निरंतरता एवं परिवर्तन का सह-अस्तित्व होता है, यानी कि अक्सर परंपरागत स्वरूप टिके रहते हैं, परंतु नगरीकरण के प्रवाह में उनके कार्य काफी हद तक बदल जाते हैं । जैसा कि योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि " कई नई भूमिकाएँ, मुख्यतः बौद्धिक एवं आधुनिक दिशा में, परंपरागत-सस्थागत संकुलों के साथ जुड़ जाती है । भारत में परंपरागत संस्थाएँ जैसे कि जाति, संयुक्त परिवार और पड़ोसी से सद्व्यवहार इत्यादि शहरों में इस तरह की निरंतरता एवं परिवर्तन के अनेकानेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं "।

इसी तरह, औद्योगिक विकास से संलग्न नगरीकरण की प्रक्रिया ग्रामीण समुदायों से नगरों की ओर होने वाले देशांतरण अथवा माइग्रेशन को बढ़ाती है जिसके कारण जीवन सुधारने के अवसरों से भरपूर ऐसे बड़े-बड़े नगर ग्रामीण देशांतरणों की अत्यधिक संख्या से उमड़ने (overflow) लगते हैं । एक तरफ से ऐसा देशांतरण नगरीकरण की गति को वेगवान बनाता है और दूसरी ओर इससे विद्यमान जन-सुविधाओं पर आबादी का अत्यधिक दबाव पड़ता है। परिणामतः समय के साथ गंदी बस्तियों – अपराध, बेरोजगारी, शहरी गरीबी, प्रदू-ाण, भीड़-भाड़, बीमारी और अनेक समाज विरोधी प्रवृत्तियों की समस्याओं से घिर जाते हैं । वास्तव में ये समस्याएँ शहरों में खूब पनपती हैं क्योंकि शहर अपरिचितता की एक परिस्थिति के जरिये ऐसा वातावरण प्रदान करता है, जो इस तरह की सामाजिक समस्याओं की बढ़ोत्तरी के लिए अनुकूल होता है । इस संदर्भ में यह बहुत ही आवश्यक है कि भारत में अतिनगरीकरण और शहरी समस्याओं के विभिन्न पहलुओं को जाना जाए ।

बोध प्रश्न 1

i) सन् 2001 की जनगणना के अनुसार शहरी क्षेत्रों में रहने वाली कुल जनसंख्या का क्या अनुपात है:

   क) 17 प्रतिशत

   ख) 27 प्रतिशत

ग) 30.5 प्रतिशत

घ) 47 प्रतिशत

ii) निम्नलिखित समाज विज्ञानियों में से किसने नगरीय जीवन शैली की संकल्पना का प्रतिपादन किया है:

क) इमाइल दुर्खाइम

ख) कार्ल मार्क्स

ग) मैक्स वेबर

घ) लुई बर्थ

iii) नगरीकरण की प्रक्रिया में, नगरों में रहने वाले समुदाय के संबंध होते हैं:

क) व्यक्तिगत

ख) औपचारिक

ग) ध्येयलक्षी

घ) अनियत

6.3 शहरी क्षेत्रों की समस्याएँ

अनेक विद्वानों ने भारत में नगरों की सामाजिक समस्याओं को अतिनगरीकरण के रूप में व्याख्या करने का प्रयास किया है । आपके लिए शहरीकरण के अर्थ और आयाम तथा भारत के संदर्भ में उनकी उपयोगिता को जानना बहुत ही रोचक वि-ाय होगा ।

6.3.1 अति-नगरीकरण (Over urbanization)

सरल शब्दों में अतिनगरीकरण रोजगार के बढ़ते हुए अवसर के अनुपात में अतिशय नगरीकरण का सूचक है । इसके अलावा अतिनगरीकरण का अर्थ यह भी होता है कि नगरीय आबादी इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि शहर अपने निवासियों को एक उत्कर्ा जीवन-शैली देने में असफल हो जाते हैं, क्योंकि जन-सुविधाओं एवं मकानों पर अत्यधिक आबादी का दबाव बढ़ जाता है । भारतीय सर्दी में अतिनगरीकरण का विचार कई आधारों पर उजागर किया गया है, जैसे कि (क) भारत में औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण के स्तरों में स्प-ट रूप से असंतुलन दृ-टिगोचर होता है, (ख) नगरीकरण की प्रक्रिया उपलब्ध संसाधनों का एक बड़ा भाग हड़प जाती है और इस प्रकार समाज के आर्थिक विकास की गति में बाधा खड़ी करती है, और अंततः (ग) जन-सुविधाएँ तथा नागरिक सेवाओं की उपलब्धि इतनी बिगड़ी अवस्था में है कि ये व्यवस्थाएँ कभी भी टूट सकती हैं तथा इससे और अधिक आबादी के भार को वहन करने में पूर्णतः असमर्थ हो गई हैं ।

"अतिनगरीकरण" विचार के विरुद्ध कई विद्वानों ने इस बात पर बल दिया है कि भारत "अतिनगरीकरण" की समस्या से ग्रसित नहीं है । इस दावे के पक्ष में यह कहा जाता है कि भारत में औद्योगिक – नगर विकास के प्रवाह लगभग 80 प्रतिशत विकासशील देशों के प्रवाहों से मिलते-जुलते हैं । दूसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि भारत में नगरीकरण के बढ़ने से अर्थव्यवस्था में ऐसी विविधता भी आई है, जिससे रोजगार के नये-नये अवसर कई गुना बढ़ गए हैं । इससे नगरवासियों की आय के स्तर में बढ़ोत्तरी हुई है ।

इसके अलावा भारत में तीव्र गति का नगरीकरण शहरी तथा ग्रामीण प्रदेशों के बीच संसाधनों के आबंटन में विकृति ला रहा है, जिसके फलस्वरूप आर्थिक विकास की गति पर विपरीत असर पड़ता है, इस विचार को इंस्टिच्यूट ऑफ अर्बन अपेयर्स के अध्ययनों से समर्थन नहीं

मिलता है । दूसरे शब्दों में, भारत में नगरीय समस्याएँ अतिनगरीकरण का एक परिणाम नहीं हैं, वरन् मुख्यतः नगरीकरण के स्वरूप को संचालित करे ऐसी प्रभावपूर्ण नगरीय नीति के अभाव के फलस्वरूप है। अब हम भारत में नगरीकरण की कुछ प्रमुख समस्याओं के संबंध में अध्ययन करेंगे ।

6.3.2 अपर्याप्त आवास

नगरों की आबादी में तेज गति से हो रही वृद्धि ने अनेकों समस्याओं को जन्म दिया है जिसमें सबसे खेदजनक समस्या आवास की है । वास्तविकता यह है कि नगरवासियों का एक विशाल भाग अति दयनीय आवासों और तंग-बस्तियों में रहता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि बड़े-बड़े नगरों के लगभग 70 प्रतिशल लोग निम्न स्तर के मकानों में रहते हैं जिसे वे "अपना घर" कहते हैं । यहाँ पुराने मकानों का विशे-ा उल्लेख किया जा सकता है जो मरम्मत के अभाव, अतिशय भीड़-भाड़ एवं दुर्दशा के कारण बदतर होते जा रहे हैं । प्रायः ऐसे पुराने घर नगरों के मध्य में ज्यादातर पाए जाते हैं । इसी प्रकार सैकड़ों ऐसे व्यक्ति हैं जो शहरों में "फुटपाथों" बिना किसी प्रकार के आश्रय के रहते हैं ।

uxjhdj.k dh leL;k,a

प्राप्त आँकड़े दर्शाते हैं कि भारत में आधे से अधिक नगर परिवारों के पास एक-एक कमरा है जिसमें औसतन 4.4 लोग रहते हैं । वृहद् बुम्बई में तो 77 प्रतिशत परिवार औसतन 5.3 प्रतिशत व्यक्ति एक कमरे में रहते हैं तथा अनेकों दूसरे लोग रात्रि को "फुटपाथ" पर सोने

को बाध्य हैं । अन्य बड़े नगरों तथा औद्योगिक रूप से विकसित हो रहे नगरों की दशा भी इतनी ही भयावह है । ऐसा अनुमान है कि दिल्ली में 3 लाख से भी अधिक लोग बिना किसी आश्रय-स्थल के जी रहे हैं।

शहरी आवास की समस्या से निपटने अथवा उसे सुलझाने के लिए शहरी विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से व्यवस्थित रूप से प्रयास किए जा रहे हैं । इन प्रयासों में आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए उन्हें आर्थिक सहायता देकर उनके आवास निर्माण करने की और गंदी बस्तियों का उन्मूलन करना तथा उनका सुधार करने के लिए चलाई जा रही योजनाओं का विशे-ा रूप से उल्लेख किया जा सकता है । ये योजनाएँ बहुत ही प्रासंगिक रही हैं तथा शहर में रहने वाले गरीब लोगों के हित में बनाई गई हैं ।

6.3.3 असुरक्षित और अपर्याप्त जल-आपूर्ति

घरेलू उपयोग के लिए जल की उपलब्धता आधारभूत जन-सुविधाओं में से एक है । दुर्भाग्यवश, भारत सहित तृतीय विश्व के देशों के नगरों में कुछ ही नगरवासी ऐसे हैं, जो इस सुविधा को लगातार एवं संतो-ाजनक रूप से प्राप्त कर रहे हैं । भारत में लगभग 30 प्रतिशत नगरवासी पीने के शुद्ध पानी की सुविधाओं से वंचित हैं । नगरों तथा शहरों में पानी प्राप्त करने के प्रमुख स्रोत नगरपालिकाओं के नल तथा हैण्ड पम्प हैं । किंतु ज्यादातर नगरों में, विशे-ातः तेजी से बढ़ रहे नगरों में, झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले लोगों को घरेलू उपयोग हेतु पानी प्राप्त करने में भारी कठिनाई उठानी पड़ती है । कई सुव्यवस्थित अध्ययनों द्वारा इस संबंध में झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले लोगों की दुर्दशा प्रकाश में आई है । सार्वजनिक नलों पर पानी के लिए कतार लगानी पड़ती है । नल में पानी आना बंद हो जाने के भय से उससे पहले, घरेलू उपयोग के लिए पानी प्राप्त करने के प्रयास में न केवल नल पर घंटों तक इंतजार करना होता है, अपितु कई बार इन्हें आपसी मारा-मारी तथा अप्रिय झगड़ों में भी कूदना पड़ता है । कई जगह ऐसा पाया गया कि सौ से भी ज्यादा परिवार पूर्णतः एक ही नल पर आश्रित हैं । तेज गति तथा संचालन की क्षमता से परे ऐसे नगरीकरण के प्रवाह के बीच छोटे-छोटे नगरों और शहरों में भी लगातार जल-आपूर्ति एक विकट समस्या का रूप धारण कर रही है ।

6.3.4 अप्रभावी और अपर्याप्त परिवहन

एक कार्यदक्ष परिवहन की सुविधा का अभाव एक अन्य ऐसी समस्या है जो स्थानीय प्रशासन के लिए लगभग सभी बड़े शहरों में सिर दर्द बनी हुई है । वास्तव में कार्यदक्ष और सुसंचालित परिवहन व्यवस्था का जाल नगरवासियों , निवास और काम के स्थल के बीच तथा प्रमुख व्यापारिक केंद्रों पर आना-जाना सुगम बनाता है । इस तरह की परिवहन व्यवस्था उन लोगों के लिए भी वरदान स्वरूप होती है जो रोजी-रोटी के लिए नगरों पर आश्रित होते हैं पर नगर में स्थायी निवास करने के बजाय गाँव से प्रतिदिन नगर में आते-जाते हैं । एक तरफ संकीर्ण और तंग सड़कें व गलियाँ एवं उनका दयनीय दशा तथा दूसरी तरफ पब्लिक बसें, रिक्शा, दो पहिये वाहन, कार, बैलगाड़ी, ट्रक तथा साइकिलें आदि जैसे परिवहन के साधन एक साथ दोड़ते हुए भीड़-भाड़ वे ट्रैफिक जाम का एक विचित्र दृश्य खड़ा करते हैं, जो लगभग नगर के प्रत्येक भाग में, खासतौर से व्यापारिक क्रियाओं के इलाकों तथा अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्रों में दिखाई देता है । इस प्रकार तीव्र नगरीकरण के कारण परिवहन की समस्याएँ इतनी मुश्किल हो गई हैं कि इससे संबंधित कोई भी प्रयास स्थायी निदान हेतु असक्षम दिखाई देता है । नगरों के पुराने एवं पूर्व-औद्योगिक काल के भागों में संकरी सड़कें व उससे भी ज्यादा तंग गलियों में सुगम परिवहन व्यवस्था की शायद ही कोई गुंजाइश होती है । इसके अलावा नगरों में जो कुछ भी परिवहन का जाल पाया जाता है वह भी ट्रैफिक जाम तथा परिवहन साधनों की दुर्दशा के कारण वातावरण के प्रदू-ाण का एक प्रमुख स्रोत बन जाता है ।

6.3.5 प्रदू-ाण

भारत तथा तृतीय विश्व के अनेकों देशों के औद्योगिक तथा नगरीय विकास के प्रवर्तमान प्रवाहों ने स्वास्थ्य एवं मानव सुख शांति के लिए प्रदू-ाण जैसी भयावह समस्या को जन्म दिया है । प्रदू-ाण की समस्या अन्य समस्याओं से इतनी भिन्न है कि सामान्य व्यक्ति इसकी भयावहता का अनुमान मुश्किल से ही कर पाता है तथा सभी लोग धीरे-धीरे इसके व्याधिकीय प्रभाव के शिकार हो जाते हैं । मारगेट मीड का कहना है कि आधुनिक औद्योगिक एवं नगरीय सभ्यता से उत्पन्न अनेक समस्याओं में प्रदू-ाण एक गंभीर समस्या है।

नगरीकरण के बढ़ते प्रवाह के साथ प्रदू-ाण की समस्या निम्न कारणों से उत्तरोत्तर विकट होती जा रही है :

क) कानूनी नियमों के बावजूद अंधाधुंध औद्योगिक व रासायनिक उत्पादन केंद्रों की वृद्धि।

ख) नगरों के पूर्व औद्योगिक काल के ढाँचे की तंग गलियों व संकीर्ण सड़कें जो समय के बहाव के साथ सुगम परिवहन के लिए अनुपयुक्त हो गई हैं ।

ग) गगनचुम्बी इमारतें जो नगरों के ऊर्ध्वाधर वृद्धि के प्रतीक हैं – अंततोगत्वा जनसंख्या के उच्च घनत्व एवं प्रदू-ाण को जन्म देती हैं ।

घ) जमीन की अतिशय कमी एवं व्यापारिक सट्टेबाजी के कारण भूमि के प्रभावकारी एवं व्यवस्थित उपयोग के तरीकों का अभाव ।

आज भारत में बम्बई व कलकत्ता विश्व के सबसे घनों शहरों की श्रेणी में आते हैं । दूसरे प्रथम श्रेणी के नगरों की स्थिति भी उतनी ही खराब है । कुछ व-ाों पूर्व आर.एस.कामत ने बम्बई में चैम्बूर तथा लालबाग क्षेत्र के 4,000 लोगों का आलीशान खार से इलाके के लोगों के स्वास्थ्य के साथ तुलना करने के आशय से एक अध्ययन किया । उन्होंने पाया कि चैम्बूर और लालबाग के निवासियों में अस्थमा, एलर्जी, टी.बी., आँख की जलन तथा कैंसर जैसे रोगों की दर बहुत ऊँची है जबकि खारवासियों में इन रोगों की दर बहुत निम्न है । इसी प्रकार का एक अन्य अध्ययन कुछ व-ाों पूर्व के.ई.एम. अस्पताल के सौजन्य से किया गया। इस अध्ययन से यह तथ्य प्रकाश में आया कि बम्बई में लगभग 16 प्रतिशत कपड़ा उद्योग के श्रमिक श्वॉस संबंधी रोगों से ग्रसित हैं । कलकत्ता में यह पाया गया कि प्रदू-ित वातावरण के कारण लगभग 60 प्रतिशत आबादी श्वॉस संबंधी समस्याओं से पीड़ित है । कानपुर की गंदी व तंग बस्तियों के अध्ययन से पता चला कि गंदी बस्तियों तथा उनके आसपास फैली गंदगी, कूड़ा-कचरा एवं प्रदू-ाण के कारण 55 प्रतिशत से अधिक बच्चे टी.बी. के रोग से पीड़ित थे । वाशिंगटन डी.सी. में कार्यरत वर्ल्ड चाइल्ड इंस्टीच्यूट के लेस्टर ब्राऊन, क्रिस्टोफर प्लोविन तथा उनके साथी जो पर्यावरण संबंधी अनुसंधान में लगे हुई हैं, उन्होंने हाल ही में कहा कि विश्व के कई नगरों तथा ग्रामीण इलाकों में प्रदू-ाण इस कदर बढ़ गया है कि अब बम्बई में श्वास लेना प्रतिदिन दस सिगरेटों के धूम्रपान के बराबर है ।

नगरों में प्रदू-ाण का सबसे बड़ा स्रोत भीड़-भाड़ से भरी सड़कों पर चलने वाले लगातार बढ़ते परिवहन के साधन हैं । भीड़-भाड़ से भरी सड़कों पर चलने वाले वाहन धुआं, कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, हाइड्रो कार्बन, एल्डेहाइड्स एवं लीडऑक्साइड इत्यादि छोड़ते हैं । जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के जे.एन. दवे ने बम्बई और दिल्ली में एक अध्ययन किया और पाया कि इन महानगरों में परिवहन हेतु घूमते वाहन 70 प्रतिशत कार्बन मोनो ऑक्साइड, 40 प्रतिशत हाइड्रो कार्बन, और 30-40 प्रतिशत दूसरी गैसें धुएँ के साथ छोड़ती हैं जिससे वातावरण का प्रदू-ाण भयावह हो रहा है जो नगरवासियों के स्वास्थ्य के लिए अति हानिकारक है । योजना आयोग की रा-ट्रीय नीति की समिति (1978) की रिपोर्ट के अनुसार कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास (अब चेन्नई) महानगरों में 9 लाख 50 हजार से भी ज्यादा वाहन थे । यह संख्या अब तक करीब 20 लाख तक हो गई

होगी । इन वाहनों के अलावा उद्योग, कारखाने, गंदी बस्तियाँ तथा आबादी का उच्च घनत्व भी नगरों के वातावरण प्रदू-ाण के लिए उतने ही जिम्मेदार हैं । खाना बनाने के लिए उपयोग किया जाने वाला ईंधन भी अक्सर प्रदू-ाण का एक स्रोत होता है । तरल पेट्रोलियम गैसे उपलब्धता अभी भी आबादी के अधिक भाग के उपभोक्ताओं तक नहीं पहुँच सकी है । अतः बहुत से लोग अब भी भोजन बनाने हेतु परंपरागत इंधन पर ही निर्भर हैं। अनुमान किया गया था कि 1998 के अंत तक एल.पी.जी. की सुविधा केवल 805 नगरों में करीब एक करोड़ दस लाख घरों को उपलब्ध होगी ।

Hkkjr fodkl fjikV

क्या आप जानते हैं - I

बिजली, स्वच्छ पेय जल, सफाई एवं स्वास्थ्य सुविधाएँ (1997-98)

सुविधा का प्रकार	परिवारों का प्रतिशत		
	कुल	ग्रामीण	शहरी
बिजली	52.4	36.5	86.2
सुरक्षित पेय जल	32.9	14.0	73.0
बिजली और पेय जल	42.4	29.2	73.2
सुरक्षित पेय जल और शौचालय (toilet)	30.8	15.3	64.1
बिजली और शौचालय	29.7	11.1	69.3
सभी तीनों सुविधाएँ	28.0	12.3	61.2
तीनों सुविधाओं में से कोई नहीं	16.4	22.5	3.5
सरकारी अस्पतालों में प्रति 10,000 जनसंख्या पर बिस्तरों की सं0	10.1	2.4	26.3

स्रोतः विश्व विकास संकेतक, विश्व बैंक, 2001

क्या आप जानते हैं - II

विभिन्न शहरों में वायु प्रदू-ाण का स्तर, 1998

शहर	कुल निलंबित कण (प्रति घन मीटर माइक्रोग्राम)	सल्फर डाइऑक्साइड (प्रति घन मीटर माइक्रोग्राम)	नाइट्रोजन डाइऑक्साइड (प्रति घन मीटर माइक्रोग्राम)
अहमदाबाद	299	30	21
बंगलौर	123	-	-
कोलकाता	375	49	34
चेन्नई	130	15	17
दिल्ली	415	24	41
हैदराबाद	152	12	17
कानपुर	459	15	14
लखनऊ	463	26	25
मुम्बई	240	33	39
नागपुर	185	6	13
पुणे	208	-	-

स्रोतः विश्व विकास संकेतक, विश्व बैंक, 2001

क्या आप जानते हैं - III

दिल्ली की तंग (गंदी) बस्तियाँ - एक वास्तविकता

दिल्ली की जनसंख्या 1947 में 2 मिलियन थी जो अब बढ़कर 13 मिलियन हो गई है । जनसंख्या में हुई इस भारी वृद्धि के फलस्वरूप सरकार आधारभूत और सामाजिक चुनौतियों को पूरा करने में असमर्थ रही है, जिसके परिणामस्वरूप दिल्ली झुग्गी बस्ती वाला शहर बन गया है । झोंपड़ियो में रहने वालों का भवि-य अंधकारमय है । रिकॉर्ड बताते हैं कि:

1) दिल्ली में 1500 झोंपड़ बस्तियाँ हैं और इनमें 3 मिलियन से ज्यादा लोग रहते हैं।

2) झोंपड़ी वाले शहरों में जनसंख्या-घनता औसतन 300,000 लोग प्रति वर्ग किलोमीटर है ।

3) एक 6 फुट (2 मीटर) × 8 फुट (2.5 मीटर) की झोंपड़ी में औसतन 6-8 लोग रहते हैं ।

4) यहाँ पर 5 व-र्ा से कम आयु में मृत्यु दर प्रति 1000 जीवित बच्चों पर 149 है ।

5) औसतन 1000 लोगों के लिए 1 पानी का नल है ।

6) अनेक तंग बस्तियों में शौचालय की सुविधा नहीं है, जहाँ यह सुविधा उपलब्ध कराई गई है, वहाँ पर 27 परिवारों को एक शौचालय उपलब्ध है।

7) दिल्ली में 40 प्रतिशत बच्चे कुपोि-त हैं, लगभग 40,000 बच्चे कुलीगिरी, 30,000 बच्चे दुकानों और 30,000 बच्चे चाय की दुकान तथा 20,000 बच्चे मोटर गाड़ियों की मरम्मत का काम करते हैं ।

8) 100,000 बच्चे अंशकालिक अथवा पूर्णकालिक घरेलू नौकर के रूप में काम करते हैं।

9) झोंपड़ियों में रहने वाले 75 प्रतिशत पुरु-ा और 90 प्रतिशत महिलाएँ अशिक्षित हैं ।

स्रोतः http://www.asha-india.org/slumsreality/asp.

6.3.6 पर्यावरण संबंधी गिरावट

आबादी तथा प्रौद्योगिकीय प्रदू-ाण के स्रोतों के साथ ही पर्यावरण के प्रदू-ाण के कारणों में मानवीय कारकों को अनदेखा नहीं किया जा सकता है । पर्यावरण की स्वच्छता के बारे में नगरवासियों तथा उद्योगपतियों की लापरवाही, स्थानीय अधिकारियों की पर्यावरण की सुरक्षा के लिए प्रमाणिक मानदंडों के प्रति लापरवाही, उपलब्ध जमीन पर स्वार्थनिहित समूहों का आधिपत्य और जन-सुविधाओं जैसे कि शौचालय, गटर, कूड़ा-करकट इकट्ठा करने की पेटियाँ, नल तथा स्नानागार की पंगु स्थिति नगर के वातावरण में इतना प्रदू-ाण उगलते हैं कि नगरों के अनेक भाग गंदगी तथा कूड़े के ढेर का जीवन्त उदाहरण बन जाते हैं । प्रायः यह देखा गया है कि अस्पतालों और उद्यानों की स्वच्छता इतनी गिर गई है कि वे स्व्च्छता के मापदंडों से कोसों दूर नजर आते हैं । नगरीकरण की लगातार बढ़ती जाती दर एवं उपलब्ध जमीन पर आबादी के बढ़ते दबाव के फलस्वरूप वातावरण का प्रदू-ाण नगरवासियों के स्वास्थ्य तथा सुख-शांति के लिए एक चुनौती बन गया है । तीव्र गति से बढ़ रही इन दयनीय स्थितियों का निदान केवल ऐसे क्रमबद्ध कार्यक्रम द्वारा हो सकता है, जो पर्यावरण के संरक्षण के लिए सुनियोजित तथा प्रभावकारी नीति के अतिरिक्त नगरवासियों में आवश्यक जागृति का जनक भी हों ।

बोध प्रश्न 2

i) भारत में अतिनगरीकरण की प्रमुख विशे-ताएँ क्या हैं? छः पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) भारतीय शहरी क्षेत्रों में आवास की समस्याओं पर लगभग छः पंक्तियों में संक्षिप्त नोट लिखिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) शहरी क्षेत्रों में प्रदू-ाण संबंधी समस्याओं में वृद्धि के लिए कौन-से प्रमुख कारण हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.4 गंदी व तंग बस्तियों की समस्याएँ

नगरीकरण की तेज गति के फलस्वरूप नगरों में गंदी बस्तियों की समस्या एक तरह से अवश्यम्भावी तथा अभिशाप हो गई है ।

6.4.1 गंदी व तंग बस्तियों में रहने वाली जनसंख्या

नगरीय आबादी का वह भाग जो आज गंदी और तंग बस्तियों में रहता है, उसकी सही संख्या उपलब्ध नहीं है । फिर भी यह सर्वमान्य तथ्य है कि नगरीय आबादी का लगभग पाँचवां भाग गंदी और तंग बस्तियों में रहता है । सातवीं योजना के अभिलेख में जो आँकड़े उपलब्ध

कराए गए हैं, उनके अनुसार भारतीय नगरों में रहने वाली जनसंख्या का 10 प्रतिशत (अथवा कुल 16 करोड़ में से 3 करोड़) गंदी और तंग बस्तियों में रहते हैं । योजना आयोग, भारत सरकार द्वारा नियुक्त की गई आवास एवं नगरीय विकास समिति ने अनुमान लगाया कि भारत में लगभग 23 प्रतिशत या 3 करोड़ 60 लाख से ज्यादा लोग नगरीय गंदी और तंग बस्तियों में रहते हैं । आवास एवं नगरीय विकास "टास्क फोर्स" ने बताया कि ऐसे नगरों में जिनकी जनसंख्या एक लाख से कम है, 17.5 प्रतिशत, एक लाख से दस लाख के बीच की जनसंख्या वाले नगरों में 21.5 प्रतिशत, तथा ऐसे नगरों में जिनकी जनसंख्या दस लाख से अधिक है, 35.5 प्रतिशत (संपूर्ण जनसंख्या में से) गंदी व तंग बस्तियों में रहने वाले लोग हैं । कलकत्ता और बम्बई के संदर्भ में ऐसा अनुमान लगाया गया है कि 1990 में क्रमानुसार 43.86 लाख और 41.26 लाख जनसंख्या गंदी बस्तियों में रहती थी । चार महानगर – कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास में संपूर्ण जनसंख्या के 50 प्रतिशत लोग झोपड़-पट्टियों में रहते हैं । इसी प्रकार की स्थिति अफ्रीकी तथा लातिनी अमरीकी देशों के महानगरों की भी है "।

6.4.2 गंदी व तंग बस्तियों का उद्‌गम (Emergence)

द नेशनल इन्स्टीच्यूट ऑफ अर्बन अफेयर्स, नई दिल्ली के अनुसार झोपड़-पट्टियाँ प्रमुखतया तीन कारणों से बनती हैं :

क) नगर की जनसांख्यिकी गतिशीलता (demographic dynamism) जो रोजगार देने की विशे-ा क्षमतायुक्त है, फलस्वरूप ग्रामीण इलाकों से लोगों को आकर्-ात करती है,

ख) आवासों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में नगर की असक्षमता, और

ग) प्रवर्तमान नगर-भूमि नीति जो भूमि बाजार में गरीबों की पहुँच को असंभव बनाती है।

यह भी देखा गया है कि नगर के गरीब के पास अन्य कोई विकल्प न होने के कारण वे उपलब्ध जमीन पर अपना अवैध मकान या आश्रय बना लेते हैं । अक्सर यह भी पाया गया है कि नगर के पुराने इलाकों में झुग्गी-झोपड़ियाँ एक अभिशाप का रूप धारण कर लेती हैं। कभी-कभी नगर की भौतिक सीमाओं के विकास के साथ-साथ झोपड़-पट्टियाँ पुराने गाँव अथवा कोई नियमविहीन ढंग से विकसित बस्ती के रूप में विरासत में मिलती हैं ।

उपर्युक्त आँकड़े यद्यपि संक्षेप में हैं, फिर भी ये झोपड़-पट्टियों की समस्या की गंभीरता दर्शाते हैं । भारत सरकार ने नगरीय विकास की विभिन्न योजनाओं को लागू करने के उद्देश्य से झोपड़-पट्टी की परिभा-ा इस प्रकार की है : " झोपड़-पट्टी क्षेत्र का अभिप्राय किसी भी ऐसे क्षेत्र से है, जहाँ ऐसे आवासों की बाहुल्यता हो जो जर्जरित, भीड़-भाड़युक्त, गलत व्यवस्था एवं गलत नक्शे से बने हों, तथा जहाँ गलियों की तंग व गलत व्यवस्था हो, हवा एवं रोशनदान का अभाव हो, गन्दे पानी के निकास के लिए गटर का अभाव हो, खाली जगह तथा सामुदायिक सुविधाओं की अपर्याप्तता हो । इन झोपड़-पट्टी क्षेत्रों को" Blighted Area अथवा अभिशप्त इलाका lower class neighbourhood अथवा lower income area निम्न वर्ग समूह का पड़ोस, अथवा निम्न आय समूह इलाका आदि नामों से भी जाना जाता है । भारत में इन इलाकों को " चाल", " झोपड़-पट्टी", "झुग्गी", " बस्ती", " अकातास", एवं "चेरी" इत्यादि नामों से भी जाना जाता है । माइकल हारि-गट्न के अनुसार तेज गति के औद्योगिक-नगरीय विकास के समक्ष अमरीका जैसे प्रौद्योगिकी में संपन्न तथा पूँजीवादी देश में भी ऐसी झोपड़-पट्टियाँ हैं, जिन्हें प्रायः " दूसरा अमरीका" कहा जाता है ।

dk"Bd 1

गंदी एवं तंग बस्तियों से संबंधित भौतिक तथा सामान्य पहलू सभी स्थानों पर लगभग समान होते हैं । इनके मुख्य लक्षणों को संक्षेप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :

1) बिना किसी ढंग के तथा बेकार सामग्री से बने जर्जरित एवं दयनीय घर । ये मुख्यतः अवैध भूमि पर बने होते हैं ।

2) जनसंख्या एवं घरों के उच्च घनत्व के कारण भीड़-भाड़ तथा संकरापन उत्पन्न होता है, इन दशाओं में प्रायः घरेलू-जीवन के सभी कामों के लिए एक ही कमरे का उपयोग किया जाता है । बम्बई तथा अन्य बड़े नगरों में देखा जा सकता है कि झोपड़-पट्टियों के इलाके में लगभग 100 वर्ग फीट से 150 वर्ग फीट क्षेत्र के एक कमरे में 10 से अधिक व्यक्ति रहते हैं ।

3) कई जन सुविधाएँ जैसे कि गटर तथा गन्दे पानी की नालियाँ, सीवर-लाइन, नल, बिजली, स्वास्थ्य केंद्र, जन-शौचालय आदि का अभाव झोपड़-पट्टियों का एक व्यापक लक्षण है ।

4) यद्यपि झोपड़-पट्टी के निवासी उपयोगी कार्य करते हुए नगर की मुख्य धारा से जुड़े होते हैं, फिर भी विचलित व्यवहारें (Deviant Behariour) की अत्यधिक घटनाएँ जैसे – अपराध, बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति, नशीले पदार्थों का सेवन, भिक्षावृत्ति, अवैधता, अवैध रूप से मादक द्रव्यों को बनाना यानी कि अवैध शराब की भट्टियाँ चलाना, जुआ तथा अन्य कई सामाजिक कुरीतियां इन इलाकों से जुड़ी होती हैं । इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि झोपड़-पट्टियों में रहने वाले सभी लोग इस प्रकार के समाज विरोधी व्यवहारों में फंसे हुए हैं । सत्य यह है कि झोपड़-पट्टी के इलाके इस प्रकार के अपराधिक कार्यों के लिए सामाजिक तथा भौतिक रूप से विशे-ा अवसर प्रदान करते हैं ।

5) झोपड़-पट्टी की अपनी स्वयं की एक संस्कृति होती है जिसे मार्शल क्लीनार्ड ने "जीवन की एक शैली" की उपमा दी है । इसे निम्न वर्ग की संस्कृति का निचोड़ अथवा संश्ले-ाण भी कहा गया है जिसे लेविस (Levis) गरीबी की संस्कृति के रूप में वर्णित करते हैं ।

6) उदासीनता (Apathy) तथा सामाजिक अलगाव (Social Isolation) भी झोपड़-पट्टियों का एक अन्य लक्षण है । इसका अर्थ यह है कि झोपड़-पट्टियाँ मुख्यतः वृहद् समुदाय के लोगों की अवगणना तथा उदासीनता की शिकार होती हैं । इन इलाकों को निम्न तथा हीन गिना जाता है । वृहद् समुदाय की इस उपेक्षा के कारण झोपड़-पट्टियाँ सामाजिक अलगाव में आ जाती हैं एवं नगर से अलग पड़ जाती हैं। इन परिस्थितियों में झोपड़-पट्टी निवासी अपने प्रयास से अपनी स्थिति को सुधारने में लगभग असमर्थ-सा पाते हैं ।

यद्यपि झोपड़-पट्टियाँ अपर्याप्त जन-सुविधाओं के साथ-साथ जर्जरित एवं भीड़-भाड़ युक्त नगर के इलाके होते हैं, फिर भी नगर में इनका अस्तित्व गरीब एवं रोजगार की तलाश में आने वाले असहाय देशांतरितों के लिए आशीर्वाद का रूप है। इसमें ही असहाय लोग जैसे औद्योगिक श्रमिक, दिहाड़ी-मजदूर, फेरी वाले, छोटे दुकानदार, सब्जी बेचने वाले तथा वे अन्य तमाम लोग जो नगर की महत्वपूर्ण सेवाओं में लगे होते हैं, अपना आश्रय पाते हैं । यहीं पर विभिन्न जातियों, धर्मों, प्रदेशों तथा भा-ाओं के लोग अत्यंत खराब परिस्थितियों के

बावजूद एक साथ रहते हैं । अतः कई बार ये झोपड़-पट्टियाँ नये देशांतरितों का नगरीय वातावरण के रूप में बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं । दूसरे शब्दों में, झोपड़-पट्टियों के निवासी नये देशांतरितों को नगर की परिस्थितियों से समायोजन करके जीवन की मुख्य धारा से जोड़ने में अपना सहारा एवं सहयोग देते हैं ।

भारत में मुख्यतः झोपड़-पट्टियों को निम्न तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है :

1) पुराने घर और चालें जो समय के बहाव के साथ जर्जरित एवं दुर्दशा में आ गए हैं।

2) वे झोपड़-पट्टियाँ जो खराब तथा अनुपयुक्त घरों वाली हैं, परंतु मिलों के आसपास कानूनी रूप से निर्मित की गई हैं, तथा

3) ऐसी झोपड़-पट्टियाँ जो नगर के विभिन्न स्थानों पर गैर-कानूनी ढंग से कब्जे की गई भूमि पर अवैध रूप से पनप जाती हैं ।

vH;kl 1

आप अपने गृह नगर के क्षेत्र में स्थित गंदी बस्तियों में जाइए । वहाँ जाकर देखिए अथवा उन लोगों से मिलकर गंदी-बस्तियों में रहने वालों की प्रमुख समस्याओं का पता लगाने का प्रयास कीजिए । सूचना एकत्रित करने के पश्चात् लगभग दो पृ-ठों में **"मेरे गृह नगर में गंदी बस्तियों में रहने वाले लोगों की प्रमुख समस्याएँ"** नामक शी-र्क से एक नोट तैयार करने का प्रयास कीजिए । यदि संभव हो सके तो अपने अध्ययन केंद्र के संचालक तथा सहपाठियों से इस वि-ाय पर विचार-विमर्श कीजिए ।

6.5 सामाजिक परिणाम – अपराध (Crime), अलगाव (Isolation) तथा कुसमायोजन (Maladjustment)

भारत तथा अन्य तृतीय विश्व के देशों में पिछले कुछ दशकों से नगरीकरण की तेज गति ने अनेकों सामाजिक समस्याओं को पैदा किया है । वास्तव में, ये समस्याएँ आधुनिक विकसित समाजों में 18वीं शताब्दी में औद्योगिकीकरण के उद्‌भव के साथ ही अस्तित्व में आई थीं । आज विकसित तथा विकासशील समाज अपराध, बाल अपराध, हत्या, वेश्यावृत्ति, जुआ, आत्महत्या और मद्यपान आदि के प्रचण्ड स्वरूप के मामले में लगभग एक जैसे हो रहे हैं । इसके अलावा नगरीकरण के अभूतपूर्व गति के फलस्वरूप उत्पन्न जनसंख्या का उच्च घनत्व एवं नगरवासियों में रहने वाली अपरिचितता नव-देशांतरितों के सामने समायोजन हेतु एक विशे-ा प्रकार की सामाजिक-मनोवैज्ञानिक समस्याएँ पैदा करती है । यहाँ मुख्यतः हम लोग संक्षेप में अपराध, अलगाव तथा कुसमायोजन जैसी समस्याओं के संबंध में चर्चा करेंगे।

6.5.1 अपराध (Crime)

सारे विश्व के महानगर तथा बड़े नगर अपराध तथा बाल अपराध हेतु अनुकूल अवसर प्रदान करते हैं । भारत में भी ग्रामीण तथा आदिवासी इलाकों की तुलना में नगरों में अपराध की दर उच्च है । नगरीकरण की बढ़ती दर के साथ अपराध की दर भी बढ़ती जाती है क्योंकि सफलता के लिए समाज मान्य अवसर आकांक्षा रखने वालों की तुलना में अल्प ही रहते हैं । इसके साथ ही नगर की अपरिचितता की परिस्थिति अवैध-क्रियाओं के लिए सामाजिक अनुकूलता प्रदान करती है । क्योंकि इन दशाओं में कानून तथा व्यवस्था की जिम्मेवार परंपरागत सामाजिक नियंत्रण की संस्थाएँ कमजोर पड़ जाती हैं । नगर-निवास की ऐसी

सामाजिक परिस्थितियाँ कई अपराधों जैसे – चोरी, सेंधमारी,अपहरण, हत्या, बलात्कार, जालसाजी, अपराधिक-पिपासा, जुआ, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, नकली वस्तुएँ बनाना आदि अनेक नगरों, विशे-ातः महानगरों की दिनचर्या के लगभग अभिन्न अंग हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त, सभी बड़े नगरों में अपराधिक टोलियाँ (Criminal Gangs), जो संगठित अपराधों में संलग्न होती हैं, एक भयानक सामाजिक समस्या बन चुकी है । इन अपराधिक टोलियों के अपराधों का जाल नगरों से व्यापक होकर दूसरे नगरों में भी फैला होता है । ये गिरोह (Gangs) कभी-कभी इतने साधन संपन्न होते हैं कि पुलिस द्वारा पकड़े जाने पर भी आसानी से दण्ड से बच निकलते हैं ।

आधुनिक अनुसंधानों से पता लगता है कि आधुनिक नगर अपराधों की ऊँची दर के कारण नगरवासियों में एकता लाने तथा एकता का प्रतिरोध करने वालों को अंकुश में रखने में अपनी असक्षमता प्रदर्शित करते हैं । इस प्रकार अपराध तथा नगर आकस्मिक रूप से परस्पर जुड़े हुए हैं । विद्वान जन इस तथ्य को उजागर करते हैं कि ग्रामीण इलाकों का नगरीकरण तथा अपराध की वृद्धि एक साथ चल रहे हैं । कई व-र्ा पूर्व क्लीनार्ड ने आयोवा (Iowa) सुधार गृह के ग्रामीणों के एक अध्ययन में पाया कि नगर-जीवन के लक्षणों की अपराधिक व्यवहार में महत्वपूर्ण भूमिका होती है ।

पाश्चात्य समाजों की तुलना में भारत के नगरों में अपराध की दर कम है, फिर भी सभी बड़े नगरों में अपराध की समस्या विकराल होती जा रही है । इस भयावह परिस्थिति का मुख्य कारण एक तरफ इन नगरों की आबादी में अभूतपूर्व गति से वृद्धि तथा दूसरी तरफ व्यापक आर्थिक असुरक्षा तथा कानून-व्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति है । 1974 में पूरे देश के सभी रिपोर्ट किए हुए अपराधों में से 12 प्रतिशत अपराध आठ बड़े नगरों – कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास, कानपुर, अहमदाबाद, हैदराबाद तथा बंगलौर में किए गए थे । नीचे दी गई तालिका में आठ महानगरों में भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) के अंतर्गत 1979 में नामजद किए गए अपराधों का विवरण दिया गया है :

आठ भारतीय नगरों में 1979 में Hkkjrh; nM lfgrk के अंतर्गत अपराधों का पंजीयन

नगर	अपराधों की संख्या	प्रति लाख जनसंख्या पर अपराध की दर
अहमदाबाद	7,178	345.1
बंगलौर	24,693	1240.9
बम्बई	36,417	447.9
कलकत्ता	13,103	391.1
दिल्ली	41,516	784.8
हैदराबाद	7,359	336.0
कानपुर	7,192	496.0
मद्रास	8,843	264.8
कुल योग	1,46,301	526.1

स्रोतः हैण्ड बुक ऑन सोशल वेलफेयर स्टेटिस्टिक्स - 1981, भारत सरकार, समाज कल्याण मंत्रालय, दिल्ली ।

देश की राजधानी दिल्ली अपराध की भी राजधानी है। जहां सभी महानगरों के राष्ट्रीय औसत से दोगुना अपराध होता है। अपराध का राष्ट्रीय औसत 172.3 है जबकि दिल्ली में प्रति लाख 385.8।

चेन्नई में अपराघ की दर प्रति लाख 13.5, कोलकात्ता में 90.6 और मुम्बई में 177 है जो राष्ट्रीय औसत से थोड़ा ज्यादा है।

भोपाल के बड़े शहरों में अपराध की दर 740.9, विजयवाड़ा में 666, इन्दौर में 626 और जयपुर में 524 है।

vH;kl 2

कम से कम 30 दिनों तक प्रतिदिन राष्ट्रीय अख्बार पढ़िए और भारत के विभिन्न शहरों में होने वाले अपराधों को वर्गीकृत कीजिए।

पाश्चात्य समाजों में अकुशल श्रमिकों को अपराध के क्षेत्र में ब्ल्यू कॉलर शर्ट (Blue Collar) तथा कार्यालय जाने वाले लोगों को व्हाइट कॉलर (White Collar) के नाम से जाना जाता है । साधारणतः लोग यह मानते हैं कि " ब्ल्यू कॉलर" ही अपराधों में लिप्त रहते हैं । लेकिन नगरों में, खासतौर से उन नगरों में जो तेज गति से हो रहे नगरीकरण के शिकार हुए हैं, वहाँ व्हाइट कॉलर अपराध (White Collar Crimes) जो व्यापार अथवा व्यवसाय की आचार संहिता या नियमों को भंग करके होते हैं,काफी बड़ी तादाद में पनप रहे हैं । प्रायः वे व्यक्ति अथवा समूह जो इस प्रकार के अपराधों में लिप्त हैं, ज्यादातर अपने व्यापारिक तथा व्यवसायों द्वारा सत्ता, प्रति-ठा तथा सत्ताधारियों से बने गुप्त संबंधों का लाभ उठाते हैं। अपने ऐसे सामाजिक संबंधों के कारण ही इनमें से कई अवैध कार्यों के दंड से स्वयं को आसानी से बचा लेते हैं । चाहे उनके अपराध के परिणाम समाज के हितों के लिए नुकसानदेह ही क्यों न हों ।

6.5.2 अलगाव (Isolation)

एक-दूसरे के साथ सामाजिक अंतःक्रिया सभी प्रकार के सामाजिक संबंधों तथा सामाजिक समूहों का आधार है । मानव-जीवन में इसकी उपयोगी तथा जीवन्त भूमिकाएँ हैं – चाहे वे ग्रामीण, नगरीय आदिवासी लोग हों । छोटे समुदायों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार की अंतःक्रियाएँ वैयक्तिक तथा प्रगाढ़ संबंधों को मजबूत बनाती हैं । जबकि नगरों में लाखों की आबादी, आबादी की सघनता, तथा पंचरंगीयता के कारण इस प्रकार के घनि-ठ संबंधों की संभावनाएँ क्षीण हो जाती हैं । तेज गति से हो रहे नगरीकरण की परिस्थितियों में यह संभावना और भी घट जाती है, यद्यपि नगरवासी अपने सह-वासियों के समूह में रहता है, फिर भी सामाजिक रूप से वह उनसे बहुत दूर होता है । दूसरे शब्दों में, नगरों में एक नगरवासी अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं में अन्य नगरवासियों के समीप रहता है किंतु सामाजिक रूप से वह सापेक्षित अलगाव की स्थिति में तो होता ही है चाहे वह संपूर्ण अलगाव में न भी रहे । ग्रामीण समुदायों में सामाजिक रूप से विमुख लोग शायद ही मिलते हैं । नगरों में लोग प्रायः घनि-ठ तथा भावात्मक संबंधों को बनाने में असमर्थ होते हैं । तीव्र गति से हो रहे नगरीकरण के प्रवाह के साथ यह बात और भी अजागर होती है । वृद्ध तथा देशांतरण लोग नगर में अभी भी नए होते हैं, जो लोग दूसरों के साथ घुल-मिल जाने में असमर्थ हैं, वे लोग सामाजितक रूप से बहि-कृत हैं, एवं वे तमाम जिन्हें अपनी पसंद के लोग नहीं मिलते हैं, वे सभी हजारों नगरवासियों के बीच असहाय सामाजिक अलगाव का अनुभव करते हैं।

नगर आबादी की तेज वृद्धि से श्रम विभाजन तथा कार्यों के विशे-ीकरण का जन्म होता है जो आगे चलकर नगरवासियों को अनेक आर्थिक क्रियाओं में संलग्न करके परस्पर

आश्रितता प्रदान करती है । इस प्रकार की परस्पर आश्रितता खंडात्मक होती है तथा किसी भी संपूर्ण कार्य के निश्चित भाग या उसके कुछ अंशों के पूरा होने तक सीमित होती है । इस प्रकार जीवन की समग्रता के अनुभव और सामाजिक जीवन के साझेदारी की संभावनाओं का दायरा अत्यंत सीमित होता है । जनसंख्या की पंचरंगीयता विशेषतः सामाजिक प्रस्थितियों, जाति, वर्ग, धर्म, आय एवं व्यवसाय आदि के संदर्भ में एक आंशिक अलगाव की परिस्थिति उत्पन्न करती है जैसा कि किंगस्ले डेविस कहते हैं – " किसी एक समूह की एकता दूसरे समूहों से सामाजिक दूरियाँ रखकर ही संभव होती हैं । निवास स्थानों का अलगाव भी नगरों के आंशिक अलगाव की अभिव्यक्ति है"।

समाजों का संगठन किस प्रकार से होता है? इस प्रश्न को समझाते हुए किंगस्ले ने बताया कि कैसा भी आंशिक अलगाव (Partial Isolation) हो, उसका असली स्वरूप व्यक्ति की सामाजिक स्थिति से जुड़ा होता है तथा उक्त स्थिति के अधिकारों एवं दायित्वों के रूप में अभिव्यक्त होता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक-दूसरे से भिन्न सामाजिक स्थिति के लोगों के ध्येय भी भिन्न होते हैं । अतः यह भी एक ऐसा माध्यम है जिसके जरिए समाजों का संगठन होता है । थोड़ा पारस्परिक अलगाव, थोड़ी सामाजिक दूरी, तथा थोड़ी समूह-श्रद्धा अवश्यम्भावी है । इसी प्रकार की कुछ परिस्थितयाँ तेज गति से हो रहे नगरीकरण के प्रवाहों के फलस्वरूप भी पाई जाती हैं ।

6.5.3 कुसमायोजन (Maladjustment)

नगरीकरण की प्रक्रिया नगर जीवन की जटिलता को बढ़ाती है । यह सामाजिक परिवर्तन के कारकों को जन्म एवं वेग देकर नई-नई सामाजिक वास्तविकता प्रस्तुत करती है जो योग्य समायोजन के लिए ऐसा दबाव डालती है जिसकी अवगणना असंभव होती है । जैसे-जैसे नगरीकरण की प्रक्रिया गतिमान होती है, वैसे-वैसे नगर-जीवन भी सांस्कृतिक विविधता, सामाजिक-आर्थिक वि-ामताएँ, प्रतिस्पर्धा, संघ-र्ा तथा सामाजिक जटिलता की अनेकानेक अभिव्यक्तियों के लक्षणों से उजागर होता जाता है। सामाजिक गतिशीलता भी नगरवासियों के जीवन को प्रभावित करती है । एक तरह से ये सभी शक्तियाँ शांत एवं संपूर्ण जीवन हेतु नगरवासियों से कार्यात्मक समायोजन (Functional Adjustment) की अपेक्षा रखती हैं । तथापि सभी नगरवासी इतने भाग्यवान नहीं होते हैं कि वे नगर विकास की चुनौतियों से संतो-ाजनक ढंग से समायोजन कर सकें । उदाहरण के लिए, आर्थिक क्रियाओं के क्षेत्र में तेज गति से विकास कर रहे नगरों में भी सफल समायोजन के अवसर प्रतिस्पर्धियों की संख्या की तुलना में काफी कम होते हैं । इन परिस्थितयों में उन लोगों में से कई जो सफल समायोजन करने में असफल होते हैं, वे निराशा, हीन भावना और नगर जीवन के संकुल से अलग पड़ गए हों, ऐसा महसूस करते हैं । जीवन की उपर्युक्त सभी असफलताएँ कुसमायोजन की समस्या को जन्म देती हैं । इसी प्रकार से सफल लोगों में से भी अनेक नई परिस्थितियों से समायोजन करने में असफल होते हैं वे भी कुसमायोजन के दृ-टांत प्रस्तुत करते हैं ।

कुसमायोजन की समस्या उन नगरवासियों के लिए और भी विकट रूप धारण करती है जो हाल ही में नगर में आए होते हैं । ये लोग प्रायः "Marginal Man" यानी कि सीमान्त आदमी की स्थिति प्रस्तुत करते हैं । यह अवधारणा प्रारंभ में रॉबर्ट ई.पार्क ने दी और बाद में एवरेट वी.स्टोनोक्विस्ट ने इसका व्यापक बोध दिया । साधारण शब्दों में एक सीमान्त आदमी उसे कहा जाता है, जो एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति की ओर परिवर्तन के दौर में होता है । कुछ विद्वानों ने इस अर्थ में "Transitional Man" की अवधारणा का प्रयोग किया और बताया कि उक्त व्यक्ति नये स्थान की संस्कृति के साथ समायोजन की प्रक्रिया में हैं । इसके

अलावा सीमान्त आदमी कुसमायोजन की समस्या से पीड़ित होता है क्योंकि वह अपने आप पर दो संस्कृतियों के दबावों को महसूस करता है, चूँकि वह अपने को पूर्ण रूप से एक सांस्कृतिक व्यवस्था में से दूसरी सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुरूप नहीं बना पाता है । एक तरफ वह अपनी संस्कृति की कुछ विशे-ताओं को सम्भाले रखता है तथा उसी समय वह नई संस्कृति के तत्वों को ग्रहण करने के लिए भी बाध्य होता है । इन परिस्थितियों में व्यक्ति आंतरिक द्वंद्व अनुभव करता है जिससे चिन्ता और सामाजिक-मनोवैज्ञानिक तनाव के बीच प्रायः कुसमायोजन की घटनाएँ बढ़ती हैं ।

नगरीकरण के उपर्युक्त विपरीत परिणामों के अलावा यह भी पाया गया है कि सामाजिक विघटन के अनेक प्रारूप भी नगरों के विकास से सम्बद्ध हैं । परिवार, नातेदारी एवं समुदाय विघटन (Community Disorganisation) जो मेल-जोल भरे तथा एकता संपन्न सामाजिक जीवन को खतरे में डालते हैं, उनका उल्लेख यहाँ विशे-ा रूप से किया जा सकता है। नगर-जीवन के विभिन्न पहलुओं में हो रहे वि-ाम सामाजिक परिवर्तन के बीच पारस्परिक अपेक्षित भूमिकाओं तथा दायित्वों का छिन्न-भिन्न हो जाना सामाजिक विघटन के इन स्वरूपों का परावर्तन ही है । तलाक की बढ़ती हुई दर तथा संयुक्त परिवार की संयुक्तता का टूटना परिवारों के संदर्भ में नगरीकरण के विघटनकारी परिणामों के सूचकांक हैं । नातेदारी दायित्वों का लुप्त होते जाना भी विघटन का ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार नगर के भौगोलिक विस्तार में असाधारण वृद्धि तथा बढ़ती हुई पंचरंगी आबादी का लगातार बढ़ता हुआ दबाव अनेकों समस्याओं को जन्म देता है तथा नगर की एकता में विक्षेप पैदा करता है । इसका आखिरी परिणाम जैसा कि विलियम फूट व्हाइट ने कहा है कि एक विशाल क्षेत्र में फैली जंगी तथा पंचरंगी आबादी ऐसी कई नई-नई समस्याओं का सामना करती हैं, जिनका समाधान समाज की संस्कृति में उपलब्ध नहीं होता है ।

6.5.4 नगरीय समस्याओं को हल करने के लिए कुछ प्रयास

नगरीकरण के इन हानिकारक परिणामों के बढ़ते हुए प्रमाण ने ऐसे कुछ व्यवस्थित प्रयासों की ओर सोचने को बाध्य किया जो इन अवांछनीय परिणामों की वृद्धि पर रोक लगा सकें। इन प्रयासों में नगरीय गरीबी और बेरोजगारी को दूर करने के लिए कानूनी कदम तथा झोपड़-पट्टियों को हटाने एवं नगर-सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को चलाना आदि संयुक्त हैं । छठी पंचव-ीय योजना से छोटे-छोटे कस्बों तथा नगरों के सामाजिक-आर्थिक विकास पर इस विचार से विशे-ा ध्यान दिया जाने लगा है कि ग्रामीण देशांतरितों के प्रवाह को इन छोटे नगरों की तरफ मोड़ा जा सके । यह आशा की गई कि कस्बों तथा छोटे नगरों में रोजगार के नये अवसरों के बढ़ने से महानगर अति आबादी के बढ़ते हुए दबाव से मुक्त हो जाएंगे। आज इन महानगरों में अतिशय आबादी के दबाव के कारण स्थानीय स्वैच्छिक संस्थाएँ ऐसी दशा में आ गई हैं कि नगरवासियों को पूरी तथा सुचारु जन-सुविधाएँ उपलब्ध कराने में असमर्थ साबित हो रही हैं ।

इन आयोजित प्रयासों के अतिरिक्त स्त्रियों एवं बालिकाओं के अनैतिक व्यापार, भिक्षावृत्ति को रोकना, मद्यपान तथा नशीली औ-ाधियों पर नि-ोध, अपराधियों एवं बाल अपराधियों के सुधार हेतु कार्यक्रम तथा सामाजिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम के अंतर्गत पथ-भ्र-ट लोगों के पुनर्वास (Rehabilitation) आदि से संबंधित सामाजिक कानूनीकरण ऐसे ही अन्य महत्वपूर्ण कदम हैं, जो नगर-जीवन की इन समस्याओं को दूर करने के प्रयास में उठाए गए हैं । अब आप भाग 6.7 के अंतर्गत नगर-जीवन को एक उत्क-र्ा जीवन शैली बनाने हेतु विशे-ा तौर से विविध नगरीय समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने में राज्य की नीति की जानकारी प्राप्त करेंगे ।

बोध प्रश्न 3

सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

i) अपराध दर प्रायः

क) शहरी क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक होती है ।

ख) ग्रामीण क्षेत्रों से अधिक बड़े नगरों में होती है ।

ग) ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में समान होती है ।

घ) छोटे शहरों की बजाय महानगरों में कम होती है ।

ii) पाश्चात्य समाजों की तुलना में भारत के नगरों में अपराध दर

क) ऊँची होती है।

ख) कम होती है।

ग) अंतर नहीं होता।

iii) सही कथन पर टिक (√) का निशान लगाइए

क) नगर में रहने वाले लोग प्रायः अपने साथी नगरवासियों से सामाजिक रूप से बहुत दूर होते हैं जबकि वे एक बड़े मानव समुदाय में रहते हैं ।

ख) सामाजिक रूप से अलग रहने वाले व्यक्ति प्रायः गाँवों में मिलते हैं ।

ग) नगरों में रहने वाले लोग प्रायः अपने साथ रहने वालों से घनि-ठ तथा भावात्मक संबंधों को बनाने में असमर्थ होते हैं ।

घ) शहरी जनसंख्या में तेजी से वृद्धि होने के कारण अत्यधिक श्रम-विभाजन होता है।

iv) सीमान्त व्यक्ति (Marginal Man) की संकल्पना विकसित करने वाले विद्वान हैं

क) रॉबर्ट ई. पार्क।

ख) रॉबर्ट रेडफील्ड।

ग) लुई बर्थ।

घ) लुई डुमांड।

6.6 शहरी समस्याओं पर राज्य की नीति

अब भारत में यह स्वीकारा जाने लगा है कि नगरीकरण, आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन एक नगण्य पहलू नहीं है । अतः अब इस बात पर जोर दिया जाने लगा है कि जिस तरह औद्योगिक विकास, जनसंख्या वृद्धि और कृ-ि विकास के मामलों में रा-ट्रीय नीति के अभाव के अनेकों कारण हैं, किंतु इसमें सबसे महत्वपूर्ण मुद्दे ऐसे नीति की वांछनीयता, गाँवों को आत्मनिर्भर बनाने की उत्कंठा, तथा राज्य वि-ायसूची में नगरीकरण के वि-ाय को समावि-ट करना रहे हैं । फिर भी, रा-ट्र के योजनाबद्ध विकास के प्रयत्नों में पंचव-ीय योजनाएँ, नगरीकरण की दर में अद्वैतिक वृद्धि के कारण नगरीय समस्याओं का जो प्रचंड

स्वरूप हो रहा है, उन्हें काबू में लाने की जो नीतियाँ अपनाई जा रही हैं, उनका परिचय देती हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि इन प्रयासों में ज्यादातर गरीब तथा निम्न आय वर्ग के लोगों की स्थिति को सुधारने पर बल दिया जाता रहा है । यहाँ आवास, पानी निकास एवं जल आपूर्ति की समस्याओं के साथ-साथ नगर विकास की अन्य समस्याओं को हल करने के लिए किए गए प्रयासों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है ।

हम लोग यह देख चुके हैं कि नगरीकरण की सभी जगन्य समस्याओं में से नगरों में आवासों की कमी एक बड़ी समस्या है । महानगरों में तो यह समस्या चरम स्तर पर पहुँच गई है । इस समस्या को दूर करने हेतु निम्न दो दिशाओं में योजनाबद्ध प्रयत्न किए गए हैं :

क) नगर में जमीन तथा आवास से संबंधित सामाजिक कानूनीकरण,

ख) झोपड़-पट्टियों को दूर करने तथा नये आवासों के निर्माण हेतु कार्यक्रम ।

अब हम नगरों में आवास की समस्या को हल करने हेतु इन प्रयासों के अंतर्गत क्या किया गया है, उस तरफ दृ-टिपात करेंगे ।

6.6.1 नगर में जमीन तथा आवास से संबंधित सामाजिक कानूनीकरण

संविधान प्रत्येक भारतीय नागरिक को मुक्त रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की स्वतंत्रता देता है किंतु आवास उपलब्ध कराने की जिम्मेवारी न तो नगरवासियों के लिए है और न ही ग्रामवासियों के लिए । हमारे संविधान में नगर विकास तथा इससे संबंधित कल्याणकारी कार्यक्रमों को राज्य सरकारों को सौंप दिया गया है । मकानों और भूमि को किराये पर उठाने तथा बेचने से संबंधित सामाजिक कानूनीकरण के अंतर्गत निम्न दो कानूनों का निर्माण किया गया है:

1) रेंट कंट्रोल एक्ट (आर.सी.ए.) 1948, तथा

2) अर्बन लैण्ड सीलिंग एण्ड गुलेशन एक्ट (यू.एल.सी.आर.ए.), 1976

i) किराया नियंत्रण कानून (The Rent Control Act, 1948)

किराया नियंत्रण कानून इस उद्देश्य से बनाया गया है कि जिससे मकानों के किराए का नियंत्रण एवं संचालन किया जा सके । सर्वप्रथम यह कानून 1948 में उस वक्त के बम्बई राज्य में बनाया गया था तथा बाद में अन्य कई राज्यों में यह कानून बनाया गया। किराया नियंत्रण कानून किरायेदार का मकान मालिक द्वारा होने वाले शो-ाण से भी रक्षा करता है। विशे-ातः इसी अर्थ में कि मकान मालिक न तो किरायेदार को मकान खाली करने के लिए बाध्य कर सकता है और न ही वह स्वेच्छा से किराये की वृद्धि कर सकता है । इसके अलावा किराया नियंत्रण कानून के अधीन मकान की मरम्मत करवाने की जिम्मेदारी मकान मालिक पर लादी गई है न कि उस मकान में रहने वाले किरायेदार पर ।

किराया नियंत्रण कानून के प्रभाव के मूल्यांकन से संबंधित अध्ययन इंगित करते हैं कि यह कानून नगरीय आवास समस्या का इच्छित दिशा में हल ढूँढ़ने में सफल नहीं हुआ है । किरन वधवा का अध्ययन दर्शाता है कि यह कानून नगरीय आवास समस्या को दूर करने में शायद ही कोई उल्लेखनीय उन्नति कर पाया है और इसकी आवश्यकता आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है । वास्तव में इस कानून के होने से कुछ अप्रत्यक्ष व अनइच्छित परिणाम भी आए हैं, जिससे आवास की समस्या और भी विकट होती जा रही है । अब मकान मालिक अपने मकानों को किराये पर उठाने को उत्सुक नहीं पाए जाते हैं क्योंकि ऐसा विश्वास किया

जाता है कि एक बार मकान किराए पर उठा दिया तो फिर किराया नियंत्रण कानून की शर्तों के कारण वह मकान कभी भी वापस उनके कब्जे में नहीं आएगा । इसी तरह अब लोग किराया नियंत्रण कानून की शर्तों के कारण वह मकान कभी भी वापस उनके कब्जे में नहीं आएगा । इसी तरह अब लोग किराया कमाने के लिए भवनों का निर्माण कराना पसंद नहीं करते हैं । इस प्रकार की सभी गिनतियाँ मकानों की कमी को बढ़ा रही है । यह भी पाया गया कि मकान मालिक शायद ही किराये पर दिए गए मकानों की मरम्मत कराना चाहते हैं । इसका साधारण सा कारण यह है कि मरम्मत के सभी खर्चे किराया बढ़ाने की संभावना के अभाव में अंत में उसी पर पड़ेंगे । मकानों की समय पर मरम्मत करवाने के प्रति मकान मालिकों की ऐसी उदासीनता के कारण नगरों में एक बड़ी तादाद में मकान जर्जरित एवं रहने के लिए अनुपयोगी हो गए हैं ।

किराया नियंत्रण कानून (The Rent Control Act) के इन हानिकारक प्रभावों को अब व्यवस्थित रूप से समझा जाने लगा है तथा इन प्रभावों को रोकन के लिए नगर विकास मंत्रालय ने कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं । 1987 में भारत सरकार के नगर विकास मंत्रालय के अधीन नगरीकरण से संबंधित एक रा-ट्रीय आयोग का गठन किया गया है । आयोग ने किराया नियंत्रण कानून का विस्तृत अध्ययन किया तथा इसके दु-प्रभावों की गंभीरता को स्वीकार किया । अपनी अंतरिम रिपोर्ट में नगरीकरण से संबंधित रा-ट्रीय आयोग ने विद्यमान किराया नियंत्रण कानून के बोध एवं शर्तों में सुधार हेतु अनेकों सुझाव दिए जिनमें महत्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखत हैं :

1) विद्यमान किरायेदारों की सुरक्षा चालू रहे,

2) किराया बढ़ाने की संभावनाओं का समावेश हो,

3) व्यापारिक उद्देश्यों के लिए किराये पर देने वाले मकानों तथा निवास हेतु किराये पर दिए जाने वाले मकानों से संबंधित नियमों व शर्तों को अलग किया जाए,

4) ऐसी व्यवस्था करना जिससे नये आवासों के निर्माण को प्रोत्साहन मिले । ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन सुधारों के समावेश से आवास से संबंधित व-र्ों पुरानी विकट समस्या शायद ही हल हो पाए । फिर भी, इससे किराया नियंत्रण कानून के वर्तमान विपरीत प्रभावों को अवश्य ही रोका जा सकता है ।

ii) द अर्बन लैण्ड सीलिंग एक्ट, 1976

नगरीय जमीन की योग्य व्यवस्था हेतु दूसरा महत्वपूर्ण कदम अर्बन लैण्ड सीलिंग एक्ट ऑफ 1976 है । इस कानून के तीन आधारभूत उद्देश्य :

क) भूमि का पुनर्वितरण,

ख) जमीन की सट्टेबाजी पर रोक, और

ग) खाली जमीन पर निर्माण कार्य का नियमन ।

इस कानून के अंतर्गत निर्धारित माप से अतिरिक्त जमीन यानी कि उपलब्ध जमीन के टुकड़े में से नियत किए गए माप को छोड़कर जो शे-ा जमीन हो वह स्थानीय प्रशासन अथवा राज्य सरकार व्यापक जनहित में ले सकती है । प्रायः इस कानून के अंतर्गत अधिगृहीत भूमि का उपयोग गरीब तथा निम्न आय वर्ग के लोगों हेतु आवास निर्माण में किया जाता है। इसके अलावा यह कानून अतिरिक्त जमीन विक्रय पर प्रतिबंध लगाता है जिससे जमीन की सट्टेबाजी पर रोक लगती है।

आलोचक इस बात को उजागर करते हैं कि इस नियम के अस्तित्व में आने के बावजूद भी प्रत्येक नगर में जमीन के भाव इतने बढ़ रहे हैं कि इसे खरीदना साधारण जन की पहुँच के बाहर है तथा जमीन की सट्टाखोरी बिना किसी रोक-टोक के बढ़ रही है । इसके अतिरिक्त इस कानून के अधीन काफी कम जमीन नगरीय गरीबों के मकान बनाने व अन्य जन सेवाओं के लिए ली गई है । कई मामलों में अतिरिक्त जमीन के मालिक भ्र-ट तरीके अपनाकर तथा अपने राजनीतिक संपर्कों का दुरुपयोग करके इस कानून की पाबंदियों से बच निकलने में सफल हुए हैं ।

6.6.2 गंदी व तंग बस्तियों को हटाकर नये आवास निर्माण के कार्यक्रम

हम लोग देख चुके हैं कि तेज गति से हो रहे नगरीकरण के कारण नगरीय आबादी का एक बड़ा भाग गंदी व तंग बस्तियों में रहता है तथा आवास, जल-आपूर्ति, जल-निकासी तथा अन्य जन-सुविधाओं की कमी से पीड़ित है । इन नगरीय समस्याओं ने इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है कि इसके लिए सामाजिक कानूनीकरण तथा रा-ट्रीय योजना में विशे-ा ध्यान दिए जाने की आवश्यकता आ खड़ी हुई है । इन प्रयासों के प्रवाह में सबसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम गंदी व तंग बस्तियों को हटाकर गरीब व निम्न आय वर्ग के नगरवासियों हेतु आवासों का निर्माण करना है । इस कार्यक्रम के अंतर्गत कम लागत के आवासों को शौच, स्नानागार, नल गटर तथा जल निकासी आदि की सुविधाओं से सुसज्जित करके उन गरीबों को उपलब्ध कराये जाते हैं, जो अपनी निम्न मासिक आय के कारण केवल नाममात्र का भुगतान कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त झोपड़ियों के हटाने के इस कार्यक्रम के अंतर्गत आर्थिक तथा सामाजिक रूप से कमजोर वर्ग के लोगों की किसी एक पूरे बस्ती का चयन करके वहाँ सभी लोगों के उपयोग के लिए आवश्यक जन-सुविधाएँ प्रदान की जाने लगी हैं । झोपड़-पट्टियों के हटाने के इन कार्यक्रमों को सरकार द्वारा अनुदान भी दिया जाता है। केंद्र सरकार ने नगर में रहने वाले गरीब तथा निम्न आय वर्ग के लोगों के लाभार्थ 1 करोड़ 40 लाख आवासों के निर्माण हेतु प्रति आवास 5000 रु. की दर से सहायता देने का प्रावधान किया था । साथ ही साथ राज्य सरकारें तथा नगरों के स्थानीय प्रशासन की संस्थाएँ भी इस तरह की परियोजनाओं के कार्यान्वयन के लिए आवश्यक वित्तीय सहायता देती हैं । हालांकि गरीबों के लिए आवास निर्माण तथा झोपड़-पट्टियों को हटाने के कार्यक्रम में स्वैच्छिक संस्थाएँ आज भी पीछे ही रही हैं ।

कई नगरों में राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय एवं अन्य सहायता से नये आवासों के निर्माण हेतु निम्नलिखित कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया है :

क) 1952 में औद्योगिक श्रमिकों के आवास निर्माण हेतु एक योजना अस्तित्व में आई।

ख) 1954 में निम्न आय वर्ग के लोगों के लिए आवास निर्माण हेतु एक अन्य योजना अस्तित्व में आई ।

ग) द्वितीय पंचव-ीय योजना के लागू होने के तुरंत बाद (1956) में झोपड़-पट्टियों को हटाने व उनके सुधार के लिए एक नियमित रूप से चलने वाली योजना अस्तित्व में आई ।

घ) द्वितीय पंचव-ीय योजना से भारतीय जीवन बीमा निगम ने मध्यम आय वर्ग के लोगों को आवास निर्माण हेतु कर्ज देना शुरू किया ।

च) पाँचवीं पंचव-ीय योजना से उच्च आय वर्ग के लोगों के आवास निर्माण के कार्य को हाथ में लिया गया जिसके पीछे यह उद्देश्य था कि इस तरह के निर्माण कार्य से प्राप्त लाभ को नगर के गरीब व निम्न आय वर्ग के लोगों के आवास बनाने में लगाया जा

सकेगा । इस बारे में हाउसिंग एण्ड अर्बन डेवलपमेंट कार्पोरेशन (HUDCO) को विशे-ा हिदायत दी गई ।

फिर भी, व्यवस्थित अध्ययनों के आधार पर पता चला है कि इन योजनाओं के लाभ ज्यादातर मध्यम एवं उच्च वर्ग के लोगों द्वारा ही हड़प लिए जाते हैं । नगर के गरीब की दुर्दशा तो लगभग यथावत रही है ।

झोपड़-पट्टियों के हटाने के कार्यक्रम को सक्षमता से लागू करने के मार्ग में एक सबसे बड़ा अवरोध पर्याप्त धनराशि का अभाव है । वित्तीय कमी के इस मुद्दे पर सातवीं योजना में विशे-ा ध्यान दिया गया । इसके फलस्वरूप केंद्र सरकार से प्राप्त 100 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता के साथ एक " नेशनल हाउसिंग बैंक" की स्थापना की गई । नेशनल हाउसिंग बैंक के निम्नलिखित उद्देश्य प्रस्तावित किए गए हैं :

1) एक ऐसे रा-ट्रीय संगठन की स्थापना करना जिसका काम केवल आवास निर्माण हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करना हो,

2) आवासों के निर्माण के लिए वित्त प्राप्त करने के लिए स्रोतों को बढ़ाना तथा ऐसे सभी स्रोतों का भरपूर उपयोग करना,

3) आवास निर्माण हेतु कर्ज देने के लिए प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तरों पर वित्तीय संस्थाओं की स्थापना करना, तथा

4) आवास निर्माण हेतु कर्ज देने वाली संस्थाओं एवं अन्य प्रयोजनों के लिए कर्ज देने वाली संस्थाओं के बीच अर्थपूर्ण संबंध स्थापित करना।

ये सभी प्रयास इस आशा के साथ किए गए हैं कि झोपड़-पट्टियों में रहने वाले व नगर के गरीबों की स्थिति में आशाजनक सुधार किया जा सके ताकि वे भी गंदगी, बीमारी व प्रदू-ाण जैसे सामाजिक अभिशाप से मुक्त होकर भरपूर नगरीय जीवन शैली जी सकें ।

6.6.3 पंचव-ीय योजनाएँ

हमारी रा-ट्रीय योजनाओं में अपनाई गई विकेंद्रीकरण की नीति अब नगरीय विकास के क्षेत्र में भी उपयोगी पाई गई है। प्रथम पंचव-ीय योजना में नगरीय समस्याओं के हल हेतु कोई विशे-ा ध्यान नहीं दिया गया था फिर भी बड़े-बडे नगरों में आवासों की विकट समस्या तथा जमीन की तेजी से बढ़ती हुई कीमतों की समस्या को योजना में स्वीकार किया गया था। कई संस्थागत व्यवस्थाएँ इन समस्याओं को प्रथम पंचव-ीय योजना के अंत तक हल करने हेतु अस्तित्व में आई थीं । उदाहरण के लिए, प्रथम बार इसी समय आवास तथा निर्माण नामक नये मंत्रालय का गठन हुआ जो बाद में " शहरी कार्य मंत्रालय" (Ministry of Urban Affairs) के नाम से जाना जाने लगा । कम मूल्य के आवासों के निर्माण की रूपरेखा तैयार करने के लिए " रा-ट्रीय भवन संगठन" स्थापित किया गया । इसी प्रकार छोटे-छोटे शहरों व नगरों के नियोजन के लिए दूसरे अनेक कदम उठाए गए । द्वितीय पंचव-ीय योजना में नगरों तथा कस्बों के नियोजित विकास पर जोर दिया गया व प्रादेशिक आधार पर ग्रामीण व नगरीय विकास योजनाओं के दृ-िटकोण पर जोर दिया गया । इस योजना के दरम्यान नगर विकास प्राधिकरण (Urban Development Authority) अस्तित्व में आया तथा प्रथम बार दिल्ली के विकास हेतु " मास्टर प्लान" बनाया गया । नगरीय योजना के निर्माण एवं उन्हें लागू करने की दिशा में यह एक प्रमुख कदम था जिसका अनुसरण बाद में अन्य राज्यों के बड़े नगरों के लिए भी किया गया ।

तृतीय एवं चतुर्थ पंचव-ीय योजनाओं में टाउन प्लानिंग पर जोर दिया गया और इसके लिए जरूरी दायित्वों को केंद्र से राज्यों को हस्तांतरित कर दिया गया सन् 1957 में दिल्ली के

टाउन तथा कंट्री संगठन के तत्वाधान में मॉडल टाउन अधिनियम बनाया गया और इससे अन्य राज्यों में भी इसी तरह के कानून बनाने को प्रोत्साहन मिला । तृतीय पंचव-र्ीय योजना में राज्यों को नगरों तथा शहरों के विकास हेतु जरूरी मास्टर प्लान बनाने के लिए आर्थिक सहायता देने का प्रावधान भी किया गया । इन प्रयासों के परिणामस्वरूप लगभग 400 मास्टर प्लान बनाये गये थे । इसके साथ ही तृतीय पंचव-र्ीय योजना में कुछ चुने हुए नगरों में झोपड़-पट्टियों से जुड़ी सामाजिक तथा मानवीय समस्याओं के हल हेतु प्रयोग के रूप में नगर समुदायिक विकास योजनाओं (Urban Community Development Scheme) का श्रीगणेश किया गया । चतुर्थ पंचव-र्ीय योजना में नगरीय विकास कार्यक्रमों को वित्तीय सहायता देने की बात स्वीकार की गई । इसी योजना के समय महानगर पालिकाओं, राज्यों के आवास बोर्डों तथा नगरों में मकानों के निर्माण के लिए वित्तीय सहायता देने वाली अन्य नगरीय संस्थाओं के जरूरी वित्त उपलब्ध कराने हेतु एक एजेंसी " हाउसिंग एण्ड अर्बन डेवलपमेंट कार्पोरेशन" (HUDCO) की स्थापना की गई ।

पांचवीं पंचव-र्ीय योजना में नगरीय तथा प्रादेशिक विकास के एक पूरे प्रकरण में नगरीकरण की नीति के निम्न उद्देश्यों को दर्शाया गया हैः (क) नगरों में नागरिक सेवाओं को बढ़ाना, (ख) महानगर की समस्याओं का प्रादेशिक आधार पर हल ढूँढ़ना, (ग) छोटे शहरों तथा नगरों के विकास को बढ़ावा देना, (घ) अंतर्राज्यीय परियोजनाओं एवं महानगर परियोजनाओं को सहायता देना, तथा (च) सरकार के तत्वाधान में औद्योगिक नगरों के विकास की सहायता करना ।

छठी योजना में नगरीय समस्याओं पर एक पूरा प्रकरण है किंतु उसमें नगरीय तथा ग्रामीण दोनों इलाकों की आवासीय समस्या (Problem of Housing) पर अधिक जोर दिया गया था । इस योजना में प्रथम बार नगरीय विकास (Urban Development) के स्तर में रही प्रादेशिक वि-ामताओं पर जरूरी ध्यान दिया जाने लगा । छोटे, बड़े तथा मध्यम दर्जे के शहरों को ग्राम विकास के प्रोत्साहन के लिए विकास केंद्र (Growth Centre) का रूप देने के आशय से पूरी मात्रा में मूलभूत भौतिक साधन-सामग्री (Infrastructure) तथा अन्य सुविधाओं से सुसज्जित करने का छठी योजना में किया गया प्रावधान यहाँ विशे-ा रूप से उल्लेखनीय है । इसके अतिरिक्त संकलित विकास हेतु विभिन्न राज्यों से 200 शहरों का चयन किया गया था। इसी प्रकार पूरे देश में 550 शहरों को जल की आपूर्ति के विकास हेतु एवं 110 शहरों को गटर योजना के लिए विशे-ा सहायता देने का प्रावधान किया गया था । छठी पंचव-र्ीय योजना में नगरवासियों की मूलभूत आवश्यकताओं से संबंधित समस्याओं को ध्यान में रखकर उनके सुधार की दिशा में भी निश्चित कदम उठाए गए थे ।

सातवीं योजना में एक तरफ छोटे व मध्यम शहरों के संकलित विकास पर जोर दिया गया तथा दूसरी तरफ महानगरों की वृद्धि को कम करने का प्रयास किया गया । इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु छोटे तथा मध्यम श्रेणी के कस्बों में उद्योग लगाने के लिए विशे-ा प्रोत्साहन दिए गए थे । इस योजना में स्थानीय संस्थाओं को राज्य सरकारों की ओर अधिक वित्तीय सहायता पर जोर दिया गया । संस्थागत आधार के क्षेत्र में छोटे तथा मध्यम आकार के नगरों में मूलभूत भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने हेतु सातवीं पंचव-र्ीय योजना में " नेशनल अर्बन इन्फ्रास्ट्रक्चर डेवलपमेंट फाइनांस कार्पोरेशन" की स्थापना का सुझाव भी दिया गया था । इसके अलावा नगरीय गरीब और निम्न आय के लोगों के लिए मकानों की व्यवस्था, संकलित विकास तथा नगरवासियों की बुनियादी सुविधाओं के लिए किए गए प्रावधान सातवीं योजना में तथा आठवीं योजना के प्रस्ताव के आलेखन में भी जारी रहे हैं ।

संक्षेप में, पंचव-र्ीय योजनाओं में यद्यपि भारत के नगरीकरण तथा नगरीय समस्या से संबंधित कोई स्प-ट तथा सुसंगठित नीति नहीं दिखाई देती है, फिर भी, इसमें अवश्य ही

कुछ ऐसे निश्चित पहलू हैं, जिन पर नगरवासियों की स्थितियों को बेहतर बनाने के लिए ध्यान दिया गया है । इस संदर्भ में (क) आवास तथा मकानों के लिए वित्तीय व्यवस्था, (ख) गंदी बस्तियों का उन्मूलन एवं उनमें सुधार लाने के लिए, (ग) नगर जल आपूर्ति तथा जल निकास, (घ) नगर परिवहन, तथा (च) नगर विकास हेतु विशे-ातः बड़े नगरों के लिए मास्टर प्लान आदि बनाने का विशे-ा उल्लेख किया जा सकता है ।

बोध प्रश्न 4

i) किराया नियंत्रण अधिनियम, 1948 के मुख्य उद्देश्य क्या हैं? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर लिखिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) भारत में शहरी भूमि पर सामाजिक विधि निर्माण के संबध में एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए । लगभग छः पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) भारत में गंदी व तंग बस्तियों के उन्मूलन की प्रमुख विशे-ाताएँ क्या हैं? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6.7 सारांश

नगरीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया को दर्शाता है । जनसांख्यिकी (Demographic) अर्थ में यह समाज की कुल जनसंख्या में नगरवासियों के अनुपात के बारे में बताता है। समाजशास्त्रीय अर्थ में यह उस जीवन शैली को इंगित करता है जो विश-ट रूप से नगरों से संबंध रखती है । बड़े नगरों की आबादी में जो अंधाधुंध तथा तेज गति से वृद्धि हुई है, उससे भारत में अतिनगरीकरण (Overurbanization) की धारणा सामने आई है परंतु समस्त समाज के परिणाम पर यह धारणा सत्य प्रतीत नहीं होती । यहाँ तक कि आज भी केवल भारत की कुल आबादी का एक-तिहाई से भी कम भाग नगरों और कस्बों में रहता है ।

भारत में औद्योगिक-नगरीय विकास से अनेकों सामाजिक समस्याओं का जन्म हुआ है जिनमें झोपड़-पट्टियों की समस्याएँ, अपराध, आवासों का अभाव, प्रदू-ाण तथा जन सुविधाओं की अपर्याप्तता आदि अत्यंत गंभीर समस्याएँ बन गई हैं । नगरीकरण से संबंधित रा-ट्रीय कार्य मुख्यतः राज्य सरकारों के प्रयासों तक ही सीमित रहे हैं । झोपड़-पट्टियों को हटाने की योजनाएँ तथा गरीबों व निम्न आय वर्ग के लोगों के लिए आवासों के निर्माण का कार्यक्रम एक तरह से इन समस्याओं को हल करने की दिशा में उठाए गए कदम ही हैं। पंचव-ीय योजनाओं में भी नगरीय नव-निर्माण के विविध कार्यक्रमों को वित्तीय सहायता के प्रावधान के जरिये इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयत्न किए गए हैं ।

6.8 शब्दावली

सीमांत व्यक्ति (Marginal Man): सीमांत व्यक्ति अथवा मार्जिनल मैन वह है जो न तो अपनी पूर्व सांस्कृतिक विशि-टताओं को छोड़ पाया है और न ही नवीन संस्कृति को अपना पाया है । इस प्रकार वह संक्रमण अवस्था का व्यक्ति है जो दो संस्कृतियों के बीच फँसा हुआ है ।

मिलियन नगर (Million City): ऐसा नगर जिसकी जनसंख्या 10 लाख से अधिक हो ।

अतिनगरीकरण (Overurbanization): ऐसी अवधारणा जो रोजगार के विकास के अनुपात में नगरीय आबादी की अतिशय वृद्धि को इंगित करती है ।

प्राथमिक नगरीकरण : एक प्रक्रिया जो लघु परंपराओं की क्रिया-प्रणालियों को वृहद् परंपरागत प्रणालियों से जोड़ती है।

गंदी व तंग बस्तियाँ : वृहद् रूप से यह ऐसी बस्ती है जो अपर्याप्त और दयनीय आवासों, दुर्लभ जन-सुविधाओं, अति भीड़-भाड़ युक्त व तंग इलाकों द्वारा परिलक्षित होती है तथा प्रायः बहुत ही गरीब तथा सामाजिक रूप से पंचरंगी (Heterogeneous) लोगों की निवास स्थली है ।

नगरीकरण : एक प्रक्रिया जो जनसांख्यिकी (Demographic) अर्थ में कुल जनसंख्या में से शहरों व नगरों में रहने वाले लोगों का अनुपात दर्शाती है । समाजशास्त्रीय अर्थ में यह नगरीय जीवन शैली है ।

श्वेत पोश अपराध (White Collar Crimes): यह किसी भी व्यवसाय, वाणिज्य अथवा व्यापार के दौरान अपनाए गए अवैध तरीकों को दर्शाता है ।

द्वितीय नगरीकरण : पंचरंगी विकास **(Heterogenetic Development)** की एक प्रक्रिया जो नगर की औद्योगिक अवस्था से सम्बद्ध है ।

6.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

इंस्टिच्यूट ऑफ अर्बन अफेयर्स, 1981, *स्टेट ऑफ इंडियाज अर्बेनाइजेशन,* इंस्टिच्यूट ऑफ अर्बन अफेयर्स, नई दिल्ली।

राव, एम.एस.ए.(संपा.) 1974, *अर्बन सोशियालाजी इन इंडिया*, आरियन्ट लांगमैन, नई दिल्ली ।

6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) ख

ii) घ

iii) ग

बोध प्रश्न 2

i) भारत में अति नगरीकरण की मुख्य विशे-ताएँ इस प्रकार है : (क) भारत में औद्योगिक और नगरीकरण के स्तर में असंतुलन होता है । (ख) नगरीकरण की प्रक्रिया में रा-ट्रीय संसाधनों का एक बड़ा हिस्सा लग जाता है, इसलिए समाज में आर्थिक विकास की दर अवरुद्ध हो जाती है । (ग) अत्यधिक जनसंख्या के दबाव के कारण नागरिक सुविधाओं एवं आवास समस्याएँ विकट रूप धारण कर लेती हैं।

ii) अनुमान है कि भारत में शहरों में रहने वाले लोगों की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या निम्न श्रेणी के मकानों में रहती है । यहाँ पर शहरों में रहने वाले लोग आधे से अधिक एक कमरे में रहने को मजबूर हैं तथा एक कमरे में रहने वाले लोगों की औसत संख्या 4.4 व्यक्तियों की है । इसके अतिरिक्त बेघर लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या मौजूद है । केवल दिल्ली में ही 3 लाख से अधिक बेघर हैं ।

iii) (क) औद्योगिक और रसायन संयंत्रों का अंधाधुंध विकास । (ख) गलियों और मार्गों के तंग होने के साथ नगरों की पूर्व-औद्योगिक संरचना (ग) जनसंख्या का घनत्व, मार्गों पर भीड़-भाड़ तथा प्रदू-ाण के साथ-साथ अत्यधिक बहु-मंजिली इमारतों का निर्माण (घ) भूमि का व्यवस्थित रूप से प्रयोग करने के लिए प्रभावकारी उपायों का अभाव होना है ।

बोध प्रश्न 3

i) ख

ii) ख

iii) क, ग, घ

iv) क

i) किराया नियंत्रण अधिनियम (रेंट कंट्रोल एक्ट) के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं – (क) मकानों के किराये को नियमन अथवा नियमित करना, (ख) मकान मालिकों के अत्याचारों से किरायेदारों की रक्षा करना, (ग) मकान मालिक को अपने मकान की नियमित रूप से मरम्मत करवाने के लिए उत्तरदायी बनाना है ।

ii) द अर्बन लैंड सीलिंग एक्ट, 1976 में शहरी भूमि व्यवस्था के पक्ष को विस्तारपूर्वक संयुक्त किया गया है । इस एक्ट के तीन मूलभूत उद्देश्य हैं – (क) अतिरिक्त भूमि का वितरण, (ख) भूमि की सट्टेबाजी पर रोक लगाना, (ग) खाली भूमि पर निर्माण करने के लिए नियमन करना है। तथापि इस एक्ट के प्रावधानों के मौजूद होते हुए भी शहरी भूमि के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई है जिससे आम आदमी शहरी भूमि को खरीदने में असमर्थ है । इसके साथ ही शहरी भूमि की सट्टेबाजी भी बिना रोक-टोक के फल-फूल रही है ।

iii) इस योजना के तहत गरीब लोगों को शौचालय, स्नानागार, पानी के नल, सफाई की व्यवस्था तथा पानी की सुविधाओं के साथ-साथ न्यूनतम मूल्यों पर आवास उपलब्ध कराए जाते हैं । इन आवासों के लिए वे अपनी आय से नाममात्र का किराया देते हैं। इन योजनाओं को सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है । तथापि समुचित निधि (फंड) के अभाव के कारण इस योजना को तेजी से क्रियान्वयन करने के लिए अनेक बाधाएँ सामने आई हैं । सातवीं पंचव-ीय योजना में गंदी व तंग बस्तियों का उन्मूलन करने के मुद्दे पर विशे-ा रूप से बल दिया गया है ।

इकाई 7 बदलती पारिवारिक संरचना

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 परिवारः परिभा-ाा और प्रकार

7.2.1 परिभा-ाा

7.2.2 परिवार के प्रकार

7.3 पारिवारिक संरचना को प्रभावित करने वाले कारक

7.3.1 औद्योगीकरण

7.3.2 शहरीकरण

7.3.3 आधुनिकीकरण

7.3.4 पारिवारिक संरचनाओं में परिवर्तनः एक दृ-टिकोण

7.4 संयुक्त परिवार व्यवस्था में परिवर्तन

7.5 ग्रामीण परिवार व्यवस्था में परिवर्तन

7.5.1 परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारक

7.5.2 संयुक्त परिवार के टूटने के परिणाम

7.6 शहरी पारिवारिक व्यवस्था में परिवर्तन

7.6.1 शहरी परिवेश में परिवार

7.6.2 परिवर्तन की दिशा

7.6.3 कुछ उभरती प्रवृत्तियाँ

7.7 सारांश

7.8 शब्दावली

7.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम भारत में बदलते पारिवारिक प्रतिमानों की चर्चा करेंगे । इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- परिवार की विवेचना कर सकेंगे;
- इसके विभिन्न प्रकारों की विवेचना कर सकेंगे;
- पारिवारिक पद्धति में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारकों का विश्ले-ाण कर सकेंगे;
- पारंपरिक संयुक्त परिवार पद्धति में परिवर्तनों की परीक्षा कर सकेंगे; और
- भारत की ग्रामीण और शहरी पारिवारिक पद्धति में परिवर्तनों का विश्ले-ाण कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों में आपको सामाजिक जनसांख्यिकी, देशांतरण और शहरीकरण के विभिन्न आयामों से परिचित कराया गया है । इस इकाई में हम भारत की

बदलती पारिवारिक संरचना की चर्चा करेंगे । यह इकाई परिवार की परिभा-ाा और प्रकार पर एक छोटी बहस से शुरू होती है । औद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण महत्वपूर्ण सामाजिक कारक हैं, जो भारत की पारंपरिक संरचना को प्रभावित करते हैं । इन कारकों की संक्षिप्त चर्चा के साथ भाग 7.3 में पारिवारिक संरचना में परिवर्तन को समझने के लिए दृ-टिकोण की चर्चा की गई है । भाग 7.4 में भारत के सम्मिलित परिवार पद्धति में हो रहे परिवर्तनों की चर्चा की गई है । भाग 7.5 में ग्रामीण पारिवारिक पद्धति में हो रहे परिवर्तनों का परीक्षण किया गया है । इस परिच्छेद में ग्रामीण परिवार में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारकों और ग्रामीण परिवार के टूटने के परिणामों की चर्चा की गई है। शहरी पारिवारिक पद्धति और इसके विभिन्न स्वरूपों का परीक्षण भाग 7.6 में किया गया है ।

7.2 परिवार : परिभा-ाा और प्रकार

ई.एस.ओ. - 02 के खंड 2, इकाई 6 में हमने भारत की पारिवारिक संस्था की विस्तार में चर्चा की है । वहाँ हमने एकल और संयुक्त परिवार के मध्य अटूट क्रम की विवेचना की है । इस इकाई में हम भारत की पारिवारिक पद्धति में परिवर्तनों के रूप और दिशा की चर्चा करेंगे । आइए, इसकी परिभा-ाा और प्रकार से आरंभ करें ।

7.2.1 परिभा-ाा

सामान्यतया एक परिवार, खासकर कोई प्राथमिक परिवार को माता-पिता और उनके बच्चों के साथ एक सामाजिक समूह के रूप में परिभाि-ात किया जा सकता है । किंतु परिवार के संयोजन में प्राप्त प्रकार की दृ-टि से यह परिभा-ाा प्रायः अपर्याप्त है । 1963 में बोहनान ने अपने परिवार की परिभा-ाा में परिवार की कार्यात्मक एवं संरचनात्मक भूमिका पर जोर दिया। उनके अनुसार, " परिवार, लैंगिक और वैवाहिक संबंधों से संबंधित लोगों एवं वंश परंपरा और संगोत्रियों का समूह है, एकल परिवार से बड़े हर परिवार में वैसे लोग होते हैं, जो द्वितीयक संबंधों, यथा – प्राथमिक संबंधों की श्रृंखला से जुड़े हों, से सम्पर्कित हैं"।

dk"Bd 1% ifjokj dh fo'ks"krk,a

आज परिवार की परिभा-ाा क्या है, इसे स्प-ट रूप से समझने के लिए विलियम जे.गूडे (1989) ने निम्नांकित गुणों को प्रतिपादित किया:

क) कम से कम दो भिन्न लिंगी वयस्क साथ-साथ रहते हों,

ख) वे श्रम विभाजन के अनुसार कार्य करते हों, न कि एक ही कार्य में दोनों लगे हों,

ग) वे विभिन्न प्रकार के आर्थिक और सामाजिक आदान-प्रदान में लिप्त हों, एक-दूसरे के मददगार हों,

घ) वे अनेक वस्तुओं का समान रूप से उपभोग करते हों, यथा – भोजन, संभोग, आवास और सामाजिक गतिविधियाँ,

च) वयस्कों का बच्चों के साथ माता-पिता का संबंध हो, जैसा कि बच्चों का उनके साथ वात्सल्य हो, माता-पिता का बच्चों के ऊपर कतिपय अधिकार हों और वे एक-दूसरे में सहभागिता करते हों, जबकि उनकी सुरक्षा, सहयोग और पो-ाण की कुछ जिम्मेदारियाँ भी हों,

छ) बच्चों में सहोदर का संबंध हो और एक-दूसरे के साथ सहभागिता, सुरक्षा और सहयोग का दायित्व हो ।

व्यक्ति एक-दूसरे के साथ कई प्रकार के संबंध स्थापित कर सकते हैं किंतु अगर उनका निर्बाध क्रम से जारी सामाजिक संबंध यहाँ दिए गए कुछ या सभी भूमिका प्रतिमानों से तारतम्य स्थापित करता है, तो उन्हें परिवार की दृ-टि से देखा जा सकता है ।

7.2.2 परिवार के प्रकार

परिवार के संयोजन के आधार पर तीन प्रकार के परिवार होते हैं ।

क) ,dy परिवार

परिवारों में सबसे मौलिक परिवार को पैदायशी या एकल या प्राथमिक या सरल परिवार कहा जाता है जिसमें एक विवाहित पुरु-ा, स्त्री और उनके बच्चे होते हैं । खास स्थितियों में, कभी-कभी एक या अधिक अन्य व्यक्ति भी साथ रहते हुए पाए जाते हैं ।

समय के अंतराल में परिवार की संरचना में परिवर्तन होता है । अक्सर अतिरिक्त व्यक्ति यथा – बूढ़े माता-पिता या अविवाहित भाई-बहन भी एकल परिवार में साथ रह सकते हैं । यह एकल परिवार में निवासियों के प्रकारों की वृद्धि कर सकता है । भारत के संयुक्त परिवार की प्रकृति की चर्चा करते हुए पौलीन कोलेन्डा (1987) ने एकल परिवार संरचना के बढ़ोत्तरी/रूपांतरणों की चर्चा की है । वह निम्नांकित संयोजनीय प्रकारों को निरूपित करती हैः

i) एकल परिवारः बच्चे के साथ या बिना बच्चे के किसी दंपत्ति को इंगित करता है ।

ii) संपूरक एकल परिवारः किसी एकल परिवार को चिह्नित करता है साथ ही साथ उनके अविवाहित बच्चे के अतिरिक्त एक या अधिक, अविवाहित, पृथक या विधवा संबंधी ।

iii) उप-एकल परिवारः को पूर्व के एकल परिवार के हिस्से के रूप में चिह्नित किया जाता है, उदाहरण के लिए, एक विधवा/विधुर अपने अविवाहित बच्चों या सहोदरों (अविवाहित) के साथ रहते हुए, के रूप में ।

iv) एक व्यक्ति परिवार।

v) संपूरक उप-एकल परिवारः संबंधियों के समूह एवं कुछ अन्य अविवाहित, तलाकशुदा या विधवा संबंधी जो एकल परिवार के सदस्य नहीं थे । उदाहरण के लिए, एक विधवा और उसके अविवाहित बच्चे अपनी विधवा सास के साथ रह सकती हैं ।

भारतीय संदर्भ में इन सारे प्रकार के परिवारों का होना सरल है। तथापि, सामाजिक मान्यताओं और मूल्यों के रूप में ये प्रकार संयुक्त परिवार पद्धति से संबंधित हैं (ई.एस. ओ.-02, इकाई 6) ।

नयामिक परिवार, अणु में परमाणु की तरह अक्सर जुडे होते हैं । यह व्यापक योग में परिसारित होता है । यद्यपि इस तरह के परिवारों को अक्सर संयोजित परिवार के रूप में इंगित किया जाता है । उनके संरचनात्मक गुणों के आधार पर उन्हें दो विशि-ट प्रकारों, यथा – 1) बहुपत्नी परिवार, और 2) विस्तृत परिवार के रूप में विभाजित किया जाता है।

ख) बहुपत्नी परिवार

सामान्यतया दो या दो से अधिक एकल परिवारों के बहुविवाह द्वारा जुड़ने से निर्मित होता है । हमारे समाज में ऐसे परिवारों की संख्या सीमित है । मौलिक रूप से दो प्रकार के बहुपत्नी परिवार होते हैं, जो विवाहों के चार प्रकारों पर आश्रित होते हैं । जैसे – बहुविवाह, एक से अधिक पत्नियों के साथ एक पति और बहुपति जैसे एक ही समय में एक से अधिक पतियों के साथ ।

ग) **विस्तृत परिवार**

दो या दो से अधिक एकल परिवारों के पिता-पुत्र संबंध पर आधारित होकर जुड़ने से निर्मित होता है । इसमें पूर्व वाले को लम्बवत् विस्तृत परिवार और बाद वाले को अनुप्रस्थ विस्तृत परिवार की संज्ञा दी जा सकती है। एक विशे-ा पितृसत्तात्मक परिवार में एक ज्ये-ठ पुरु-ा अपने पुत्र और पत्नी और उनके अविवाहित बच्चों के साथ होते हैं। आपको यह जानने की उत्सुकता होगी कि संयुक्त परिवार में संयुक्तता किस प्रकार स्थापित होती है । सामान्यतया संयुक्तता को कतिपय कारकों में चित्रित किया जाता है, जैसे – एक ही रसोई में खाना बनना, समान आवास, संपत्ति का संयुक्त स्वामित्व, सहयोग और समान भावना, समान धार्मिक बंधन इत्यादि । आपको यह जानने की उत्सुकता भी होगी कि संयुक्त परिवार का संयोजन कौन करता है । यह निकट का संबंध है । अतः पौलीन कोलेंडा (1987) भारत में निम्नांकित प्रकार के संयुक्त परिवारों को इंगित करते हैं :

i) सगोत्र संयुक्त परिवार में दो या अधिक विवाहित युग्म होते हैं जिनके मध्य सहोदरज बंधन होता है ।

ii) संपूरक सगोत्र संयुक्त परिवार एक संगोत्र संयुक्त परिवार है जिसमें तलाकशुदा और विधवा संबंधी भी साथ होते हैं ।

iii) वंशज संयुक्त परिवार वंशज संबंध के साथ दो दंपत्तियों को समाहित करता है, जैसे– एक दंपत्ति और उनके विवाह पुत्रों या दंपत्ति और उनके विवाहित पुत्रियों के मध्य।

iv) संपूरक वंशज संयुक्त परिवार एक वंशज संयुक्त परिवार है, जिसमें अविवाहित, तलाकशुदा या विधवा ऐसे संबंधी जो वंशानुक्रम से किसी एकल परिवार के भाग नहीं हैं ।

v) वंशज सगोत्र संयुक्त परिवार तीन या अधिक वंशज और गोत्र से संबंधित दंपत्तियों से मिलकर बनता है । उदाहरण के लिए, दो या अधिक विवाहित लड़कों और उनके अविवाहित बच्चों के साथ वृद्ध माता-पिता का परिवार ।

vi) संपूरक वंशज-संगोत्र संयुक्त परिवार में वंशज-संगोत्र संयुक्त परिवार के सदस्यों के साथ वैसे अविवाहित, विधवा, तलाकशुदा संबंधी जो किसी एकल परिवार से नहीं जुड़े हैं, (वंशानुक्रमिक और गोत्र से नहीं जुड़े हैं), साथ-साथ रहते हैं । उदाहरण के लिए, ऐसे परिवार को लिया जा सकता है जिसमें गृहपति की विधवा बहन या भाई या अविवाहित भतीजा इत्यादि उसके विवाहित लड़कों, उनके अविवाहित संतानों के साथ रह रहे हों।

उपर्युक्त विवेचन ने आपको भारत के वर्तमान विस्तृत पारिवारिक संरचना का एक व्यापक चित्र दिया होगा । इस इकाई में हम बदलती पारिवारिक संरचना की चर्चा करेंगे । इससे पूर्व कि हम इस विवाद में लगें, हमें उन सामाजिक कारकों की पहचान कर लेनी चाहिए, जो पारिवारिक संरचना को प्रभावित करते हैं । निम्नांकित भाग में हम इन कारकों की चर्चा करेंगे । उसके पूर्व आपको अपनी प्रगति को परखने का अभ्यास पूर्ण कर लेना चाहिए।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नांकित में से कौन-सा परिवार का गुण नहीं है :

   क) कम से कम दो विपरीत लिंग के लोग साथ-साथ रहते हों ।

   ख) ये श्रम विभाजन के आधार पर कार्यरत हों ।

   ग) वे अनेक प्रकार के आर्थिक और सामाजिक आदान-प्रदान में लिप्त हों।

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

2) किसी बहुपति परिवार में .....

क) एक ही समय में एक स्त्री के साथ एक से अधिक पति रहते हों ।

ख) एक ही समय में एक पुरु-ा के साथ एक से अधिक पत्नियाँ रहती हों ।

ग) एक ही समय में एक पुरु-ा के साथ एक स्त्री रहती हो ।

घ) एक निःसंतान विवाहित दंपत्ति रहते हैं ।

3) विस्तृत परिवार

क) सिर्फ ऊपर से नीचे विस्तृत हो सकता है ।

ख) सिर्फ केवल क्षैतिज रूप से विस्तृत हो सकता है ।

ग) ऊपर से नीचे और केवल क्षैतिज दोनों ही रूप से विस्तृत हो सकता है ।

घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

7.3 पारिवारिक संरचना को प्रभावित करने वाले कारक

अंतर्संबंधित कारकों यथा – आर्थिक, शैक्षणिक, विधीय और जनसांख्यिकी यथा – जनसंख्या वृद्धि, देशांतरण और शहरीकरण इत्यादि भारत की पारिवारिक संरचना को प्रभावित करते रहे हैं। निम्नांकित भाग में परिवर्तनों की चर्चा करते हुए हम इन कारकों को विश्ले-ित करेंगे। यहाँ हम औद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण जैसे पारिवारिक संरचना को प्रभावित करने वाले कारकों के विस्तृत सामाजिक प्रक्रियाओं की चर्चा करेंगे ।

7.3.1 औद्योगीकरण

ऐसे अनेकों प्रकाशित सामग्रियाँ हैं, जो यह प्रदर्शित करती हैं कि औद्योगीकरण के बलों के उद्भा-ित होने के कारण पारिवारिक संरचना में परिवर्तन हुए हैं । परिवार का एकलीकरण इसी प्रभाव का परिणाम माना जाता है । ऐसी विवेचना यह मानकर की जाती है कि ऐसे समाजों में गैर-नामिकीय परिवार होते हैं । दृ-िटगत प्रमाण इस मान्यता को हमेशा सत्य नहीं पाते हैं। औद्योगिक संस्थाओं को अपने उचित क्रमिक विकास के लिए मानव समूहों की आवश्यकता होती है । इसके कारण लोग औद्योगिक क्षेत्रों की ओर देशांतरण कर संग्रहित होते हैं और पारिवारिक परिवेश में कतिपय विशि-ट प्रकारों का निर्माण होता है। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि औद्योगीकरण के कारण परिवार की बदलती संरचना में निश्चित दृ-िटगत प्रवृत्तियों के बावजूद, अब तक यह संभव नहीं हो सकता है कि कोई स्प-ट संबंध स्थापित किया जा सके ।

7.3.2 शहरीकरण

पारिवारिक संरचना पर शहरीकरण के प्रभावों की अधिकांश चर्चाओं में एक विशि-ट अवलोकन स्प-टतया सामान्य है : कि शहरीकरण के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार की संरचना अत्यधिक दबाव में है और अनेकों स्थितियों में इनमें से एकलीकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । जहाँ इस प्रवृत्ति की वास्तविकता पर कोई संदेह नहीं है, वहीं यह भी ज्ञातव्य है कि इस प्रभाव के पूर्व पारंपरिक आदर्श संयुक्त परिवार मात्र पारिवारिक प्रकार नहीं था । अनेकों अध्ययन यह प्रदर्शित करते हैं कि एकल और संयुक्त दोनों प्रकार की पारिवारिक संरचनाओं ने, किस प्रकार शहरीकरण के परिणामस्वरूप, अनेक प्रकार के परिवारों की उत्पत्ति की है ।

7.3.3 आधुनिकीकरण

औद्योगीकरण और शहरीकरण, दोनों आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रेि-त करते महत्वपूर्ण कारकों की तरह हैं । इस संदर्भ में आधुनिकीकरण, जो अपने में अक्सर औद्योगीकरण और शहरीकरण को समेटे हुए है, की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक स्प-ट है । वास्तव में, सामाजिक-मनोवैज्ञानिक गुणों के साथ आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया से स्वतंत्र रूप से क्रियाशील हो सकता है ।

समय के साथ आधुनिकीकरण के बलों के समक्ष अनावृत्त होकर पारिवारक संरचना में बहुआयामी परिवर्तन आए जिससे इसके अनेक प्रकारों का निर्माण हुआ । ऐसे भी उदाहरण हैं, जबकि इसके प्रभाव में आकर पारिवारिक संरचना में सरलता आ गई है और इसके विपरीत इसमें क्लि-टता आ जाने के अवसर तो रही ही हैं ।

7.3.4 पारिवारिक संरचनाओं में परिवर्तनः एक दृ-िटकोण

भारत में पारिवारिक अध्ययन के महत्वपूर्ण स्वरूपों में से एक यह रहा है कि क्या संयुक्त परिवार पद्धति बिखर रही है? और एक नये प्रकार का एकल परिवार प्रतिमान उभर रहा है । " संयुक्त और एकल परिवार के मध्य द्वैधता का विचार लगभग अवास्तविक सा लगता है । यह हमारे देश के सामाजिक परिवर्तन की तीव्रता में विशे-ाकर सच जान पड़ता है"। औद्योगीकरण, शहरीकरण और सामाजिक परिवर्तन के संबंध में भारत में संयुक्त परिवार और एकल परिवार के मध्य द्वैधता की बात सोचना अत्यंत कठिन है । वर्तमान संदर्भ में ये वर्गीकरण विशि-ट नहीं है । सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य सामाजिक प्रक्रिया है जिसे

सामाजिक संबंधों में दृ-टिगत परिवर्तनों के रूप में परिभा-ित किया जा सकता है । यह परिवर्तन पारिवारिक पद्धति में स्प-ट दृ-टिगोचर होता है । तथापि, हमारी पारंपरिकता की संरचनाओं के कारण ये परिवर्तन आसानी से परिलक्षित किए जा सकते हैं (अगस्टाइन,1982:3) ।

भारतीय परिवार व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों के आयामों को समझने की इस पृ-ठभूमि में संक्रमण की संकल्पना का उपयोग किया जा सकता है । अगस्टाइन के अनुसार इस संकल्पना के दो आयाम हैं : पूर्वव्यापी (Retrospective) और भावी (Perspective)। पूर्वव्यापी आयाम हमारे पारिवारिक और सामाजिक पद्धति के पारंपरिक भूत को प्रदर्शित करता है, जबकि भावी हमारे पारिवारिक पद्धति में हो रहे परिवतर्नों की दिशा सूचित करता है । इस प्रकार संक्रमण परिवार के उभरते स्वरूपों की गुत्थी को सुलझाने का प्रयास है (अगस्टाइन,1982 : 3)।

इस दृ-टिकोण को ध्यान में रखते हुए हम समकालीन भारत की पारिवारिक पद्धति में परिवर्तन की उभरती प्रवृत्तियों का परीक्षण करेंगे । तथापि, आरंभ में ही इसे स्प-ट कर दिया जाता है कि इतने कम स्थान में हमारे लिए यह संभव नहीं होगा कि इस देश के अनेकों सामाजिक-सांस्कृतिक प्रदेशों के विभिन्न जातियों और आचार समूहों के पारिवारिक पद्धति में हो रहे परिवर्तनों को अलग-अलग अंकित किया जा सके । अतः आपकी विस्तृत जानकारी के लिए हम अपने अन्वे-ाण में तीन विस्तृत क्षेत्रों पर केंद्रित होंगे : पारंपरिक विस्तृत परिवार में परिवर्तन, ग्रामीण और शहरी परिवार में परिवर्तन । आइए, विस्तृत पारंपरिक परिवार में हो रहे परिवर्तनों से आरंभ करें ।

> vH;kl 1
>
> किसी वृद्ध सदस्य से अपने परिवार के पिछले 40 व-र्ों का इतिहास जानने का प्रयास कीजिए । समय के अंतराल में इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए होंगे । अगर हुए हों, तो इन परिवर्तनों के लिए जवाबदेह कारकों को सूचीबद्ध कीजिए । लगभग दो पृ-ठों में इन परिवर्तनों के संबंध में लिखिए । अगर संभव हो सके तो अपने संयोजक और केंद्र के सहपाठियों से अपने परिणामों पर विचार करें । समाजशास्त्रीय रूप से आप इसे पर्याप्त रुचिकर पाएंगे ।

7.4 l;qDr परिवार 0;oLFkk में परिवर्तन

भारत में विस्तृत परिवार का तात्पर्य संयुक्त परिवार से है । अनेकों सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद संयुक्त परिवार के आदर्शों की देश भर में अत्यधिक महत्ता है, खासकर हिंदुओं में । तथापि देश के विभिन्न भागों में किए गए अध्ययनों से यह स्प-ट होता है कि आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भारत की संयुक्त परिवार प्रथा में संरचनात्मक परिवर्तन हो रहे हैं । किंतु यह वास्तविकता है कि भारतीय समाज के मूल्य और प्रवृत्तियों ने सदियों से संयुक्त परिवार परंपरा का पो-ाण किया है और अभी भी यह यहां लोकप्रिय है। कतिपय विद्वानों ने संयुक्त परिवार पद्धति में परिवर्तन चक्र की संकल्पना के रूप में देखा है । संयुक्त परिवार में लड़की की शादी के बाद एक एकल परिवार का उदय होता है, अर्थात् पुत्रबधू के आने के बाद । परिवार बढ़ने की प्रक्रिया के कई कारण होते हैं। भारत के अधिकांश भागों में जहाँ पितृसत्तात्मक परिवार है, सहोदरों की शादी होने तक लड़कों को साथ-साथ रहने की मानसिकता बनी हुई है । शादी होने के बाद ही पृथक होने की प्रवृत्ति उभरती है । इस प्रकार विखंडन की प्रक्रिया आरंभ होती है और संयुक्त परिवार अपेक्षाकृत छोटे परिवारों की इकाइयों में विभक्त होता है, कभी-कभी

एकल इकाइयों में । ग्रामीण प.बंगाल के अपने अध्ययन के आधार पर निकोलस यह नि-क-र्ा निकालते हैं कि अगर पिता और उसके विवाहित लड़कों के मध्य संयुक्त परिवार कठिनाई से पृथक होता है, तो भाइयों के मध्य कोई संयुक्त परिवार उतनी ही कठिनाई से बच पाता है । संयुक्त परिवार संरचना में पिता की भूमिका आधारक की होती है । पुरु-ा सहोदरों में मेल के बावजूद, पिता की मृत्यु के बाद अनेक बातें संयुक्त परिवार को विखंडित करने में कार्यशील हो जाती है, तथापि संपत्ति कभी-कभी संयुक्त भी रह जाती है, परिवार नहीं । (ईश्वरन, 1982:8) ।

आई.पी.देसाई ने अपनी प्रसिद्ध कृति " सम आसपेक्ट्स ऑफ फैमिली इन महुवा" (1964) में इंगित किया है कि गुजरात में एक आवासीय रूप से एकल समूह सामाजिक, सांस्कृतिक और अन्य गैर-सामाजिक परिवेशों, जो परिश्रम के समाजों के समान नहीं है, में संयुक्त है। उन्होंने परिवार की संरचना को स्वयं की " गति की प्रवृत्ति" के रूप में परिभा-ित किया है । जब गति " पति, पत्नी और बच्चों की ओर अभिमुख हो तो परिवार को एकल इकाई के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है और जब गति विस्तृत समूह की ओर अभिमुख हो तो इसे संयुक्त परिवार के रूप में परिभा-ित किया जाता है।" उनका मत है कि यद्यपि एकल परिवार हैं, तथापि यह प्रचलित प्रतिमान नहीं है । उनके सैमलिंग में सिर्फ 7 प्रतिशत परिवारों ने एकल परिवार व्यवस्था के पक्ष में इच्छा जाहिर की जबकि लगभग 60 प्रतिशत परिवारों ने संयुक्त परिवार की वाच्छना स्प-ट की ।

ध्यातव्य है कि संयुक्तता के तत्व हर धार्मिक समूहों में पाए जाते हैं । इसमें व्यापारी और कृ-ाक वर्ग में इस धारणा की मात्रा अधिक है । यह महत्वपूर्ण है कि संयुक्तता के पीछे संपत्ति एक महत्वपूर्ण कारक है । कपाडिया ने भी पाया है कि यद्यपि अधिकांश परिवार एकल हैं, किंतु वास्तव में वे क्रियाकलापों में संयुक्त हैं । ये सुविधाएँ परस्पर सहयोग के द्वारा उनके संबंधों को और संपत्ति के अतिरिक्त अधिकारों और कर्तव्यों को भी पोि-ात करते हैं । उनके अनुसार, सामान्य रसोई नहीं, अपितु पारस्परिक बंधन, कर्त्तव्य और अधिकार इत्यादि, समकालीन भारतीय संयुक्त परिवार के महत्वपूर्ण कारक रहे हैं (कपाडिया, 1959 : 250)।

ईश्वरन् ने अपने दक्षिण भारत के एक गाँव के अध्ययन (1982) में पाया कि 43.76 प्रतिशत एकल (प्राथमिक) परिवार और 56.24 प्रतिशत विस्तृत परिवार (संयुक्त) थे । ग्रामीण सम्मलितता के पद के साथ संपत्ति के अर्थ को संयुक्त करते हैं और उनके विचार में व्यक्ति या तो संयुक्त परिवार का सदस्य होता है अथवा विस्तृत संबंधियों पर आश्रित होता है । वास्तव में, स्वतंत्र एकान्तिक प्राथमिक परिवार उनके लिए कोई अहमियत नहीं रखता है और वस्तुतः इसकी वास्तविक उपस्थिति संबंधित समूह पर अत्यधिक निर्भरता के कारण सही है । आदर्श परिवार प्रकार में विस्तृत परिवार धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और अन्य आदर्शात्मक बलों के द्वारा प्रत्यारोपित होते हैं । अपने अध्ययनों से प्राप्त अनुभवों के आधार पर वह इस नि-क-र्ा पर पहुँचते हैं कि यद्यपि एकल परिवारों की संख्या में वृद्धि हो रही है, शायद अतिशय भौगोलिक और सामाजिक गत्यात्मकता के कारण जो कि आधुनिक हो रहे समाज की चारित्रिक विशे-ाता होती है, ये एकल परिवार बगैर विस्तृत संबंधियों के सहयोग के संपूर्ण पृथकता में नहीं रह सकते हैं (ईश्वरन, 1982 : 20) ।

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि भारत में आधुनिकता की प्रवृत्ति प्रमुख रही है । तथापि, भौतिक पृथक्करण संयुक्तता की भावना की समाप्ति का सूचक नहीं हो सकता है । वर्तमान संयुक्त परिवार से पृथक हो जाने के पश्चात् भी एक-दूसरे के प्रति सहयोग और कर्त्तव्य की भावना यथावत रही है । अतः हमें भारत की पारिवारिक संरचना के एकलीकरण के स्वरूप को समझने के अतिरिक्त पारिवारिक सदस्यों के मध्य विद्यमान सहयोग की भावना और सामान्य मूल्य और भावनाओं की उपस्थिति को भी जानने की

आवश्यकता है । सहयोग की सीमा और सामान्य मूल्य और भावना की उपस्थिति ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में पृथक-पृथक हो सकती है । निम्नांकित भागों में हम ग्रामीणी और शहरी पारिवारिक संरचना में परिवर्तन के प्रतिमानों की अलग-अलग चर्चा करेंगे ।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में संयुक्त परिवार के विखंडन पर लगभग छः पंक्तियों की एक टिप्पणी लिखिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) आप किसी परिवार की संरचना को उसकी क्रिया की प्रवृत्ति के संदर्भ में किस प्रकार परिभाि-त करेंगे? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

7.5 ग्रामीण परिवार 0;oLFkk में परिवर्तन

विद्वानों ने संयुक्त परिवार को ग्रामीण भारत के विशि-ट गुण के रूप में पाया है । ये परिवार अनेक शक्तियों के सम्मुख अनावृत्त हैं, यथा – भूमि सुधार, शिक्षा, जनसंचार, नवीन तकनीकी, नव विकास, रणनीतियाँ, शहरीकरण, औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण इत्यादि-इत्यादि । समकालीन ग्रामीण भारतीय पारिवारिक पद्धतियों पर इन बातों का अतिशय प्रभाव पड़ता देखा गया है । आइए, इन बातों को विस्तार में परीक्षित करें ।

7.5.1 परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारक

i) **भूमि सुधार**

पूर्व में संयुक्त परिवार के सदस्य सामान्य पैत्रिक संपत्ति, जो वृहदाकार थी, के लिए सामान्यतया साथ-साथ रहते थे । भूमि सुधार नियमों ने भू-धारण पर सीमा निर्धारित कर दिया । अनेक स्थितियों में ऐसा देखने को मिलता है कि इस कानून से बचने के लिए परिवार के प्रमुखों ने कागज पर लड़कों के मध्य सैद्धांतिक विभाजन कर दिया। उनके जीवन काल में लड़के उनके संरक्षण में रहे या उन्होंने अपनी सक्षमता के बल पर सबों को साथ रखा, अन्यथा लड़के क्रमशः अपने माता-पिता से पृथक होते चले गए । इस प्रकार सैद्धांतिक विभाजन का रूप लेता चला गया और पृथक निवास का

बीज बोता चला गया (लक्ष्मीनारायण, 1982 : 44)। पुनश्च, अनेक स्थितियों में भूमि सीमा कानून के लागू होते ही संयुक्त परिवार में वास्तविक विभाजन होता चला गया।

ii) **शिक्षण और लाभकर रोजगाj**

शिक्षण, औद्योगिक और शहरीकरण ने ग्रामीणों के लिए गाँव से बाहर लाभकर रोजगार के मार्ग प्रशस्त किए । आरंभ में संयुक्त परिवार के कुछ सदस्य शिक्षा प्राप्त करने के लिए शहर गए । सफलतापूर्वक शिक्षा ग्रहण कर उनमें से अधिकांश लोगों ने शहरों में ही नौकरी कर ली अथवा रोजगार के अन्य स्रोतों से जुड़ गए। शादी-शुदा होकर वे अपनी पत्नी और बच्चों के साथ वहीं रहने लग गए । क्रमशः ऐसी पृथक इकाइयाँ एकल परिवार बन गईं । तथापि, अधिकांश स्थिति में ऐसे एकल परिवार के सदस्य पैदायशी परिवार के अन्य सदस्यों के साथ सहयोग करते हुए सम्पर्कित रहे ।

iii) **ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक परेशानियाँ**

भारत की ग्रामीण विकास रणनीतियों का उद्देश्य है – गरीबी और बेरोजगारी का उन्मूलन, जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना और सभी ग्रामीण लोगों के साथ सामाजिक न्यायपूर्ण स्थिति में आर्थिक विकास । तथापि वास्तव में इसके कारण प्रादेशिक असंतुलन में वृद्धि, वर्ग असमानता में कटुता और निम्न तबके के ग्रामीणों के आर्थिक और सामाजिक जीवन में विपरीत प्रभाव पड़ा है । पिछड़े क्षेत्रों में जीवन-यापन के लिए लोगों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है । अतः इन क्षेत्रों के लोग शहरी क्षेत्रों में पलायन करने को बाध्य हो रहे हैं । इस पलायन के कारण पारिवारिक संरचना पर प्रभाव पड़ा है । आरंभ में लोग अकेले जाते हैं । तब वे अपने परिवार को लाते हैं और अंततः वे अपने पैदायशी परिवार से आवासीय रूप से पृथक हो जाते हैं।

iv) **बढ़ता व्यक्तिवाद**

ग्रामीणों के एक खास वर्ग में व्यक्तिवाद का विचार बढ़ रहा है । जन संचार के माध्यमों का प्रवेश, (यथा – अखबार, दूरदर्शन, रेडियो आदि) औपचारिक शिक्षा, उपभोक्ता संस्कृति और बाजार इत्यादि बलों में व्यक्तिवाद को बढ़ाने में पर्याप्त योगदान दिया है। ग्रामीण लोग और ग्रामीण संयुक्त परिवार के सदस्य अपनी वैयक्तिकता में ज्यादा ही विश्वास करने लग गए हैं । अतीत में परिवार का आकार अपेक्षाकृत बड़ा था । संबंधियों का आकार और कर्त्तव्य विस्तृत था। यह मान्य तथ्य था कि संबंधियों को आश्रय देना आम बात थी। आजकल हर व्यक्ति अपना जीवन स्तर सुधारना चाहता है और परिवार तथा कुल से बाहर अपनी हैसियत बढ़ाना चाहता है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति पर कम से कम पारिवारिक दबाव और कर्त्तव्यों की बाध्यताएँ हों (लक्ष्मीनारायण, 1982: 46)। यह परिस्थिति लड़कों की शादी होने और परिवार में बहुओं के आने पर तीव्र गति से विकसित होती है । अनेक स्थितियों में एक शिक्षित व्यक्तिवादी बहू और बूढ़ी सास के मध्य मूल्य संघर्ा के कारण संयुक्त परिवार प्रथा में विघटन आरंभ होता है ।

7.5.2 l;Dr परिवार के टूटने के परिणाम

ग्रामीण पारिवारिक संरचना में संक्रमण का पारिवारिक सदस्यों की भूमिका और प्रस्थिति पर कतिपय महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है । महत्वपूर्ण परिणामों में से एक है संयुक्त परिवार के मुखिया का घटता स्वामित्व । किसी पारंपरिक संयुक्त परिवार में स्वामित्व सर्वश्रे-ठ पुरु-ा सदस्य का होता है । परिवार के कई इकाइयों में विघटित होने से उन एकल परिवारों में संबंधित सर्वश्रे-ठ पुरु-ा सदस्यों के रूप में नये स्वामित्व के केंद्र उभरते हैं । शिक्षित और

व्यक्तिवादी युवा पीढ़ी द्वारा भी कई बार स्वामित्व को चुनौती मिलती है । स्वतंत्रता और व्यक्तिवादिता के आधुनिक विचारों से भरे युवक पारंपरिक स्वामित्व के प्रति विरोध जाहिर करते हैं ।

संयुक्त परिवार में विखंडन के पश्चात् और भी, पहले जिसका पारिवारिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं था, अपरिमित जवाबदेहियों के साथ गृहस्वामिनी बनकर भार वहन करने लगीं। संक्रमण की इस प्रक्रिया में सर्वाधिक बूढ़ी महिला भी अपना अधिकार खोने लगीं । अनेकों युवतियों ने अपनी सासों की स्वामित्व की प्रवृत्ति को ललकारा। इसी प्रकार अनेकों पारंपरिक सासों ने भी अपनी बहुओं में बढ़ रहे असमानुपातिक व्यक्तिवादिता द्वारा उत्पन्न अवांछित परिस्थिति का सामना किया है ।

संयुक्त परिवार के टूटने से वृद्ध विधवा, विधुर और परिवार के अन्य आश्रितों ने भी गंभीर समस्याओं का सामना किया। संयुक्त परिवार से इन लोगों को आश्रय और सुरक्षा मिलती थी । इसके विघटन के बाद वे स्वयं के भरोसे छोड़ दिए गए। ग्रामीण क्षेत्रों में वृद्धों के लिए सेवा केंद्र और अनाथों के लिए बाल आश्रमों की व्यवस्था का अभाव है । अतः उनकी अवस्था अत्यंत दयनीय हो गई । अनेकों विधवाएँ और विधुर, बच्चे, वृद्ध दंपत्ति भिखमंगों की स्थिति में आ गए । इनमें से अनेकों लोग तीर्थस्थलों में भीख माँगने लगे और वही उनका सामाजिक सुरक्षा और मानसिक शांति केंद्र बन गया ।

बोध प्रश्न 3

i) भारत में संयुक्त परिवार प्रथा पर भूमि सुधार के प्रभावों की चर्चा कीजिए। लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) संयुक्त परिवार पर जनसंचार का क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

7.6 शहरी पारिवारिक 0;oLFkk में परिवर्तन

भारतीय शहरी पारिवारिक संरचना पर अनेक अध्ययन किए गए हैं । टी.के. उम्मेन (1982) ने इन अध्ययनों का सर्वे करने के बाद बताया कि इनमें से अधिकांश अध्ययन एक मात्र प्रश्न

से प्रभावित रहे हैं : क्या शहरीकरण के कारण भारत की संयुक्त परिवार प्रथा टूट रही है और एकलीकरण की प्रक्रिया से गुजर रही है ? समाजशास्त्रियों के एक समूह ने इस अवधारणा को निर्विवाद तत्व माना है कि संयुक्त परिवार प्रथा टूट रही है और शहरी क्षेत्रों में एकल इकाइयों के निर्माण की दिशा में इसकी प्रवृत्ति है । जबकि अन्य समूह की धारणा है कि आवासीय पृथ्क्करण के बावजूद संयुक्त परिवार का आचार और संबंधों के प्रति लगाव अब भी यथावत् है ।

7.6.1 शहरी परिवेश में परिवार

विद्वानों का मत है कि औद्योगिकरण शहरीकरण के कारण संयुक्त परिवार संरचना में विघटन नहीं हुआ है । मिल्टन सिंगर (1968) ने मद्रास सिटी के उद्योगपतियों के मध्य संयुक्त परिवार संरचना का अध्ययन किया और पाया कि संयुक्त परिवार प्रथा उद्यमशीलता के विकास में रुकावट नहीं है । बल्कि इसने औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया है और अपनाया है । ऑरेंस्टेन ने अपने हाल के अध्ययन "*रीसेंट हिस्ट्री ऑफ एक्सटेन्डेड फैमिली इन इंडिया*" में 1811 से लेकर 1951 तक के जनगणना के आँकड़ों का अध्ययन किया है और पाया है कि औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारत में संयुक्त और विस्तृत परिवार विलुप्त नहीं हो रहे हैं । तथापि, संयुक्त परिवार संरचना की उपस्थिति विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न है । रामकृ-ण मुखर्जी की मान्यता है कि (क) रा-ट्रीय अर्थ तंत्र में और उच्च और मध्य स्तरीय पेशों में संयुक्त परिवार का प्रतिनिधित्व अत्यधिक है, (ख) एकल परिवार की इकाइयाँ शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में कहीं ज्यादा है । प. बंगाल की पारिवारिक संरचना पर आधारित अपने अध्ययनों के द्वारा वह इस नि-क-र्ा पर पहुँचते हैं कि भारतीय समाज की केंद्रीय प्रवृत्ति संयुक्त परिवार संगठन को बरकरार रखना ही है (उम्मेन, 1982 : 60) । परिवार के एकल इकाइयों और आवासीय पृथक्करण इत्यादि के बावजूद संयुक्त परिवार की भावना पूर्ण बलवती है ।

7.6.2 परिवर्तन की दिशा

टी.के.उम्मेन की मान्यता है कि अब शहरी परिवार अंदर से एक लघु समान के रूप में देखा गया है । उनके अनुसार, इसके वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए शहरी परिवार को एक विस्तृत सामाजिक संदर्भ में देखना होगा । इस उद्देश्य के लिए शहरी परिवार को जीवन-यापन के उपार्जन और आमदनी के स्रोतों, स्वामित्व की संरचना, शहरी सामाजिक परिवेश और सामाजिक पारिस्थितिकी और उभरते मूल्य प्रतिमानों के आधार पर पृथक करना होगा। भारतीय संविधान में समान, दांपतिक और एकल परिवारों के प्रकारों की पहचान की गई है । असंवैधानिकता के अतिरिक्त सामाजिक-पारिस्थितिकी कारक, यथा – आवासीय प्रतिमान, शहरी देशांतरणों के ग्रामीण सांस्कृतिक-जनुरंजग, आर्थिक इत्यादि संपर्कों के द्वारा शहरी पारिवारिक जीवन क्रम प्रभावित होता रहता है । शहरी केंद्र पारंपरिक और आधुनिक मूल्यों के सम्मिश्रण का स्थान है । शहरी क्षेत्रों में व्यक्तिवाद तीव्र गति से पनप रहा है । यह परिवार में व्यक्ति की निर्णय लेने की प्रक्रिया में स्वतंत्रता, साथी के चयन, व्यक्तिगत संपत्ति के अधिग्रहण और व्यवस्थापन में स्वच्छंदता और विवाहोपरांत पृथक परिवार बसाने की अवधारणा का पो-ाण करता है । व्यक्तिवादिता यद्यपि, संयुक्त परिवार की भावना के प्रतिकूल है और सर्वश्रे-ठ पुरु-ा के स्वामित्व को चुनौती देता है, तथापि मूल्य पदानुक्रमिकता और व्यक्तिवादिता पर विरोधाभा-ाी दबाव पड़ सकता है । यह शहरी पारिवारिक जीवन को प्रभावित कर सकता है । तथापि उपर्युक्त वर्णित कारकों का प्रभाव शहरी क्षेत्रों के वर्गीकरण (महानगर, नगर, शहर आदि) और औद्योगीकरण के विस्तार के आधार पर पृथक-पृथक होता है । इन सब के साथ-साथ परिवार का पारंपरिक सांस्कृतिक प्रतिमान भी जारी रहता है। आमदनी के आधार पर शहरी परिवार को मोटे तौर पर तीन भागों में विभाजित किया

जाता है । इन परिवारों के अपने विशि-ट सामाजिक-सांस्कृतिक और पारिस्थितिक परिवेश, पारिवारिक स्वामित्व के प्रतिमान और मूल्य होते हैं । शहरीकरण के बलों ने इन परिवारों को बहुविध प्रभावित किया है ।

i) **स्वत्वाधिकारी वर्ग के परिवारः** उनका मुख्य संसाधन है – पूँजी वाले परिवार । परिवार के ज्ये-ठ पुरु-ा को महत्वपूर्ण स्वामित्व प्राप्त है जो संपत्ति का स्वामी होता है और उसे नियंत्रित करता है । ये अधिकांश संयुक्त परिवार होते हैं । सामाजिक रूप से वे स्थानीय लोग हैं या किसी क्षेत्र के पुराने देशांतरित हैं, जिनकी अपनी सांस्कृतिक पहचान है । इन परिवारों में पारंपरिक पदानुक्रमिकता स्वीकार्य है और व्यक्तिवादिता आरंभिक अवस्था में है ।

ii) **उद्यमी पेशेवर वर्ग के परिवारः** इन परिवारों के मौलिक संसाधन हैं – पूँजी और विशे-ाज्ञता/कुशलता और आमदनी बढ़ाने के उनके निवेश । छोटे वाणिज्यिक/व्यापारिक/औद्योगिक संगठन जो इन परिवारों द्वारा अधिगृहीत और प्रबंधित होते हैं, इस वर्ग में आते हैं । वयस्क पुरु-ाों का स्वामित्व कम होता है । यद्यपि स्वभाव में ये परिवार संयुक्त है तथापि वयस्क लड़कों की शादी के साथ इनमें विखंडन की प्रवृत्ति होती है । सामाजिक रूप से उनमें से अधिकांश स्थानीय और पुराने देशांतरित हैं । तथापि उनमें नये देशांतरित भी समाहित होते हैं । इन परिवारों में पदानुक्रमिकता और पारंपरिक स्वामित्व को चुनौती दी जा रही है और व्यक्तिवादिता स्प-ट परिलक्षित होती है ।

iii) **सेवा वर्ग के परिवारः** ये परिवार सेवा क्षेत्र में अपनी विशे-ाता, कुशलता और श्रम शक्ति बेचकर अपनी आमदनी करते हैं । यह वर्ग तीन उप-वर्गों में विभाजित है :

क) **सेवा क्षेत्र के परिवारः** उनकी आमदनी का मुख्य स्रोत है पेशेवर, प्रबंधकीय या प्रशासनिक विशे-ाज्ञता। इन परिवारों में पुरु-ा और वृद्ध सदस्यों का स्वामित्व स्थायी नहीं है । नवस्थानिक एकल परिवार, प्रमुख प्रतिमान होते हैं। सामाजिक रूप से उनमें से अधिकांश विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक प्रदेशों से आये नव देशांतरित हैं । इन परिवारों में पदानुक्रमिकता क्षीण होती है, व्यक्तिवादिता प्रबल ।

ख) **सेवा क्षेत्र के परिवारः** उनकी आमदनी का मुख्य स्रोत प्रशासनिक कुशलता और अर्ध पेशेवर विशे-ाज्ञता होती है । परिवार में स्त्रियों के योगदान, कार्य से सेवानिवृत्ति और लड़कों, लड़कियों पर निर्भरता के कारण विकेंद्रित स्वामित्व होता है । आश्रित सगे-संबंधियों के साथ ये परिवार नव-स्थानिक परिवार हैं । सामाजिक रूप से वे विभिन्ना संस्कृतियों और नव-प्राचीन देशांतरितों के सम्मिश्रण हैं । पारंपरिक स्वामित्व और पदानुक्रमणिकता को इनमें चुनौती मिलती है और व्यक्तिवादिता क्रमशः विकसित हो रही है ।

ग) **सेवा क्षेत्र के श्रमिक परिवारः** उनकी आमदनी का एकमात्र साधन है – श्रम शक्ति । ये आवश्यक रूप से एकल परिवार हैं । तथापि गरीबी के कारण वे सगे-संबंधियों के साथ रहते हैं । आर्थिक योगदान के आधार पर उनमें स्वामित्व का निर्धारण होता है । वे स्थानीय, नव-प्राचीन देशांतरितों के सम्मिश्रण हैं । इन परिवारों में व्यक्तिवादिता की उत्पत्ति के साथ ही पदानुक्रमिकता विखंडित हो जाती है ।

उपर्युक्त वर्णित परिवारों में हो रहे परिवर्तनों का विश्ले-ाण यह दिखाता है कि परिवर्तन के बलों ने इन परिवारों को विभिन्न रूपों में प्रभावित किया है । पुराने देशांतरित और स्थानीय

लोग जो अपने पारिवारिक पूँजी निवेश के माध्यम से आमदनी करते हैं, ने पारंपरिक स्वामित्व को स्वीकार किया है । वहाँ अभी व्यक्तिवादिता का प्रवेश नहीं हो पाया है । एकलीकरण की प्रवृत्ति नव देशांतरितों और सेवा क्षेत्र के परिवारों में ही ज्यादा है । उनमें विभिन्न सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के कारण व्यक्तिवादिता का भी विकास हुआ है । टी.के. ऊम्मेन यह इंगित करते हैं कि शहरी परिवारों के इन प्रकारों में अतिव्यापन की संभावना है।

7.6.3 कुछ उभरती प्रवृत्तियाँ

त्वरित तकनीकी परिवर्तन, आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में भारत के शहरी समाज में पारिवारिक जीवन का प्रतिमान भिन्न-भिन्न रहा है । आजकल ग्रामीण और शहरी, दोनों ही क्षेत्रों में जीवन, कुछ दशक पूर्व की अपेक्षा कहीं ज्यादा जटिल हो गया है। रोजगार के लिए अनेकानेक ग्रामीण युवक अपनी पत्नी और बच्चों को अपने पैदायशी परिवार को छोड़कर शहर जा रहे हैं । यहाँ उनका कोई स्वागत नही होता है । उनका वहाँ के किसी परिवार में अधिक दिन रहना तनाव उत्पन्न करता है । शहरी समाज के निम्न वर्गों में, यद्यपि, ग्रामीण देशांतरितों को समायोजित बहुत हद तक कर लिया जाता है । 1991 की जनगणना भारत की बदलती पारिवारिक संरचना को उजागर करती है । आँकड़े यह दिखाते हैं कि यद्यपि, परिवार का एकलीकरण एक प्रमुख घटना रही है, शहरी क्षेत्रों में संयुक्त परिवार का भी विस्तार हो रहा है । विशे-ाज्ञ बताते हैं कि संयुक्त रहने की घटनाओं का विकास अधिकांशतः ग्रामीण लोगों का शहरी क्षेत्रों में देशांतरण के कारण और उनका अन्य देशांतरितों के साथ रसोई और आवास में सहभागिता के कारण है । शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में भी, अनेक दंपत्ति लाभप्रद रोजगार में लगे हैं । ये कामगार युगल बच्चों के संरक्षण इत्यादि के लिए दूसरों पर आश्रित हैं । संयुक्त परिवार के संरचनात्मक विखंडन के साथ कामगार युगलों को अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ।

संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया में स्वामित्व और मूल्य के पुराने संरचना को चुनौती दी गई है । व्यक्तिवादिता का विकास व-ाों पुरानी पदानुक्रमिक स्वामित्व के औचित्य पर प्रश्न चिह्न लगाती है। पुरानी मूल्य पद्धति भी पर्याप्त परिवर्तित हो गई है । यद्यपि परिवर्तन की इस प्रक्रिया ने पारस्परिक सम्मान, स्नेह और एक ही परिवार के विभिन्न पीढ़ियों के मध्य लगाव को क्षीण कर दिया है, उपभोक्ता संस्कृति के प्रवेश ने परिस्थिति को और भी दारुण बना दिया है । पीढ़ियों के मध्य की दूरी ने वृद्धों की एक बड़ी संख्या को कुंठित, त्याजित और अवांछित बनाकर रख दिया है । चूँकि भावनात्मक बंधन कमजोर पड़ गया है, अतः अनेक युवक परिवार में अपनी पहचान की समस्या से ग्रसित हो रहे हैं और वे भावनात्मक लगाव के अभाव में कुंठाग्रस्त हो शराब और नशीले पदार्थों के सेवन के आदी होते जा रहे हैं। संयुक्त परिवार भावना का दृ-टिकोण जिसे समाजशास्त्रियों ने आवश्यक माना है, हमारे समाज में हो रहे परिवर्तन के संदर्भ में हमेशा प्रभावकारी नहीं हो पाता है ।

बोध प्रश्न 4

सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

i) मिल्टॉन सिंगर के अनुसार संयुक्त परिवार प्रथाः

   क) उद्यमिता विकास में बाधक नहीं रहा है,

   ख) उद्यमिता विकास में बाधक रहा है,

   ग) व्यापारी वर्ग विखंडित हो रहा है,

   घ) सेवा वर्ग में प्रमुख प्रतिमान है ।

ii) रामकृ-ण मुखर्जी के अनुसार एकल परिवार की संख्या है:

क) ग्रामीण क्षेत्रों में,

ख) शहरी क्षेत्रों में,

ग) इन दोनों क्षेत्रों में,

घ) उपर्युक्त किसी क्षेत्र में नहीं ।

iii) टी.के.ऊम्मेन ने शहरी परिवारों का विभाजन किया:

क) आमदनी के माध्यमों और बदलते मूल्य प्रतिमान के द्वारा,

ख) स्वामित्व की संरचना के द्वारा,

ग) शहरी और सामाजिक परिवेश और सामाजिक पारिस्थितिकी के द्वारा,

घ) उपर्युक्त सभी के द्वारा ।

7.7 सारांश

इस इकाई में हमने विभिन्न प्रकार के परिवारों को परिभाि-त और विवेचित किया है । हमने विभिन्न कारकों, यथा – शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण जैसे भारत की पारिवारिक संरचना को प्रभावित करने वाले कारकों को भी विवेचित किया है । पारंपरिक संयुक्त परिवार पद्धति में हो रहे परिवर्तनों को भी व्याख्यायित किया गया है । शहरी और ग्रामीण भारत के परिवार विकास और परिवर्तन के बलों द्वारा विभिन्न रूप से प्रभावित हुए हैं। हमने ग्रामीण और शहरी परिवारों में हो रहे परिवर्तनों की चर्चा पृथक-पृथक की है । ग्रामीण परिवारों के लिए परिवर्तन के लिए जवाबदेह कारकों और संयुक्त परिवार के विघटन के प्रभावों की चर्चा की है । अंत में, शहरी पारिवारिक संरचना में परिवर्तन, इस परिवर्तन की दिशा और कुछ उभरती प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है ।

7.8 शब्दावली

पारिवारिक चक्रः यह इंगित करता है कि पारिवारिक जीवन के तत्व एक खास दिशा में आकार ग्रहण करते हैं । यह परिवार के आवासीय और संयोजी दृ-टिकोणों में विखंडन को आवश्यक रूप से संबंधित करता है ।

नव-स्थानिक आवासः विवाहित युगल की पति के माता-पिता या अन्य संबंधियों के पृथक रहने की प्रथा ।

पितृसत्तात्मक परिवारः परिवार जिसमें सर्वाधिक श्रे-ठ पुरु-ा प्रमुख होता है । इसमें विवाहित युगल की पति के माता-पिता के परिवार में रहने की प्रथा होती है ।

बहुपति विवाहः विवाह का एक रूप जिसमें एक ही समय में एक पत्नी एक से अधिक पतियों से विवाह करती है ।

बहुपत्नी विवाहः विवाह जिसमें एक ही समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह किया जाए। बहु पत्नी विवाह का एक रूप जिसमें पति एक समय में एक से अधिक पत्नियों को रखता है ।

7.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आगस्टाइन, जे.एस. (सं.) 1982 : *दी इंडियन फैमिली इन ट्रांजिशन* । विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

शाह, ए.एम. 1992 : " चैलेंजेज इन दी इंडियन फैमिली", योगेश अटल (सं.) *अंडरस्टैंडिंग इंडियन सोसाइटी,* हर आनन्द पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली ।

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) घ

2) क

3) घ

बोध प्रश्न 2

i) पारंपरिक भारतीय पितृसत्तात्मक परिवारों के लड़के सहोदरों की शादी होने तक परिवार में रह सकते हैं । लड़के इसके बाद पृथक हो जाने की प्रवृत्ति में आ जाते हैं। चूँकि विखंडन की प्रक्रिया होती है और संयुक्त परिवार छोटी-छोटी इकाइयों में कभी-कभी एकल परिवारों में विभक्त हो जाता है ।

ii) आई.पी. देसाई के अनुसार जब क्रिया पति, पत्नी और बच्चों के अभिमुख होती है तो उस परिवार को एकल इकाई के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है और जब क्रिया विस्तृत समूह की ओर अभिमुख होती है तो उसे संयुक्त परिवार के रूप में परिभाि-त किया जाता है ।

बोध प्रश्न 3

i) भूमि सुधार ने भू-धारण पर सीमा निर्धारित कर दिया । अनेक स्थितियों में परिवार के प्रमुख ने परिवार का सैद्धांतिक विभाजन कर दिया ताकि भूमि धारण सीमा से बचा जा सके । तथापि क्रमशः लड़के पृथक-पृथक रहने लगे जिसने औपचारिक विभाजन की क्रिया को त्वरित किया ।

ii) ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंचार के प्रवेश ने व्यक्तिवादिता के त्वरित विकास में पर्याप्त योगदान किया । ग्रामीण लोग अपनी वैयक्तिकता में ज्यादा विश्वास करने लगे । आजकल व्यक्ति अपना जीवन-स्तर सुधारने के प्रयत्न में लीन हैं । यह तभी संभव है जब व्यक्ति को अल्प वचनबद्धता और अल्प दायित्व हों ।

बोध प्रश्न 4

i) क

ii) क

iii) घ

संदर्भ ग्रंथ सूची

आगस्टन, जे.एस. (संपा.), 1982, *दि इंडियन फैमिली इन ट्रांजिशन,* विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

बार्कले, जी.एम., 1958, *टेकनिक्स ऑफ पापुलेशन एनालिसेज,* जॉन लिवले एंड संस, न्यूयार्क ।

मांडे, ए.एंड कानिटकर, टी., 1992, *प्रिंसिपल्स ऑफ पापुलेशन स्टडीज,* हिमालयन पब्लिशिंग हाउस, बम्बई ।

बोंगार्टस जे. एंड पोट्टर, जी.आर., 1983, *फर्टिलिटी बाइलॉजी एंड बिहैवीयरः एनालिसिज ऑफ दि पराक्सिमेट डिटरीमेंट्स,* अकाडेमिक प्रेस, न्यूयार्क ।

डेविस के., 1968, *पापुलेशन आफ इंडिया एंड पाकिस्तान रसेल एंड रसेलः* न्यूयार्क।

डेविस के. एंड बालके जे., 1956, *सोशल स्ट्रक्चर एंड फर्टिलिटीः एन अनालिटिकल फ्रेमवकर्, इकोनॉमिक डेवलपमेंट एंड सोशल चेंज,* वाल्यूम 3 नं. 2

देसाई, आई.पी., 1964, *सम ऐस्पेक्टस ऑफ फैमिली इन महुवा,* एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई ।

गुडडे डब्ल्यू.जे., 1965, *द फैमिली,* प्रेन्टिस हॉल, नई दिल्ली

भारत सरकार 1961 *सेंसस ऑफ इंडिया,* 1961, संचार मंत्रालय और प्रकाशन, नई दिल्ली

———, 1971 *सेंसस ऑफ इंडिया,* 1971, संचार मंत्रालय और प्रकाशन, नई दिल्ली

———, 1981 *सेंसस ऑफ इंडिया,* 1981, संचार मंत्रालय और प्रकाशन, नई दिल्ली

———, 1991 *सेंसस ऑफ इंडिया,* 1991, संचार मंत्रालय और प्रकाशन, नई दिल्ली

भारत सरकार, 1958, *ड्राफ्ट थर्ड फाइव ईअर प्लान,* योजना आयोग, नई दिल्ली ।

———, *ड्राफ्ट फोर्थ फाइव ईयर प्लान,* योजना आयोग, नई दिल्ली ।

———, *ड्राफ्ट सिक्स्थ फाइव ईयर प्लान,* योजना आयोग, नई दिल्ली ।

———, *ड्राफ्ट सेवेन्थ फाइव ईयर प्लान,* योजना आयोग, नई दिल्ली ।

———, *1990 हैंड बुक ऑन सोशल वैलफेयर स्टेटिस्टिक्स,* समाज कल्याण विभाग, नई दिल्ली ।

——,*फैमिली वेल्फेयर प्रोग्राम इन इंडियाः ईयर बुक 1988-89,* परिवार कल्याण विभाग, नई दिल्ली ।

हेरींटन माईकल

ईश्वरन् के.,1982, इंटरडिपेंडेंस आफ एलिमेंटरी एंड एक्सटेंडिड फैमिली, ऑगस्टन जे.एस. (संपादक) *दि इंडियन फैमिली इन ट्रांजिशन,* विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

लक्ष्मीनारायन,एच.डी.,1982, *दि रूरल फैमिली ट्रांजिशन,* ऑगस्टन जे.एस.(संपादक) *दि इंडियन फैमिली इन ट्रांजिशन,* विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

कपाड़िया, के.एम., 1955, *मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई ।

कोलेंदा पी.,1987, *रीजनल डिपरेंसेज इन फैमिली स्ट्रक्चर इन इंडिया*, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर

भारत सरकार, 1958, *नेशनल सैम्पल सर्वे थर्टीथ राउंड एन.एस.एस.ओ.*, नई दिल्ली

नंदा, ए.आर.,1991, *सेन्सस ऑफ इंडिया सीरीज-1, प्रोविजनल पापुलेशन टोटल्स*, नई दिल्ली ।

मुखर्जी, आर.के., 1965, *सोशियालाजिस्ट्स एंड सोशल चेंज इन इंडिया टुडे*, प्रेंटिस हॉल, नई दिल्ली ।

ऑमेन, टी.के., 1982, अर्बन फैमिली इन ट्रांजिशन, इन जे.एस. ऑगस्टिन, (संपादक) *दि इंडियन फैमिली इन ट्रांजिशन,* विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।

आरेंस्टेन एच. 1956, द रिसेन्ट हिस्ट्री ऑफ एक्सटेंडेड फैमिली इन इंडिया, *सोशल प्रोबलेम्स* खंड– VIII N.2: 341-50

सरमॉक, एच . (संपादक) 1973, *मैथड्स एंड मैटेरियल्स ऑफ डेमोग्राफी,* यू.एस. ब्यूरो ऑफ सेन्ससः वाशिंगटन, डी.सी. वाल्यूम I और II

सिंह, वाई., 1988, *माडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन*, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर

सिंगर, एम., 1968, दि इंडियन जाइंट फैमिली इन मॉर्डन इंडस्ट्री, एम.सिंगर (संपा.) *स्ट्रक्चर एंड चेंज इंडियन सोसाइटी,* अल्डाइन पब्लिकेशन कं. शिकागो ।

यू.एन.ओ., 1973, *दि डिटर्मिनेंट्स एंड कॉसिक्वेन्सस ऑफ पापुलेशन ट्रेंड्स,* वाल्यूम I पापुलेशन स्टेडीज नं. 50, आई.एल.ओ. जिनेवा ।

वर्थ, एल., 1981, *अर्बेनिज्म एज वे ऑफ लाइफ,* अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियालॉजी 44 1-24

भारत सरकार 2003 : भारत 2003, भारत सरकार, नई दिल्ली ।

भारत सरकार 2001, *सेन्सस ऑफ इंडिया,* भारत सरकार, नई दिल्ली ।

यू.एन.डी.पी. 2003, *ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

इकाई 9 श्रमः औद्योगिक

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्योग व औद्योगिक श्रमिक

- 9.2.1 औद्योगिक श्रम की विशे-ताएँ
- 9.2.2 भारत में औद्योगिक श्रमिक

9.3 संगठित व असंगठित क्षेत्र में श्रमिक

- 9.3.1 संगठित क्षेत्र
- 9.3.2 असंगठित क्षेत्र
- 9.3.3 संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों में आपसी रिश्ते

9.4 भारत में श्रम कल्याण के कदम

- 9.4.1 राज्य की जिम्मेदारी और श्रम-कानून
- 9.4.2 कार्य क्षेत्र में काम का नियंत्रण और सामाजिक सुरक्षा
- 9.4.3 श्रम कल्याण तथा संगठित क्षेत्र में नारी-श्रमिक
- 9.4.4 असंगठित क्षेत्र में श्रम-कल्याण

9.5 श्रम-अशांति

- 9.5.1 ट्रेड यूनियन
- 9.5.2 श्रम-अशांति के रूप

9.6 सारांश

9.7 शब्दावली

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

यह इकाई भारत में औद्योगिक मजदूरों की विभिन्न समस्याओं पर विचार करती है । इसे पढ़ने के बाद आप :

- औद्योगिक मजदूरी की विशे-ताओं और भारत में उनके आविर्भाव को समझा सकेंगे;
- संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत औद्योगिक मजदूरों की मुख्य समस्याओं की व्याख्या कर सकेंगे;
- श्रम कल्याण के लिए उठाए गए विभिन्न कदमों के विभिन्न पहलुओं का विवरण दे सकेंगे; और
- भारत में श्रम-अशांति की प्रकृति और रूप की जाँच कर सकेंगे ।

9.1 प्रस्तावना

जैसा कि उद्देश्यों में बताया गया है, इस खंड में हम भारत में औद्योगिक मजदूरों की विभिन्न समस्याओं की चर्चा करेंगे । ई.एस.ओ.-04 की इकाई 26 में हमने भारत के शहरी मजदूर

वर्ग के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की है । चूँकि वह इकाई हमारे मौजूदा वि-ाय से सीधे-सीधे संबंधित है, इसलिए आपको जब भी जरूरत हो, इस इकाई को भी देख सकते हैं ।

इस इकाई में हम औद्योगिक मजदूर वर्ग की मुख्य विशे-ताओं और भारत में उसके आविर्भाव की प्रक्रिया की चर्चा करते हुए शुरुआत करेंगे । इस इकाई में संगठित व असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की समस्याओं पर विस्तार से चर्चा करने के साथ-साथ संगठित और असंगठित क्षेत्र के उद्योगों के आपसी रिश्तों की भी व्याख्या की गई है । भारत में श्रम-कल्याण का एक मुख्य पहलू श्रम कानून है । इसकी चर्चा हम आमतौर पर औद्योगिक श्रमिकों और विशे-ा रूप से नारी श्रमिकों के संदर्भ में करेंगे । ट्रेड यूनियनों की गतिविधियों तथा भारत में श्रम-अशांति के रूपों पर भी हम बहस करेंगे ।

9.2 उद्योग व औद्योगिक श्रमिक

भारत में औद्योगिक श्रम शक्ति के आविर्भाव से संबंधित मुख्य प्रक्रियाओं पर विचार करने से पहले हमें साधारण तौर पर औद्योगिक श्रम शक्ति की विशे-ताओं पर गौर करना चाहिए।

9.2.1 औद्योगिक श्रम की विशे-ताएँ

उद्योग शब्द का संबंध साधारणतः मशीन तकनीक के इस्तेमाल से है । औद्योगिक समाजों में उत्पादन मुख्य रूप से मशीनों के जरिए किया जाता है बजाय सिर्फ इंसानों के शारीरिक श्रम के । औद्योगिक समाजों की एक अन्य विशे-ता यह है कि इनमें इंसानी श्रम की खरीद फरोख्त की जाती है । यानी लोग अपना श्रम बेचते हैं और उसके बदले में उन्हें वेतन या मजदूरी मिलती है । यहाँ मजदूर दो तरह से स्वतंत्र हैं । प्रथमतः, काम करने या न करने के लिए स्वतंत्र और द्वितीय, जहाँ वे चाहें वहाँ काम करने के लिए । असलियत में, यह हो सकता है कि वह इनमें से किसी भी स्वतंत्रता को असली रूप देने की स्थिति में न हो । अगर वह काम न करे तो भूखा मरेगा । इसके अलावा वह अपनी मर्जी की जगह पर काम भी तभी कर सकता है, जब रोजगार उपलब्ध हो ।

उपर्युक्त स्वतंत्रताएँ महज सैद्धांतिक हो सकती हैं मगर इस व्यवस्था की तुलना पहले के सामंती और दास प्रथा वाले समाजों से की जा सकती है । दास या गुलाम के अपने कोई अधिकार नहीं थे । वह अपने मालिक के लिए काम करने पर मजबूर होता था, बेशक वह चाहे या न चाहे । सामंती व्यवस्था में काश्तकार भूस्वामी की जमीन पर काम करता था । वह अपने भूस्वामी को छोड़कर किसी दूसरे के यहाँ काम करने नहीं जा सकता था बेशक वहाँ काम की स्थिति और शर्तें बेहतर हों । इस अर्थ में औद्योगिक मजदूर कहीं ज्यादा स्वतत्र हैं । इसके अलावा हम देख सकते हैं कि वर्तमान समय में औद्योगिक रोजगार, कृ-ि रोजगार के मुकाबले कहीं बेहतर स्थितियाँ और अवसर प्रदान करता है । बड़े कारखानों और दफ्तरों में मजदूरों को अच्छी तन्ख्वाहें मिलती हैं । नौकरी की सुरक्षा रहती है तथा अन्य कई सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं । मगर अपने गाँव छोड़ कर औद्योगिक रोजगार की तलाश में आने वाले हर आदमी को ऐसा रोजगार नहीं मिल पाता है । सच तो यह है कि ज्यादातर लोगों को कम वेतन वाली उन जगहों पर ही काम करना पड़ता है, जहाँ काम की शर्तें इन बेहतर वेतन वाले रोजगार से कहीं ज्यादा खराब होती हैं । इस तरह उद्योग में हम दो क्षेत्र देखते हैं । ये हैं संगठित व असंगठित क्षेत्र । संगठित क्षेत्र में वह श्रमिक आते हैं, जो बड़े कारखानों और संस्थानों में काम करते हैं और जहाँ मजदूरों को रोजगार एक तय कार्यप्रणाली के तहत दिया जाता है और उनके काम की शर्तें और स्थितियाँ देश के कानून

में साफ ढंग से परिभा-ित होती हैं । इसमें वह तमाम सेवाएँ शामिल हैं, जो सरकारी हैं (केंद्रीय तथा राज्य स्तरीय) स्थानीय निकायों/पब्लिक सैक्टर संस्थानों, कारखाने जो विद्युत शक्ति के द्वारा दस या अधिक मजदूरों के साथ या वे जो बिना विद्युत शक्ति के 20 या अधिक मजदूरों के साथ काम करती हैं । असंगठित क्षेत्र में तमाम दैनिक मजदूर/ठेका मजदूर, होटल कारखानों के मजदूर तथा स्व-रोजगार के उद्योगों (छोटे दुकानदार, कुशल दस्तकार – बढ़ई, मैकेनिक इत्यादि जो अपना काम खुद करते हैं, अकुशल श्रमिक, जैसे– कुली या फिर गृह-आधारित मजदूर) में लगे मजदूर शामिल हैं । इस क्षेत्र में कोई तय कार्यप्रणाली नहीं है और न ही कोई कानून हैं, जिनके तहत मजदूरों की भर्ती या काम की शर्तों को परिभा-ित किया गया हो ।

9.2.2 भारत में औद्योगिक श्रमिक

ई.एस.ओ.-04 की इकाई 26 में हमने भारत में शहरी औद्योगिक मजदूर वर्ग के आविर्भाव की चर्चा की थी । वहाँ हमने यह बताया था कि शहरी मजदूर वर्ग यूरोप में हुई अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति की उपज थी । उस जमाने में भारत इंग्लैंड का उपनिवेश था और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति की प्रक्रिया को तेज करने में मदद की । साम्राज्यवादी शासकों ने अपने औद्योगिक उत्पादन को उच्चतम सीमा तक बढ़ाने के लिए भारत की प्राकृतिक सम्पदाओं को लूटा । लम्बे समय तक भारत में औपनिवेशिक प्रशासन और तीव्र शो-ाण ने भारतीय जनता के एक बड़े हिस्से को चिंतनीय दरिद्रता की हालत में पहुँचा दिया। कुल मिलाकर भारत में आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों का सर्वनाश, पारस्परिक ग्राम व कुटीर शिल्प की तबाही और बड़े पैमाने पर ग्रामीण दस्तकारों का विस्थापन तथा उनके एक हिस्से का शहरों की ओर प्रव्रजन ही उनके शासन का परिणाम रहा ।

भारत में उद्योगीकरण की शुरुआत 1850 के दशक में हुई । इसी समय औद्योगिक मजदूर वर्ग का भी प्रादुर्भाव हुआ । कपास और पटसन के कारखाने देश के विभिन्न भागों में पनपने लगे । दोनों विश्व युद्धों के मध्यवर्ती समय में भारत में औद्योगिक वस्तुओं की माँग में असाधारण वृद्धि हुई । मगर ब्रिटिश सरकार ने बुनियादी उद्योगों के विकास के लिए कोई गंभीर प्रयास नहीं किए । आजादी के बाद ही कहीं भारत सरकार ने सचेत रूप से, अपनी पंचव-ीय योजनाओं के जरिये उद्योगीकरण की कोशिशें कीं । 1960 से 1965 के मध्य कारखानों में रोजगार की बढ़ोत्तरी की दर सिर्फ 6.6 प्रतिशत ही थी । मगर 1970 में कुल श्रम-शक्ति का सिर्फ 2 प्रतिशत ही कारखानों में कार्यरत था । भारत में 1951 के बाद से मजदूरों के रोजगार का कृ-ि से उद्योग और हाल में सेवा क्षेत्र की तरफ मामूली सा रुख होने लगा है ।

rkfydk¼ क्षेत्रवार रोजगार वृद्धि (सी.डी.एस. आधार)

क्षेत्र	रोजगार (मिलियन में)				वार्-िक वृद्धि (%)			
	1983	1987-88	1993-94	1999-00	1983 से 87-88	1987-88 93-94	1983 से 93-94	1993-94से 99-2000
कृ-ि	151.35	163.82	190.72	190.94	1.77	2.57	2.23	0.02
उद्योग								
खनन व खदान	1.74	2.40	2.54	2.26	7.35	1.00	3.68	-1.91
वस्तु निर्माण	27.69	32.53	35.00	40.79	3.64	1.23	2.26	2.58
विद्युत, गैस एवं जल आपूर्ति	0.83	0.94	1.43	1.15	2.87	7.19	5.31	-3.55

इमारत निर्माण	7.17	11.98	11.02	14.95	12.05	–1.38	4.18	5.21
सेवाएँ								
व्यापार, होटल एवं रेस्टोरेंट	18.17	22.53	26.88	37.54	4.89	2.99	3.80	5.72
परिवहन, भंडारण एवं संचार	6.99	8.05	9.88	13.65	3.21	3.46	3.35	5.53
वित्त, बीमा, जमीन जायदाद व वाणिज्य सेवाएँ	2.10	2.59	3.37	4.62	4.72	4.50	4.60	5.40
समुदाय, सामाजिक व व्यक्तिगत सेवाएँ	23.52	27.55	34.98	30.84	3.57	4.06	3.85	-2.08
	239.57	**272.39**	**315.84**	**336.75**	**2.89**	**2.50**	**2.67**	**1.07**

स्रोतः एन.एस.एस.ओ- विभिन्न दौर

Website: indiabudget.nic.in

vH;kl 1

10 या 12 औद्योगिक, खेतिहर या बागान श्रमिकों के साथ साक्षात्कार करें । उनके रोजगार की स्थितियों और शर्तों के बारे में जानकारी इकट्ठी करने के बाद भाग 9.2.1 में बताई गई औद्योगिक श्रमिकों की विशे-ताओं के साथ इसकी तुलना करें। अगर संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र में अपने सहपाठियों से उनके द्वारा इकट्ठी की गई जानकारी से भी तुलना करके देखें ।

9.3 संगठित व असंगठित क्षेत्र में श्रमिक

हमारे औद्योगिक क्षेत्रों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है – संगठित या औपचारिक क्षेत्र और असंगठित या अनौपारिक क्षेत्र । दोनों ही क्षेत्रों में काम के अलग-अलग नियम और शर्तें हैं ।

9.3.1 संगठित क्षेत्र

संगठित क्षेत्र में कार्यरत मजदूर कुछ ऐसी सुविधाएँ पाते हैं, जो उन्हें असंगठित क्षेत्र के मजदूरों से अलग बना देती हैं । इन मजदूरों का रोजगार स्थायी होता है जो मालिक की मर्जी पर आश्रित नहीं होता है । एक बार स्थाई हो जाने पर हर मजदूर को कुछ अधिकार और कुछ सुविधाएँ मिलने लगती हैं । मालिक उसे रोजगार से तभी हटा सकता है, जब उसके द्वारा रोजगार से संबंधित शर्तों का कानूनन उल्लंघन किया गया हो । मजदूर को जो भी सुविधाएँ मुहैया होती हैं वह उसे कानूनन दी जाती हैं और केवल मालिक की नेकनियत पर आधारित नहीं होतीं ।

i) सुरक्षात्मक कानून

संगठित क्षेत्र में काम के संबंध में कई नियम हैं । इस संदर्भ में जो दो सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण कानून हैं वह हैं, फैक्टरीज एक्ट, 1948 तथा औद्योगिक विवाद कानून, 1947 । फैक्टरीज

एक्ट ऊपर बताए गए ढंग से संगठित क्षेत्र को परिभाि-त करता है । इस अधिनियम के तहत आने वाले किसी भी कारखाने को कुछ ऐसी शर्तों और नियमों का पालन करना पड़ता है, जिनका संबंध काम के घंटों, विश्राम, छुट्टियों, स्वास्थ्य और सुरक्षा आदि से होता है । मिसाल के तौर पर अधिनियम कहता है कि कोई भी मजदूर हप्ते में 48 घंटे से ज्यादा और दिन में 9 घंटे से ज्यादा काम नहीं कर सकता । उसे 5 घंटे के काम के बाद कम से कम आधे घंटे विश्राम के लिए समय देना जरूरी है । मजदूर एक साप्ताहिक अवकाश और सालाना सवेतन अवकाश का भी हकदार है ।

औद्योगिक विवाद कानून मजदूर को काम के दौरान उससे पैदा हुए विवादों में सुरक्षा प्रदान करता है । ऐसे विवादों में वेतन की मात्रा, काम का स्वरूप या रोजगार समाप्ति या मुअत्तली जैसे प्रश्न शामिल हैं । इनके अलावा भी कई और अधिनियम जैसे न्यूनतम वेतन अधिनियम, बोनस भुगतान अधिनियम, प्रोविडेंट फंड अधिनियम, कर्मचारी राज्य बीमा (एम्प्लॉइज स्टेट इंश्योरेंस) अधिनियम आदि, जो मजदूर को सुरक्षा और कुछ सुविधाएँ मुहैया कराती हैं ।

ii) **ट्रेड यूनियन**

विभिन्न अधिनियमों के जरिये सरकारी सुरक्षा पाने के अलावा संगठित क्षेत्र के मजदूर अपने ट्रेड यूनियन भी बना सकते हैं । यह संगठित क्षेत्र की सबसे बड़ी विशे-ाता है । इसके द्वारा तमाम कानूनी प्रावधानों को अमल में लाए जाने की गारंटी होती है । संगठित क्षेत्र के मजदूरों को अपना हक हासिल करना मुश्किल होता अगर ट्रेड यूनियन न होते । सरकार अकेले मजदूरों की सुरक्षा नहीं कर सकती । इस क्षेत्र में ट्रेड यूनियनों का वजूद में आना इसका एक महत्वपूर्ण पहलू है । असंगठित क्षेत्र की चर्चा करते समय हम देखेंगे कि मजदूरों की सुरक्षा के लिए बनाए गए कानून भी तब तक अप्रभावी ही रहते हैं जब तक मजदूर सामूहिक रूप से उनका कार्यान्वयन नहीं करवा पाते हैं ।

9.3.2 असंगठित क्षेत्र

छोटे कारखानों और संस्थानों के मजदूरों के अलावा संगठित क्षेत्र में भी ऐसे मजदूर बड़ी संख्या में हैं जिन्हें नियमित श्रमिकों की सुविधाएँ नहीं मिलतीं । ये श्रमिक अनियत और ठेका मजदूरों के रूप में नियुक्त किए जाते हैं । इस क्षेत्र में कई ऐसी समस्याएँ हैं, जो रोजगार की स्थितियों और शर्तों और काम की सुरक्षा आदि के संदर्भ में दिखाई देती हैं । आइए, इन पहलुओं पर गौर करें ।

i) अनियत श्रमिक

हम देख चुके हैं कि संगठित क्षेत्र के मजदूर कई तरह की सुविधाएँ पाते हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि उनके मालिकों को उन पर वेतन के अतिरिक्त व्यय भी करना पड़ता है । कई बार मालिक अनियत श्रमिक रखकर अपना खर्च कम करने की कोशिश करते हैं, यानी – ऐसे श्रमिक जो स्थाई रूप से उनके मुलाजिम नहीं होते बल्कि निश्चत समय के लिए ही रखे जाते हैं । ज्यादातर स्थितियों में स्थाई रोजगार से संबंधित सरकारी नियम यह कहते हैं कि कोई भी मजदूर, अगर वह एक निश्चित समय तक (आमतौर पर 180 दिन) काम कर चुका है तो उसे स्थाई मजदूर माना जाना चाहिए । मालिक अक्सर इस कानून से बचने के लिए उस मजदूर की सेवा बीच में एक दिन के लिए खत्म करके पुनः नियुक्त कर लेते हैं । इस तरह वह मजदूर वह न्यूनतम समय पूरा ही नहीं कर पाता जिसके बाद वह स्थाई हो सके । संगठित उद्योगों में अनियत श्रम की नियुक्ति यह निश्चित करती है कि उत्पादन मूल्य कम हो । इन मजदूरों को साधारणतः कोई अधिकार नहीं दिए जाते, सिवाय न्यूनतम वेतन के । उनकी नौकरी की कोई सुरक्षा नहीं होती और कभी भी उन्हें काम से हटाया जा सकता है ।

ii) ठेका मजदूर

संगठित क्षेत्र में ही एक और श्रेणी है । मगर अनियत श्रमिकों की तरह वह भी संगठित क्षेत्र का हिस्सा नहीं है । ये हैं ठेका श्रमिक । ऐसी स्थितियों में मालिक सीधे-सीधे मजदूर नहीं रखते बल्कि ठेकेदारों के जरिये नियुक्त करते हैं । वहाँ भी ये मजदूर उन तमाम सुविधाओं से वंचित रखे जाते हैं जो स्थाई श्रमिकों को उपलब्ध होती हैं । यद्यपि, कार्य का नि-पादन वे नियमित मजदूर की तरह ही करते हैं । ये ठेका मजदूर सीधे मालिक द्वारा नहीं रखते, बल्कि वे निश्चित कार्यों के लिए काम ठेके पर देते हैं और ठेकेदार इन मजदूरों की नियुक्ति करते हैं ।

iii) अनियत तथा ठेका मजदूरों की कार्य सुरक्षा

हमारी श्रम शक्ति का एक खासा बड़ा हिस्सा अनियत तथा ठेका मजदूर हैं । ऐसी कई मिसालें मिल जाती हैं, जहाँ एक कारखाने में जितने स्थाई मजदूर काम करते हैं, उतने ही अनियत मजदूर । इस तरह हम देखते हैं कि संगठित क्षेत्र के अंदर भी एक असंगठित क्षेत्र है। ऐसे मजदूरों की नियुक्ति सिर्फ निजी क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है । सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में भी उन्हें अक्सर नियुक्त किया जाता है । ठेका मजदूर नियंत्रण तथा उन्मूलन अधिनियम के मुताबिक ऐसे श्रमिक केवल खास तरह के कार्यों में ही नियुक्त किए जा सकते हैं । मगर आम तौर पर देखा जाता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में भी इस अधिनियम का खुला उल्लंघन किया जाता है और नियमित मजदूरों की तरह के ही काम इन श्रमिकों से लेकर कम वेतन दिया जाता है ।

असंगठित क्षेत्र के मजदूरों, चाहे वे लघु उद्योग में काम करते हों, या अनियत और ठेका मजदूर की हैसियत से काम करते हों, की कुछ सामान्य विशे-ताएँ हैं । उन्हें काम की सुरक्षा

या तो मिलती ही नहीं या नगण्य होती है, कम वेतन मिलता है तथा काम की स्थितियाँ तथा शर्तें अनियंत्रित होती हैं ।

असंगठित क्षेत्र को अनौपचारिक क्षेत्र भी कहा जाता है । इसकी कई मानों में संगठित क्षेत्र से तुलना की जा सकती है । अनौपचारिक क्षेत्र, का तात्पर्य ही यह है कि यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें कोई नियम नहीं है । इस क्षेत्र के उद्योग छोटे आकार के होते हैं और वे छोटी संख्या में श्रमिक नियुक्त करते हैं । लिहाजा वे फैक्ट्रीज ऐक्ट के तहत नहीं आते । जाहिर है कि इस अधिनियम द्वारा दी गई सुविधाएँ तथा सुरक्षा इन्हें नहीं मिल पातीं । मगर न्यूनतम वेतन अधिनियम, ठेका मजदूर नियंत्रण तथा उन्मूलन अधिनियम आदि कुछ अधिनियमों के दायरे में ये जरूर आते हैं । मगर जैसा कि हम आगे चर्चा करेंगे, इनमें से कई अधिनियम सिर्फ कागज पर ही रह जाते हैं, जहाँ तक मजदूरों का सवाल है । इसलिए वास्तव में इस क्षेत्र के मजदूर असंगठित तथा असहाय ही रहते हैं ।

iv) **महिला तथा बाल श्रमिकों को कम वेतन का भुगतान**

इस क्षेत्र में बड़ी तादाद में महिला व बाल श्रमिक नियुक्त किए जाते हैं क्योंकि वे सस्ते होते हैं । संगठित क्षेत्र में महिला-रोजगार में काफी तेजी से कमी आई है । आगे श्रम कल्याण की चर्चा करते हुए हम इसके कुछ कारणों का जिक्र करेंगे । क्योंकि संगठित क्षेत्र में नारी रोजगार की संभावनाएँ कम हो गई हैं, इसलिए महिलाओं को ज्यादातर असंगठित क्षेत्र पर काम के लिए निर्भर करना पड़ता है । और क्योंकि यहाँ पर कोई नियंत्रण है ही नहीं, इसलिए अनैतिक मालिकों के लिए कम वेतन पर महिला तथा बाल श्रमिक नियुक्त करके अपना मुनाफा बढ़ाना आसान हो जाता है ।

v) **कम वेतन वाले रोजगार का विस्तार**

श्रम के सस्ता और लागत की जरूरत कम होने की वजह से असंगठित क्षेत्र काफी तेजी से फैला है । इसमें रोजगार के अवसर भी ज्यादा हैं । अनुमान है कि असंगठित क्षेत्र कुल उत्पादन रा-ट्रीय आय का दो-तिहाई है । असंगठित क्षेत्र का सकारात्मक पहलू यह है कि वह अकुशल श्रमिकों को रोजगार दे पाता है जो अन्यथा या तो बेरोजगार रहते या फिर कृ-ि मजदूरों की तरह और भी कम वेतन तथा शो-ाण की स्थितियों में काम करने पर मजबूर होते । इस क्षेत्र की गंजाइशों का अंदाजा लगाने के लिए आइए, कपड़ा उद्योग का उदाहरण लें । यहाँ पर तीन क्षेत्र हैं यथा संगठित क्षेत्र की बड़ी कपड़ा मिलें, पावरलूम क्षेत्र तथा हैंडलूम क्षेत्र । आखिरी के असंगठित क्षेत्र में हैं । रोजगार की दृ-टि से, महारा-ट्र में कपड़ा मिलों में 2,00,000 नौकरियाँ हैं । इसके मुकाबले पावरलूम 5,00,000 लोगों को रोजगार देते हैं और हैंडलूम और भी ज्यादा । हैंडलूम क्षेत्र का एक और सकारात्मक पहलू यह है क वह गांवों में रोजगार मुहैया कराता है । मगर दूसरी ओर यह भी सही है कि 5 लाख पावरलूम श्रमिकों का कुल वेतन बिल 2 लाख कपड़ा मिल श्रमिकों के वेतन बिल से कम होता है । इसके अलावा पावरलूम श्रमिक दिन में 10 से 12 घंटे काम करते हैं जबकि मिल मजदूरों के काम के घंटे नियंत्रित हैं । लिहाजा असंगठित क्षेत्र ज्यादा रोजगार तो उपलब्ध कराता है, मगर उसके मजदूरों की काम की स्थितियाँ नीति-निर्माताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा शिक्षाविदों के लिए चिंता का वि-ाय बना हुआ है ।

9.3.3 संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों में आपसी रिश्ते

अभी तक हमने देखा कि संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों की कुछ विशे-ताएँ हैं जो एक-दूसरे से भिन्न हैं । इससे ऐसा लग सकता है कि ये क्षेत्र एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र हैं । मगर

दोनों क्षेत्रों में काफी मजबूत आपसी रिश्ते हैं । वास्तव में यह भी कहा जा सकता है कि दोनों एक-दूसरे पर कई मायनों में निर्भर भी हैं । आइए,देखें कैसे?

संगठित क्षेत्र के अंदर ही अनियत तथा ठेका श्रम के रूप में विराजमान असंगठित क्षेत्र दोनों के मध्य आपसी संबंध को सुस्प-ट करता है । अनियत तथा ठेका मजदूर स्थाई मजदूरों से सस्ते पड़ते हैं । मालिकों की जिम्मेदारियाँ भी इन मजदूरों के प्रति कम होती हैं क्योंकि वे उनके कई अधिनियमों के तहत नहीं आते । इस तरह मालिक अपना खर्च कम करके मुनाफा बढ़ा लेते हैं ।

सिद्धांतम रूप में बड़े (औपचारिक) क्षेत्र और लघु (अनौपचारिक) क्षेत्र के रिश्तों की बुनियाद काफी हद तक ऐसी ही है । बड़े कारखाने अपने अंतिम उत्पाद में इस्तेमाल होने वाली हर वस्तु खुद तैयार नहीं करते । आम तौर पर वे इन्हें ऐसे उद्योगों से खरीद लेते हैं जो सिर्फ वही वस्तुएँ बनाती हैं । और यह सेवा आम तौर पर लघु कारखाने देती हैं । मसलन मोटर गाड़ियाँ बनाने वाले कारखाने गाड़ी में लगने वाला हर पुर्जा खुद तैयार नहीं करते । ऐसा अनुमान है कि 60 प्रतिशत या उससे ज्यादा पुर्जे दूसरे कारखानों में बनते हैं – साधारणतः लघु उद्योग क्षेत्र में । बड़े कारखाने इनका संयोजन करते हैं । कई अन्य वस्तुओं के मामले में, यहाँ तक कि कई प्रतिष्ठित उपभोक्ता वस्तुओं के मामले में (जैसे जूते, तैयार कपड़े, हौजरी आदि) ऐसा भी होता है कि पूरा उत्पादन छोटे उद्योग क्षेत्र में होता हो और उसे बाजार में बड़े कारखाने के मार्के के साथ भेजा जाता है । इस प्रक्रिया को ऐंसिलराइजेशन कहा जाता है । छोटे, असंगठित क्षेत्र के कारखाने बड़े कारखानों के सहायक के रूप में कार्य करते हैं । वे वह कल-पुर्जे बनाते हैं, जो केवल संबंधित कारखाने को बचे जाते हैं । दूसरे शब्दों में, छोटे कारखाने का बाजार बड़े कारखाने में ही होता है और वह अन्य बाजार नहीं तलाश करता ।

लिहाजा यह देखा जा सकता है कि बड़ा कारखाना कई छोटी इकाइयाँ लगाने की संभावनाएँ पैदा करता है जिसमें और बड़ी तादाद में मजदूर नियुक्त किए जाते हैं । लघु क्षेत्र के लिए यह इंतजाम लाभदायक हो सकता है क्योंकि वह उन्हें विपणन की समस्या से छुटकारा दिला देता है जिसके लिए उनके पास साधनों का अभाव रहता है । कई बार बड़े कारखाने इन छोटे उद्योगों को कर्ज या सामायिक पेशगी भी देते हैं ताकि वे अपना उत्पादन खर्च निकाल सकें । संगठित क्षेत्र के लिए भी यह इंतजाम लाभदायक होता है क्योंकि उन्हें ज्यादा कीमत पर वह कल-पुर्जे बनाने के झंझट से छुटकारा मिल जाता है । कम कीमत पर उन्हें खरीद कर वह अपना कुल उत्पादन खर्च कम कर लेते हैं ।

दूसरी ओर यह भी समान रूप से कहा जा सकता है कि इन दोनों क्षेत्रों का आपसी रिश्ता एक शो-णकारी रिश्ता है । अनौपचारिक क्षेत्र इस रिश्ते में औपचारिक क्षेत्र के साथ जुड़ जाता है और चूंकि वह अपना बाजार नहीं ढूँढ़ सकता इसलिए उसे वही कीमतें स्वीकार करनी पड़ती हैं, जो खरीदार उन्हें देता है । औपचारिक क्षेत्र क्योंकि बेहतर स्थिति में होता है, इसलिए वह ऐसी कीमतें तय कर सकता है जो बहुत ही कम हैं । अनौपचारिक क्षेत्र की कोई दूसरा विकल्प नहीं होने की वजह से स्वीकार करना पड़ता है । अपना मुनाफा बरकरार रखने के लिए (जो यूँ ही बहुत कम होता है), उन्हें भी अपना खर्च काटना पड़ता है और इसका सबसे कारगर तरीका वेतन में कटौती और कार्यभार बढ़ाना होता है । इस तरह संगठित क्षेत्र असंगठित क्षेत्र का शो-ण करता है और असंगठित क्षेत्र मजदूरों का । बावजूद इसके कि वे कल-पुर्जे सस्ते दामों में खरीदते हैं, संगठित क्षेत्र द्वारा बेची जा रही वस्तुएँ ऊँचे दामों पर बिकती हैं । आम तौर पर लघु क्षेत्र के उत्पादक के जरिये उत्पादन खर्च में लाई गई कमी से दाम कम नहीं होते, सिर्फ उनका मुनाफा बढ़ता है । यानी उपभोक्ता भी इससे लाभान्वित नहीं होते ।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाएँ :

1) संगठित क्षेत्र के मजदूर निम्नलिखित हैं :

   क) सभी सरकारी सेवाएँ

   ख) स्थानीय निकाय तथा कारखाने

   ग) विद्युतशक्ति सहित 10 या अधिक और बिना विद्युतशक्ति 20 या अधिक श्रमिक नियुक्त कर रही संस्थाएँ

   घ) उपर्युक्त सभी ।

2) असंगठित क्षेत्र के मजदूर निम्नलिखित हैं :

   क) अनियत तथा ठेका श्रमिक

   ख) कुटीर तथा ग्रामोद्योग के मजदूर

   ग) स्व-नियुक्त

   घ) उपर्युक्त सभी ।

3) संगठित क्षेत्र के भीतर असंगठित क्षेत्र निम्नलिखित हैं :

   क) स्थाई मजदूर

   ख) ठेका तथा अनियत मजदूर

   ग) उपरोक्त दोनों श्रेणियों के मजदूर

   घ) उपर्युक्त में कोई नहीं ।

4) सही या गलत बताएँ ।

   क) फैक्टरीज ऐक्ट के दायरे में देश के सभी कारखाने आते हैं ।

   सही ☐ गलत ☐

   ख) संगठित क्षेत्र के मजदूरों को काम की सुरक्षा ज्यादा मिलती है ।

   सही ☐ गलत ☐

   ग) असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को कोई कानूनी सुरक्षा नहीं मिलती ।

   सही ☐ गलत ☐

9.4 भारत में श्रम कल्याण के कदम

ऊपर के भागों में उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार की प्रकृति की चर्चा की गई है । हमने देखा कि उद्योग के भीतर तथा श्रमिकों के बीच ये गैर-बराबरी के रिश्ते हैं । अब आइए, श्रम के एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू पर नजर डालें, यानी श्रम कल्याण । इस सिलसिले में क्या कदम उठाये गये हैं, वह हम यहाँ देखेंगे ।

9.4.1 राज्य की जिम्मेदारी और श्रम-कानून

रोजगार का रूप कोई भी हो यह मालिक/नियोक्ता की जिम्मेदारी होती है कि वह अपने मुलाजिमों के लिए उचित जीने और काम की शर्तें हासिल कराएँ । जब मालिक ऐसा नहीं करते तब सरकार कानून बनाकर मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करती है । श्रम कानून इसीलिए बनाए जाते हैं ताकि मालिक अपने मुलाजिमों के प्रति जिम्मेदारियों को निभाए । भारत में श्रम कानूनों का इतिहास 150 साल पुराना है । मगर आजादी के बाद ही केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा ऐसे कई नए कानून बनाए गए जिनके दायरे में तरह-तरह के उद्योगों में कार्यरत कई किस्म के मजदूरों को लिया गया । मजदूरों के प्रति सरकार के रवैये में आए बदलाव का मुख्य कारण स्वतंत्रोत्तर सरकार द्वारा श्रमिकों के कल्याण के संबंध में अपनाया गया सकारात्मक नजरिया था । इसके अलावा ट्रेड यूनियन आंदोलन के विकास ने केंद्र तथा राज्य सरकारों पर, श्रम संबंधी मामलों में सकारात्मक रुख अख्तियार करने के लिए दबाव डाला ।

मजदूरों की सुरक्षा के लिए सिर्फ कानून बनाना ही काफी नहीं है । इससे कही ज्यादा जरूरी यह सुनिश्चित करना है कि ये कानून अमल में लाए जाएं । मालिकों से यह उम्मीद तो की जाती है कि वे इन कानूनों पर अमल करेंगे मगर अक्सर वे ऐसा करते नहीं हैं । ऐसी स्थिति में सरकार से यह उम्मीद की जाती है कि वह सुनिश्चित करे कि ये कानून अमल में लाए जा रहे हैं । केंद्र तथा राज्य की सरकारों के श्रम विभाग हैं जिनके श्रम अधिकारी, अतिरिक्त श्रमायुक्त आदि होते हैं, जिन्हें यह दायित्व सौंपा गया होता है कि वे देखें कि कानून लागू किए जा रहे हैं । इन कानूनों को तोड़ने के जुर्म में किसी भी मालिक पर अदालत में मुकदमा चलाया जा सकता है । फिर भी सभी कोशिशों के बावजूद सरकार यह काम प्रभावशाली ढंग से नहीं कर पा रही है । इसका कारण कारखानों का विस्तृत और आकार में बहुत बड़ा होना और सरकारी मशीनरी का तमाम केस को देख सकने की अक्षमता है । एक और महत्वपूर्ण संगठन है और वह है ट्रेड यूनियन, जो यह निश्चित करने की कोशिश करता है कि कानून अमल में लाए जाएं । ट्रेड यूनियन संगठन मुख्यतः मजदूरों के हितों को आगे बढ़ाने की कोशिश करता है । ऐसा करने में वह यह सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि कानून अमल में आए ।

क्योंकि श्रम संविधान की समवर्ती सूची में है इसलिए केंद्र तथा राज्य, दोनों स्तरों की सरकारों को मजदूरों की सुरक्षा के लिए कानून बनाने का अधिकार है । इस वि-ाय में अच्छी खासी संख्या में कानून बने हुए हैं । हमने कुछ ज्यादा महत्वपूर्ण कानूनों का जिक्र पहले ही किया है जो संगठित तथा असंगठित क्षेत्र दोनों पर लागू होते हैं ।

9.4.2 कार्य क्षेत्र में काम का नियंत्रण और सामाजिक सुरक्षा

इन कानूनों को हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं – एक वह जो काम के नियंत्रण से संबंधित है और दूसरा जो सामाजिक सुरक्षा से ताल्लुक रखते हैं । पहली श्रेणी में फैक्ट्रीज एक्ट, औद्योगिक विवाद अधिनियम, न्यूनतम वेतन अधिनियम, दुकान व संस्थान (शॉप्स एंड एस्टैबल्शिमेंट्स) अधिनियम वर्कमेन्स कम्पनसेशन एक्ट, ठेका मजदूर नियंत्रण तथा समान वेतन अधिनयम आदि रखे जा सकते हैं । दूसरी श्रेणी में पेमेंट ऑफ बोनस एक्ट, इम्पलॉईज प्राविडेंट फंड एक्ट, इम्पलॉईज फैमिली पेंशन स्कीम, इम्पलाईज स्टेट इंश्योरेंस एक्ट, पेमेंट ऑफ ग्रैच्युइटि एक्ट आदि आते हैं । इनके अलावा भी कानून हैं जो विशे-ा उद्योगों से संबंधित हैं, जैसे बागान श्रमिक (प्लांटेशन लेबर) एक्ट, खदान (माइन्स) एक्ट, मोटर ट्रांसपोर्ट वरकर्स एक्ट इत्यादि ।

ckDl 1

वर्कमेंस् कम्पनसेशन एक्ट, 1923 (श्रमिक क्षतिपूर्ति कानून, 1923)

इस अधिनियम में श्रमिकों तथा उनके ऊपर निर्भर परिवारजनों को क्षतिपूर्ति देने का प्रावधान है । यह क्षतिपूर्ति किसी औद्योगिक हादसे से आहत होने पर या ऐसी किसी बीमारी का शिकार होने पर जो कार्य के कारण होती है और जिससे अंग हानि या मृत्यु हो जाती हो, दिए जाने का प्रावधान है । कानून की अनुसूची-II में बताए गए किसी भी रोजगार में नियुक्त हों । चलने वाले वाहनों, निर्माण कार्यों तथा कुछ अन्य खतरनाक कार्यों में नियुक्त हैं । छूट स्थाई अंगहानि या मृत्यु होने पर न्यूनतम क्षतिपूर्ति या मुआवजा दर रु. 24,000 तथा 20,000 क्रमशः तय की गई है । अधिकतम मुआवजा, मृत्यु होने पर या स्थाई रूप से पूर्ण अपाहिज होने पर रु. 90,000 त्था रु. 1,14,000 क्रमशः तक जा सकता है – यह श्रमिक के वेतन दर पर निर्भर करता है।

ये अधिनियम मजदूरों को कई किस्म की सुविधाएँ तथा सुरक्षाएँ मुहैया कराते हैं और उनके जीवन के हर पहलू से उनका सरोकार है । फैक्ट्रीज एक्ट, औद्योगिक विवाद एक्ट, वर्कमेंस कम्पनसेशन एक्ट, न्यूनतम वेतन अधिनियम, समान वेतन अधिनियम, शॉप्स एंड एस्टैब्लिशमेंट्स एक्ट, ठेका मजदूर नियंत्रण तथा उन्मूलन अधिनियम आदि मजदूरों के कार्यक्षेत्र से संबंधित हैं और वहीं प्रभावशाली होते हैं । वे मजदूरों को मालिकों की मनमानी और दमनात्मक कार्रवाइयों से बचाते हैं । अन्य कानून मजदूरों को उनके कार्यक्षेत्र के बाहर सुरक्षा प्रदान करते हैं । मसलन, इम्पलॉईज स्टेट इंश्योरेंस एक्ट मजदूर को चिकित्सा सुविधाएँ मुहैया कराता है और इसके लिए मालिक तथा मुलाजिम दोनों को नाममात्र के लिए कुछ अंश रकम देनी होती है । पेमंट ऑफ ग्रैच्युइटि एक्ट के तहत अवकाश प्राप्ति पर मजदूर एक निश्चित रकम पाने का हकदार हो जाता है। पेंशन स्कीम तथा प्रोविडेंट फंड एक्ट भी मजदूर को अवकाश प्राप्ति पर आर्थिक मदद करने के लिए बनाए गए हैं ।

उपर्युक्त तथ्यों से हम देख सकते हैं कि औद्योगिक मजदूर काफी विस्तृत पैमाने पर सुरक्षा पाते हैं । हम इनकी तुलना खेतिहर मजदूरों को उपलब्ध कल्याणकारी सुविधाओं से कर सकते हैं । इनकी चर्चा अगली इकाई में की गई है (मगर ये कानून कागज पर चाहे कितने ही आक-र्ाक क्यों न दीखते हों, इनका फायदा तभी है जब वे अमल में लाए जाएँ) । हमने पहले भी इस ओर इशारा किया है । और यह एकदम स्प-ट हो जाता है जब हम संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों के मजदूरों की आपस में तुलना करें या फिर नारी तथा बाल श्रमिकों की स्थिति को देखें । तब यह पता चलता है कि दरअसल वह सिर्फ संगठित क्षेत्र का पुरु-ा श्रमिक ही है जो इन अधिनियमों द्वारा दी गई कल्याणकारी सुविधाओं का उपभोग कर सकता है । यह इसलिए कि वे ट्रेड यूनियनों में संगठित हो सकते हैं और कानून लागू करने के लिए अपने मालिकों पर दबाव डाल सकते हैं । जो ऐसा कर पाने में असमर्थ हैं, उन्हें सिर्फ सरकार तथा मालिकों की नेकनीयति के भरोसे रहना पड़ता है । अब आइए, संगठित और असंगठित क्षेत्रों में नारी-श्रमिक की स्थिति पर सरसरी नजर डालें ।

9.4.3 श्रम कल्याण तथा संगठित क्षेत्र में नारी-श्रमिक

हम पहले ही बता चुके हैं कि संगठित क्षेत्र में महिलाओं की संख्या कम है । इसकी एक वजह इस क्षेत्र में उन्हें दी जाने वाली कुछ सुरक्षाएँ हैं । उद्योग में महिलाओं के रोजगार को नियंत्रित तथा सुरक्षित करने के लिए कई अधिनियम हैं । फैक्ट्रीज एक्ट के अनुसार महिलाओं को रात की शिफ्ट में नहीं रखा जा सकता है । माइन्स एक्ट महिलाओं द्वारा भूमिगत काम करवाने के बारे में मालिकों पर पाबंदी लगाता है । बच्चों के मामले में फैक्ट्रीज

एक्ट का कहना है कि 14 साल से कम उम्र के बच्चों को कारखानों में नियुक्त नहीं किया जा सकता है । इसके अलावा 14 साल से ऊपर वालों से भी दैनिक साढ़े चार घंटे से ज्यादा काम नहीं लिया जा सकता है । गर्भवती महिलाओं को तीन माह, सवेतन प्रसवावकाश देने का प्रावधान है । कामगार माताओं के बच्चों के लिए कार्यक्षेत्र में क्रेश (शिशु केंद्र) उपलब्ध कराने का भी दायित्व मालिकों का है । समान वेतन अधिनियम (इकाई 11 में चर्चित) यह भी कहता है कि अगर काम की प्रकृति एक समान हो तो पुरु-ाों और महिलाओं में कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा ।

इन कानूनों पर अमल करना मालिकों के लिए अतिरिक्त खर्चे का बोझ ला देता है । लिहाजा वे यह कोशिश करते हैं कि आहिस्ता-आहिस्ता इन श्रमिकों को रोजगार से ही हटा दिया जाए । दुर्भाग्यवश, ट्रेड यूनियन भी इस तरह की छंटनी का कोई कड़ा विरोध नहीं करते । शायद ऐसा इसलिए कि खुद ट्रेड यूनियन भी पुरु-ाोन्मुख हैं और बढ़ती बेरोजगारी की मौजूदा स्थिति में वे औरतों की छंटनी को शायद एक जरिया मानते हैं जिससे पुरु-ाों के लिए रोजगार बन सके । इसलिए औरतों को संगठित क्षेत्र में विशे-ा अवसर नहीं मिल पाते और अंततः उन्हें असंगठित क्षेत्र में ही नौकरियाँ ढूंढ़नी पड़ती हैं ।

ckDl 2

बंधुआ मजदूर उन्मूलन

बंधुआ मजदूर प्रथा (उन्मूलन) अधिनियम, 1976 के तहत देश भर में बंधुआ मजदूरी खत्म कर दी गई । इस अधिनियम में सभी बंधुआ मजदूरों की मुक्ति तथा उनके कर्जों का खात्मा करने की बात की गई है । नये 20 सूत्रीय कार्यक्रम ने बंधुआ मजदूरी प्रथा के उन्मूलन के कानूनों को सख्ती से लागू करने का निर्देश दिया था, जिसका अर्थ है : (i) उनकी पहचान, (ii) मुक्ति, (iii) अपराधियों के खिलाफ कार्रवाई, (iv) जिला तथा तहसील स्तर पर सतर्कता समितियों का गठन तथा उनकी नियमित बैठकें..... वगैरह । राज्य सरकारों के प्रयासों के पूरक के रूप में, 1978-79 से एक केंद्र द्वारा प्रवर्तित स्कीम भी अस्तित्व में है, जिसके तहत राज्य सरकारों को बंधुआ मजदूरों के पुनर्वास के लिए केंद्रीय वित्तीय सहायता देने का प्रावधान है। भारत (1990: 651) ।

9.4.4 असंगठित क्षेत्र में श्रम-कल्याण

यह हम बता चुके हैं कि संगठित के मुकाबले असंगठित क्षेत्र के मजदूर कानून कम सुरक्षित हैं । कुछ अधिनियम जरूर हैं, जो इस क्षेत्र के मजदूरों पर लागू होते हैं (जैसे, सेवा मजदूर नियंत्रण तथा उन्मूलन अधिनियम, समान वेतन अधिनियम तथा न्यूनतम वेतन अधिनियम आदि) । मगर ज्यादातर कारखाने क्योंकि फैक्ट्रीज एक्ट के दायरे में नहीं आते, इसलिए वहाँ के काम की स्थितियाँ अमूमन अनियंत्रित ही रहती हैं । मजदूरों को प्रॉविडेंट फंड, ग्रैच्युइटि, चिकित्सा सुविधाएँ, मुआवजा या सवेतन छुट्टी जैसी सहूलियतें भी नहीं मिलतीं।

यहाँ तक कि उनके काम को नियंत्रित करने के लिए जो अधिनियम बने भी हैं वह भी अमल में नहीं लाये जाते । इन मजदूरों के साथ सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि आम तौर पर इनके कोई ट्रेड यूनियन होते ही नहीं । इस वजह से वे मौजूदा कानूनों को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल नहीं कर पाते हैं । लिहाजा असहाय होकर मजदूर किसी विकल्प के अभाव में उन अनियंत्रित, और शो-ाणकारी स्थितियों में भी काम करने पर मजबूर हो जाता है।

इस स्थिति से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि अगर यहाँ पर मजदूर ट्रेड यूनियन बना पाते और अगर मालिकों पर सरकार की निगरानी ज्यादा प्रभावशाली होती तो उनकी स्थिति काफी बेहतर होती । ट्रेड यूनियन साधारणतः असंगठित क्षेत्र के मजदूरों को संगठित करने से कतराते हैं क्योंकि वह काफी मुश्किल काम है । वह संगठित क्षेत्र पर ही ध्यान देना ज्यादा मुनासिब समझते हैं क्योंकि वह ही अपेक्षाकृत आसान है । मगर हम यह देख सकते हैं कि असंगठित क्षेत्र को ही, अन्य किसी क्षेत्र से ज्यादा, ट्रेड यूनियनों की जरूरत है । इसलिए जब तक यह मदद नहीं मिलती, इस क्षेत्र के मजदूरों की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आएगा ।

बोध प्रश्न 2

1) लगभग पाँच पंक्तियों में लघु उद्योग क्षेत्र तथा बड़े उद्योग क्षेत्र के रिश्ते समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) मजदूरों को सुरक्षा प्रदान करने वाले कानूनों की दो मुख्य श्रेणियाँ क्या हैं ?

.....

.....

.....

.....

.....

3) लगभग पाँच पंक्तियों में नारी-श्रमिकों के काम के नियंत्रण का विवरण दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

4) लगभग पाँच पंक्तियों में समझाइए कि असंगठित क्षेत्र में कानून लागू करने में असफलता के क्या कारण हैं?

.....

.....

.....

.....

5) सही या गलत बताइए ।

क) ट्रेड यूनियन असंगठित क्षेत्र में ज्यादा सक्रिय हैं ।

सही ☐ गलत ☐

ख) पुरु-ा तथा महिला-श्रमिकों के बीच वेतन में भेदभाव नि-िद्ध है ।

सही ☐ गलत ☐

ग) किसी भी उम्र के बच्चों को कारखानों में काम करने की इजाजत है ।

सही ☐ गलत ☐

घ) संगठित तथा असंगठित क्षेत्र एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं ।

सही ☐ गलत ☐

च) श्रम कानून बनाने की जिम्मेदारी केंद्र सरकार की है ।

सही ☐ गलत ☐

9.5 श्रम-अशांति

हमने देखा कि मजदूरों को उनके लिए बनी सुविधाएँ भी तभी मिल पाती हैं, जब वे एकबद्ध रूप से कार्रवाई करते हैं तथा ट्रेड यूनियनों में संगठित होते हैं । इस खंड में हम औद्योगिक व्यवस्था में ट्रेड यूनियनों की अहमियत और श्रम अशांति तथा विरोध के रूपों की चर्चा करेंगे। आइए, पहले देखें ट्रेड यूनियनों को ।

9.5.1 ट्रेड यूनियन

ई.एस.ओ.-04 की वर्गीय संरचना-1 इकाई के अंतर्गत हमने भारत में शहरी मजदूर आंदोलनों के विकास और प्रकृति के मुख्य पहलुओं पर विचार किया था । आप इस इकाई के भाग 26.4 को पढ़ना चाहेंगे । यहाँ पर हम भारत में श्रम समस्याओं को सुलझाने में ट्रेड यूनियनों की अहमियत पर विचार करेंगे । साधारण स्थिति में मजदूर अपनी ट्रेड यूनियनों के माध्यम से अपनी माँगे प्रबंधकों तक पहुँचा लेते हैं । इन माँगों पर फिर दोनों पक्षों (यानी प्रबंधक और मजदूर) में बातचीत होती है और प्रबंधक कुछ माँग मान ले सकते हैं । इस तरह ट्रेड यूनियन मजदूरों की मांगों को संस्थागत रूप से दिशा देने में सहायता करते हैं । प्रबंधकों को इससे यह लाभ होता है कि वे ट्रेड यूनियनों के जरिये मजदूरों की समस्याओं से अवगत होते हैं । अगर ट्रेड यूनियनें नहीं हों तो प्रबंधकों को शायद मजदूरों की समस्याओं का पता ही नहीं हो पाता । और अपनी माँगों को प्रबंधकों के समक्ष रख पाने के किसी सामूहिक मंच के अभाव में मजदूर-व्यक्तिगत रूप से हिंसात्मक गतिविधियों पर भी उतारू हो सकते थे । भारत तथा इंग्लैंड में उद्योगीकरण के शुरुआती दौर में मजदूरों को ट्रेड यूनियन बनाने के अधिकार नहीं थे । उनके पास अपनी शिकायतों के सामने रखने का कोई जरिया नहीं था। इसलिए जब शिकायतें इकट्ठी होती जाती थीं तो अक्सर मजदूर हिंसात्मक तरीके को अख्तियार कर निरीक्षकों की पिटाई या मशीनों की तोड़-फोड़ करते थे । ट्रेड यूनियनों के बनने से ऐसी कार्रवाइयों को रोकने में मदद मिली है । साथ ही साथ, वे मजदूरों के हितों की रक्षा करने में भी कारगर साबित हुए हैं ।

उपर्युक्त पृ-ठभूमि में श्रम अशांति को देखने पर यह कहना गलत होगा कि ट्रेड यूनियन श्रम-अशांति का कारण हैं । कारणों का आधार तो काम तथा कर्मजीवन से जुड़े मुद्दों के असंतो-ा में होता है । ट्रेड यूनियन इस असंतो-ा को बाहर निकलने का रास्ता देते हैं और

इस प्रक्रिया में मजदूरों को सामूहिक रूप से अपनी माँगें प्रबंधकों के सामने रखने के लिए संगठित करते हैं । इसलिए श्रम अशांति असंगठित क्षेत्र के मुकाबले संगठित क्षेत्र में ज्यादा देखने को मिलती है । ऐसा नहीं है कि असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की समस्याएँ कम हैं । बल्कि उनकी समस्याएँ कहीं ज्यादा हैं । मगर वे उन्हें सामने ला नहीं सकते क्योंकि उनके पास एक सामूहिक मंच का अभाव है । ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से इस क्षेत्र के मजदूर अपनी शिकायतें कारगर ढंग से नहीं रख पाने के कारण अचानक उग्र होकर हिंसा पर उतारू हो जाते हैं ।

9.5.2 श्रम-अशांति के रूप

श्रम अशांति के विभिन्न रूप होते हैं । मालिक की शक्ति के सामने मजदूरों का एकमात्र हथियार है काम बंद करना । इसी तरह मालिक का सबसे प्रभावशाली हथियार है तालाबंदी तथा मजदूरों का निलंबन । अशांति आम तौर पर इन्हीं उपायों के इर्द-गिर्द होती है । जब मालिकों और मजदूरों के बीच बातचीत टूट जाती है या बहुत धीमी गति से चलती है तब मजदूर पहले प्रदर्शनों तथा धरनों के माध्यम से अपना असंतो-ा जाहिर करते हैं । ये कार्रवाइयां अपनी एकता का प्रदर्शन कर प्रबंधकों का ध्यान इस ओर आकृ-ट करने के लिए की जाती हैं । ऐसा नहीं होने पर मजदूर अपना श्रम रोक देने के दूसरे तरीके जैसे काम बंद करना या आहिस्ता काम करना आदि, तलाश करते हैं । वे "गो स्लो" का तरीका अपना कर काम के लिए आते तो हैं मगर दिया गया काम पूरा नहीं करते । ऐसी स्थिति में मज़दूरों को वेतन तो नहीं काटा जा सकता है क्योंकि बाकायदा हाजिर हैं, मगर उत्पादन पर तो फर्क पड़ता है ही । "गो स्लो" का ही एक और रूप है " वर्क-टु-रूल" । मजदूर यह दावा करते हैं कि वे सिर्फ नियमानुसार ही काम करेंगे और अगर काम की स्थिति में मामूली-सा भी परिवर्तन किया गया तो वे काम करने से इंकार कर देंगे । साधारण परिस्थितियों में मजदूर कई कमियों को नजरअंदाज कर देते हैं । उदाहरण के तौर पर ज्यादातर सरकारी बसें किसी न किसी रूप में टूटी-फूटी होती हैं । पीछे देखने वाले शीशे गायब हो सकते हैं या स्पीडो-मीटर या फ्युएलगेज बेकार हो सकते हैं । साधारण परिस्थितियों में बस चालक इन सबके बावजूद बस चलाते हैं । मगर "वर्क-टू-रूल" के तहत वे ऐसा करने से इंकार देंगे क्योंकि वे ठीक काम नहीं कर रही हैं । इसका नतीजा यह होगा कि या तो काम की गति धीमी हो जाएगी या एकदम ठप्प हो जाएगी । "गो स्लो" तथा" वर्क-टु-रूल" में फर्क यह होता है कि पहली स्थिति में मजदूर जानबूझकर उत्पादन की गति धीमी कर देते हैं मगर दूसरी स्थिति में वे सख्ती से नियमानुसार ही काम करते हैं ।

श्रम अशांति का सबसे कारगर रूप हड़ताल है । इसका अर्थ यह है कि मजदूर पूरी तरह काम बंद कर देते हैं । उत्पादन बिल्कुल ठप्प हो जाता है । साधारणतः यूनियन हड़ताल की प्रबंधकों के साथ टकराव में आखिरी हथियार के तौर पर इस्तेमाल करते हैं । यह एक चरम कदम होता है और अगर नाकामयाब रहे तो मजदूरों पर इसका उल्टा असर भी हो सकता है। हड़ताल के दौरान मजदूरों को तन्ख्वाहें नहीं मिलतीं । इससे उनके सामने कई मुसीबतें भी आती हैं । हड़ताल की अवधि काफी हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि मजदूर कब तक तन्ख्वाहों के बगैर गुजारा कर सकते हैं ।

लिहाजा श्रम अशांति औद्योगिक व्यवस्था का अंग है । वह औद्योगिक संबंधों में आ रहे परिवर्तनों को दर्शाती हैं । मजदूर अब प्रबंधकों की बात आँख मूँद कर नहीं मानते । वे अपने हकों के बारे में सचेत हैं और उन्हें अमल में लाना चाहते हैं । मगर यह भी सही है कि अशांति उद्योग के लिए कोई स्वस्थ लक्षण नहीं है और इसके पैदा होने की स्थिति से बचना चाहिए। यह श्रमिक-प्रबंधक संबंध में तनाव उत्पन्न करता है जिसकी वजह से उत्पादन में गिरावट आती है । इसलिए दोनों ही पक्षों, श्रम तथा प्रबंधकों के लिए यह जरूरी है कि वह बदलते हालात को पहचानें और उसके मुताबिक खुद को ढालें ।

Jfed vlark"k

बोध प्रश्न 3

सही कथनों पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

1) ट्रेड यूनियन मजदूरों की शिकायतों को निम्नलिखित रूपों में दिशा देने में मदद करते हैं –

   क) गैर-संस्थागत ढंग से

   ख) संस्थागत ढंग से

   ग) दोनों सही हैं

   घ) दोनों गलत हैं ।

2) ट्रेड यूनियन निम्नलिखित में मदद करते हैं –

   क) मजदूरों द्वारा असंतो-ा जाहिर करने में

   ख) प्रबंधकों को मजदूरों की समस्याओं के बारे में सचेत करने में

   ग) दोनों सही हैं

   घ) दोनों गलत हैं ।

3) मालिकों की शक्ति से मुकाबला करने के लिए मजदूरों का एकमात्र हथियार है संगठित होकर

क) मालिक पर हमला करना

ख) मशीनें तोड़ना

ग) काम बंद करना

घ) उपर्युक्त में कोई नहीं ।

9.6 सारांश

इस इकाई में हमने औद्योगिक श्रम के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है । हमने इसमें उद्योग के दो मुख्य क्षेत्रों यानी संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया है । हमने देखा है कि असंगठित क्षेत्र में न सिर्फ श्रमिकों की संख्या ज्यादा है बल्कि उनकी स्थिति काम की सुरक्षा तथा नियंत्रण की दृ-टि से भी बदतर है । काम तथा सामाजिक सुरक्षा से संबंधित कुछ ही कानून हैं और वह भी सही ढंग से लागू नहीं किए जाते हैं । असंगठित तथा अनौपचारिक क्षेत्र के मजदूरों की मुख्य समस्या यह है कि वे ट्रेड यूनियनों में संगठित नहीं हैं । वे सामूहिक रूप से इसकी गारंटी नहीं कर सकते कि उनकी सुरक्षा के लिए बने कानून सख्ती से लागू किए जाएं । उन्हें अपने मालिकों तथा सरकार की नेकनीयती पर इसके लिए निर्भर रहना पड़ता है ।

दोनों क्षेत्र एक दूसरे से जुड़े हुए हैं क्योंकि उत्पादन प्रक्रिया में वे एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं । संगठित क्षेत्र को सस्ते दरों पर अपने मतलब के कलपूर्जे असंगठित क्षेत्र से मिल जाते हैं और असंगठित क्षेत्र को अपने उत्पादन का बाजार । साथ ही, संगठित क्षेत्र में अनियत तथा ठेका मजदूरों की विशाल संख्या यह दिखाती है कि संगठित क्षेत्र के बीच में ही एक असंगठित क्षेत्र मौजूद है । दोनों क्षेत्रों के आपसी रिश्ते तो हैं मगर ये समानता के रिश्ते नहीं हैं । असंगठित क्षेत्र तथा उसके श्रमिक कमजोर स्थिति में हैं ।

आखिर में हमने श्रम कल्याण के लिए उठाए गए कदमों का निरीक्षण किया और पाया कि स्वातंत्रयोत्तर काल में मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा देने के लिए कई कानून बनाए गए हैं। लेकिन उनका अमल सरकार की पहलकदमियों तथा ट्रेड यूनियनों की कार्रवाइयों पर निर्भर करता है । श्रम अशांति आम तौर पर इन्हीं समस्याओं से जुड़ी होती हैं ।

9.7 शब्दावली

प्राथमिक क्षेत्रः अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्र के दायरे में कृ-ि, पशुपालन, जंगलपात, बागान, और शिकार आदि आते हैं ।

द्वितीयक क्षेत्रः इसके दायरे में खनन/उत्खनन खदान, घरेलू-उद्योग तथा इमारत निर्माण व वगैरह शामिल हैं ।

तृतीयक क्षेत्रः इसके दायरे में व्यापार तथा वाणिज्य, यातायात, स्टोरेज तथा संचार व अन्य सेवाएँ आती हैं ।

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हॉल्म स्ट्रॉम,एच. (1987), *इंडस्ट्री एंड इन-ईक्वालिटी,* ओरियंट लॉगमैन्स,, दिल्ली ।

रामास्वामी, ई.ए. तथा रामास्वामी, यू. (1987), *इंडस्ट्री एंड लेबर,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली ।

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) घ

ii) घ

iii) ग

iv) क) गलत ख) सही ग) गलत

बोध प्रश्न 2

1) लघु उद्योग क्षेत्र बड़े क्षेत्र के लिए घटक तथा कलपुर्जे सस्ते दरों पर बनाता है । लघु क्षेत्र को यह फायदा होता है कि उसे बना बनाया बाजार मिल जाता है ।

2) एक श्रेणी काम के नियंत्रण से संबंध है । दूसरी श्रेणी का संबंध कार्य क्षेत्र के बाहर सामाजिक सुरक्षा से है ।

3) कारखानों में महिला श्रमिकों के रात की शिफ्ट में काम करने पर पाबंदी है । खानों में भी उनके भूमिगत काम करने पर पाबंदी है ।

4) प्रथमतः, कानून लागू करने के वि-ाय में बहुत ही कम सरकारी निगरानी है । द्वितीयतः, ट्रेड यूनियन आंदोलन कमजोर हैं, इसलिए मजदूर अपने मालिकों पर कानूनों पर अमल करने के लिए दबाव नहीं डाल सकते ।

5) क) गलत ख) सही ग) गलत

घ) गलत च) गलत

बोध प्रश्न 3

1) ख 2) ग 3) ग

इकाई 11 Je% महिला श्रमिक

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 महिलाओं की भागीदारी का विस्तार एवं प्रकृति

- 11.2.1 महिलाओं की काम में भागीदारी
- 11.2.2 महिला श्रमिकों द्वारा किए गए काम की प्रकृति
- 11.2.3 महिला श्रमिकों की श्रेणियाँ
- 11.2.4 महिलाओं की भागीदारी को प्रभावित करने वाले कारक

11.3 रोजगार के विभिन्न क्षेत्रों में महिला श्रमिक

- 11.3.1 असंगठित क्षेत्र
- 11.3.2 संगठित क्षेत्र

11.4 महिला श्रमिकों के लिए श्रम कानून

- 11.4.1 समान वेतन अधिनियम
- 11.4.2 न्यूनतम वेतन अधिनियम
- 11.4.3 प्रसवकालीन सुविधा अधिनियम

11.5 महिलाओं की काम में भागीदारीः चुनौतियाँ तथा जवाबी कार्रवाइयाँ

- 11.5.1 लामबंद तथा संगठित करने के प्रयास
- 11.5.2 संस्थागत प्रयास तथा गरीबी-निरोधक कार्यक्रम

11.6 सारांश

11.7 शब्दावली

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- महिला श्रम शक्ति की भागीदारी के विस्तार एवं प्रकृति का विवरण कर सकेंगे;
- घर में तथा बाहर महिलाओं के श्रम के योगदान की अदृश्यता और निम्न मूल्यांकन के कारणों की व्याख्या कर सकेंगे;
- अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में महिलाओं के ज्यादा केंद्रीकरण के कारणों की जाँच कर सकेंगे;
- महिला श्रमिकों की सुरक्षा के लिए बने विभिन्न कानूनों की चर्चा कर सकेंगे;
- गाँव तथा शहर की गरीब महिलाओं को संगठित करने की जरूरत समझा सकेंगे; तथा
- गरीब महिलाओं के लिए प्रशिक्षण देने तथा आमदनी बढ़ाने के लिए बनाई नई नीतियों का विश्ले-ाण कर सकेंगे ।

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य आपको महिला श्रमिकों के विभिन्न आयामों तथा भारतीय समाज में उनकी उत्पादक भूमिका को प्रभावित करने वाले कारकों से अवगत कराना है । इसमें अर्थव्यवस्था के मुख्य क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी की प्रकृति और सीमा, उस भागीदारी से सामाजिक-आर्थिक कारकों, उत्पादक साधनों तक उनकी पहुँच और प्रशिक्षण के जरिए परिवार के अंदर तथा बाहर उनकी कुशलता विकसित करने की चर्चा की गई है । इसमें सरकार द्वारा हस्तक्षेप कर गरीबी से राहत दिलाने के लिए किए गए स्प-ट प्रयासों तथा ग्रामीण एवं शहरी महिला संगठनों द्वारा उठाए गए कदमों पर भी नजर डाली गई है जो उन्होंने उनकी सौदेबाजी की क्षमता तथा साधनों तक पहुँच विकसित करने के लिए उठाए हैं ।

यह इकाई घर में तथा बाहर महिलाओं के वैतनिक व अवैतिनक श्रम संदर्भों के विश्ले-ाण से शुरू होकर महिला श्रम के इस्तेमाल के पैटर्न में परिवर्तनों के लिए जिम्मेदार सामाजिक-सांस्कृतिक, विकास संबंधी तथा स्थान संबंधी (ग्रामीण-शहरी या कृ-ि जलवायु क्षेत्रों) कारकों की भी चर्चा की गई है । महिलाओं की प्रस्थिति और उनके काम से संबंधित ई.एस.ओ.-02 के खंड 7 की इकाइयों में हमने विस्तार से महिलाओं के श्रम भागीदारी के विभिन्न रूपों पर विचार किया है । इस इकाई में हम उन मुद्दों पर भारत की सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में विचार करेंगे । इसे पढ़ने से पहले आप उपर्युक्त इकाइयों पर नजर डालना चाहेंगे ।

11.2 महिलाओं की भागीदारी का विस्तार एवं प्रकृति

भारतीय अर्थव्यवस्था में महिलाएँ एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हुई ग्रामीण तथा शहरी इलाकों में कई किस्म के कार्यों में शरीक होती हैं । भारत में महिलाओं की प्रस्थिति पर समिति (कमिटी ऑन स्टेटस ऑफ विमेन इन इंडिया) की रपट (1974) में कहा गया था कि "आबादी के किसी भी हिस्से की सामाजिक प्रस्थिति अंततोगत्वा आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है जो भूमिका अधिकार और आर्थिक गतिविधियों में भागीदारी के अवसर पर निर्भर करता है" ।

रपट में आगे कहा गया था कि "हमारे समाज में लिंग के आधार पर असमानता को कई प्रकार के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक असमानताओं से अलग करके देखना संभव नहीं है ।" हमारे पारंपरिक सामाजिक संरचना में जाति, समुदाय, वर्ग और लिंग पर आधारित असमानताएँ महिलाओं की आर्थिक भूमिकाओं व अवसरों पर असर डालती हैं । उनकी भागीदारी पर विकास के चरण और देहाती शहरी स्थानों का भी असर पड़ता है । ई.एस.ओ.-02 की इकाई 31 महिला और कार्य में आपने देखा किस तरह पारंपरिक भूमिका अपेक्षाएँ, लड़कियों और लड़कों के समाजीकरण में भेदभाव तथा लैंगिक श्रम विभाजन महिलाओं के श्रम शक्ति में भागीदारी को प्रभावित करता है । इस इकाई में हम महिलाओं की काम में भागीदारी की प्रकृति और विस्तार पर संक्षिप्त चर्चा से आरंभ करेंगे।

11.2 1 efgykvk की काम में भागीदारी

महिलाओं के काम की प्रकृति तथा विस्तार से संबंधित ठीक-ठीक तथ्य सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं । ऐसा इसलिए कि जनगणना में काम को जिस तरह परिभा-ित किया गया है उसमें परिवार को जिन्दा रखने के लिए महिलाओं द्वारा घर में किए गए कामों को शामिल

नहीं किया गया है । न ही इन तथ्यों का कोई तुलनात्मक अध्ययन संभव है क्योंकि हर जनगणना में श्रमिक की परिभा-ाा बदल जाती है और श्रमिकों के उम्र, लिंग, व शैक्षणिक स्तर के आधार पर वर्गीकरण में भी कोई समानता नहीं है । कमाने वाले और उनके आश्रितों को भी हर जनगणना में अलग ढंग से वर्गीकृत किया गया है । 1971 की जनगणना में श्रम अवधि प्रकृति के पैमाने के आधार पर ही संबंधित व-र्ा में श्रमिकों की पहचान के लिए इस्तेमाल किया गया है । फलस्वरूप उन्हीं को श्रमिक माना गया है जो अपना ज्यादातर समय आर्थिक गतिविधियों में लगाते रहे हैं । ऐसी स्थिति में तमाम अनियत सीमांत तथा अंशकालिक श्रमिकों को गैर श्रमिक कहा गया है और ऐसे श्रमिकों के महिला, बच्चे तथा बूढ़े श्रमिक होने की संभावना ही ज्यादा है । लिहाजा जनगणना रपट सही तस्वीर नहीं पेश करती (चट्टोपाध्याय, एम. 1982 : 44) । श्रम बयूरों ने महिला श्रमिकों की सांख्यिकीय तस्वीर नामक एक दस्तावेज निकाला है । मगर ऐसे ज्यादातर स्रोत महिला श्रम के योगदान को कम करके आँकते हैं क्योंकि, पारिवारिक जमीन पर खेती या गृह आधारित पारिवारिक पेशों में उनका काम अवैतनिक होता है और तथ्य संग्रह करने वालों के सामने वह अदृश्य होता है । ईंधन, पशुओं का चारा या पानी जुटाने, निर्वाह के लिए जंगलात के उत्पादन बटोरने तथा पारिवारिक देख-रेख की गतिविधियों का कोई आर्थिक मूल्य नहीं लगाया जाता क्योंकि वे बाजार अर्थव्यवस्था के दायरे में नहीं आतीं । लिंग आधारित श्रम विभाजन महिलाओं को मूल रूप से परिवार के लिए सामग्री जुटाने और सेवाएँ करने की जिम्मेदारी सौंप देता है । गरीब महिलाओं के लिए तो हर काम ही परिवार के निर्वाह व जिन्दा रहने के लिए होता है । अगर उपर्युक्त बातों को नजरअंदाज भी कर दिया जाए, तो भी श्रम शक्ति में महिलाओं की भागीदारी आँकने के मामले में काफी फर्क है ।

तालिका 1: श्रम शक्ति: लिंग एवं ग्रामीण-शहरी

भारत, 1993-94 से 1999-2000

('000 में)

जनसंख्या घटक	स्थूल श्रमिक जनसंख्या अनुपात की सामान्य प्रस्थिति (प्रति 1000)	
	1993-94	1999-2000
ग्रामीण		
पुरु-ा	553	531
महिलाएँ	328	299
कुल	444	419
शहरी		
पुरु-ा	520	518
महिलाएँ	154	139
कुल	347	337
सभी क्षेत्र		
पुरु-ा	544	527
महिलाएँ	283	254
कुल	418	395

नोटः सामान्य प्रस्थिति = मूल प्रस्थिति + गौण प्रस्थिति

स्रोतः सुंदरम, के., एम्पलायमेंट ऐंड पॉवर्टी इन 1990 : फरदर रीजल्ट फ्रॉम एनएसएस 55 राउंड एम्पलायमेंट - अनएम्पलायमेंट सर्वे, 1999-2000, इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, 11 अगस्त, 2001, पीपी. 3039-49, इंडिया डेवलपमेंट रिपोर्ट, 2002

अधिकांश महिला श्रमिक ग्रामीण क्षेत्रों में कृ-ि कार्यों में कार्यरत हैं । ग्रामीण महिला श्रमिकों में 87 प्रतिशत कृ-ि में श्रमिक और खेतिहर किसान के रूप में कार्यरत हैं । शहरी क्षेत्रों में महिला श्रमिकों में से 80 प्रतिशत श्रमिक असंगठित क्षेत्रों, जैसे – घरेलू कार्यों, लघु व्यापार और भवन-निर्माण कार्यों आदि में रोजगार में लगी हुई हैं । मार्च, 2000 को संगठित क्षेत्र (सरकारी एवं निजी) में महिला रोजगार की संख्या 4.9228 मिलियन थी। यह संपूर्ण देश में संगठित क्षेत्र में रोजगार का 17.6 प्रतिशत है । प्रमुख उद्योगों में महिला रोजगार का वितरण यह प्रदर्शित करता है कि सामुदायिक, सामाजिक और निजी सेवाओं में महिला रोजगार अधिक है । महिला रोजगार की न्यूनतम दर विद्युत, गैस और जल क्षेत्र में देखी गई है । 1997 में फैक्ट्री और वृक्षारोपण में कार्यरत कुल श्रमिकों में क्रमशः 14 और 51 प्रतिशत महिलाएँ कार्यरत थीं । खदानों में कुल श्रमिकों में 5 प्रतिशत महिला श्रमिक थीं (भारत, 2003) । मानव विकास रिपोर्ट के अनुसार सन् 2000 में दक्षिण एशिया में भारत में कार्यरत कुल मजदूरों में से 32 प्रतिशत महिला मजदूर कार्यरत थीं ।

2001 की जनगणना के अनुसार कुल महिला जनसंख्या का 25.7 प्रतिशत भाग श्रमिक (मुख्य और सीमांत) हैं । साथ ही कुल श्रमिकों में 32.5 प्रतिशत खेतिहर किसान (Cultivator) और 39.4 प्रतिशत कृ-ि श्रमिक हैं और 6.4 प्रतिशत घरेलू उद्योगों में काम करते हैं तथा 21.7 प्रतिशत अन्य श्रेणी के श्रमिक हैं ।

डॉ. अशोक मिश्रा के मुताबिक जनगणनाओं में महिलाओं की श्रम शक्ति भागीदारी दर 30 से 40 फीसदी तक कम करके बताया जाता है । महिला श्रमिकों के काम का आकलन और विश्ले-ाण अल्पश्योक्तियों तथा घर बाहर के अवैतिनक काम का हिसाब लगाए बगैर किया जाता है । इसके अलावा उन समर्थन सेवाओं का भी अभाव है, जिससे उनकी मेहनत को कुछ कम किया जा सके, विशे-ा रूप से पीने के पानी, ईंधन, चारा और बच्चों की देख-रेख जैसी सुविधाओं का बिल्कुल अभाव है । महिला श्रमिकों पर इसका प्रतिकूल असर पड़ता है।

11.2.2 महिला श्रमिकों द्वारा किए गए काम की प्रकृति

"महिला और कार्य" पर ई.एस.ओ.-02 में हमने विस्तृत ढंग से महिला की भागीदारी तथा उनके द्वारा किए जा रहे कार्य की चर्चा की थी । यह बताया गया था कि महिला श्रम अदृश्य बना दिया गया है । जनगणना में भी पूर्वाग्रह काम करते हैं और महिला श्रमिकों के काम का यूँ ही रूढ़ीवादी ढंग से आकलन किया जाता है । यहाँ हम महिला द्वारा किए गए कार्य की प्रकृति पर चर्चा करेंगे ।

एन.एस.एस.ओ. ने उन घरेलू कार्यों की पहचान की है जिसे महिलाएं लगातार करती रहती हैं– घर के बगीचे की देखभाल, घरेलू मुर्गीखाने और गउशाला की देखरेख, मछली मारना, जलावन की लकड़ी इकट्ठी करना, जानवरों को खिलाना, चारा काटना, गुड़ बनाना, अनाज कूटना, गोबर थापना, सिलाई करना, बच्चों को पढ़ाना घर से बार जाकर पानी लाना, गांव से बाहर जाकर पानी लाना।

मगर घरों में महिलाओं द्वारा किए गए श्रम को काम ही नहीं माना जाता क्योंकि इनकी मजदूरी नहीं दी जाती है । परिवार से बाहर के लोग जान भी नहीं पाते हैं ।

11.2.3 महिला श्रमिकों की श्रेणियाँ

अपने काम के दर्जे के आधार पर महिला श्रमिकों का निम्नलिखित तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है :

- **स्व-रोजगार,** घर में तथा बाहर
- **वैतनिक श्रमिक**, घर के बाहर, मसलन खेतिहर मजदूर, निर्माण मजदूर, कारखाना मजदूर ठेका मजदूर इत्यादि तथा घर के भीतर कामों में नियुक्त ।
- अ**वैतिनक पारिवारिक श्रम**, अपने ही खेतों में या पारिवारिक पेशों में जैसे – जुलाहे, कुम्हार, दस्तकार आदि ।

स्व-रोजगार

हमारे देश में रोजगार का यह सबसे बड़ा हिस्सा है । एन एस एस ओ के मुताबिक 1987 में कुल श्रम शक्ति का 57.3 फीसदी इसी हिस्से में नियुक्त था । काम का चयन पारिवारिक स्थिति, उत्पादन के साधनों, कुशलताओं टेक्नालॉजी तथा कार्य संगठन पर महिलाओं के नियंत्रण के ऊपर निर्भर करता है ।

स्व-रोजगार महिलाओं का एक खासा बड़ा हिस्सा (57 प्रतिशत) घर के बाहर अनियमित आय पर कार्यरत है । फुटपाथों पर से कार्यरत सब्जी बेचने वाली या अन्य रेड़ी पटरी वाली शामिल हैं ।

रोजगार में महिला श्रम की भागीदारी यह दर्शाती है कि ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में स्व-रोजगार की श्रेणी में भारी गिरावट की प्रवृत्ति तथा महिला मजदूरों के अनियत मजदूर के रूप में काम करने की प्रवृत्ति में समग्र रूप से भारी वृद्धि हुई है । 1972-73 में 31.4 फीसदी महिलाएँ अनियत मजदूर के रूप में काम करती थीं जो 1997 में यह संख्या बढ़कर 40.9 फीसदी तक पहुँच गई । ग्रामीण क्षेत्रों में 1999-2000 में इसमें थोड़ी सी कमी आई और यह 39.6 फीसदी हो गई । शहरी क्षेत्रों में इस प्रवृत्ति में प्रतिकूल परिवर्तन आया है और नियमित रोजगार में महिलाओं की भागीदारी में वृद्धि हुई है तथा अनियमित महिला मजदूरी में कमी आई है । एन.एस.एस.ओ. के भारत में रोजगार एवं बेरोजगार के 1999-2000 के आँकड़ों के अनुसार, श्रम बाजार में महिलाएँ, पुरु-ों के बाद प्रवेश करती हैं । 15-29 आयु समूह में महिलाओं की तुलना में अधिक पुरु-ा काम करते हैं । ग्रामीण क्षेत्रों में 40- 44 आयु वर्ग में काम में महिलाओं की भागीदारी 58.6 फीसदी और 30 - 54 आयु वर्ग में 50 फीसदी है । शहरी क्षेत्रों में 40 - 44 आयु वर्ग में काम में महिलाओं की भागीदारी अधिकतम 28.3 फीसदी है । 15 से 29 व-र्ा की आयु समूह में कम उम्र में विवाह और अनेक बच्चों को जन्म देने के कारण काम में महिलाओं की भागीदारी कम होती है । अधिकतर विकसित और विकासशील देशों में 15 से 25 व-र्ा की आयु की महिलाओं की काम में भागीदारी अधिकतम पाई गई है ।

इमारत निर्माण क्षेत्र में दिहाड़ी मजदूरों की संख्या जबसे ज़्यादा है। 1971—1981 के दौरान महिला मजदूरों का अनुपात 9.1 से बढ़कर 9.91 हो गया। यह वृद्धि मुख्य रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में हुई क्योंकि सरकार ने गरीबी हटाओ कार्यक्रम के तहत रोजगार मुहैया कराने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में कई सार्वजनिक कार्यक्रम चलाए।

ckDl 1

वैतनिक असमानताएँ

महिला श्रमिकों की औसत आय, नियमित वेतन भोगी मजदूरों की औसत आय से बहुत कम है । पुरु-ों तथा महिलाओं के बीच वैतनिक असमानताएँ (रु. 10.27 तथा रु. 4.49 क्रमशः) ग्रामीण इलाकों में, शहरों के मुकाबले ज्यादा हैं । महिला श्रमिक ज्यादातर दिहाड़ी श्रमिकों के तौर पर नियुक्त की जाती हैं । जहाँ उन्हें ठेकेदारों और बिचौलियों के लिए शारीरिक श्रम करना पड़ता है । उद्योगों तथा ठेकेदारों को वे सस्ता श्रम देती हैं ।

अनियत श्रमिकों की औसत दैनिक आय (रुपयों में)

	ग्रामीण		शहरी	
	पुरु-ा	महिला	पुरु-ा	महिला
0-5-14	5.68	3.57	5.19	3.50
15-59	10.53	5.11	5.11	5.30
60 +	9.35	3.77	9.94	4.65
सभी आय वर्ग	10.27	4.89	11.09	5.29

स्रोतः एन एस एस ओ, 1987(स्व-नियुक्त महिलाओं पर रा-ट्रीय आयोग, 1988 से उद्धृत)

	ग्रामीण		शहरी	
	पुरु-ा	महिला	पुरु-ा	महिला
साधारण प्रस्थिति	2.12	1.41	5.86	6.90
साप्ताहिक प्रस्थिति	3.72	4.26	8.69	7.46
दैनिक प्रस्थिति	7.52	8.98	9.23	10.99

स्रोतः एन एस एस ओ, 1987

नोट करें कि अनियत महिला श्रमिकों के बीच बेरोजगारी तथा अर्द्ध बेरोजगारी का फैलाव पुरु-ों से कहीं ज्यादा है ।

कामगार महिलाओं का एक अहम हिस्सा गृह आधारित कार्य करने वाले श्रमिकों का है । वे बीड़ी बनाने, खाद्य संसाधन, कुम्हारी, कपड़ा बनाने, अगरबत्ती बनाने, कताई करने, खिलौने बनाने, मत्स्य संसाधन, बांस तथा बेंत के सामान बनाने, लेस बनाने, जरी का काम, आदि कामों में नियुक्त की जाती हैं । इन गृह आधारित कार्यों में नियुक्त महिला श्रमिकों की संख्या के बारे में सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि ये कार्य घर के अंदर, बगैर बाहरी लोगों की दृ-टि में आए किया जाता है ।

गृह आधारित मजदूर दो श्रेणियों में आते हैं : स्व नियुक्त तथा दिहाड़ी कामों में नियुक्त ।

महिलाओं का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जो दिहाड़ी काम करता है । दिहाड़ी आधार पर महिलाओं को काम देने में मालिकों को बेहद लाभ होता है क्योंकि उन्हें औजारों तथा मशीनों में या अन्य सुविधाओं के लिए कोई अतिरिक्त लागत नहीं लगाना पड़ता है । साथ ही इनके वेतन या सामाजिक सुरक्षा (स्वास्थ्य तथा प्रसवकालीन सुविधाओं) संबंधी अधिकारों को लागू करवाने के लिए न तो कोई कानून है न ही ट्रेड यूनियनों का ही सामना करना पड़ता है । इस तरह के कामों में बड़ी तादाद में बाल श्रमिकों का भी इस्तेमाल होता है । औद्योगिक इकाइयों, खास कर लघु उद्योगों का इन्हें सीधे नियुक्त न करने में अतिरिक्त आर्थिक लाभ होता है । अगली इकाई में आप बाल श्रमिकों के बारे में और पढ़ेंगे।

iii) **अवैतनिक पारिवारिक श्रमिक**

पारिवारिक कृ-ि गृह उद्योगों और लघु उद्योगों तथा पारिवारिक निर्वाह की गतिविधियों में महिलाएँ अवैतनिक श्रम जुटाती हैं । विवाहित महिलाओं द्वारा घर में और बाहर औसत अवैतनिक काम छः से अधिक घंटों में होता है । गरीब परिवारों में महिलाओं का कार्यभार बढ़ जाता है ।

11.2.4 महिलाओं की भागीदारी को प्रभावित करने वाले कारक

पिछले दशकों में महिलाओं की भागीदारी दर आम तौर पर घटती रही है । इसके जिम्मेदार कई कारक हैं :

क) महिला विकास के लिए किसी किस्म के भी चौतरफा, तर्कसंगत नीति का अभाव जिसके तहत उन्हें रोजगार, प्रशिक्षण तथा जमीन, कर्ज, टेक्नोलॉजी आदि तक उनकी पहुँच बेहतर करके उन्हें रोजगार के काबिल बनाया जा सके ।

ख) मर्द ही परिवार की आय जुटाता है – ऐसी मानसिकता के कारण अक्सर यह बात दब जाती है कि कम आय वाले परिवारों में महिलाओं की कमाई कितनी महत्वपूर्ण होती है । इस मानसिकता का प्रतिकूल असर उनकी शिक्षा और प्रशिक्षण में निवेश के मामलों में भी पड़ता है । मालिक भी उन्हें केवल पूरक उपार्जकों के रूप में ही देखते हैं ।

ग) अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक बदलाव, जैसे कुम्हारी, लोहारी, बुनकरी तथा दस्तकारी जैसे ग्रामीण उद्योगों की आधुनिक उद्योगों से प्रतियोगिता के कारण, तीव्र गिरावट ने महिलाओं की कृ-ि पर निर्भरता और बढ़ा दी है । जिसका श्रम शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है ।

घ) जमीन, मकान आदि संपत्ति उनके अपने नामों में न होना । इससे उन्हें स्व-रोजगार के लिए कर्ज आदि नहीं मिल पाते जिससे उनके ऊपर उठ पाने की गुंजाइशें बहुत कम हो जाती हैं ।

च) महिलाओं के ऊपर सामान्य निर्बाहक कामों का बोझ (जैसे – ईंधन, चारा या पानी जुटाना) तथा बच्चों को पैदा करने से पालने पोसने की जिम्मेदारी जो श्रम शक्ति में भागीदारी के अलावा उन्हें करनी पड़ती है, उनके समय और कार्य शक्ति पर इतना बोझ डालती है कि उसके बाद शिक्षा, प्रशिक्षण या अपने विकास के लिए उनके पास समय ही नहीं बच पाता है । श्रमिकों की तरह काम करने के अलावा वे 6-8 घंटे प्रतिदिन ईंधन, चारा, पानी जुटाने या बच्चों की देखरेख और घरेलू काम काज निबटाने के लिए मेहनत करती हैं । महिलाओं के इस काम के बोझ को हल्का करने की दिशा में बहुत कम प्रयास हुए हैं ।

छ) उत्पादन व्यवस्था में टेक्नोलॉजी के परिवर्तन तथा महिला व पुरु-ों के बीच श्रम विभाजन हमेशा ही महिला श्रमिकों के खिलाफ काम करती हैं । वे ही सबसे पहले नौकरियों से निकाली जाती हैं और सबसे अंत में काम पर रखी जाती हैं । ज्यादा निरक्षरता और कुशलताओं के निम्न विकास का नतीजा यह होता है कि वह कम वेतन पाती हैं, असुरक्षित रहती हैं और अनियत रोजगार में लग पाती हैं ।

बोध प्रश्न 1

1) महिला श्रमिकों की विभिन्न श्रेणियाँ क्या हैं? पाँच पंक्तियों में जवाब दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

2) सही जवाब पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

क) भारत में ज्यादातर महिला श्रमिक स्व-नियुक्त हैं ।

सही ☐ गलत ☐

ख) गैर कृ-ि क्षेत्र में ज्यादा महिलाएँ नियुक्त हैं ।

सही ☐ गलत ☐

ग) बेरोजगार के हर क्षेत्र में पुरु-ों तथा महिलाओं को बराबर वेतन मिलता है ।

सही ☐ गलत ☐

11.3 रोजगार के विभिन्न क्षेत्रों में महिला श्रमिक

महिला श्रमिकों का लगभग 90 प्रतिशत हिस्सा प्राथमिक क्षेत्र में कार्यरत है जिसमें कृ-ि (87 प्रतिशत) व पशुधन, जंगलात, माहीगिरी, बगीचे और बागान (1.8 प्रतिशत) शामिल हैं। कृ-ि अब भी महिलाओं के काम का मुख्य क्षेत्र है ।

कृ-ि गतिविधियों में कार्यरत महिलाएँ खेत में तथा घर में जानवरों की देखरेख में औसतन 12 घंटे काम करती हैं । कृ-ि में पुरु-ों तथा नारियों के बीच काम में श्रम विभाजन है । हालांकि यह बहुत सख्ती से लागू नहीं होते और कुछ क्षेत्रीय विभिन्नताएँ भी विराजमान हैं, मगर कुछ समानताएँ भी हैं । महिलाएँ खेतों में हल नहीं चलातीं क्योंकि ऐसा करना अच्छा नहीं समझा जाता । आमतौर पर वे बुआई, निराई, रोपनी तथा रासायनिक कीटनाशकों के छिड़काव आदि का काम करती हैं । कृ-ि में मूलतः अनियत श्रमिकों के रूप में काम करती हैं । खेतिहर मजदूरों के रूप में वे कुल खेतिहर मजदूरों का 60 प्रतिशत हैं ।

अन्य ऐसी गतिविधियाँ जहाँ महिला श्रमिकों की संख्या पुरु-ों से ज्यादा है, वह हैं – काजू संसाधन, कपास और ऊन की कताई व बुनाई, बीड़ी उत्पादन, तम्बाकू संसाधन, फल सब्जियों को डिब्बाबंद करने और संरक्षण।

vH;kl 1

अपने इलाके में 20 या 25 मजदूर ढूंढिए और उन्हें काम के आधार पर आर्थिक गतिविधियों की श्रेणियों में वर्गीकृत कीजिए । लैंगिक असमानता का भी विश्ले-ाण कीजिए । संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र में अपने सहपाठियों से अपनी छानबीन के नतीजे मिलाकर देखिए।

अब आइए, रोजगार के विभिन्न क्षेत्रों की हिस्सेदारी के आधार पर महिलाओं के काम की प्रकृति तथा विस्तार पर नजर डालें । पहले देखते हैं असंगठित क्षेत्र की स्थिति ।

11.3.1 असंगठित क्षेत्र

ग्रामीण असंगठित क्षेत्र में महिलाओं की काम में भागीदारी का स्वरूप और विस्तार शहरी इलाके में मात्रात्मक तथा गुणात्मक दृ-िटयों से बिल्कुल अलग है । लिहाजा बेहतर समझ हासिल करने के लिए हमें दोनों को अलग-अलग देखना चाहिए ।

i) ग्रामीण असंगठित क्षेत्र

87 प्रतिशत से कुछ ऊपर महिलाएँ ग्रामीण तथा शहरी असंगठित क्षेत्रों में नियुक्त हैं । इस क्षेत्र के रोजगार की कोई सुरक्षा नहीं है, वेतन कम है, काम के घंटे ज्यादा हैं और काम की शर्तें अस्वास्थ्यकर हैं । मजदूरों की यूनियनें बहुत कम हैं जो मालिकों पर दबाव डाल सकें, कि वे काम की स्थितियों को बेहतर और मानवीय बनाएँ । इन मजदूरों के लिए अपर्याप्त कानून हैं व जो थोड़े बहुत हैं भी उनका अप्रभावशाली कार्यान्वयन, स्थिति को और बदतर बना देते हैं ।

इस क्षेत्र में महिला श्रमिक ज्यादातर निरक्षर हैं । वे बिल्कुल गरीब तबकों से आती हैं और उनके पास कुशलताएँ बढ़ाने या शिक्षा-स्तर उठाने की सुविधाएँ नहीं होतीं । ग्रामीण असंगठित क्षेत्र के काम का एक बहुत बड़ा हिस्सा महिलाओं द्वारा संपादित होता है ।

रोजगार तथा उत्पादकता बढाने के सरकारी कार्यक्रम ज्यादातर पुरु-ों पर ही केंद्रित होते हैं। महिलाओं को तो सिर्फ लाभभोगियों के रूप में देखा जाता है न कि सक्रिय भागीदारों

के रूप में । पुरु-ा प्रधान नौकरशाही भी महिलाओं की जरूरतों व समस्याओं के बारे में संवेदनशील नहीं है । जमीन की मिल्कीयत और श्रम विभाजन अक्सर इन महिलाओं के खिलाफ काम करते हैं ।

ii) **शहरी असंगठित क्षेत्र**

महिलाओं का एक बहुत बड़ा हिस्सा सेवाओं में नियुक्त है । स्व-नियुक्त महिलाओं का 40 फीसदी सेवा क्षेत्र में है और 30 फीसदी छोटे व्यापार में । आठ फीसदी निर्माण कार्यों में काम करती हैं । स्व-नियुक्त महिलाओं का बहुसंख्यक हिस्सा छोटे उद्योग धंधों – पान-बीड़ी, फल-सब्जी, बेंत और बांस की वस्तुएँ या ईंधन की लकड़ी आदि बेचने का काम करती है । स्व-नियुक्त महिलाओं का अच्छा खासा हिस्सा (57 प्रतिशत) अनियमित वेतनों पर घरों के बाहर काम करती हैं और अक्सर पटरियों पर व्यवसाय करती हैं । घरेलू नौकरियों में भी महिलाओं की एक अच्छी खासी संख्या, अंशकालिक या पूर्णकालिक रूप से कार्यरत हैं ।

उत्पादन में, पारंपरिक उद्योगों, जैसे – खाद्य, तम्बाकू, कपड़ा आदि में महिला श्रमिकों के फीसदी हिस्से में कोई बदलाव नहीं आया, मगर कुछ उद्योगों में जैसे काजू व काफी संसाधन आदि में मशीनीकरण के फलस्वरूप आए परिवर्तन से उनकी भागीदारी में कॉफी गिरावट आई है । उन्हें रोजगार वहीं ज्यादा मिलता है, जहाँ मालिक काम बाहर से दिहाड़ी पर करवाते हैं, जैसे – कपड़े, इंजीनियरिंग उत्पाद, प्लास्टिक, रबड़ व तम्बाकू संसाधन आदि।

11.3.2 संगठित क्षेत्र

निजी और सार्वजनिक क्षेत्र संगठित क्षेत्र कुल महिला श्रम शक्ति के लगभग 10 फीसदी को रोजगार देता है । सार्वजनिक क्षेत्र तथा कोयला, लोहा, धातु खनन आदि में पिछले दो दशकों में महिलाओं का रोजगार या तो पहले जैसी स्थिति में ही रहा है या उसमें गिरावट आई है । कोयला खनन में महिलाओं की संख्या में बहुत तेजी से गिरावट आई है, खासतौर पर उद्योग के रा-ट्रीकरण के बाद । सार्वजनिक क्षेत्र के कोयला खानों ने महिलाओं को काम से स्वैच्छिक अवकाश ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया है और परिवार से एक पुरु-ा सदस्य को मनोनीत कर लिया है ।

सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही क्षेत्रों में निजी श्रमिकों की प्रस्थिति ठेका व अनियत श्रमिकों जैसी होती है ताकि श्रम कानूनों के प्रावधानों यथा शिशु-कल्याण केंद्र, न्यूनतम वेतन तथा प्रसवकालिक सुविधा देने से बचा जा सके ।

अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत महिला की मुख्य विशे-ताओं का सारांश हम इस तरह प्रस्तुत कर सकते हैं :

i) पुरु-ों के मुकाबले महिलाओं की कुल निम्न भागीदारी दर । 1981 की जनगणना के मुताबिक सिर्फ 16 प्रतिशत महिलाएँ ही श्रमिकों के रूप में दर्ज की गई हैं ।

ii) महिला कार्य भागीदारी दर में क्षेत्रीय विभिन्नताएँ ।

iii) कृ-ि क्षेत्र में तथा गृह उद्योगों में तमाम राज्यों में महिला श्रमिकों की भारी संख्या।

iv) महिलाओं की बहुसंख्या यानी 87 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत हैं जहाँ उन्हें कम वेतन यूनियन की सुरक्षा का अभाव, काम की बदतर स्थितियों और अनियमित स्थिति में काम करना पड़ता है ।

v) महिलाएँ ज्यादातर निम्न उत्पादकता व निम्न वेतन कार्यों में नियुक्त हैं । यहाँ वैतनिक असमानताएँ व्याप्त हैं । ग्रामीण इलाकों में 89 प्रतिशत और शहरों में 69.48 प्रतिशत अकुशल श्रमिक हैं ।

सामाजिक तथा आर्थिक रूप से पिछड़े तबकों से बहुसंख्यक महिलाओं के श्रम बाजार में प्रवेश को उसके लिए जिम्मेदार कारकों के संदर्भ में समझना होगा ।

ई.एस.ओ.-02, खंड 4 की महिला की प्रस्थिति और महिला और कार्य इकाइयों में आपने देखा कि घर के भीतर महिलाओं का काम अवैतनिक होता है तथा उसे कम करके आँका जाता है, साथ ही भूमिकाओं की पारंपरिक अपेक्षाओं लड़कों और लड़कियों का असमान समाजीकरण व भूमिकाओं की रूढ़िवादिता एक प्रतिकूल परिस्थिति पैदा कर देता है । इसका महिलाओं की भूमिकाओं, शैक्षिक अवसरों, उनके योगदान के संबंध में समाज की धारणा और उनकी खुद की अपने श्रम के मूल्य के संबंध में धारणाओं पर प्रतिकूल असर पड़ता है । वर्ग, जाति, समुदाय आदि के आधार पर बने गैर बराबरी पर आधारित सामाजिक ढाँचे का भी महिला श्रम की भागीदारी पर काफी असर पड़ता है ।

बोध प्रश्न 2

1) वह कौन-सी गतिविधियाँ हैं, जहाँ महिलाओं की संख्या पुरु-ों से ज्यादा है? तीन पंक्तियों में जवाब दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

2) अनौपचारिक क्षेत्र के रोजगार की विशे-ताएँ क्या हैं? चार पंक्तियों में जवाब दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) देहातों में अनौपचारिक क्षेत्र की महिलाओं के चंद महत्वपूर्ण पेशों का जिक्र करें । लगभग चार पंक्तियों में जवाब दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

11.4 महिला श्रमिकों के लिए Je कानून

महिलाओं का काम अदृश्य रह जाता है और विकास की प्रक्रिया में महिला मजदूरों को परे धकेल दिया जाता है। वे असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र में काम करती हैं (इसकी जानकारी आप प्राप्त कर चुके हैं) इसलिए महिलाओं को उनकी सुरक्षा करने और उनके कामकाज की स्थिति को नियमित करने के लिए बने कानून का लाभ उन्हें नहीं मिल पाएगा।

महिलाओं की स्वास्थ्य और प्रसवकालीन सुविधाएं प्रदान करने के लिए, उनका शोषण रोकने के लिए और उनकी मजदूरी नियमित करने के लिए बनाए गए हैं।

चूँकि अधिकाँश महिलाएँ असंगठित क्षेत्र में हैं, अतः हम उन कानूनों की चर्चा करेंगे, जो सीधे उनसे संबंधित हैं ।

11.4.1 समान वेतन अधिनियम

इस अधिनियम के अनुसार पुरु-ा तथा महिला श्रमिकों के बीच वेतन में किसी किस्म का कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए, जब वे एक ही प्रकार के काम में नियुक्त हों । दूसरे शब्दों में, काम का स्वरूप अगर एक जैसा ही है तो पुरु-ों तथा महिलाओं को बराबर वेतन दिया जाएगा ।

हालांकि यह अधिनियम संगठित तथा असंगठित, दोनों क्षेत्रों के मजदूरों पर लागू होता है, असंगठित क्षेत्र में लगातार उपेक्षा की गई है । कृ-ि, निर्माण, गृह उद्योग आदि में महिला श्रमिकों को बराबर ही पुरु-ों से कम वेतन मिलता रहा है । संगठित क्षेत्र में, खासकर बागानों/बगीचों में जहाँ महिलाओं की तादाद लगभग आधी है, तथा खानों/खदानों में और कारखानों में यह प्रभावशाली हुआ है । इन उद्योगों में वैतनिक असमानताएँ खत्म कर दी गई हैं ।

11.4.2 न्यूनतम वेतन अधिनियम

असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के लिए यह कानून वह प्रक्रियाएँ व मशीनरी प्रदान करता है जिससे वेतनों की न्यूनतम दरें तय की जा सकें जो मजदूरों की बुनियादी न्यूनतम जरूरतों को प्रतिफलित करती हों ।

न्यूनतम वेतन अधिसूचित करते समय महिलाओं द्वारा किए गए कार्यों का वर्गीकरण महिलाओं द्वारा किए जाने वाले हल्के काम और पुरु-ों द्वारा किए जाने वाले भारी कामों में फर्क करके किया जाता है । यह महिलाओं के लिए निम्न वेतन तय करने का एक तरीका है ।

इसके अलावा संगठित क्षेत्र में महिलाओं को प्रसवकालीन सुविधाएँ भी हासिल हैं । मालिकों से यह भी उम्मीद की जाती है कि जहाँ 30 से ज्यादा महिलाएँ नियुक्त हैं, वहाँ क्रेच की सुविधाएँ भी हासिल कराई जाएंगी ।

11.4.3 प्रसवकालीन सुविधा अधिनियम

इस अधिनियम के तहत महिला श्रमिकों को प्रसवकाल के समय पूरे वेतन सहित 12 हफ्तों की छुट्टी का प्रावधान रखा गया है । ऐसी अवस्था में महिलाओं का हक है कि बच्चे के जन्म से चार हफ्ते पहले और आठ हफ्ते बाद तक वे अवकाश ले सकें । गर्भपात के लिए उन्हें छः हफ्ते छुट्टी लेने का भी अधिकार है ।

साधारणतः यह तर्क दिया जाता है कि संगठित क्षेत्र में महिलाओं के रोजगार में कमी इसलिए भी आ रही है क्योंकि मालिकों को इन महिला श्रमिकों के प्रसवकालिक सुविधाओं का खर्च उठाना पड़ता है । क्योंकि रोजगारों में महिलाओं की संख्या संगठित क्षेत्र में यूँ ही बहुत कम है, कुल रकम जो इस बाबत खर्च की जाती है, वह पुरु-ों को सामाजिक सुरक्षा की बाबत दी जाने वाली कुल रकम की तुलना में बहुत ही कम है ।

''राष्ट्रीय स्वरोजगार महिला आयोग'' की यह सिफारिश थी कि मातृत्व सुविधाओं व शिशुओं की देखरेख के लिए एक सम्मिति योजना बनाई जाए जिसके लिए अलग को-ा बनाकर महिलाओं को जरूरी सहायता दी जाए । कई महिला संगठनों ने भी काफी अर्से से यह माँग उठाई है कि शिशुओं की देखरेख को सरकार की "न्यूनतम जरूरतें कार्यक्रम" में शामिल किया जाना चाहिए और उसे अमल में लाने के लिए जरूरी कदम उठाए जाने चाहिए ।

vH;kl 2

अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत 10-15 कामगार महिलाओं से साक्षात्कार करें और पता लगाएँ कि उपर्युक्त चर्चित तीनों में से किसी भी अधिनियम के बारे में वे अवगत हैं भी या नहीं । संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र के सहपाठियों से अपने नतीजे मिलाएँ ।

बोध प्रश्न 3

1) लगभग चार पंक्तियों में समान वेतन अधिनियम पर टिप्पणी लिखिए ।

.....

.....

.....

.....

2) सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

मातृत्व सुविधा अधिनियम में प्रावधान है :

क) प्रसव के समय 12 हफ्ते अवैतनिक अवकाश का

ख) प्रसव के समय 12 महीने के अवैतनिक अवकाश का

ग) प्रसव के समय 12 हफ्ते पूर्ण सवेतन अवकाश का

घ) 12 दिन के पूर्ण सवेतन अवकाश का ।

11.5 महिलाओं की काम में भागीदारीः चुनौतियाँ तथा जवाबी कार्रवाइयाँ

हाल के व-ाों में महिला श्रमिकों को संगठित करने के कई महत्वपूर्ण प्रयास हुए हैं । सरकार द्वारा भी कई कार्यक्रम शुरू करने की कोशिशें हुई हैं । आइए गरीब महिलाओं को लामबंद करने और उनका स्तर उठाने के लिए की गई कोशिशों की चर्चा करें ।

11.5.1 लामबंद तथा संगठित करने के प्रयास

महिला श्रमिकों की काम की स्थिति व वेतनों में सुधार के लिए अब ज्यादा से ज्यादा प्रयास संगठित तथा लामबंद करने के लिए किया जा रहा है ताकि वे उपर्युक्त के लिए अपनी सामूहिक शक्ति बढ़ा सकें और आवाज उठा सकें । कुछ संगठन जैसे सेल्फ एम्पलायेड विमेन्स एसोसियेशन (सेवा), अहमदाबाद, वर्किंग विमेन्स फोरम (डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ.) मद्रास, अन्नपूर्णा महिला मंडल (ए.एम.एम.), बम्बई तथा कई अन्य ऐसे संगठन जो बिल्कुल नीचे के स्तरों पर कार्यरत हैं, ने शहरी और देहाती महिलाओं को लामबंद किया है ताकि उनकी सौदेबाजी की क्षमताएँ बढ़ाई जा सकें और कर्ज तथा अन्य साधनों तक उनकी पहुँच को बेहतर बनाया जा सके । सेवा, गुजरात में करीब 40,000 महिला श्रमिकों का ट्रेड यूनियन है। डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ. की सदस्यता 15,000 है और इसने अब अपनी गतिविधियाँ आंध्र प्रदेश तथा कर्नाटक में विस्तृत कर ली हैं । महिलाओं ने जमीन की मिल्कीयत, न्यूनतम वेतन, जंगलात के उत्पाद पर अपनी पहुँच, जल सम्पदा, हॉकरों तथा पटरी वालों के अधिकारों आदि के लिए संघ-ार्ा किए हैं । 1970 और 1980 के दशकों में महिला आंदोलन के पुनरुत्थान से उनके अधिकारों और स्थानीय तथा वृहत्तर संघ-ार्ों में उनकी भागीदारी के बारे में चेतना बढ़ी है ।

आवास, पानी व सफाई इन गरीब महिला श्रमिकों की अन्य समस्याएँ हैं जिन पर वे आंदोलित हैं । महिला श्रमिकों के लैंगिक शो-ाण के खिलाफ तथा कानूनों और नीतियों में परिवर्तन के लिए भी वे संगठित हुई हैं । श्रम शक्ति ने अपनी रपट में नोट किया है कि आज हम गरीब महिलाओं के संगठित आंदोलनों में लगातार इजाफा देख रहे हैं जिसके जरिए वे मुद्दों पर संगठित हो रही हैं, अपने अधिकार जता रही हैं, अपनी जरूरतों को आवाज दे रही हैं और खुद को राजनीतिक चेतना की अगली कतारों में ला रही हैं । यह इसलिए संभव हो सका है क्योंकि अतीत में इन्हें संगठित करने के ऐसे कई आंदोलन और प्रयास इनके द्वारा हुए । मगर ऐसे उदाहरण वास्तव में काफी दुर्लभ हैं । कुछ ट्रेड यूनियनों तथा राजनीतिक दलों ने अपने संगठनों के भीतर महिलाओं की शाखाएँ बनाई हैं ।

गरीब महिलाओं की खुद को संगठित करने की कोशिशों को देहाती व शहरी इलाकों में निहित स्वार्थों द्वारा खुले विरोध का सामना करना पड़ता है । स्व-नियुक्त महिलाओं संबंधी रा-ट्रीय कमीशन ने एक ऐसी रणनीति का प्रस्ताव रखा है जिसके तहत महिला संगठनों को बढ़ावा दिया जाए और सरकार इस बात को निश्चित करने के लिए सक्रिय व सकारात्मक भूमिका अपनाएं कि तमाम सरकारी कार्यक्रम, स्कीमें व कार्यक्रम जो गरीबों के लिए बनाए जाते हैं, उसमें उन्हें संगठित करना भी एक अहम हिस्सा हो जो उसका जनाधार बना सकेगा ।

11.5.2 संस्थागत प्रयास तथा गरीबी-निरोधक कार्यक्रम

चौथी पंचव-ीय योजना में सरकार द्वारा गरीबी निरोधक कार्यक्रम बनाए गए थे । मगर इसके भी कई साल बाद छठी पंचव-ीय योजना के दौरान ही गरीब महिलाओं के रोजगार तथा आय पैदा करने के लिए अलग रणनीति पर विचार किया गया । कमिटि ऑन द स्टैटस ऑफ विमेन इन इंडिया (सी.एस.डब्ल्यू.आई. 1974) की रपट ने इस बात पर जोर दिया है कि गरीब कोई समान तबका नहीं है । उसके बाद से कई शोधित अध्ययनों ने इस बात पर बल दिया है कि अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों के चलते गरीबी का बोझ महिलाओं को असमान रूप से ढ़ोना पड़ता है । इसलिए जरूरत है बच्चों के निम्नतम निर्वाह की जरूरतों को पूरा करने की । देश में मुख्य गरीबी निरोधक कार्यक्रम इस प्रकार है :

i) **स्व-रोजगार की व्यवस्था करने वाले कार्यक्रम** : जो यह कार्य उत्पादक साधनों के लिए कर्ज उपलब्ध करा कर करते हैं । इंटिग्रेटेड रूरल डेवलेपमेंट प्रोग्राम (आई.आर. डी.पी.) के तहत 30 प्रतिशत महिलाओं को लाभान्वित कराने का लक्ष्य तय किया गया है । 1982-83 में ग्रामीण महिलाओं को स्व-रोजगार उपलब्ध कराने के लिए एक नया कार्यक्रम शुरू किया गया जो ड्वकूरा (डेवलपमेंट ऑफ विमेन एंड चिल्ड्रेन इन रूरल एरियाज) नाम से जाना जाता है।

ii) **वैतनिक रोजगार के लिए कार्यक्रम** : जैसे रा-ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम यानी एन.आर.डी.पी., ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम यानी आर.एल.ई.जी.पी. । इन कार्यक्रमों के जरिए पैदा किया गया रोजगार मुख्यतः सार्वजनिक विकास कार्यक्रम के रूप में होता है जैसे – सड़कों की मरम्मत व निर्माण कार्य ।

iii) **विशे-ा कार्यक्रम** : जो आदिवासी क्षेत्रों, पहाड़ी इलाकों व सूखा प्रवृत्त इलाकों के लिए बनाए गए हैं ।

iv) **प्रशिक्षण कार्यक्रम** : जो कार्यक्रम स्व-रोजगार पैदा करने के लिए नई कुशलताएँ प्रदान करने या पुरानी को उन्नत करने के लिए जरूरी होते हैं (ट्रेनिंग आफ यूथ फॉर एम्प्लायमेंट जैसे कार्यक्रम) ।

v) **गरीबों को अतिरिक्त भूमि का आबंटन :** इन स्कीमों तथा कार्यक्रमों में ज्यादातर परिवार के पुरु-ा मुखियाओं के नाम ही जमीन दी गई है ।

इन गरीब निरोधक कार्यक्रमों की सबसे बड़ी दिक्कतों में से एक यह थी कि गरीब महिलाएं, जो वैसे ही निरक्षरता तथा सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों की जकड़ में कैद होती हैं (खास कर अनुसूचित जातियों/जनजातियों से होने के कारण), ऊपर से इन एजेंसियों की कल्पनाशील ढंग से इन कार्यक्रमों की योजनाएँ बनाने तथा अमल में लाने में नाकामी ने यह सुनिश्चित कर दिया कि इनसे उनका कोई लाभ न हो । जमीन तथा उत्पादक साधनों की मिल्कीयत में पुरु-ाों की प्रधानता के कारण भी महिलाओं को कर्जों की स्कीमों से फायदा उठाने तथा बैंक गारंटी देने में विफलता का ही मुंह देखना पड़ता है ।

महिलाओं के लिए लाभकारी गतिविधियों को पहचानने और पर्याप्त योजनाएँ बनाने में तथा उनके लिए टेक्नोलॉजी, प्रशिक्षण, कच्चा माल तथा उत्पादन के विपणन आदि के लिए समर्थन कार्यक्रम चलाने में भी कई दिक्कतें आईं ।

अतिरिक्त भूमि, जो वास्तव में भूमिहीनों में बाँटी जा चुकी है, भी सरकारी अनुमानों के मुताबिक जो जमीन हासिल की जा चुकी है, के अनुपात में भी बहुत कम है । ज्यादातर जमीन खेती लायक नहीं है या बंजर है, उर्वरकों सिंचाई तथा अच्छी माटी प्रबंधन व्यवस्था आदि की माँग करती है । यह जमीन परिवार के पुरु-ा मुखियाओं को दी गई और इस बात की बिल्कुल अनदेखी ही कर दी गई कि कई परिवारों में महिलाएँ ही मुखियाएँ हैं और सीमांतीय या भूमिहीन परिवारों में बेहद अहम भूमिका निभाती हैं । अनुमान है कि 30-35 प्रतिशत ऐसे परिवार हैं, जहाँ महिलाओं को ही संचालन करना पड़ता है और अक्सर वे ही मुखिया होती हैं, खासतौर पर जहाँ पुरु-ा शहरों में प्रव्रजन कर चुके हैं ।

बोध प्रश्न 4

सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

1) निम्नलिखित में कौन-सा संगठन है जो कामगार महिलाओं को लामबंद करने में नहीं जुटा है ।
   क) सेल्फ एम्प्लायेड विमेन्स एसोसिएशन
   ख) वर्किंग विमेन्स फोर
   ग) अन्नपूर्णा महिला संगठन
   घ) उपर्युक्त में कोई नहीं ।

2) कमिटी ऑन द स्टेटस ऑफ विमेन का मानना है कि :
   क) गरीब महिलाएँ एक समान तबका है
   ख) गरीब महिलाएँ एक समान तबका नहीं है
   ग) गरीबी का बोझ महिलाओं की बजाए आदमियों को ही ज्यादा उठाना होता है।
   घ) उपर्युक्त में कोई नहीं ।

3) निम्नलिखित में से कौन सा कारक जिम्मेदार है, जो महिलाओं को सरकार द्वारा चलाए जा रहे गरीबी निरोधक कार्यक्रमों पर पर्याप्त पहुँच नहीं बनने देता :
   क) निरक्षरता
   ख) मुख्यतः जमीन की पुरु-ा प्रधान मिल्कीयत
   ग) कल्पनाशील ढंग से योजनाओं को बनाने में एजेंसियों की असमर्थता
   घ) उपर्युक्त में कोई नहीं ।

11.6 सारांश

इस इकाई में देश की कामगार महिलाओं की मुख्य समस्याओं से आपको अवगत कराया गया है । भारत में महिला श्रम शक्ति तथा उसकी भागीदारी के स्वरूप और विस्तार की चर्चा करके हमने इकाई की शुरुआत की थी । हमने तमाम श्रेणियों की चर्चा की जिनमें महिला श्रमिक बँटी हैं और साथ ही उनकी काम में भागीदारी पर असर डालने वाले तमाम सामाजिक-आर्थिक कारकों तथा महिला श्रमिकों के काम की प्रकृति पर भी गौर किया गया । संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत महिला श्रमिकों की समस्याओं पर इसमें विचार किया गया है । कई किस्म के श्रम कानून हैं जैसे – समान वेतन अधिनियम, न्यूनतम वेतन अधिनियम, मातृत्व सुविधा अधिनियम । हमने इनकी चर्चा देश में समसामयिक महिला श्रम भागीदारी के संदर्भ में की है और अंत में हमने गरीब महिलाओं को संगठित करने के प्रयासों तथा मोटे तौर पर उठाए गए कल्याणकारी कदमों की भी चर्चा की है । उनके काम की स्थितियां सुधारने और काम में भागीदारी बढ़ाने के प्रयासों का भी उल्लेख किया है ।

11.7 शब्दावली

गृह आधारित उद्योग: मुख्यतः पारिवारिक श्रम आधारित उत्पादित वस्तु ।

स्व-नियुक्त: वे सभी जो स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी आर्थिक गतिविधियों में कार्यरत हैं । वे काश्तकार, दस्तकार, हॉकर या रेड़ी पटरी वाले भी हो सकते हैं । छोटे दुकानदार या व्यापारी भी इस श्रेणी में आते हैं ।

मजदूरी करने वाले : जो अपने काम के बदले मालिक से मजदूरी पाता है, को इस श्रेणी में रखा जाता है, जैसे - कृ-ि श्रमिक इत्यादि ।

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिंह एन्ड्रिया एम तथा अनीता के. विटानेन (संपादक) 1987, *इनविजबिल हैंड्स, विमेन इन होम बेस्ड प्रोडक्शन,* सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली ।

जोस ए वी (सम्पादक), 1989, *लिमिटेड ऑप्शन्स : विमेन वरकर्स इन रूरल इंडिया* ।

एशियन रीजनल टीम फॉर एम्प्लायमेंट प्रमोशन, आई.एल.ओ., नई दिल्ली ।

11.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) महिला श्रमिकों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :
   - क) स्व-रोजगार महिलाएः घर के भीतर तथा बाहर।
   - ख) घर से बाहर मजदूरी करने वाले
   - ग) अवैतनिक पारिवारिक श्रम अपने खुद के खेतों पर या पारिवारिक पेशों में, जैसे – बुनाई, कुम्हारी तथा दस्तकारी ।

2) क) गलत
   - ख) सही
   - ग) गलत

बोध प्रश्न 2

i) भारत सरकार की एक रपट के अनुसार निम्नलिखित गतिविधियों में महिलाओं की तादाद पुरु-ों से ज्यादा है – डेयरी, छोटे पशुपालन तथा हथकरघा ।

ii) अनौपचारिक क्षेत्र में रोजगार की मुख्य विशे-ताएँ – कम मजदूरी, रोजगार की सुरक्षा का अभाव तथा काम के लंबे घंटे तथा अस्वास्थ्यकर काम की स्थितियाँ हैं ।

iii) कृ-ि, डेयरी उद्योग, मत्स्य पालन, पशुपालन, खादी तथा ग्रामीण उद्योग, दस्तकारी, रेशम उत्पादन तथा हथकरघा आदि ।

बोध प्रश्न 3

i) इस अधिनियम के अनुसार पुरु-ा तथा महिला श्रमिकों के बीच कोई वैतनिक भेदभाव नहीं होना चाहिए जब उनके काम का स्वरूप एक जैसा है ।

ii) ग)

बोध प्रश्न 4

i) घ

ii) ख

iii) घ

इकाई 12 श्रमः बाल श्रमिक

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 परिभा-ाा, आकलन, साक्षरता दर व सामाजिक पृ-ठभूमि
12.2.1 परिभा-ाा
12.2.2 आकलन
12.2.3 साक्षरता दर
12.2.4 सामाजिक-आर्थिक पृ-ठभूमि
12.3 बाल श्रम के कारण और स्थिति
12.3.1 ग्रामीण क्षेत्र
12.3.2 शहरी क्षेत्र
12.4 संवैधानिक प्रावधान तथा सरकारी नीतियाँ
12.4.1 संवैधानिक प्रावधान
12.4.2 बाल श्रम समिति
12.4.3 बाल श्रम कानून
12.4.4 कार्यान्वयन की समस्याएँ
12.5 बच्चों की बुनियादी जरूरतें पूरा करने की चुनौतियाँ
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- बता सकेंगे कि बाल श्रम क्या है और बाल श्रमिक कौन हैं;
- बाल श्रम के विभिन्न कारणों की चर्चा कर सकेंगे;
- उन क्षेत्रों का वर्णन कर सकेंगे जहाँ बाल श्रम नियुक्त हैं; तथा
- बाल श्रम के नियंत्रण के लिए बनाई गई नीतियों और कानूनों तथा उनके कार्यान्वयन की व्याख्या कर सकेंगे ।

12.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम में बच्चों पर दो इकाइयाँ हैं । एक बाल श्रम पर है और दूसरी (खंड 5, इकाई 14) आम तौर पर बच्चों की समस्याओं पर है । इस इकाई में भारत में बाल श्रम की समस्याओं की चर्चा की गई है । यह उसकी परिभा-ाा के ऊपर विचार करते हुए शुरू होती है और उसके बाद भारत में बाल श्रम के अनुमानों तथा सामाजिक पृ-ठभूमि की समीक्षा करती है। ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में बाल श्रम की नियुक्ति के स्वरूप और प्रकृति की

सविस्तार समीक्षा की गई है । इस इकाई में बाल श्रम के संबंध में भारत में विभिन्न संवैधानिक प्रावधानों तथा कानूनों पर भी प्रकाश डाला गया है और आखिर में, बच्चों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की चुनौतियों के बारे में बताया गया है ।

12.2 परिभा-ा, vkdyu, साक्षरता दर व सामाजिक पृ-ठभूमि

इस भाग में हम भारत में बाल श्रम की अवधारणा पर विचार करेंगे । साथ ही उसकी सामाजिक पृ-ठभूमि की भी चर्चा करेंगे ।

12.2.1 परिभा-ा

भारतीय जनगणना की परिभा-ा के मुताबिक एक बाल श्रमिक वह है जो दिन का बड़ा हिस्सा काम करने में लगाता है और 14 व-र्ा से कम आयु का होता है । वैसे "बालक/बालिका" या "बच्चों" की परिभा-ा पर कोई आम सहमति नहीं है । 1989 के "बच्चों के अधिकारों" पर रा-ट्रमंडल कन्वेंशन में ऊपरी आयु सीमा 18 व-र्ा रखी गई है । अंतर्रा-ट्रीय श्रम संगठन 15 व-र्ा से कम आयु वालों को ही बच्चों में गिनता है । भारत में 14 साल से ऊपर उम्र वालों को रोजगार के लिए पर्याप्त उम्र का माना गया है।

12.2.2 vkdyu

बाल श्रम के आकलन में काफी विविधता है। विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में बाल श्रमिकों की संख्या ज़्यादा है। सन् 2000 में विश्व की औसत बाल श्रमिक की भागीदारी दर 11.3 प्रतिशत थी जबकि कुल विकसित देशों और अल्पविकसित देशों में उनकी भागीदारी क्रमशः 13 प्रतिशत 31.6 प्रतिशत थी। दुनिया के अति विकसित क्षेत्रों में बाल श्रम का नामोनिशान मिट गया है। भारत में सन् 2000 में बच्चों की भागीदारी 12.1 प्रतिशत थी (चिल्ड्रेन डाटा बैंक, 2001)। जैसा कि बताया जा चुका है उसमें भारत से संबंधित बाल श्रम के अनेक आकलन प्रस्तुत किए गए हैं। ह्युमन राइट्स वाय (1996) के अनुसार भारत में 60 से 115 मिलियन बच्चे श्रमिक हैं। युनिसेफ के अनुसार यह आंकड़ा 70 से 90 मिलियन है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आई एल ओ) के अनुसार भारत में पूरी दुनिया के एक तिहाई बाल श्रमिक रहते हैं। यू एन डी पी के अनुसार भारत में 100 मिलियन से ज़्यादा बाल श्रमिक कार्यरत हैं जिनमें से 1 मिलियन बाल श्रमिक बंधुआ मज़दूर हैं। राष्ट्रीय नयूना सर्वेक्षण के 32वें दौर में यह आकलन किया गया कि लगभग 736 मिलियन बच्चे बाल श्रमिक हैं। श्रम मंत्रालय द्वारा प्रायोजित एक अध्ययन और ऑपरेशन रिसर्च ग्रुप (1985) के अध्ययन में श्रमिक बच्चों की संख्या लगभग 44 मिलियन बताई गई है। हाल के अध्ययनों में यह बताया गया है कि भारत में लगभग 44-45 मिलियन बाल श्रमिक हैं जिनमें से लगभग 7.5 मिलियन बच्चे बंधुआं मज़दूर हैं। एशियन लेबर मोनिटर के अनुसार भारत के हर तीसरे घर से 5 से 14 वर्ष का एक बच्चा श्रमिक है। इसलिए बाल श्रमिक के बारे में एक निश्चित आकलन पर पहुंचना कठिन है क्योंकि अध्ययन में काफी विभिन्नता है।

श्रमिक बच्चे अनौपचारिक क्षेत्र में कार्य करने के साथ-साथ परिवार को खेतों और उद्यमों में भी काम करते हैं। शहरों के मुकाबले गांव में तीन गुने बच्चे काम पर जाते हैं। 1981 की जनगणना के अनुसार 6.7 मिलियन लड़के और 3.5 मिलियम लड़कियां लगभग पूरे वर्ष मुख्य मज़दूर के रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में काम करते हैं। लड़कों के लिए काम की भागीदारी 9.2 प्रतिशत और लड़कियों के लिए 5.3 प्रतिशत है। मजदूरों की भागीदारी को गिनने के बाद यह दर बढ़कर लड़कों के लिए 10 प्रतिशत और लड़कियों के लिए 7.6 प्रतिशत हो जाती है। दूसरे शब्दों में शहरों के मुकाबले ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चों की कार्य में भागीदारी

काफी ज़्यादा है। शहरी क्षेत्रों में श्रम भागीदारी दर (गौण मजदूर सहित) 5-14 वर्ष लड़कों के बीच 3.6 प्रतिशत और लड़कियों के बीच 1.3 प्रतिशत है।

शुष्क और अर्धशुष्क क्षेत्रों में बाल श्रमिकों की भागीदारी और भी बढ़ जाती है क्योंकि मानूसन के 3-4 महीनों में ही परिवार ज़्यादा से ज़्यादा कमा लेना चाहता है। जीवनयापन की वस्तुओं जैसेः जलावन की लकड़ी, चारा, और जंगल से छोटे-मोटे उत्पाद आदि को लाने का काम बाल श्रमिक ही करते हैं। खेती के समय कृषक बाल श्रमिकों से ही काम करवाते हैं। इन सबके कारण बच्चे स्कूल नहीं जा पाते हैं। लड़कियों की स्थिति तो और भी बुरी होती है। इसलिए बाल श्रमिकों का सही-सही आकलन करना बहुत कठिन है।

12.2.3 साक्षरता दर

ज्यादातर अध्ययनों में निम्न साक्षरता दरों और कार्य भागीदारी दरों में सीधा रिश्ता देखने को मिलता है । ग्रामीण क्षेत्रों में सिर्फ 4.1 प्रतिशित बालक तथा 2.2 प्रतिशत बालिकाएँ साक्षर थीं । इसी तरह, शहरी क्षेत्रों में 7.0 प्रतिशत बालक तथा 2.5 प्रतिशत बालिकाएँ साक्षर थीं। इसका मुख्य कारण यह है कि ऐसी स्थिति में बच्चों द्वारा कमाई मजदूरी खोनी पड़ती है।

vH;kl 1

आपने अपने मोहल्ले में कई बाल श्रमिक देखे होंगे । उनसे बातचीत करके उनके शैक्षणिक दर्जे/साक्षरता स्तर के बारे में जानकारी इकट्ठी कीजिए । इस छानबीन पर आधारित एक पेज का नोट उनके साक्षरता स्तरों के बारे में लिखिए । निरक्षरता के मूल कारण की भी व्याख्या कीजिए । संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र में अपने सहपाठियों से अपने नतीजे मिलाइए ।

ckDl 1

लिंग भेद तथा बाल श्रमिक

हमारे समाज में लिंग भेद की प्रक्रिया और जिम्मेदारियों का विभाजन बहुत जल्दी ही शुरू हो जाता है । आर्थिक रूप से सबसे ज्यादा पिछड़े परिवारों में, गरीबी जितनी ज्यादा होती है, बालिकाओं की स्थिति उतनी ही नाजुक और दर्दनाक होती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, पौ-टिकता पर खुद परिवार के भीतर उनकी असमान पहुँच, उनके विकास और आगे बढ़ने के मौकों को और संकुचित कर देती है । अनौपचारिक क्षेत्र तथा गृह आधारित कार्यों में नियुक्त, मजदूरी कमाने वाली बालिकाओं की स्थिति तो और ज्यादा खराब है । एक अदृश्य श्रमिक की हैसियत से उसे घर में छोटे भाई-बहनों की देखरेख, घर के अन्य कामकाज और काम में माँ का हाथ बँटाने का काम भी करना पड़ता है ।

दिल्ली में कूड़ा-करकट इकट्ठा करने वाली बालिकाओं से संबंधित अध्ययन ने यह पाया कि सभी ऐसे परिवारों से थीं, जो बंगला देश या पश्चिम बंगाल से आई थीं। इस काम के अलावा वे माचिस बनाने, घरेलू काम तथा ईंधन और पानी जुटाने का काम भी करती थीं । चार-चार व-र्ा की बालिकाएँ अपने बड़े भाई-बहनों के साथ कूड़ा-करकट इकट्ठा करने जाती थी । ऐसे में उनमें अंतड़ियों के रोग तथा चर्म रोग होने की बहुत संभावनाएँ थीं ।

जिन उद्योगों में बड़ी तादाद में बालिकाओं के श्रम का इस्तेमाल होता है, वह है काँच के काम, हीरों की कटाई व पालिश करने के काम, दियासलाई व आतिशबाजी उद्योग । इन उद्योगों में काम की स्थितियाँ बेहद खराब हैं ।

12.2.4 सामाजिक-आर्थिक पृ-ठभूमि

ई.एस.ओ.-02 के खंड 1 की इकाई 12 में आपने भारत में गाँवों की गरीबी के स्वरूप और विस्तार के बारे में पढ़ा था । भारत में गरीबी की समस्या का चित्रण वर्गों और जातियों के आधार पर किया गया है । गाँवों के इलाकों में भूमिहीन खेतिहर मजदूर, सीमांत भूमिधारक तथा दस्तकार परिवार ही " गरीब तबका" बनते हैं । भूमिहीन मजदूर ज्यादातर अनुसूचित जातियों/जनजातियों से आते हैं । शहरी क्षेत्रों में गरीब लोग झुग्गी-झोंपड़ियों या पटरियों और फुटपाथों पर रहते हैं । मात्रात्मक दृ-टि से भी भारत में गरीबी की समस्या की चर्चा की गई है । उदाहरण के लिए, सरकारी आँकड़ों के मुताबिक भारत में 40 प्रतिशत लोग बेहद गरीबी में जीवन-यापन करते हैं । ग्रामीण गरीब अक्सर जीविका निर्वाह न कर पाने की स्थिति में, नौकरियों की तलाश में शहरों की ओर प्रव्रजन करते हैं । शहरी भारत का चेहरा बदल रहा है क्योंकि 400 लाख लोग, जिसमें 60 लाख बच्चे भी शामिल हैं, झुग्गियों में रहते हैं । लाखों ऐसे घरों के बच्चों को कम उम्र में ही काम में जुटकर पारिवारिक आय में अपना योगदान करना होता है । गरीब घरों में बाल श्रम तो महज जिन्दा रहने की रणनीति है । इस तरह, संपूर्ण विश्व में बाल श्रमिक सबसे ज्यादा भारत में हैं ।

बोध प्रश्न 1

1) बाल श्रम के क्या कारण हैं? लगभग छः पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में बाल श्रमिक कौन हैं? लगभग तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

12.3 बाल श्रम के कारण और स्थिति

जैसा कि हम देख चुके हैं, बच्चे हर तरह के काम में नियुक्त हैं । शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में वह किस तरह के काम करते हैं, हम उसकी जाँच कर सकते हैं ।

12.3.1 ग्रामीण क्षेत्र

बच्चे स्व-रोज़गार श्रमिकों के तौर पर या सिर्फ अवैतनिक पारिवारिक सहायकों की तरह काम करते हैं । ग्रामीण इलाकों में बच्चे अक्सर जानवर चराने, कृ-ि कार्यों, गृह आधारित उद्यमों (जैसे बीड़ी, हथकरघा, दस्तकारी आदि) के काम करते हैं । नेशनल सेम्पल सर्वे

ऑर्गनाइजेशन (एन.एस.एस.ओ.) के अनुसार भारत में बाल श्रमिक की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

i) अनुसूचित जाति की आबादी का अनुपात (किसी एक क्षेत्र में ज्यादा केंद्रित होना)

ii) महिला साक्षरता की निम्न दरें ।

iii) बालिग मजदूरों के लिए निम्न मजदूरी

iv) भूमि धारण के स्वरूप (जमीन छोटे टुकड़ों में) ।

v) गृह आधारित उत्पादन ।

महिलाओं के लिए मजदूरी की ऊँची दरों के साथ ज्यादातर यह पाया गया कि बालिकाओं की भागीदारी दर कम थी क्योंकि उस स्थिति में वे परिवार के घरेलू काम के लिए रोक ली जाती थीं । लिहाजा एन.एस.एस.ओ. के अध्ययन ने यह भी दिखाया कि बालिग महिलाओं की काम की स्थिति में सुधार और बच्चों को वैकल्पिक काम देने से बाल श्रम भी कम किया जा सकता है । कई अध्ययनों और शोधों से पता चलता है कि देहाती क्षेत्रों में बाल श्रमिकों की तादाद बहुत ज्यादा है । ज्यादातर बाल श्रमिक भूमिहीन कृ-ाक परिवारों में केंद्रित हैं, विशे-ाकर कृ-ाि, पशुपालन, तथा खाद्य संसाधन, बुनाई, दस्तकारी, बीड़ी, पापड़ आदि बनाने जैसे गृह आधारित उद्यमों में ।

बाल श्रम की माँग इस बात से भी तय होती है कि सांस्कृतिक तौर पर निर्धारित उम्र और लिंग का श्रम विभाजन क्या है । 10-14 आयु वर्ग की बालिकाएँ बालकों से कहीं ज्यादा काम करती हैं ।

12.3.2 शहरी क्षेत्र

शहरी क्षेत्रों में बच्चे मजदूरों का काम छोटे उद्योगों और कार्यशालाओं में बीड़ी, दियासलाई या आतिशबाजी बनाने का या फिर काँच और चूड़ियों का, कालीनों की बुनाई, हथकरघा,

हीरों की पालिश, कुम्हारी, कागज के लिफाफे, प्लास्टिक की चीजें बनाने और मत्स्य संसाधन जैसा काम करते हैं । दियासलाई और आतिशबाजी बनाने के उद्योगों में बड़ी तादाद में, बहुत कम उम्र के बच्चे काम करते हैं । वे निर्माण-स्थलों, पत्थरों की खानों में तथा माल लादने और उतारने का काम भी करते हैं ।

होटलों और ढाबों में वे चाय और खाना देने का काम या दूध और सब्जी बेचने अथवा घरेलू नौकरों, अखबार बेचने वालों या गाड़ी साफ करने वालों का काम करते हैं । झुग्गियों के बच्चे कुलियों तथा आश्रित श्रमिकों के रूप में काम करते हैं ।

ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में बच्चे अवैतनिक पारिवारिक श्रमिकों के रूप में या, मालिकों के घरों में, परिवारों द्वारा किया जाने वाला ठेके के काम में, अपने ही परिवारों के छोटे खेतों या उद्यमों में काम करते हैं । घर में किए गए काम का उसे न तो वेतन मिलता है न ही शाबासी । आमतौर पर घरों में किया जाने वाला काम कम शो-ाणकारी माना जाता है, मगर अक्सर परिवार के भीतर भी बच्चों के साथ दुर्व्यवहार होता है तथा कठिन परिस्थितयों में लंबे समय तक काम करना पड़ता है ।

देश के कई हिस्सों में किए गए अध्ययनों में बार-बार यह देखने में आता है कि बाल श्रमिकों को वेतन के लिए बहुत लम्बे समय तक काम करना पड़ता है । और आमतौर पर उन्हें वेतन भी कम मिलता है । कई जगहों पर उन्हें अमानवीय स्थितियों, जीवन की न्यूनतम सुरक्षा के अभाव में भी काम करना पड़ता है ।

vH;kl 2

आपके इलाके में काम कर रहे 10 बाल-श्रमिकों से उनके काम के स्वरूप, काम के घंटों और वेतन से संबंधित जानकारी इकट्ठी कीजिए । इस आधार पर एक नोट लिखिए और संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र में अपने सहपाठियों से इसे मिलाकर देखिए ।

हाल के एक शोध से पता चलता है कि शहरी तथा महानगरीय इलाकों में बाल श्रमिकों का एक बड़ा हिस्सा बेकार बच्चों का होता है । ये ऐसे बच्चे हैं, जिनका घर-बार नहीं है और पटरियों पर रहते हैं । अकेले दिल्ली में ही, यह अनुमान है कि 22 लाख बच्चों में से लगभग 4 लाख कामगार बच्चे हैं और इनमें से लग-भग डेढ़ लाख ऐसे ही गलियों में घूमते हैं । देहाती इलाकों में जीवन की कठिन परिस्थितयाँ और घरेलू तनाव बच्चों को घरों से भागने पर मजबूर कर देते हैं ।

ऐसे घरों से भागे हुए, निराश्रय बच्चे, बाल श्रमिकों का सबसे असुरक्षित हिस्सा होते हैं । एक महानगर में कुलियों का काम करने वाले बच्चों पर एक अध्ययन से पता चला है कि इनमें से अधिकांश कम आय वाले परिवारों से आते हैं । घरों को छोड़ने के पीछे, इन बच्चों ने बताया कि एक मुख्य कारण हिंसा थी । वे आमतौर पर फुटपाथों और रेल-प्लेटफार्मों में सोते हैं ।

हमारे देश में अधिकांश बाल-श्रमिक ऐसे स्थितियों में होते हैं, जहाँ उन्हें मजबूरन काम करना पड़ता है । उन्हें न सिर्फ अपने जिंदा रहने के लिए काम करना पड़ता है बल्कि अपने परिवार के सदस्यों के जिंदा रहने के लिए भी । उन्हें ऐसी अस्वास्थ्यकर तथा असुरक्षित स्थितियों में काम करना पड़ता है जो एक इंसान के चौतरफा विकास के लिए हानिकारक हैं। वे ज्यादातर निरक्षर ही रहते हैं और शारीरिक गठन में भी बीमार दिखते हैं । आज के बच्चे देश के कल के नागरिक हैं । ऐसी स्थितियों में गुंजाइश इसी बात की है कि वे निरक्षर, कुंठित तथा अस्वस्थ नागरिकों के रूप में बड़े होंगे ।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, बाल श्रमिक साधारणतः गरीब आर्थिक पृ-ठभूमि से आते हैं । जो सीमित मजदूरी पाते हैं । उससे उनके लिए अपनी न्यूनतम जरूरतें पूरी करना भी मुमकिन नहीं है । लिहाजा, अक्सर वे कम उम्र से ही समाज विरोधी गतिविधियों में मजबूरन शामिल हो जाते हैं । शहरी क्षेत्रों में, उनकी गरीबी और असुरक्षा का फायदा उठाकर कई संगठित समाज विरोधी गिरोह इन बच्चों का इस्तेमाल अपने बेहूदा इरादों को पूरा करने के लिए करते हैं । इस तरह इनमें से अधिकांश बच्चे अपना बचपन निराशा में ही काट देते हैं और आगे चलकर वे निराश्रय बच्चे हो जाते हैं ।

हर राज्य, एक कल्याणकारी संस्था के रूप में बाल श्रम पर पाबंदी लगाने के लिए तथा बच्चों की देखरेख के लिए कदम उठाता है । लिहाजा इन प्रावधानों पर भी नजर डालना हमारे लिए जरूरी है । अगले भाग में हम इन पहलुओं पर गौर करेंगे ।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

1) अध्ययनों से पता चलता है कि बाल श्रमिकों की तादाद –

   क) ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादा है

   ख) शहरी क्षेत्रों में ज्यादा है

   ग) गाँवों तथा शहरों में बराबर है

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

2) बाल श्रमिकों द्वारा वैतनिक श्रम के तहत किस-किस प्रकार के काम किए जाते हैं? लगभग छः पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

12.4 संवैधानिक प्रावधान तथा सरकारी नीतियाँ

स्वतंत्रता के बाद भारत में बच्चों के मसलों पर कई संस्थागत कदम उठाए गए हैं । आइए, इन मुद्दों को संक्षेप में देखें ।

12.4.1 संवैधानिक प्रावधान

बाल श्रम पर पाबंदी व नियंत्रण ने पिछले दशकों में काफी ध्यान आकर्-ात किया है । भारत के संविधान में धारा 24 के तहत यह कहा गया है कि 14 साल से कम उम्र के किसी भी बच्चे को किसी कारखाने, खान/खदान या खतरनाक किस्म के रोजगार में नियुक्त नहीं किया जाएगा । नीति-निर्देशक सिद्धांतों में धारा 39 (ई) तथा (एफ) के तहत राज्य को यह सुनिश्चित करना होगा कि " श्रमिकों के स्वास्थ्य तथा शक्ति, चाहे वे श्रमिक पुरु-ा, महिला या नाजुक उम्र के बच्चे हों, का कोई दुरुपयोग नहीं किया जाएगा और "बच्चों को स्वस्थ माहौल में विकसित होने के अवसर तथा सुविधाएँ दी जाएंगी और शो-ाण से उन्हें बचाया

जाएगा ।" संविधान में यह प्रावधान भी है कि राज्य पूरी कोशिश करेगा कि उसके लागू होने से 10 व-र्ा के अंदर 14 साल तक की उम्र के बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा दी जाए ।

12.4.2 बाल श्रम lefr

श्रम पर रा-ट्रीय आयोग (1969) तथा बाल श्रम पर समिति (1981) की रपटों में भारत में बाल श्रम के कारण तथा परिणामों की जाँच की गई है । बाल श्रम संबंधी समिति (1981) की रपट के बाद सरकार ने बाल श्रम पर एक विशे-ा केंद्रीय सलाहकार बोर्ड का गठन श्रम मंत्रालय के तहत किया । यह बोर्ड मौजूदा कानूनों के कार्यान्वयन की समीक्षा करता है तथा नए कानून व कल्याणकारी कदमों के सुझाव पेश करता है । वह ऐसे उद्योगों/रोजगारों की भी पहचान करता है जहाँ बाल श्रम खत्म करने की जरूरत है ।

1975 में जब बच्चों के लिए रा-ट्रीय नीति प्रस्ताव पारित किया गया, तभी एक रा-ट्रीय बाल बोर्ड का भी गठन किया गया था जिसका उद्देश्य बच्चों की समस्याओं के बारे में ज्यादा चेतना पैदा करना, उनके कल्याण को प्रोत्साहन देना तथा बच्चों के लिए चल रहे शैक्षणिक तथा कल्याणकारी कार्यक्रमों की समीक्षा तथा उनका समन्वय करना था ।

12.4.3 बाल श्रम संबंधी कानून

कारखानों में बच्चों की नियुक्ति संबंधी पहला कानून 1881 में बनाया गया । भारतीय फैक्ट्रीज एक्ट 1881 ने रोजगार की न्यूनतम उम्र 7 व-र्ा तय की तथा यह भी तय किया कि ये दिन में 9 घंटे से ज्यादा काम नहीं करेंगे । 1891 में एक संशोधन करके न्यूनतम उम्र को बढ़ाकर नौ व-र्ा कर दिया गया और काम के घंटों की सीमा घटाकर सात घंटे कर दी गई । 1948 का फैक्ट्रीज एक्ट तो 14 साल से कम उम्र के बच्चों को काम पर लगाने को गैर-कानूनी घो-ित करता है ।

1986 का बाल श्रम (नि-ोध व नियंत्रण) अधिनियम अपने किस्म का पहला व्यापक कानून है जो 14 साल से कम उम्र के बच्चों को काम पर लगाना नि-िद्ध करता है, किसी क्षेत्र में यह सीमा 15 साल की भी है, संगठित उद्योगों में, तथा कई खतरनाक औद्योगिक रोजगारों में जैसे बीड़ी व कालीन बनाने, कपड़ा रंगने व बुनाई करने, दियासलाई बनाने, आतिशबाजी बनाने, साबुन के उत्पादन या चर्मशोधन, निर्माण के काम या उद्योग में । मगर बच्चों का सबसे बड़ा हिस्सा तो अनौपचारिक क्षेत्र में नियुक्त है ।

12.4.4 कार्यान्वयन की समस्याएँ

कामगार बच्चों का 80 प्रतिशत से ज्यादा ग्रामीण इलाकों में तथा कृ-ि के क्षेत्र में है । उनका एक बड़ा हिस्सा स्व-नियुक्त व असंगठित क्षेत्र, जैसे – घरेलू नौकर, ढाबों/होटलों में कार्यरत बच्चे, कुली या निर्माण स्थलों में काम कर रहे बच्चे हैं, जो किसी भी सुरक्षात्मक कानून के तहत नहीं आते ।

सरकार का यह मत है कि बाल श्रम को खत्म नहीं किया जा सकता है, सिर्फ नियंत्रित ही किया जा सकता है । बाल श्रम की समस्याओं से निबटने के लिए 1986 का अधिनियम पर्याप्त नहीं है क्योंकि इन समस्याओं की जड़ें गरीबी में हैं । 1986 का अधिनियम बाल श्रम के खतरनाक कार्यों व प्रक्रियाओं में इस्तेमाल की मनाही करता है । मालिक इस कानून से या तो मास्टर-रोल ही का रिकॉर्ड न रखकर या फिर गृह आधारित छोटी-छोटी इकाइयों से काम करवा कर बच निकलते हैं । ज्यादातर बच्चे छोटे उद्योगों में काम करते हैं जिन पर कानून लागू नहीं होते । शिवकाशी दियासलाई कारखानों में काम कर रही लगभग 40,000

ऐसी बालिकाएँ हैं, जिनकी उम्र 14 साल से कम है । पूर्वी उत्तर प्रदेश के बढ़ते हुए कालीनों के कारखानों में, गैर-सरकारी अनुमान के अनुसार, 25,000 बाल श्रमिक काम करते हैं । गरीबी के कारण उनमें से कोई बिहार व अन्य जगहों से वहाँ गए हैं ।

मालिकों के नजरिए से बच्चे सस्ते तथा आज्ञाकारी श्रम के स्रोत हैं, जिनकी कोई जिम्मेदारियाँ भी नहीं है । कई मालिक तो यह भी दावा करते हैं कि वे तो हमदर्दी की खातिर उन्हें काम देते हैं और इस तरह गरीब परिवारों को अतिरिक्त आय कमाने में मदद करते हैं। उनका कहना है कि अगर इन्हें काम पर न लगाया जाए तो अक्सर ये या तो समाज विरोधी गतिविधियों में शामिल हो जाएंगे या फिर भूखों मर जाएंगे । बच्चों से काम लेकर कम मजदूरी देने के कारण कुल लागत कम हो जाती है और मुनाफे की दर बढ़ जाती है।

कई जाँच मूलक रिपोर्टों तथा वृत्त वि-ायों में बाल श्रम के दुरुपयोग को रेखांकित किया गया है, खासतौर पर फिरोजाबाद के चूड़ी व काँच उद्योग, शिवकाशी के दियासलाई व आतिशबाजी और मिर्जापुर के कालीन उद्योग आदि में । हाल ही में एक ऐतिहासिक फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने बीड़ी उद्योग में बच्चों की नियुक्ति पर पाबंदी लगा दी । कानूनों के बावजूद बाल श्रम का शो-ाण जारी है ।

बोध प्रश्न 3

सही उत्तर पर टिक (√) का निशान लगाइए ।

i) धारा 24 में 14 साल से कम उम्र के बच्चों के रोजगार का प्रावधान है ।

सही ☐ गलत ☐

ii) भारत में शिक्षा, 14 साल की उम्र के बच्चों के लिए मुफ्त व अनिवार्य है ।

सही ☐ गलत ☐

iii) बच्चों पर रा-ट्रीय नीति प्रस्ताव के बारे में लिखिए । लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

12.5 बच्चों की बुनियादी जरूरतें पूरा करने की चुनौतियाँ

बच्चों के अधिकारों या रा-ट्रमंडल के कन्वेंशन में बच्चों की अवहेलना, उसके साथ दुर्व्यवहार या काम पर उनका शो-ाण आदि के मामलों में तथा उन्हें न्यूनतम मानव अधिकार गारंटी करने के मामले में सार्वभौमिक कानूनी पैमाने तय करता है । इस कन्वेंशन में 54 धाराएँ हैं, जिनमें बच्चों की नागरिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अधिकारों की व्याख्या की गई है । फिर भी लाखों लाख बच्चों को "न्याय व मर्यादा का जीवन अधिकार" नहीं मिलता है और उन्हें गरीब व वंचित होने के कारण अमानवीय स्थितियों में

काम करना पड़ता है । वे ऐसे बच्चे हैं, जिन्होंने बचपन के सुख-दुख नहीं देखे हैं । भारत ने रा-ट्रमंडल की आम सभा के अंतरा-ट्रीय बाल व-र्ा के प्रस्ताव का सह-प्रायोजन किया था तथा वह पहला देश था जिसने इस संबंध में कार्रवाई के लिए रा-ट्रीय योजना भी तैयार की। अंतरा-ट्रीय बाल व-र्ा (1979) का मूल वि-ाय था "वंचित बच्चे तक पहुँचो" ।

श्रम कल्याण : क्या यह एक मिथक है ?

बाल श्रम की भागीदारी दर कम करने के मामले में यह आशा की जाती है कि सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा की एक प्रमुख तथा प्रभावशाली भूमिका होगी । मगर गरीबी के कारण ही बच्चों को मजबूरन स्कूल छोड़ना पड़ता है । भूख, अवहेलना, शो-ाण और दुर्व्यवहार से बचकर ही बच्चों की क्षमता का विकास संभव हो सकता है । बच्चों के अधिकार महज कानून बनाकर अमल में नहीं लाए जा सकते, बल्कि किसी भी समाज विशे-ा का जीवन स्तर सुधारने की प्रतिबद्धता, खासकर गरीब घरों की महिलाओं की आर्थिक भूमिकाओं को मजबूत करने पर निर्भर करता है ।

किसी भी विकास रणनीति का शुरुआती बिंदु बच्चे ही होते हैं । भारत सरकार की "बच्चों पर रा-ट्रीय नीति" (1974) में इस बात पर बल दिया गया था कि बच्चे देश की सबसे महत्वपूर्ण और कीमती संपत्ति हैं और यह ऐलान किया था कि देश ही उनकी "देखरेख और विकास" के लिए जिम्मेदार होगा । उसमें यह भी कहा गया है कि "मानव संसाधनों के विकास के लिए बनाई जाने वाली हमारी रा-ट्रीय योजनाओं में बच्चों के कार्यक्रमों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए ताकि वे बड़े होकर स्वस्थ नागरिक बन सकें ।..... उनके बड़े होने के समय के दौरान सभी बच्चों के विकास के लिए समान अवसर प्रदान करना हमारा उद्देश्य होना चाहिए क्योंकि यह हमारे व्यापक उद्देश्य, जैसे – असमानता कम करना तथा सामाजिक न्याय सुनिश्चित करना, हासिल करने में मददगार होगा ।"

इस नीति के ऐलान के बाद एक रा-ट्रीय बाल बोर्ड का गठन 1975 में किया गया ताकि योजना बनाने, तथा बाल कल्याण सेवाओं का समन्वय करने और उन पर निगरानी रखने का काम सुचारु ढंग से किया जा सके । पौ-टिकता, प्रतिरक्षण (इम्युनाइजेशन), स्वास्थ्य,

माताओं की स्कूल-पूर्व शिक्षा वगैरह जैसी बाल कल्याण सेवाओं पर रा-ट्रीय स्तर पर ध्यान देने की बात सोची गई है ।

इन तमाम नीतियों के बावजूद, भारत में शिशुओं की मृत्यु दर (हज़ार ज़िन्दा बच्चों में से 93) अभी भी बहुत ऊँची है । लड़कियों के क्षेत्र में, अवहेलना तथा खाने-पीने, पौ-टिकता व स्वास्थ्य की देखभाल के मामलों में भेदभाव के कारण बाल मृत्यु दर ज्यादा ऊँची है । लड़कों के मुकाबले उन लड़कियों की संख्या भी कहीं ज्यादा है जो स्कूलों के बीच में ही शिक्षा छोड़ देती हैं । स्कूल में दाखिल ही न होने वालों में भी लड़कियों की तादात बहुत ज्यादा होती है, खासतौर पर कम आय वाले परिवारों में, क्योंकि बालिकाओं के श्रम की जरूरत घर पर होती है जिससे वे अपनी माँ का हाथ बँटा सकें ।

सार्क देशों ने 90 के दशक को बालिका दशक घोषित किया था ताकि उन्हें पूरी तरह शिक्षा और स्वास्थ्य उपलब्ध कराया जा सके और उनके विकास तथा वृद्धि पर समुचित ध्यान दिया जा सके। उनके जीवन में सुधार लाने के लिए निम्न आय वर्ग के समूहों के लिए प्रभावी आर्थिक और सामाजिक नीतियां बनाने पर बल दिया गया।

राष्ट्रीय सरकारों की नज़र में कभी भी महिलाएं और बच्चे कार्यसूची की प्राथमिकता में नहीं रहे। बच्चों के संरक्षण और विकास के लिए सरकार, अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों और गैर सरकारी संगठनों की संयुक्त कार्रवाई और लगातार राजनीतिक दृढ़ इच्छा शक्ति की ज़रूरत है।

बोध प्रश्न 4

सही उत्तर पर सही का निशान लगाइए ।

1) निम्नलिखित में से कौन-से कारक से बाल श्रम भागीदारी दर घटाने में निर्णायक असर हो सकता है?

   क) ऊँची मजदूरी

   ख) बेहतर काम की स्थिति

   ग) प्राथमिक शिक्षा का सर्वसुलभीकरण

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं ।

2) 1990 का दशक निम्नलिखित में से किस देश-समूह द्वारा " बालिका दशक" घो-ित किया गया है

   क) यूरोपीय देश

   ख) लातिन अमेरिकी देश

   ग) अफ्रीकी देश

   घ) सार्क देश ।

12.6 सारांश

भारत में बाल श्रम की समस्या गरीबी की समस्या से जुड़ी है । अधिकांश बाल श्रमिक भूमिहीन खेतिहर मजदूरों, सीमांत किसानों, दस्तकारों तथा शहरी झुग्गियों में रहने वाले प्रवासी परिवारों से आते हैं । बाल श्रमिकों का कोई ठीक-ठीक अनुमान अभी नहीं लगाया जा सकता है। गरीब घरों में बाल श्रम जिन्दा रहने की रणनीति के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। बच्चे मजदूरी पर और अवैतनिक पारिवारिक श्रमिकों या स्व-नियुक्त मजदूरों के

तौर पर काम करते हैं और तरह-तरह की वस्तुएँ बेचते हैं । वे दियासलाई और आतिशबाजी, काँच की चूड़ी के कारखानों में और कालीन की बुनाई आदि के काम में नियुक्त किए जाते हैं, बावजूद इसके कि कानून में ऐसे कामों में नियुक्ति पर पाबंदी है ।

करोड़ों वंचित बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएँ, पौ-टिकता व बेहतर जीवन स्तर मुहैया कराना देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती है । इन सब पहलुओं पर विचार करने के लिए हमने भारत में बाल श्रम की सामाजिक पृ-ठभूमि, अनुमानों और स्वरूप पर प्रकाश डाला है। साथ ही हमने भारत में मौजूद उन संवैधानिक तथा कानूनी प्रावधानों की भी चर्चा की है, जो बाल श्रम से संबंधित हैं । आखिर में हमने उन चुनौतियों की भी चर्चा की है, जिनका बाल श्रम की जरूरतों को पूरा करने के लिए सामना करना जरूरी है ।

12.7 शब्दावली

गृह आधारित उत्पादनः ऐसी वस्तुएँ जो सिर्फ पारिवारिक श्रम का उपयोग कर बनाई जाती हैं ।

अनौपचारिक क्षेत्रः भारत में उत्पादन गतिविधियों, मोटे तौर पर औपचारिक तथा अनौपचारिक क्षेत्र में गतिविधियाँ औपचारिक संस्थाओं द्वारा बनाए गए कानूनों और नियमों द्वारा नियंत्रित होती हैं। अनौपचारिक क्षेत्र से हमारा मतलब उन तमाम आर्थिक गतिविधियों से है जो बिना किसी किस्म के कानूनी रिकॉर्ड के किए जाते हैं । उनकी गतिविधियाँ देश भर में फैली हुई हैं । ज्यादातर स्व-नियुक्त लोग इस श्रेणी में आते हैं ।

fngkMh : वह काम जिसकी मजदूरी प्रति इकाई उत्पादन के लिए दी जाती है ।

स्व-नियुक्तिः वे लोग जो अपने खुद के पेशों/उद्योगों में काम करते हैं ।

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गुप्त,एम. 1987, *यंग हैंड्स एट वर्कः चाइल्ड लेबर इन इंडिया,* आत्मा राम एंड संस पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली ।

यूनिसेफ, 1990, *डेवलपमेंट गोल्ज एंड स्टैटेजीज़ फॉर चिल्ड्रेन इन नाइनटीन नाइन्टीज* यूनिसेफ की नीति समीक्षा, न्यूयार्क ।

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भारत की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा असहनीय गरीबी में रहता है । इनमें से कई को मजबूरन काम की तलाश में प्रव्रजन करना पड़ता है । गरीब घरों से लाखों बच्चों को गाँवों तथा शहरों में बहुत कम उम्र से ही पारिवारिक आय में हिस्सा बँटाने के लिए काम करना पड़ता है ।

2) जनगणना की परिभा-ा के मुताबिक एक बाल श्रमिक वह है, जो 14 साल से कम उम्र का हो और दिन के अधिकांश भाग में कार्यरत रहता हो ।

बोध प्रश्न 2

1) क)

2) शहरी इलाकों में बच्चे मजदूरी पर काम करते हैं । आमतौर पर वे बीड़ी, दियासलाई, आतिशबाजी, काँच की चूड़ी, कालीन बुनाई, हथकरघा, हीरों की पॉलिश, कुम्हार कार्य, लिफाफे बनाने, प्लास्टिक की वस्तु बनाने या मत्स्य संसाधन जैसे छोटे उद्योगों में काम करते हैं । वे निर्माण स्थलों, पत्थर की खानों व माल लादने-उतारने के काम भी करते हैं ।

बोध प्रश्न 3

1) गलत

2) गलत

3) 1975 में " बच्चों पर रा-ट्रीय नीति प्रस्ताव" के पारित होने के बाद एक रा-ट्रीय बाल बोर्ड का गठन किया गया जिसका उद्देश्य यह था कि बच्चों की समस्याओं पर ज्यादा चेतना पैदा की जाए, उनके कल्याण को प्रोत्साहित किया जाए तथा उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य तथा कल्याण कार्यक्रमों को समन्वित किया जाए और उस पर निगरानी रखी जाए ।

बोध प्रश्न 4

1) ग)

2) घ)

संदर्भ ग्रंथ सूची

आहुजा, आर., 1992 : *सोशल प्रॉब्लेम्स इन इंडिया* । रावत पब्लिकेशस, नई दिल्ली ।

बर्धन, पी.के, 1984 : *लैंड, लेबर ऐंड रूरल पावर्टी,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसः नई दिल्ली

बेहारी, बी. 1983% *अनएम्पल्वाएमेंट, टेक्नोलॉजी ऐंड रूरल पॉवर्टी,* पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली

देसाई, ए.आर., 1978 : *रूरल सोशियालॉजी इन इंडिया,* पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई।

चट्टोपाध्याय, एम., 1982 : *रोल ऑफ फीमेल लेबर इन इंडियन एग्रिकल्चर,* सोशल साइन्टिस्ट, वॉल्यूम 10, नं0 7, पृ. 45-54

भारत सरकार, 1963 : *भारत की जनगणना 1961*, भारत सरकार, नई दिल्ली ।

गुप्ता एम. 1987% *यंग हैन्डस ऐट वर्कः चाइल्ड लेवर इन इंडिया,* आत्माराम ऐंड सन्स पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

भारत सरकार, 1966 : *एजुकेशन एंड नेशनल डेवेलपमेंट,* रिपोर्ट ऑफ दि एजुकेशन कमीशन 1964-66, शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली ।

भारत सरकार, 1974 : *टुवॉर्ड्स इक्वॉलिटि : रिपोर्ट ऑफ दि कमिटि ऑन दि स्टैटस ऑफ विमेन इन इंडिया,* समाज कल्याण विभाग, नई दिल्ली ।

भारत सरकार, 1972 : *भारत की जनगणना 1971*, भारत सरकार, नई दिल्ली ।

भारत सरकार, 1980 : *प्रोफाइल ऑफ दि चाइल्ड इन इंडिया : पॉलिसीज एंड प्रोग्राम,* भारत सरकार, नई दिल्ली ।

भारत सरकार, 1982 : *भारत की जनगणना 1981*, भारत सरकार, नई दिल्ली ।

भारत सरकार, 1988 : *नेशनल पर्सपेक्टिव प्लैन फॉर विमेन 1988-2000*, महिला तथा बाल विकास विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली ।

भारत सरकार, 1988 : *श्रम शक्ति।* अनौपचारिक क्षेत्र में स्व-नियुक्त महिलाओं पर रा-ट्रीय कमीशन की रपट । महिला तथा बाल विकास विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली ।

भारत सरकार, 1990 : *इंडिया 1990*, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली ।

हॉमस्ट्रॉम, एच., 1987 : *इंडस्ट्री एंड इनइक्वालिटी* । ओरियंट लॉगमैन्स : नई दिल्ली ।

जोस, ए.वी.(संपादक) 1989: *लिमिटेड ऑप्शन्स : विमेन वरकर्स इन रूरल इंडिया,* एशियन रीजनल टीम फॉर एम्प्लॉयमेंट प्रोमोशन । आई.एल.ओ., नई दिल्ली ।

कामत, ए.आर., 1985 : *एजुकेशन एंड सोशल चेंज इन इंडिया* । समैया, नई दिल्ली ।

नेशनल सैम्पल सर्वे ऑरगनाइजेशन, 1980, *नेशनल सैम्पल सर्वे,* एन ए एस नई दिल्ली।

कामत, ए.आर., 1982 : *नेशनल सैम्पल सर्वे,* एन.एस.एस.ओ., नई दिल्ली ।

कामत, ए.आर., 1985 : *नेशनल सैम्पल सर्वे,* एन.एस.एस.ओ., नई दिल्ली ।
1987, नेशनल सैम्पल सर्वे, एन एस एस ओः नई दिल्ली

रामास्वामी, ई.ए.डी. व यू. रामास्वामी, 1987 : *इंडस्ट्री एंड लेबर,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली ।

सिंह,एम.ए. व ए.के. विटानान, (संपादक) 1987 : *इनविजिबल हैंड्स : विमेन इन होम-बेस्ड प्रोडक्शन* । सेज पब्लकेशनस्, नई दिल्ली ।

सिंहारॉय, डी.के. 1992, *विमेन इन पीजेन्ट्स मुवमेंट्स तेभागा नेक्सलाइट ऐंड आफटर,* मनोहर; नई दिल्ली।

थॉर्नर, डी. व ए. थॉर्नर, 1962 : *लैंड एंड लेबर इन इंडिया* । एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई ।

यूनिसेफ, 1990 : *डेवेलेपमेंट गोल्ज एंड स्ट्रेटेजीज फॉर चिल्ड्रेन इन द नाइन्टीन नाइन्टीज,* यूनिसेफ : नई दिल्ली ।

इकाई 13 निर्धनता तथा उसके सामाजिक प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 निर्धनता एक सामाजिक समस्या के रूप में

13.3 निर्धनता की परिभाषा एवं दृष्टिकोण

13.3.1 परिभाषा

13.3.2 दृष्टिकोण

13.4 निर्धनता के कारण

13.4.1 असमानता और निर्धनता

13.4.2 दुष्चक्र सिद्धांत

13.4.3 भौगोलिक पहलू

13.5 निर्धनता के परिणाम

13.5.1 निर्धनता और उसके परिणाम

13.5.2 निर्धनता की संस्कृति

13.5.3 भारत में ग़रीबी

13.5.4 आय वितरण में विषमता

13.6 ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रम

13.6.1 एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम तथा अन्य रोज़गार कार्यक्रम

13.6.2 महिला, युवा एवं क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम

13.7 सारांश

13.8 शब्दावली

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- ग़रीबी का सामाजिक समस्या के रूप में वर्णन करना;
- निर्धनता की परिभाषा करना;
- निर्धनता के कारणों पर प्रभाव डाल पाना;

- निर्धनता और उसके परिणामों का विवेचन करना; और
- कुछ ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का परिचय देना।

13.1 प्रस्तावना

पिछले खंड में हमने औद्योगिक, ग्रामीण, महिला एवं बाल मज़दूरों जैसे विभिन्न वर्गों के श्रमिकों की सामाजिक समस्याओं का अध्ययन किया। इस खंड में हम वंचना एवं वैमुख्य के विभिन्न रूपों से जुड़ी समस्याओं की चर्चा करेंगे। इस खंड की पहली इकाई निर्धनता और उसके सामाजिक प्रभावों के बारे में है। इस इकाई में एक सामाजिक समस्या के रूप में निर्धनता का विश्लेषण किया गया है। हम निर्धनता की परिभाषा करने के साथ-साथ इसको आँकने के लिए श्रेणियाँ भी बताएँगे। इसके पश्चात् निर्धनता के कारणों, दुष्चक्र तथा भौगोलिक पहलुओं के परख की जाएगी। तत्पश्चात् ग़रीबी के परिणामों की जानकारी दी जाएगी। इसमें निर्धनता की संस्कृति, भारत में ग़रीबी और आय के वितरण में विषमता आदि शामिल हैं। इकाई के अंत में ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रमों का परिचय दिया जाएगा, जिनमें एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम, रोज़गार कार्यक्रम, महिला और युवा क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम एवं शहरी क्षेत्र शामिल हैं।

13.2 निर्धनता एक सामाजिक समस्या के रूप में

सभी समाजों में पिछले लंबे समय से ग़रीबी रही है। तथापि, कुछ देशों में ग़रीबी की 'सीमा' कम है तो कुछ में अधिक है। प्रत्येक समाज में, चाहे वह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, ग़रीब लोग अवश्य होते हैं। बताया जाता है कि अमेरिका में ढाई करोड़ से भी अधिक व्यक्ति (12.15 प्रतिशत) ग़रीबी में जी रहे हैं। 1960 के दशक में आकर ही ग़रीबी की व्यापकता को स्वीकार किया गया। तब अमेरिका में "निर्धनता के विरुद्ध युद्ध" नाम से एक कार्यक्रम चलाया गया। इंग्लैण्ड में कई सौ वर्ष पहले सन् 1601 में ही ग़रीबों के लिए एक कानून पारित किया गया था। इस कानून में उन लोगों को रोज़गार देने के लिए एक कार्य केंद्र स्थापित करने का प्रावधान था, जिनके पास जीवन की बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने का कोई भी साधन नहीं था। हालाँकि इस कार्य केंद्र में काम करने की स्थितियाँ तथा वेतन निराशाजनक थे, किन्तु इसे ग़रीबों की सरकारी तौर पर सहायता करने के विचार का शुभारंभ माना जा सकता है। तदनुसार, सम्पन्न देश अमेरिका में भी ग़रीबी है, किन्तु कुल मिलाकर वह अमीर देश है। दूसरी ओर, भारत में ग़रीबी एक मुख्य समस्या है। इस प्रकार निर्धनता एक सापेक्ष अवधारणा है। हमारे यहाँ ग़रीबी इतनी अधिक रही है कि इस ओर ज्यादा ध्यान दिया ही नहीं गया है। निर्धनता को किसी समाज का सामान्य पक्ष माना जाता था। हाल तक ग़रीबी से निपटने के प्रति सामाजिक दायित्व का बोध नदारद था। इसके विपरीत ग़रीबी को युक्तिसंगत सिद्ध करने के प्रयास होते रहे हैं। ऐसा माना जाता था कि ग़रीब लोग अपनी दुर्दशा के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं। बेरोज़गारी को आलस्य को ही लक्षण माना जाता था। कर्म सिद्धांत में यह प्रतिपादित किया गया कि दरिद्रता यानी हमारे पिछले जन्म के पापों तथा दुष्कर्मों का फल है। किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं ग़रीबी का वरण किए जाने पर समाज उसकी सराहना करता था। किन्तु ऐसे मामलों में इसे निर्धनता नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह तो संन्यासी का जीवन अपनाने के लिए किया जाता है। महात्मा गाँधी ने स्वेच्छा से निर्धनता को अपनाया था। ऐसा ही महात्मा बुद्ध ने किया। यह स्थिति स्वाभाविक निर्धनता से भिन्न है, जिसमें व्यक्ति जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित रहता है।

वर्तमान समय में ग़रीबी को एक सामाजिक समस्या के रूप में स्वीकृति मिली है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में ग़रीबी के शिकार लोगों की आमदनी को बढ़ाने की दिशा में कुछ प्रयास किए गए हैं। 1960 में दाण्डेकर तथा रथ (1971) ने ग़रीबी की रेखा की अवधारणा को बल दिया। चौथी पंचवर्षीय योजना में ग़रीबी दूर करने के लिए विशेष कार्यक्रम चालू किए गए।

निर्धनता की समस्या का योजनाबद्ध अध्ययन हाल ही में प्रारंभ हुआ है। ऐसा माना गया है कि ग़रीबी को समझने के लिए चार प्रश्नों का हल ढूँढना ज़रूरी है :

i) ग़रीबी क्या है?

ii) ग़रीबी की सीमा कितनी है?

iii) ग़रीबी के कारण क्या हैं?

iv) समाधान क्या है?

तीसरे प्रश्न में यह भी जोड़ा जा सकता है कि ग़रीबी के परिणाम क्या हैं? इस इकाई में इन्हीं प्रश्नों के आधार पर निर्धनता का अध्ययन किया जाएगा। प्रयास यह होगा कि इसके समाजशास्त्रीय पहलुओं का विवेचन किया जाए।

13.3 निर्धनता की परिभाषा एवं दृष्टिकोण

इस भाग में निर्धनता की विभिन्न परिभाषाओं और दृष्टिकोणों की चर्चा की जा रही है। पहले हम निर्धनता की परिभाषा दे रहे हैं।

13.3.1 परिभाषा

निर्धनता की परिभाषा के लिए सामान्यतया आर्थिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है, जिसमें आय, सम्पत्ति तथा रहन-सहन के स्तर शामिल हैं। उन लोगों को निर्धन माना जाता है, जिनकी आय इतनी नहीं होती कि वे रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी ज़रूरतें पूरी कर सकें। भारत तथा अमेरिका द्वारा अपनाई गई "ग़रीबी की रेखा" की अवधारणा में निश्चित आमदनी को ही रेखा निर्धारित किया गया। जो लोग उस रेखा से नीचे आते हैं, वे ग़रीब माने जाते हैं। ग़रीबी की रेखा का निर्धारण एकतरफा तौर पर किया जाता है, इसलिए इस अवधारणा पर आपत्ति की जा सकती है। फिर भी इससे यह तय करने का एक आधार तो मिलता ही है कि ग़रीब कौन हैं? घोर निर्धनता के लिए "कंगाली" शब्द इस्तेमाल किया जाता है। यह शब्द उन लोगों के लिए है जो अपना पेट पालने में असमर्थ हैं। आज के समय में ग़रीबी का अध्ययन करते हुए अनेक आयामों पर विचार किया जाता है। इसे केवल आर्थिक विषय नहीं माना जाता। अब यह अनुभव किया गया है कि ग़रीबी को समझने के लिए समाजशास्त्रीय, राजनीतिक, मनोविज्ञानिक तथा भौगोलिक कारणों के साथ-साथ दृष्टिकोणों और जीवन-मूल्य प्रणालियों पर भी विचार करना आवश्यक है।

हमारा विचार है कि किसी भी ऐसे समाज में, जो व्यापक विषमताओं से युक्त है, सरकार का न्यूनतम दृष्टिकोण न सिर्फ आय का बल्कि आत्म-सम्मान तथा सामाजिक गतिशीलता के अवसरों और निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी का न्यूनतम स्तर बढ़ाने के प्रयास की ओर होना चाहिए। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि ग़रीबी से निपटने के प्रयास में हमें केवल आमदनी पर ही नहीं बल्कि व्यक्ति की राजनीतिक भूमिका, उसके बच्चों के लिए अवसरों एवं उसके आत्म-सम्मान पर भी ध्यान देना होगा। निर्धनता आर्थिक अभाव की स्थिति-मात्र नहीं है, यह सामाजिक तथा राजनीतिक वंचना भी है। इसलिए ग़रीबी का अध्ययन केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके राजनीतिक एवं सामाजिक पहलुओं से भी किया जाना चाहिए। ई.एस.ओ.-02 की इकाई 12 में ग़रीबी की अवधारणाओं तथा दृष्टिकोणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। उसमें हमने ग़रीबी को एक जीवन स्तर के रूप में प्रस्तुत किया है, जो इतना नीचे है कि वह मानव के सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक विकास में बाधक है। उसमें यह भी बताया गया है कि निर्धनता सदियों से मानव सभ्यता तथा संस्कृति का अंग

रही है। मानव समाज के विकास के प्रारंभिक चरण में सामाजिक संगठन तथा प्रौद्योगिकी के विकास का स्तर बहुत कम था और निर्धनता सामान्य प्रकार की थी, जो सारे समाज में व्याप्त थी। मानव समाज के विकास की प्रक्रिया में सामाजिक संगठन तथा प्रौद्योगिकी में बहुत प्रगति हुई है। परंतु इस प्रगति के लाभ समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्राप्त नहीं हुए हैं। इस कारण लोग अमीर भी बने हैं और ग़रीब भी बने हैं।

इस प्रकार ग़रीबी समाज के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे से जुड़ी रही है। ग़रीबी के विशेषज्ञों ने मोटे तौर पर दो प्रकार से दृष्टिकोण अपनाए हैं। पहला है – पोषाहार दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण में न्यूनतम खाद्य आवश्यकताओं के आधार पर निर्धनता का आकलन किया जाता है। दूसरा दृष्टिकोण है – तुलनात्मक वंचन दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोण में समाज के पूर्व-विकसित वर्गों की तुलना में किसी वर्ग में व्याप्त वंचना को ग़रीबी का मापदंड माना जाता है। निर्धनता के आकलन से संबंधित भाग में हम इन विषयों पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

13.3.2 दृष्टिकोण

निर्धनता के आकलन के बारे में अनेक दृष्टिकोण हैं। निर्धनता के आकलन में सबसे प्रमुख कारक आमदनी है। अक्सर यह प्रश्न पूछा जाता है कि एक खास आमदनी से क्या-क्या साधन जुटाए जा सकते हैं? क्या उस आमदनी से बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा कर पाना संभव है? इस कारण यह भी राय व्यक्त की गई है कि किसको कितना और कैसा भोजन मिलता है, इसको निर्धनता की कसौटी माना जाए। यदि कोई वयस्क व्यक्ति प्रतिदिन एक निश्चित मात्रा में कैलोरी (2,250) नहीं ले पाता, तो वह वयस्क व्यक्ति ग़रीब माना जाएगा। आर्थिक पहलू सामान्य तौर पर मूलभूत आवश्यकताओं के निर्धारण पर आधारित है और इसका उल्लेख उन साधनों के संदर्भ में किया जाता है, जो स्वास्थ्य एवं शारीरिक क्षमता को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। किन्तु इस प्रकार के दृष्टिकोण को अब सही नहीं माना जा सकता है। बुनियादी आवश्यकताओं में शिक्षा, सुरक्षा, आराम तथा मनोरंजन भी शामिल हैं। जिन व्यक्तियों के पास इतने कम संसाधन हों कि वे समाज की जीवन पद्धतियों, रिवाज़ों तथा गतिविधियों से वंचित रहते हों, उन्हें ग़रीब माना जाता है। जिन पद्धतियों से निर्धनता का निष्पक्ष तथा विश्वसनीय आकलन संभव है, उनमें से एक है जीवन सूचकांक का भौतिक स्तर (Physical quality of lite index) यानी पी.क्यू.एल.आई.। इस अवधारणा में तीन सूचक इस्तेमाल किए जाते हैं। ये हैं : औसत आयु, शिशु मृत्यु तथा साक्षरता। इन क्षेत्रों में प्रत्येक देश की उपलब्धियों के आधार पर सभी देशों के बीच एक सूचकांक निर्धारित किया जाना चाहिए। सबसे कम उपलब्धि के लिए शून्य तथा सबसे अच्छी उपलब्धि के लिए 100 सूचकांक रहेगा। 1970 के दशक में भारत के लिए पी.क्यू.एल.आई. 43 था। भारत में निर्धनता के आकलन के लिए अनेक अध्ययन किए गए हैं। उदाहरण के लिए, ओझा ने अपने अध्ययन में कैलोरी की औसत प्राप्ति की निर्धनता के आकलन का मापदंड बनाया। उनके अनुसार जो व्यक्ति प्रतिदिन 2,250 प्रति व्यक्ति के कम कैलोरी लेते हैं, वे ग़रीबी की रेखा से नीचे हैं। दाण्डेकर तथा रथ (1971) ने कैलोरी (2,250) का मूल्य 1960-61 में कीमतों के आधार पर तय किया। उनकी राय है कि वित्तीय सूचकांक के हिसाब से ग्रामीण तथा शहरी निर्धनता की सीमा में अंतर होता है। उनका कहना है कि योजना आयोग ने प्रति व्यक्ति 20 रुपये प्रति माह अथवा 240 रुपये प्रति वर्ष आय को आमदनी का न्यूनतम वांछित स्तर स्वीकार किया है, किन्तु शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों पर इस राशि को लागू करना उचित न होगा। उन्होंने 1960-61 की कीमतों के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों के लिए न्यूनतम स्तर 180 रुपये तथा अधिकतम स्तर 270 रुपये प्रति वर्ष तय किया।

i) चरम निर्धनता

चरम निर्धनता से अभिप्राय है किसी व्यक्ति अथवा परिवार की जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ जुटा पाने में असमर्थता। इसका अर्थ है भौतिक आवश्यकताओं का घोर अभाव, भूखमरी, कुपोषण, आश्रय तथा कपड़ों की कमी, चिकित्सा सुविधाओं से पूर्णतया वंचित रहना। "चरम निर्धनता" को कभी-कभी "अस्तित्व निर्धनता" भी कहा जाता है क्योंकि यह जीवित रहने की न्यूनतम आवश्यकताओं के आकलन पर आधारित है। पौष्टिकता का आकलन कैलोरी तथा प्रोटीन की मात्रा से, आश्रय का आकलन मकान के स्तर तथा उसमें रहने वाले लोगों की संख्या, तथा शिशु मृत्युदर और चिकित्सा सुविधाओं के स्तर से किया जाता है। निर्धनता की परिभाषा को व्यापक बनाए जाने के बाद यह भी कहा जा रहा है कि भौतिक आवश्यकताओं से आगे जाकर सांस्कृतिक आवश्यकताओं – शिक्षा, सुरक्षा तथा मनोरंजन को भी इसमें शामिल किया जाना चाहिए। "चरम निर्धनता" की अवधारणा में जीवित रहने की जिन न्यूनतम आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है, वे सभी लोगों के लिए समान हैं।

यह तक पूरी तरह से स्वीकार कर पाना कठिन है। किसी कृषि मज़दूर की भोजन संबंधी आवश्यकताएँ किसी क्लर्क की आवश्यकताओं से भिन्न होंगी। इसी प्रकार कपड़े की ज़रूरतों में भी भिन्नता होगी। यदि सांस्कृतिक आवश्यकताओं को भी शामिल करें, तो मापदंड और जटिल हो जाएँगे। इन सभी दृष्टिकोणों में निर्धनता की अवधारणा की समझ का व्यापकीकरण तथा निर्धनता के आकलन में कठिनाई भी शामिल है।

कोष्ठक 13.01

भारत में 1947 के बाद हुई प्रगति इतिहास में द्वितीय है। किन्तु अन्य विकासशील देशों के मुकाबले यह प्रक्रिया धीमी और कष्टपूर्ण रही है। पिछले 40 वर्षों में निर्धनता में भी वृद्धि हुई है। प्रश्न कुछ हिस्सों में मौजूद ग़रीबी का नहीं है, बल्कि समूचे देश में बड़ी संख्या में ग़रीबी की रेखा से नीचे रह रहे लोगों का है।

ग़रीबी की रेखा का निर्धारण सामान्यतया जीवित रहने तथा काम कर सकने के लिए आवश्यक कैलोरी की प्रतिदिन न्यूनतम प्राप्ति (2400) के आधार पर किया जाता है। इसलिए इसमें जीवित रहने की अन्य आवश्यकताएँ जैसे कि मकान, कपड़ा, स्वास्थ्य तथा शिक्षा शामिल नहीं हैं। इस प्रकार यह वाकई एकदम न्यूनतम है।

ii) तुलनात्मक निर्धनता

"चरम निर्धनता" को पूर्णतया स्वीकार करना कठिन है, इसलिए "तुलनात्मक निर्धनता" की नई अवधारणा विकसित हुई है। इस अवधारणा के अनुसार किसी स्थान तथा समय विशेष में जीवन स्तर के अनुसार निर्धनता का आकलन किया जाता है। भाव यह है कि समाज के जीवन स्तर के मानक बदलते रहते हैं, इसलिए निर्धनता की परिभाषा भी इन बदलते हुए मानकों के अनुसार बदलती रहनी चाहिए। अत: निर्धनता की परिभाषा बदलते हुए समाजों की आवश्यकताओं तथा माँगों से जुड़ी होनी चाहिए। 1960 में 20 रुपये या उससे कम की प्रति व्यक्ति मासिक आय वाले लोग ग़रीबी की रेखा से नीचे माने जाते थे। 1990 में जिन लोगों की मासिक आय 122 रुपये से कम है, वे ग़रीबी की रेखा से नीचे माने जाते हैं। "तुलनात्मक निर्धनता" में यह तथ्य भी निहित है कि विभिन्न समाजों के मानक भिन्न होते हैं, अत: निर्धनता का सार्वभौमिक मापदंड तय करना असंभव है। अमेरिका में वहाँ के मानकों के हिसाब से लोग निर्धन माने जाते हैं, वे भारत में ग़रीब नहीं होंगे।

बोध प्रश्न 1

1) निर्धनता की परिभाषा कैसे की जा सकती है? अपना उत्तर पाँच-सात पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) निर्धनता के प्रति न्यूनतम दृष्टिकोण क्या है? अपना उत्तर पाँच-सात पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.4 निर्धनता के कारण

दक्षिण एशिया में मानव विकास, 1999 आमतौर पर दक्षिण एशिया में और खास तौर पर भारत में ग़रीबी, असमानता और वंचना की सुस्पष्ट स्थिति दर्शाता है। इस रिपोर्ट के अनुसार, विश्व जनसंख्या के 23% वाला दक्षिण एशिया इस धरती पर सबसे ग़रीब क्षेत्र है। इस भूभाग की 45% जनसंख्या, यथा लगभग 54 करोड़ लोग ग़रीबी की रेखा से नीचे रहते हैं, जिनकी दैनिक आय एक अमेरिकी डॉलर से भी कम है। ग़रीब लोगों की संख्या भारत में सर्वाधिक है, यथा 1999 में 53% लोग ग़रीबी की रेखा से नीचे थे (यानी उनकी आय प्रतिदिन एक अमेरिकी डॉलर से भी कम थी)। उक्त रिपोर्ट यह भी दर्शाती है कि धनाढ्यतम सदस्यों के बीच धन-सम्पत्ति और शक्ति का नाटकीय नैराश्य और संकेन्द्रण है। इस क्षेत्र में 20% सर्वोच्च आय वाले स्तर के पास कुछ आय का 40% है, जबकि निम्नतम आय वाले 20% के पास मात्र 10% ही। भारत में 10% धनाढ्यतम लोग देश के 10% निर्धनतम लोगों से 6 गुना अधिक कमाते हैं।

ग़रीबी का सामाजिक एवं आर्थिक वंचनों के साथ सीधा संबंध है। इन वंचनाओं के कुछ सूचक नीचे दशयि गए हैं :

सूचक	दक्षिण एशिया	भारत
उचित स्वास्थ्य-रक्षक सुविधाओं से वंचित	87.9 करोड़	66.1 करोड़
स्वच्छ पेय जल से वंचित	27.8 करोड़	17.8 करोड़
शिशु-जन्म मृत्युदर प्रति 1,00,000 सप्राण जन्म	480	437
घोर कुपोषण से ग्रस्त 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चे	7.9 करोड़	5.9 करोड़
प्राथमिक शिक्षा में नाम न लिखाने वाले बच्चे	5 करोड़	3.5 करोड़

निर्धनता के अनेक कारण हैं। हम इस भाग में तथा बाद के उप-भागों में इन कारणों की चर्चा कर रहे हैं। पहला कारण है – असमानता और निर्धानता के बीच संबंध। इसके पश्चात् दुष्चक्र सिद्धांत और अंत में भौगोलिक पहलुओं का विवेचन किया जायेगा।

13.4.1 असमानता और निर्धनता

प्रारंभ में सिर्फ निर्धनता के अध्ययन के ही प्रयास हुए, अर्थात् उसे समाज की स्थितियों से जोड़कर नहीं देखा गया। एक ब्रिटिश समाज कल्याण विशेषज्ञ ने सुझाव दिया की निर्धनता को अपर्याप्त आय के रूप में परिभाषित नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि किसी समाज में सम्पत्ति के बँटवारे में विषमता पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। मार्क्स के अनुसार विषमता पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पैदा होती है, जिसमें सम्पत्ति थोड़े से लोगों के हाथों में सिमट कर रह जाती है। ये मुट्ठीभर लोग सम्पत्ति उत्पादन के साधनों, जैसे कि दास, भूमि तथा पूँजी पर अपना कब्जा जमा लेते हैं। वे राजनीतिक प्रक्रिया को भी प्रभावित करने में सक्षम होते हैं, ताकि इस सामाजिक असमानता को कायम रखा जा सके। चूँकि राजनीतिक रूप से अमीर लोगों के पास शक्ति होती है, इसलिए सरकारी नीतियाँ उनका ही पक्ष पोषण करती हैं। इसी कारण अमीर लोग अमीर तथा ग़रीब लोग ग़रीब ही बने रहते हैं। मार्क्स का कहना था कि समूचा मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। इसलिए हालात तभी बदल सकते हैं जब ग़रीबों के पास अधिक राजनीतिक प्रभाव आ जाए।

कुछ अन्य विचारकों का मानना है कि समाज के सदस्यों को अपनी अलग-अलग भूमिका निभानी होती है। कुछ भूमिकाओं के लिए लंबे प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है (चिकित्सक, इंजीनियर, वकील, वैज्ञानिक आदि) वे लोग समाज से अधिक लाभ प्राप्त करते हैं। सब्ज़ी-विक्रेता, सफ़ाई कर्मचारी, टैक्सी-ड्राइवर, टाइपिस्ट, जैसे लोगों को कम पारिश्रमिक मिलता है। असमानता तो है, किन्तु क्योंकि समाज के संचालन के लिए ही ऐसा होता है अत: इसे वृत्तिमूलक माना जाता है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ये सभी काम किए ही जाने हैं।

13.4.2 दुष्चक्र सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार निर्धन लोग ऐसी परिस्थितियों में फँसे हुए हैं, जो ग़रीबी से उनकी मुक्ति को कठिन बना देती हैं। ग़रीबों को कम भोजन मिलता है, जिससे कम ऊर्जा मिलने के कारण स्कूल तथा काम में वे बढ़िया नहीं निकलते। घटिया तथा कम भोजन के कारण वे जल्दी-जल्दी बीमार पड़ते हैं। उनके मकानों की हालत ठीक नहीं होती तथा अक्सर अपने काम के लिए उन्हें बहुत दूर जाना पड़ता है। अपने काम के स्थान के समीप मकान लेने में वे या तो असमर्थ होते है या उन्हें वहाँ रहने की अनुमति ही नहीं होती। ये सभी परिस्थितियाँ मिलकर उन्हें ग़रीब बने रहने को विवश करती हैं। ग्रामीण विकास के एक अग्रणी विशेषज्ञ ने भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त निर्धनता की चर्चा करते हुए यह प्रश्न किया : "क्या ग्रामीण विकास की नीति में समन्वित ग्रामीण निर्धनता पर विचार किया जाता है?" इसके पहलुओं में ग़रीबी, शारीरिक दुर्बलता, असुरक्षा, लाचारी, एकाकीपन आदि शामिल हैं। जैसे कि इस सिद्धांत में कहा गया है, ग़रीब लोग निर्धनता के चंगुल से मुक्त नहीं हो सकते। किन्तु इस तरह के नियतिवादी विचार को कि वे निर्धनता से बच ही नहीं सकते, स्वीकार करना मुश्किल है। निर्धनता की इस व्याख्या को "स्थितिपरक सिद्धांत" भी कहा जाता है। ऐसा इसलिए कि निर्धन स्वयं को विशेष स्थिति में पाते हैं, जिसमें से यदि वे निकलना भी चाहें तो उनका निकलना बहुत कठिन होता है।

13.4.3 भौगोलिक पहलू

कभी-कभी निर्धनता की व्याख्या उन भौगोलिक स्थितियों के संदर्भ में की जाती है, जिनमें ग़रीब लोग रहते हैं। संसाधनों की कमी है और संसाधनों की कमी की इस समस्या से उबर पाने में लोग असमर्थ हैं। रेगिस्तानी तथा पहाड़ी क्षेत्र इस पहलू के अच्छे उदाहरण हैं। भारत में कुछ इलाकों को सूखा क्षेत्र घोषित किया गया है। इन क्षेत्रों में किए गए सर्वेक्षणों से पता चलता है कि वहाँ न केवल हालात खराब हैं, बल्कि कड़ा परिश्रम करने के बावजूद भी वहाँ के लोग अपनी दशा नहीं सुधार पाते हैं।

इनमें से कोई भी सिद्धांत निर्धनता के व्यापक तथ्य की पूरी तरह व्याख्या करने में असमर्थ है। हाँ, इनसे यह समझने में अवश्य मदद मिलती है कि ग़रीबी क्यों व्याप्त है?

13.5 निर्धनता के परिणाम

जैसा कि पहले कहा गया है सम्पन्न लोगों में अमीर बने रहने की शक्ति होती है। निर्धनता को जारी रखने में उनका स्वार्थ निहित होता है। ग़रीबी बनी रहती है क्योंकि समाज के कुछ वर्गों के लिए यह लाभप्रद है। ग़रीबी से सभी गैर-ग़रीब तबकों तथा अमीर और शक्तिशाली लोगों को खास तौर पर लाभ होता है। ग़रीबी के अनेक प्रकार्य हैं। जैसे –

i) निर्धनता यह सुनिश्चित करती है कि "गंदे काम हो जाएँगे"। बहुत से छोटे काम होते हैं, जिन्हें समाज में किया जाना होता है। ऐसे काम ग़रीब ही करते हैं।

ii) ग़रीबी के कारण घटिया वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए बाज़ार उपलब्ध होता है। उतरे हुए कपड़े, बासी खाद्य वस्तुएँ, घटिया मकान तथा अयोग्य लोगों द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली सेवाएँ ग़रीब ही इस्तेमाल करते हैं।

iii) ग़रीबी के कारण अमीरों का जीवन सुखी बनता है। रसोइयों, मालियों, धोबियों, चौका-सफ़ाई करने वालों आदि की मदद से धनी लोग सुखी जीवन बिता सकते हैं।

iv) निर्धनता से एक ऐसा वर्ग पनपता है, जो परिवर्तन के राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों को आत्मसात कर लेता है। प्रौद्योगिकी के विकास का अर्थ अकुशल लोगों की बेरोज़गारी में वृद्धि। बाँधों के निर्माण से ऐसे क्षेत्र ऐसी आबादियाँ बेदखल होती हैं, जहाँ नहरें बनाई जाती हैं। बेदखल भूमिहीन लोगों को कोई मुआवजा नहीं मिलता। बजट में धन की कमी के कारण जिन नीतियों में परिवर्तन होता है, वे जन-कल्याण कार्यक्रमों के बारे में ही होती हैं। निर्धनता को बनाए रखने में सम्पन्न लोगों का और प्राय: स्वयं सरकार का भी निहित स्वार्थ होता है, क्योंकि इससे समाज की स्थिरता बनाए रखने में योगदान मिलता है।

बोध प्रश्न 2

1) निर्धनता के कारण क्या हैं? अपना उत्तर पाँच-सात पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) निर्धनता के क्या-क्या प्रकार्य हैं? अपना उत्तर पाँच-सात पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

13.5.1 निर्धनता और उसके परिणाम

नीचे के उप-भाग में निर्धनता तथा उसके परिणामों की चर्चा की जा रही है। सबसे पहले निर्धनता की संस्कृति का विवेचन किया जा रहा है। हमने यह विवेचन भारत में ग़रीबी के संदर्भ में किया है। अंत में आय के वितरण में असमानता पर चर्चा की जाएगी।

13.5.2 निर्धनता की संस्कृति

पिछले अनुच्छेदों में ग़रीबी के कारणों का विश्लेषण किया गया है। ढाँचागत अथवा दुष्चक्र सिद्धांत में यह माना गया है कि ग़रीबों को अपनी स्थिति से बाहर निकलना लगभग असंभव लगता है। फिर लोग इन कष्टपूर्ण स्थितियों में जीते कैसे हैं? एक व्याख्या यह है कि निर्धनता उन्हें आचरण की ऐसी पद्धतियाँ विकसित करने के लिए विवश करती है, जिनके बल पर वे ग़रीबी की शोचनीय स्थितियों में भी जी लेते हैं? आचरण की इस पद्धति को "निर्धनता की संस्कृति" नाम दिया गया है। यह अवधारणा एक मानव-विज्ञानी ऑस्कर लेविस ने मेक्सिको में अपने अध्ययन के आधार पर विकसित की। उनका कहना है कि ग़रीब लोग अपनी अलग संस्कृति बल्कि उप-संस्कृति विकसित कर लेते हैं, जो उस समाज की मूल्य व्यवस्था अथवा आचरण पद्धति का अंग नहीं होती, जिसमें वे रहते हैं। लेविस के अनुसार ग़रीब सामाजिक दृष्टि से अलग-थलग होते जाते हैं। परिवार के सिवाय, चाहे वे किसी भी वर्ग से संबंधित हों, उनका दृष्टिकोण संकुचित रहता है। वे स्वयं को न तो अपने समाज से जोड़ते हैं और न देश के अन्य भागों के निर्धन लोगों से। इस संस्कृति में पलने वाले व्यक्ति में भाग्यवाद, असहायता, पर-निर्भरता तथा हीनता के भाव कूट-कूटकर भरे होते हैं। वे वर्तमान के लिए ही चिंतित रहते हैं, भविष्य के बारे में सोच ही नहीं पाते। संक्षेप में कहा जा सकता है कि निर्धनता की संस्कृति ग़रीबों द्वारा अभाव की स्थिति के अनुकूल स्वयं को ढालने की प्रक्रिया भी है और प्रतिक्रिया भी। यह निराशा तथा हताशा की भावना से उबरने का प्रयास है, क्योंकि ग़रीब को इस बात का एहसास है कि उच्च समाज के मूल्यों के अनुसार उसके लिए सफलता प्राप्त करना लगभग असंभव है। उनके अलग-थलग पड़ने का अर्थ है समाज की राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों में उनकी भागीदारी का अभाव। यह भी कहा जाता है कि बच्चों को इसी संस्कृति में संस्कारित किया जाता है, जिससे वे अपनी स्थिति सुधारने से अवसरों का लाभ नहीं उठा पाते क्योंकि वे नई स्थिति में स्वयं को असुरक्षित महसूस करते हैं।

इस अवधारणा की कई तरह से आलोचना की गई है। एक प्रश्न यह है कि क्या निर्धनता की संस्कृति की अवधारणा ग्रामीण परिस्थितियों पर भी लागू होती है? लेविस ने अपनी अवधारणा स्लम क्षेत्रों में किए गए अध्ययनों के आधार पर विकसित की है। इस बात के कुछ सबूत मिलते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी ग़रीब लोगों ने अपने इर्द-गिर्द उपसंस्कृति तथा सुरक्षा तंत्र के कारण नहीं, बल्कि इसलिए शरीक नहीं होते क्योंकि समाज एक प्रकार से उन्हें इससे रोकता है। सामाजिक संस्थाओं में भागीदारी के लिए साधनों के एक निश्चित स्तर की आवश्यकता होती है, जो निर्धन लोगों के पास नहीं होते (उदाहरण के लिए, धार्मिक आयोजन)। इस अवधारणा में एक दोष यह है कि इसमें ग़रीबी होने के लिए ग़रीबों को ही दोषी ठहराया गया है और सामाजिक प्रणाली को इसके लिए ज़िम्मेदार नहीं माना गया है। पहले हम यह चर्चा कर चुके हैं कि समाज में विषमता को किस प्रकार पुष्ट किया जाता है। उसमें यह भी कहा गया है कि निर्धनता की संस्कृति ग़रीबी का कारण नहीं बल्कि उसका परिणाम है।

सोचिए और करिए 2

किसी कुम्हार, धोबी या बर्तन माँजने वाली के घर जाइए। उनसे पूछिए कि क्या उनकी कोई मित्र मंडली है? निर्धनता की संस्कृति का पता लगाने का प्रयास कीजिए। अपने अनुभव को दो पृष्ठों में लिखिए तथा अपने अध्ययन केंद्र में अन्य विद्यार्थियों के साथ उस पर विचार-विमर्श कीजिए।

13.5.3 भारत में ग़रीबी

1960 के आसपास जब से दाण्डेकर तथा रथ ने ग़रीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या की ओर ध्यान आकर्षित किया, तब से भारत में ग़रीबी पर काफी विचार हुआ है। उस समय उन्होंने अनुमान लगाया था कि यदि प्रति व्यक्ति प्रतिमाह आय 20 रुपये से कम हो तो वह व्यक्ति ग़रीबी की रेखा से नीचे माना जाएगा। शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए आय की राशि अलग-अलग बताई गई है। (बम्बई के लिए 1990 में यह राशि 200 रुपये प्रतिमाह बताई गई।) यह राशि प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 2400 कैलोरी खरीदने के लिए आवश्यक धन के आधार पर आँकी गई है। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए यह राशि 1988 में 122 रुपये थी।

ग्रामीण क्षेत्रों में ग़रीबी की रेखा से नीचे के लोगों की संख्या के संबंध में भिन्न-भिन्न अनुमान हैं। 1977-78 में यह आँका गया कि 51 प्रतिशत ग्रामीण आबादी (25 करोड़ 20 लाख) ग़रीबी की रेखा से नीचे है। 1987-88 में यह अनुमान लगाया गया कि लगभग 45 प्रतिशत ग्रामीण जनता (26 करोड़ 10 लाख) ग़रीबी की रेखा से नीचे थी। यद्यपि प्रतिशत की दृष्टि से कमी आई, किन्तु जनसंख्या में वृद्धि के कारण कुल संख्या के हिसाब से ग़रीबी की रेखा के नीचे रहने वालों में बढ़ोत्तरी हो गई। संख्या के बारे में अलग-अलग अनुमान होने के बावजूद यह सर्वमान्य तथ्य है कि ग़रीबी के शिकार लोगों की संख्या बहुत अधिक है। शहरों में ग़रीबी से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या 1987-88 में 7 करोड़ 70 लाख (प्रतिशत) आँकी गई। 1990 में ग्रामीण तथा शहरी दोनों तरह के क्षेत्रों में ग़रीबी की रेखा से नीचे के लोगों की संख्या लगभग 35 करोड़ बताई गई है।

तालिका 1 : ग्रामीण-शहरी स्थिति द्वारा ग़रीबी व्याप्तता अनुपात : सम्पूर्ण भारत और 14 प्रमुख राज्य (1993-94 से 1999-2000) (ग़रीबी की रेखा से नीचे जनसंख्या का प्रतिशत)

राज्य	ग्रामीण		शहरी	
	1993-94	**1999-2000**	**1993-94**	**1999-2000**
सम्पूर्ण भारत	39.36	36.35	30.37	28.76
आन्ध्र प्रदेश	27.97	25.48	35.44	32.28
असम	58.25	61.78	10.13	12.45
बिहार	64.41	58.85	45.03	45
गुजरात	28.62	26.22	28.86	21.7
हरियाणा	30.52	14.86	13.4	13.79
कर्नाटक	37.73	38.5	32.41	24.55
केरल	33.95	26.5	28.2	31.89
मध्य प्रदेश	36.93	39.35	46.02	46.29
महाराष्ट्र	50.21	50	33.52	32.16
उड़ीसा	59.12	62.67	36.99	34.27
पंजाब	17.61	14.24	6.79	6.74
राजस्थान	25.92	15.01	30.6	24.36
तमिलनाडु	37.27	39.37	37.83	29.82
उत्तर प्रदेश	39.08	29.87	34.23	36.39
पश्चिम बंगाल	54.15	56.16	20.97	16.74

टिप्पणियाँ : 1993-94 के लिए राज्य विशिष्ट ग़रीबी रेखाओं को कृषि-श्रमिक उपभोक्ता मूल्य सूचकांक (ग्रामीण जनसंख्या के लिए और उद्योग-श्रमिक उपभोक्ता मूल्य सूचकांक (शहरी जनसंख्या के लिए) का संदर्भ लेकर मुद्रास्फीति हेतु समायोजित किया गया है।

स्रोत : सुन्दरम्, के., 'इम्प्लॉयमण्ट एण्ड पॉवर्टी इन 1990'ज़ : फदर रिज़ल्ट्स फ्रॉम एन. एस.एस. 55थ राउण्ड इम्प्लॉयमण्ट-अनइम्प्लॉयमण्ट सर्वे', 1999-2000, *इकान्मिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली*, 11 अगस्त 2001, पृष्ठ 3039-49।

हाल के वर्षों में अखिल भारतीय स्तर पर ग़रीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों के अनुपात में गिरावट आयी है। तथापि, राज्यों के बीच अनेक क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं। पुन:, कुछ राज्यों में जबकि शहरी ग़रीबी का विस्तार कम हुआ है, ग्रामीण ग़रीबी बढ़ी है। उदाहरण के लिए, कर्नाटक, उड़ीसा, तमिलनाडु तथा पश्चिम बंगाल में। तथापि, हरियाणा व केरल के मामले में जबकि ग्रामीण ग़रीबी घटी है, शहरी ग़रीबी अंशत: बढ़ी है। असम और मध्य प्रदेश के उदाहरण में, ग्रामीण व शहरी दोनों ही क्षेत्रों में ग़रीबी का विस्तार बढ़ा है।

13.5.4 आय वितरण में विषमता

आय के वितरण में घोर विषमता मौजूद है। ग्रामीण क्षेत्रों में कुल आय में नीचे के 20 प्रतिशत लोगों का हिस्सा केवल 4 प्रतिशत है, जबकि ऊपर के 10 प्रतिशत लोगों का 36 प्रतिशत आय पर अधिकार है। इसी प्रकार, शहरों में नीचे के 20 प्रतिशत लोगों का हिस्सा मात्र 9 प्रतिशत है, जबकि ऊपर के 10 प्रतिशत लोगों का हिस्सा 42 प्रतिशत है। यह स्थिति अमीरों तथा ग़रीबों के बीच मौजूद चौड़ी खाई की द्योतक है। उपभोग व्यय के मामले में भी यही स्थिति दिखाई देती है। देश में ऊपर के 20 प्रतिशत लोग 42 प्रतिशत भाग का उपभोग करते हैं, जबकि नीचे के 20 प्रतिशत लोग केवल 10 प्रतिशत उपभोग के हकदार हैं। भूमि वितरण की पद्धति से भी "सम्पन्न" तथा "विपन्न" के बीच व्यापक अंतर की पुष्टि होती है। देश की कुल कृषि योग्य भूमि का 50 प्रतिशत हिस्सा लगभग 15 प्रतिशत किसानों के पास है, जबकि 50 प्रतिशत किसानों के हाथों में 20 प्रतिशत से भी कम भूमि है। यद्यपि आँकड़ों की पूर्ण सत्यता पर आपत्ति की जा सकती है, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि संपदा, आय, भूमि तथा उपभोग के बँटवारे के मामले में घोर असंतुलन व्याप्त है।

धन-सम्पत्ति के दोषपूर्ण बँटवारे के फलस्वरूप एक-तिहाई जनसंख्या के पास इतने साधन भी नहीं रहते कि वे अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी कर पाएँ। इसका सीधा परिणाम यह निकलता है कि बड़ी संख्या में लोग या तो ग़रीबी की रेखा से नीचे अथवा इस रेखा के करीब जीवन बिताने को विवश हैं और दूसरी ओर थोड़े से लोग धन-सम्पत्ति जमा कर रहे हैं। इस स्थिति को देखते हुए यह आशंका होती है कि गरीब तथा अमीर का यह अंतर क्या कभी दूर हो भी पाएगा? उत्पादन के साधनों – सम्पत्तियों, भूमि, स्वामित्व तथा अतिरिक्त साधनों के असमान वितरण से ग़रीबी पैदा होती है तथा आर्थिक, राजनीतिक और नौकरशाही ताकतों एवं निहित स्वार्थों से बने सत्ता ढाँचे के द्वारा इसे बराबर पुष्ट किया जाता है। निर्धनता के कारणों की चर्चा करते हुए असमानता को एक प्रमुख कारण बताया गया था। इसी प्रकार निर्धनता केवल आर्थिक विषय नहीं है, बल्कि इसके राजनीतिक तथा समाजशास्त्रीय आयाम भी हैं।

13.6 ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रम

भारत में योजना प्रक्रिया में घोर ग़रीबी को हमेशा ध्यान में रखा जाता है। पहले ही योजनाओं में इस समस्या से परोक्ष रूप से अर्थात् सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि, भूमि सुधारों, सेवाओं की

व्यवस्था, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम आदि कि माध्यम से निपटने का दृष्टिकोण अपनाया गया। छठी पंचवर्षीय योज़ना में आकर ग़रीबी हटाने के लिए विशेष कार्यक्रम प्रारंभ किए गए। किन्तु यह माना जाता है कि समस्या इतनी गहरी और व्यापक है कि इसे ऐसे किसी विशेष कार्यक्रम से हल करना सरल नहीं है। सातवीं पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज़ में कहा गया है : "ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रमों को देश के सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। विशिष्ट ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के ज़रिए निर्धनता पर सीधे हमले की वर्तमान कार्यनीति इसलिए सही है क्योंकि आर्थिक प्रगति के लाभ ग़रीबों तक नहीं पहुँच रहे हैं। यह बात माननी होगी कि यदि अर्थव्यवस्था के विकास की गति धीमी होगी और इस विकास के लाभों का बँटवारा असमान रहेगा तो ग़रीबी दूर करने की यह कार्यनीति न तो अधिक समय तक चली पाएगी और न ही इसके अपेक्षित परिणाम मिलेंगे। .... ढाँचे में परिवर्तन, शिक्षा के विकास, चेतना तथा सोच में परिवर्तन और लोगों के दृष्टिकोण को गतिशील बनाने जैसे उपायों के ज़रिए सामाजिक परिवर्तन लाए बिना निर्धन वर्गों का आर्थिक उत्थान संभव नहीं है।"

यहाँ जिन विशिष्ट कार्यक्रमों का उल्लेख किया जा रहा है उन्हें ऊपर के वक्तव्य के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। यहाँ बताए जा रहे कार्यक्रम सातवीं पंचवर्षीय अवधि में लागू थे।

13.6.1 एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम तथा अन्य रोज़गार कार्यक्रम

एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम 1970 के दशक के अंतिम वर्षों में शुरू किया गया था। इस कार्यक्रम का लक्ष्य दो मुख्य उद्देश्यों के लिए एक व्यावहारिक एकीकृत कार्यनीति विकसित करना था। एक उद्देश्य था देश के विभिन्न विकास खंडों में भूमि, बिजली और पानी का बेहतर इस्तेमाल करके कृषि और उससे जुड़े क्षेत्रों में उत्पादकता बढ़ाना और दूसरा उद्देश्य था देश के विभिन्न खंडों में निर्धन वर्गों की आय और संसाधनों में वृद्धि करना।

एकीकृत करने का अर्थ है विशिष्ट कार्यक्रमों या क्षेत्र कार्यक्रमों को एक साथ लाना। उदाहरण के लिए, लघु किसान विकास, सीमांत किसान तथा खेतिहर मज़दूर कार्यक्रम और सूखा प्रभावित क्षेत्र कार्यक्रम। यह कार्यक्रम अति निर्धन लोगों, अर्थात् जिनकी पारिवारिक आय 4,800 रुपये निर्धारित हो, तो इतनी आमदनी वाले लोग अति निर्धन की श्रेणी में कैसे आ सकते हैं? कार्यक्रम के अंतर्गत चलाई जाने वाली विशिष्ट गतिविधियाँ निर्धारित समूहों की आवश्यकताओं के अनुरूप थीं। जैसे कि विशेष चावल कार्यक्रम, दुग्ध उत्पादन बढ़ाने का कार्यक्रम (operation flood), हथकरघा कार्यक्रम, रेशम उत्पादन आदि। इसके अंतर्गत उद्योगों, सेवाओं तथा व्यापार में वृद्धि के प्रयास किए जाने थे। वित्तीय सहायता अनुदान और ऋणों के रूप में दी गई।

बेरोज़गारी ग़रीबी का महत्त्वपूर्ण पहलू है। ग्रामीण क्षेत्रों में खेतिहर मज़दूरों को केवल फसल के मौसम में काम मिलता है। बेरोज़गारों की दर में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। 1971 में लगभग 35 लाख लोग बेरोज़गार थे। 1983 में यह संख्या बढ़कर 45 लाख हो गई। इस समय देश के रोज़गार दफ्तरों में करीब तीन करोड़ व्यक्तियों के नाम दर्ज हैं। इसलिए ग़रीबी की समस्या से निपटने में रोज़गार के अवसर बढ़ाना एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है।

इन क्षेत्रों में शुरू किए गए कार्यक्रम हैं : राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम। 1980 के दशक के दूसरे भाग में एक अन्य कार्यक्रम 'जवाहर रोज़गार योजना' का शुभारंभ किया गया। राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम में प्रति वर्ष 30 से 40 करोड़ कार्य-दिवसों का रोज़गार जुटाने का लक्ष्य तय किया गया। इसके अंतर्गत सिंचाई के लिए नहरों, सामाजिक वानिकी, मृदा संरक्षण, सड़कों, विद्यालय की इमारतों, पंचायत घर आदि के निर्माण का प्रावधान था। ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम गाँवों में रहने वाले भूमिहीन लोगों को रोज़गार देने के उद्देश्य से चलाया गया। इस कार्यक्रम में प्रत्येक ग्रामीण भूमिहीन परिवार के कम से कम एक व्यक्ति को 100 दिनों के लिए रोज़गार देने और निर्माण

कार्य चलाने का प्रावधान किया गया। इन कार्यक्रमों के अंतर्गत अन्य कार्यों के अलावा आवास निर्माण तथा सामाजिक वानिकी को शामिल किया गया। जवाहर रोज़गार योजना में सामुदायिक भवन, बारात घर आदि के निर्माण के ज़रिए देने की व्यवस्था की गई।

सोचिए और करिए 2

किसी ग्रामीण इलाके अथवा स्लम क्षेत्र में जाकर वहाँ चलाए गए ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के संबंध में जानकारी एकत्र कीजिए। एकत्र की गई सूचना के आधार पर ग्रामीण/स्थल क्षेत्र में ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रम के प्रभाव पर 20 पंक्तियों का नोट लिखिए। यदि संभव हो तो अपने नोट को अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों द्वारा लिखे गए नोट से मिलाकर देखिए।

13.6.2 महिला, युवा एवं क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम

1980 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रायोगिक तौर पर एक अन्य कार्यक्रम प्रारंभ किया गया, जिसका नाम था 'ग्रामीण महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम'। इस कार्यक्रम का उद्देश्य था, महिलाओं की आय बढ़ाना तथा उन्हें आय पैदा करने वाली गतिविधियाँ चलाने लायक बनाने के लिए आवश्यक सहायता और सेवाएँ उपलब्ध कराना। महिलाओं का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए रोज़गार लायक शिक्षा देने तथा स्वास्थ्य सुधार पर विशेष ध्यान दिया गया। छठी पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ में ग्रामीण युवा स्व-रोज़गार प्रशिक्षण कार्यक्रम भी चलाया गया। यह कार्यक्रम ग़रीबी की रेखा से नीचे के परिवारों के 18 से 35 वर्ष के युवाओं के लिए था। इस कार्यक्रम के अंतर्गत हर साल प्रत्येक खंड के 40 युवकों को प्रशिक्षित करने का लक्ष्य था। इसके लिए चुने गए युवकों को छात्रवृत्ति मिलती थी। युवकों को भौगोलिक आवश्यकताओं के अनुरूप प्रशिक्षण देने के प्रयास भी किए गए।

कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं, जिन पर प्रकृति की विशेष कृपा नहीं हुई। जैसे सूखाग्रस्त क्षेत्र, रेगिस्तानी तथा पर्वतीय क्षेत्र आदि। ऐसे इलाकों में लोगों की आमदनी में काफी उतार-चढ़ाव रहता है। इन क्षेत्रों के निर्धन लोगों की मदद के लिए कई कार्यक्रम चलाए गए हैं। उदाहरण के लिए, सूखा प्रभावित क्षेत्र कार्यक्रम के अंतर्गत आने वाले इलाकों में बागवानी, कृषि, पशु-पालन, रेशम उत्पादन जैसे कार्यक्रम चलाए गए। इसी प्रकार, रेगिस्तानी इलाकों में वृक्षारोपण, पशुपालन, भूमिगत जल का उपयोग संबंधी कार्यक्रम हाथ में लिए गए।

शहरी इलाकों में स्लम क्षेत्रों में मुख्य रूप से पर्यावरण सुधार पर ध्यान दिया गया। बुनियादी सुविधाओं, सड़कों, पैदल चलने के रास्तों, जल आपूर्ति आदि के लिए प्रति व्यक्ति प्रतिमाह 300 रुपये की दर से सहायता उपलब्ध कराई गई।

कार्यक्रमों का यह ब्यौरा बहुत सतही है। हमारा उद्देश्य निर्धनता की समस्या से निपटने के प्रति सरकार के दृष्टिकोण से संबंध में सामान्य जानकारी देना मात्र है। इन कार्यक्रमों की उपलब्धियों के मूल्यांकन के लिए अनेक अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों में से अधिकतर की राय में स्थिति में कुछ सुधार हुआ है, किन्तु जो लक्ष्य तय किए गए, वास्तविक उपलब्धि उनसे काफी कम रही।

बोध प्रश्न 3

1) निर्धनता तथा उसके परिणामों की व्याख्या कीजिए। अपना उत्तर पाँच-सात पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) किसी ग़रीबी उन्मूलन कार्यक्रम का वर्णन कीजिए। अपना उत्तर पाँच-सात पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13.7 सारांश

निर्धनता के वैचारिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्ष प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इकाई को विभिन्न भागों में विभाजित किया गया है। निर्धनता की परिभाषा में यह भी बताया गया है कि ग़रीबी का आकलन कैसे किया जाता है निर्धनता के कारणों तथा परिणामों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस इकाई में अंतिम भाग में भारत में ग़रीबी की व्यापकता तथा उसे दूर करने की नीतियाँ और कार्यक्रमों का संक्षेप में उल्लेख किया गया है। निर्धनता पर प्राय: आर्थिक दृष्टि से विचार किया जाता है। इस इकाई में यह भी बताया गया है कि ग़रीबी के कई आयाम हैं। यहाँ विशेष बल निर्धनता के समाजशास्त्रीय पहलू पर दिया गया है। इसलिए निर्धनता की समस्याओं को हल करने के लिए बहु-आयामी दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। यहाँ इन पर भी चर्चा की गई है।

13.8 शब्दावली

चरम निर्धनता (Absolute Poverty) : चरम निर्धनता का अर्थ उस व्यक्ति या परिवार की अक्षमता से है, जो जीवन की बुनियादी आवश्यकताएँ जुटा पाने में अक्षम हो।

क्षेत्रीय कार्यक्रम (Area Programme) : ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जिन पर प्रकृति की कृपा नहीं है। इन क्षेत्रों के निर्धन लोगों की सहायता के लिए विभिन्न कार्यक्रम चलाए गए हैं।

निर्धनता (Poverty) : इसकी परिभाषा विभिन्न रूपों में की गई है, मुख्यतया ग़रीबी की रेखा के रूप में, जिससे नीचे रहने वाले व्यक्ति को निर्धन माना जाता है। अब इसमें राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय पहलुओं पर भी ध्यान दिया गया है।

तुलनात्मक निर्धनता (Relative Poverty) : इस अवधारणा के अनुसार निर्धनता का आकलन निश्चित समय एवं स्थान के जीवन के स्तर के आधार पर किया जाता है।

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) निर्धनता की परिभाषा "ग़रीबी की रेखा" के संदर्भ में की जाती है। इस रेखा से नीचे रहने वाले लोग ग़रीब माने जाते हैं। इसमें एक दोष यह है कि ग़रीबी की रेखा का निर्धारण इकतरफा तौर पर किया जाता है। इसलिए इसके औचित्य पर आपत्ति की जा सकती है। फिर भी, इससे यह निर्धारित करने का एक तरीका तो मिलता ही है कि ग़रीब कौन है।

2) निर्धनता के प्रति न्यूनतम दृष्टिकोण है सभी निर्धन लोगों का न्यूनतम जीवन स्तर ऊपर उठाने का प्रयास करना। इसमें लोगों में आत्म-सम्मान बढ़ाना, सामाजिक गतिशीलता तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी बढ़ाने का प्रयास शामिल है।

बोध प्रश्न 2

1) निर्धनता के अनेक कारण हैं। इनमें पहला कारण है किसी समाज में सम्पदा के वितरण में विषमता। दूसरा है, दुष्चक्र सिद्धांत जिसके अनुसार ग़रीब लोग धन की कमी के कारण ग़रीब बने रहते हैं। अंतिम कारण है, भौगोलिक पहलू जिसके अनुसार लोग जिन क्षेत्रों में रहते हैं, वे अनुत्पादक हैं, जिस कारण वे निर्धनता के शिकार होते हैं।

2) निर्धनता के अनेक कार्य हैं। ये इस प्रकार हैं :

   i) इससे गंदे कार्यों का सम्पन्न होना सुनिश्चित बनता है।

   ii) ग़रीब लोग घटिया सामान खरीदते हैं तथा घटिया सेवाओं में लगाए जा सकते हैं।

   iii) इससे सम्पन्न लोगों का जीवन सुखी बनाने में मदद मिलती है।

   iv) निर्धनता से ऐसा वर्ग पनपता है, जो परिवर्तन के आर्थिक तथा राजनीतिक कारणों को आत्मसात कर लेता है।

बोध प्रश्न 3

1) निर्धनता के कई परिणाम हैं। इनमें से एक परिणाम है निर्धनता की संस्कृति। इस संस्कृति में ग़रीब लोग शोचनीय स्थितियों में रहना सीखते हैं। उनकी यह उप-संस्कृति उस समाज की संस्कृति से भिन्न होती है, जिसमें वे रहते हैं। उसके अलावा निर्धन लोग प्राय: ग़रीबी की रेखा से नीचे जीवन बिताते हुए सामाजिक दृष्टि से अलग-थलग होते जाते हैं।

2) एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम 1970 के दशक के अंत में चलाया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि तथा भूमि से जुड़े अन्य क्षेत्रों में उत्पादकता बढ़ाना था। इसमें समाज के कमज़ोर वर्गों की आय तथा साधनों में वृद्धि का भी प्रावधान किया गया था।

इकाई 14 अपराध और अपचार

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 अपराध और सामाजिक संपर्क

14.2.1 बाल अपचार

14.2.2 अपराध और अपचार

14.3 अपराध और अपचार के जानकारी में नहीं आने वाले मामले

14.3.1 पुलिस रिपोर्ट

14.3.2 अपराध के कारण

14.4 सहज और परिवेश संबंधी कारक

14.4.1 वास्तविकता बनाम कल्पना-संसार

14.4.2 स्वास्थ्य और रोग

14.5 परिवार में परिवेशजन्य कारक

14.5.1 परिवार

14.5.2 परिवार के स्वरूप में बिखराव

14.5.3 बच्चों की देखभाल और अपचार

14.5.4 परिवार में ग़रीबी

14.6 सामाजिक परिवेश

14.6.1 तंग बस्तियाँ (स्लम)

14.6.2 कमाना और स्कूल जाना

14.6.3 जन-संचार माध्यमों का दुष्प्रभाव

14.6.4 ग़रीबी और कम आमदनी

14.7 अपराध और अपचार नियंत्रण की नीति

14.8 सारांश

14.9 शब्दावली

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आपके लिए यह संभव हो सकेगा कि आप :

- अपराध और बाल अपचार पर चर्चा कर सकें;

- अपराध और अपचार के जानकारी में न आने वाले मामलों पर टिप्पणी कर सकें;
- अपराध और अपचार के सहजात और परिवेशजन्य कारकों को समझा सकेंगे; और
- अपराध और अपचार के सिलसिले में पारिवारिक और सामाजिक वातावरण के महत्त्व को स्पष्ट कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई (इकाई 13) में हमने ग़रीबी और उसके सामाजिक प्रभाव का प्रभाव का अध्ययन किया। इस इकाई में हम अपराध और बाल-अपचार के बारे में पढ़ेंगे। हम अपराध व उससे संबद्ध क्रियाओं की चर्चा करेंगे और फिर बाल अपराधों और अन्य अपराधों और अपचारों के बारे में बताएँगे। अगले भाग में हम भारत में अपराध और अपचार संबंधी कुछ निर्णायक आँकड़ों पर नज़र डालेंगे। इसके बाद, अपराध के सहज (innate) और परिवेश से जुड़े कारकों की चर्चा होगी। वातावरण में जुड़े कारकों में मुख्यत: परिवार के ढाँचे में आने वाले बिखराव शामिल हैं। इसमें बच्चों की देखभाल, परिवार में ग़रीबी आदि शामिल हैं। इसके बाद हम ''परिवार के बाहर'' के कारकों पर विचार करेंगे और परिवार के चारों तरफ के वातावरण का अध्ययन करेंगे। इस भाग में गंदी बस्तियों का माहौल, कमाना और और स्कूल जाना और संचार माध्यमों के प्रभाव का विश्लेषण शामिल हैं। अंत में, अपराध और अपचार नियंत्रण की नीति पर विचार किया जाएगा।

14.2 अपराध और सामाजिक संपर्क

जब लोग व्यक्तिगत और सामूहिक जरूरतों की पूर्ति के लिए एक स्थान पर जमा होते हैं, वे व्यवहार को निर्धारित करने की सीमा तय करते हैं और नियम बनाते हैं। परन्तु समाज में ऐसे भी लोग होते हैं, जो समाज द्वारा स्वीकृत नियमों और कानूनों का पालन नहीं करते।

हर समाज अपने विकास की प्रक्रिया में वांछित आचरण के मूल्यों और आदर्शों का विकास करता है। इन्हीं में से कुछ आदर्शों को बाद में नियमों के रूप में संहिताबद्ध कर लिया जाता है। राज्य इन नियमों के उल्लंघन पर दंड की व्यवस्था करता है।

ऐसा कोई काम करना अथवा करने में असफल होना अपराध माना जाता है, जिससे आपराधिक कानून का उल्लंघन होता हो। ऐसा आचरण करने पर जुर्माना, कैद, मृत्युदंड जैसी सजा दी जाती है, ताकि आगे ऐसे अपराध न हों। ''अपराध'' का अर्थ ऐसा समाज-विरोधी आचरण है, जिससे जन-भावनाओं को इतनी चोट पहुँचती है कि कानून उसकी इजाज़त नहीं देता है। अपराध ऐसा कार्य है, जिसे जनता खतरनाक मानती है, ऐसे काम की निदा करती है और ऐसा करने वाले को दंड देती है। इस प्रकार, अपराध अवांछित आचरण के संपूर्ण दायरे का एक विशिष्ट हिस्सा है।

अनैतिक आचरण का एक बड़ा हिस्सा ऐसा भी होता है जिस पर कानूनी तौर से सज़ा नहीं दिलाई जा सकती है। ऐसे व्यवहार पर नियंत्रण समाज के हाथों में होता है। अनैतिक आचरण और अपराध के बीच अंतर कर पाना बड़ा कठिन है। कुछ देशों में जिन कार्यों को अपराध समझा जाता है, अन्य देशों में उन्हें मात्र अनैतिक समझा जाता है। ऐसे आचरणों को समाज में अपराध तभी माना जाता है, जब उन्हें इतना ख़तरनाक समझा जाए कि उनके खिलाफ कानूनी कार्रवाई जरूरी हो। एक राज्य में शराब की खरीद-बिक्री अपराध समझा जा सकता है, दूसरे में नहीं। बहुत ज़्यादा शराब पीना अनुचित अवश्य है, पर जहाँ शराब पीने की कानूनी तौर से अनुमति है, वहाँ इसे कानूनन गलत नहीं माना जाएगा। माता-पिता का सम्मान न करना अनैतिक है, पर कानूनन गलत नहीं है। इसलिए यह अपराध नहीं है।

14.2.1 बाल अपचार

अपराध माने जाने वाले कार्य जब एक विशेष उम्र से कम उम्र वालों द्वारा किए जाते हैं, तो उन्हें किशोर अपचार कहते हैं। किशोर अपराधियों की उम्र विश्व भर में एक जैसी नहीं है। भारत में **लड़कों के लिए यह उम्र 16 वर्ष और लड़कियों के लिए 18 वर्ष रखी गई है।** इसका एक पहलू यह भी है कि ऐसे कुछ कार्य जो वयस्कों द्वारा किए जाने पर अपराध नहीं माने जाते, बच्चों और किशोरों द्वारा किए जाने पर गलत समझे जाते हैं। उदाहरण के लिए, 16 वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा या किशोर निम्न कार्यों को करे तो उसके मामले में पुलिस और संबंधित अदालतें कार्रवाई कर सकती हैं :

1) स्वेच्छाचारी होने के कारण माँ-बाप या अभिभावकों की बात न माने, अथवा आदतन अवज्ञा करे।

2) आदतन स्कूल जाने में टाल-मटोल करे।

3) अपने निर्धारित खर्चों की सीमा में न रहे।

4) आदतन ऐसा व्यवहार करे, जिससे उसका चरित्र-बल, आत्म-बल और स्वास्थ्य गिर जाए।

14.2.2 अपराध और अपचार

समाज के गठित होने और आचार-संहिताओं के बनाए जाने के समय में ही इनका उल्लंघन करने वाले लोग मौजूद रहे हैं। हर युग और हर समाज में बच्चों, कम उम्र किशोरों और अनेक वयस्कों ने स्वीकृत व्यवहार के नियमों को तोड़ा है। ऐसे आचरण में चिंताजनक वृद्धि हो गई हैं अनेक देशों में तो ग़ैर-कानूनी व्यवहार असहनीय हो गया है। भारत में स्थिति कुछ बेहतर है। लेकिन हमारे देश में भी ऐसे आचरण से होने वाली जन-धन की हानि और उत्पीड़न काफी गंभीर स्थिति में पहुँच गया है।

आजकल देश में औसतन हर सत्रहवें मिनट में **एक** व्यक्ति की हत्या होती है। प्रतिदिन **27** महिलाओं से बलात्कार होता है। हर पाँच मिनट में **एक** दंगा हो जाता है और प्रतिदिन **47** लोगों का अपहरण कर लिया जाता है। हर सोलहवें मिनट एक डकैती हो जाती है और रोज़ाना **35** मकानों में सेंध लगाई जाती है। हर डेढ़ मिनट में एक चोरी होती है। हर साल **3** अरब **35** करोड़ रुपये की सम्पत्ति चुरा ली जाती है, जिसमें से एक-तिहाई ही पुलिस वापस छुड़ा पाती है।

भारतीय दंड संहिता के तहत आने वाले अपराधों (हत्या, बलात्कार, अपहरण, दंगा, डकैती, सेंध लगाना, चोरी, धोखाधड़ी आदि) की ओर नज़र दौड़ाएँ, तो अकेले 1989 में पुलिस ने करीब **23** लाख लोगों को अलग-अलग गिरफ्तार किया था। इनके अलावा स्थानीय और विशिष्ट कानूनों (जैसे मद्य-निषेध कानून, जुआ-निषेध कानून, आबकारी कानून, भारतीय रेलवे कानून, अनैतिक व्यापार निरोध कानून, मादक पदार्थ निषेध कानून आदि, के तहत करीब 40 लाख गिरफ्तार किए गए थे। कुल 63 लाख गिरफ्तारियों में किशोरों की संख्या करीब 36 हजार थी। इनमें 24,777 लड़के और 11,615 लड़कियाँ थीं।

14.3 अपराध और अपचार के जानकारी में नहीं आने वाले मामले

नीचे दिए गए आँकड़े सरकारी रिकार्डों पर आधारित हैं (क्राइम इन इंडिया) लेकिन समाज में वास्तव में कितने लोग कानून तोड़ते हैं, इसके बारे में कोई निश्चित रूप से नहीं बता सकता। कई विद्वानों का मानना है कि अपराध और अपचार के सरकारी आँकड़ों से मात्र ऐसी घटनाओं को रोकने वाली एजेंसियों (पुलिस) के कार्यों का अंदाज लगता है। आपराधिक आचरण वास्तव में कितना व्यापक है, इसका पता इन आँकड़ों से नहीं चलता। फिर भी पुलिस की जानकारी

में आने वाले आपराधिक आँकड़े ही सर्वोत्तम उपलब्ध सूचकांक हैं क्योंकि ये नागरिकों द्वारा पुलिस में दर्ज़ किए गए अथवा पुलिस द्वारा पता लगाए गए मामलों को प्रकाश में लाते हैं।

तालिका 1 : भारत में अपराध पर एक विहंगम दृष्टि

कुल अपराध घटनाएँ ('00,000 में)	**1951**	**1961**	**1971**	**1981**	**1991**	**1997**	**1998**	**1999**	**2000**
कुल	NA	NA	38.6	39.3	50.5	64.1	61.8	49.1	51.6
भारतीय दंड संहिता	6.5	6.3	9.5	13.9	16.8	17.2	17.8	17.6	17.7
विशेष व स्थानीय कानून	NA	NA	29.1	25.4	33.7	46.9	44.0	31.5	33.9
दर*									
कुल	NA	NA	701.1	569.8	594.3	671.2	636.7	497.8	515.7
भारतीय दंड संहिता	NA	16.2	26.8	61.0	12.6	7.9	9.4	8.9	9.3
विशेष व स्थानीय कानून	NA	NA	142.8	97.7	22.1	4.4	6.0	5.6	5.6
बाल अपराध घटनाएँ ('000 में)									
कुल	NA	NA	169.6	158.7	34.7	12.3	15.4	14.5	14.9
भारतीय दंड संहिता	NA	16.2	26.8	61.0	12.6	7.9	9.4	8.9	9.3
विशेष व स्थानीय कानून	NA	NA	142.8	97.7	22.1	4.4	6.0	5.6	5.6
दर*									
कुल	NA	NA	30.8	23.2	4.1	1.3	1.6	1.5	1.4
भारतीय दंड संहिता	NA	3.7	4.9	8.9	1.5	0.8	1.0	0.9	0.9
विशेष व स्थानीय कानून	NA	NA	25.9	14.3	2.6	0.5	0.6	0.6	0.5
दस वर्षीय अपराध घटनाएँ ('000 में)									
कुल	NA	NA	NA	1.8	28.4	28.3	18.7	-8.7	5.5
भारतीय दंड संहिता	NA	-3.1	50.8	46.3	21.1	22.2	23.5	15.3	10.4
विशेष व स्थानीय कानून	NA	NA	NA	-12.7	32.4	30.7	16.9	-18.2	3.1

पुलिस बल ('00,'000 में) (वास्तविक)									
कुल	NA	NA	7.07	8.98	11.53	12.80	13.1	13.2	13.0
असैनिक	NA	NA	5.34	6.92	9.04	9.90	10.2	10.3	10.3
सशस्त्र	NA	NA	1.73	2.06	2.49	2.90	2.9	2.9	2.7
दस वर्षीय पुलिस वृद्धि	NA	NA	—	27.0	28.4	20.8	23.3	17.7	15.1
पुलिसकर्मी सघनता (प्रति 100 वर्ग किमी.)	NA	NA	—	27.3	35.1	40.4	41.5	41.8	41.0
पुलिस बल (प्रति 1,00,000 जनसंख्या)	NA	NA	129	131	136	134	135	134	129

*प्रति लाख (1,00,000) जनसंख्या घटनाएँ

NA – इसका अर्थ है उपलब्ध नहीं

ग़ैर-जनगणना वर्षों के लिए जनसंख्या आँकड़े आर.जी.आई. कार्यालय द्वारा प्रदत्त वर्ष-मध्य पर आधारित हैं।

तालिका 2 : अपराध आलोक-चित्र : 2000

- 17.2 लाख आई.पी.सी. (भारतीय दंड संहिता) अपराध : वर्ष के दौरान दर्ज़ 34.0 लाख एस.एल.एल. (विशेष व स्थानीय कानून) अपराध, आई.पी.सी. अपराधों में 0.4 प्रतिशत वृद्धि; वर्ष 1999 में एल.एल.एल. अपराधों में 7.9 प्रतिशत वृद्धि।
- गत वर्ष आई.पी.सी. अपराध दर में 1.2% गिरावट, एस.एल.एल. अपराध दर में 6.2 प्रतिशत वृद्धि।
- देश में एक मिनट में औसतन दर्ज़ 3 आई.पी.सी. अपराध, 6 एस.एल.एल. अपराध।
- राज्यों में, पश्चिम बंगाल, बंगाल और सिक्किम के मुकाबले राजस्थान, जम्मू-कश्मीर तथा असम अधिक हिंसक रहे, जहाँ निम्न हिंसक अपराध दर दर्ज की गई थी।
- राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली में सभी आई.पी.सी. अपराधों की उच्चतम दर (399.0) दर्ज़ की गई, जो कि राष्ट्रीय अपराध दर 176.7 की 2.3 गुनी थी। त्रिपुरा के मुकाबले दिल्ली में हिंसक अपराधों की प्रायिकता अपेक्षाकृत निम्न रही (13 दर्ज़ आई.पी.सी. अपराधों में एक केस), 4 जहाँ राष्ट्रीय औसत 1:7 के मुकाबले 3 आई.पी.सी. अपराधों में 1 हिंसक अपराध दर्ज़ किया गया।
- लड़कियों के आयात में 6300 प्रतिशत वृद्धि, जालसाज़ी में 70.7 प्रतिशत, यौन-उत्पीड़न के मामलों में 746 प्रतिशत।
- सभी शहरों में बीच बंगलौर में आधे से अधिक (53.1) धोखाधड़ी के मामले दर्ज़ किए गए।
- 79.0 प्रतिशत आई.पी.सी. केसों की जाँच-पड़ताल हुई और उनमें से 78.4 प्रतिशत को आरोप-पत्र दिए गए। 18.3 प्रतिशत केसों पर मुकदमा चला, उनमें से 41.8 अपराध सिद्ध हुए।

- 30.7 प्रतिशत मुकदमे 1 से 3 वर्ष में निबटे, 24.2 प्रतिशत 3 से 5 वर्ष में।
- राष्ट्रीय स्तर दर 41.8 के मुकाबले पांडिचेरी में आई.पी.सी. अपराधों की उच्चतम अपराध सिद्धि दर दर्ज़ की गई (91.9 प्रतिशत)।
- यौन-उत्पीड़न मामलों में 67.4 प्रतिशत दोष-सिद्धि, तदोपरांत 'वाहन चोरी' मामलों में 48.1 प्रतिशत।
- वर्ष 1999 में कुल आई.पी.सी. अपराधों में बाल-अपराधों का 0.5 प्रतिशत भाग 4.3 प्रतिशत बढ़ा।
- उत्तर प्रदेश में हत्या के 20.7 मामले दर्ज़ हुए जबकि हत्या के शिकारों में 40 प्रतिशत जो गोली मारकर की गई हत्याएँ थीं, बिहार से संबंध रखती थीं।
- औसतन प्रति आई.पी.सी. केस 1.5 गिरफ्तारियाँ।
- महिलाओं के प्रति अपराधों में 4.1 प्रतिशत की वृद्धि। सम्पूर्ण भारत में 14.1 के मुकाबले उच्चतम अपराध घटनाएँ उत्तर प्रदेश में (14.0%); उच्चतम अपराध दर राजस्थान में (24.0)।
- वर्ष 1999 में वेश्यावृत्ति के लिए लड़कियों की खरीद संबंधी मामलों में 960 प्रतिशत वृद्धि, गर्भ-हत्या के मामलों में 49.2 प्रतिशत की वृद्धि।
- बिहार राज्य से लड़कियों का आयात 62.5 प्रतिशत दर्ज़ किया गया।
- बलात्कार के 87.4 प्रतिशत मामलों में अपराधी पीड़ितों के परिचित थे; इनमें से 30 प्रतिशत पड़ोसी थे।
- बच्चों के प्रति अपराध 19.3 प्रतिशत; मध्य प्रदेश में उच्चतम।
- राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली से सम्बद्ध 33.7 प्रतिशत बच्चे (10 वर्ष तक की आयु के) व्यवहरण और अपहरण के शिकार।
- 28.8 प्रतिशत उत्तर प्रदेश में अनुसूचित जातियों के प्रति अपराधों का उच्चतम प्रतिशत भाग; 44.0 प्रतिशत मध्य प्रदेश में अनुसूचित जनजातियों के प्रति अपराधों में उच्चतम प्रतिशत भाग।
- पुलिस अधिकारियों (ए.एस.आई. व उससे ऊपर) और अधीनस्थ स्टाफ (हैड कांस्टेबल और कांस्टेबल) का 1:7 राष्ट्रीय औसत।
- केवल 38.6 प्रतिशत पुलिस बल को ही सरकार द्वारा आवास-सुविधा दी गई।
- केवल 5.9 प्रतिशत गुम/ पुनर्प्राप्त मोटर वाहन का समन्वयन हुआ।
- पुलिस मृत्युसंख्या में 11 प्रतिशत की गिरावट; उनमें से 56 प्रतिशत दुर्घटनावश थे। लगभग आधे (46.5%) दिवंगत युवा थे (18-35 वर्ष)।
- 111 सेवारत पुलिस अधिकारियों ने आत्महत्या की।

स्रोत : राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो 2001, *भारत में अपराध*, गृह मंत्रालय, भारत सरकार।

14.3.1 पुलिस रिपोर्ट

पुलिस द्वारा अपराध का पता लगाए जाना उसकी कार्यकुशलता पर निर्भर करता है। लेकिन कई कारणों से लोग पुलिस में रिपोर्ट नहीं लिखाना चाहते। ऐसे कुछ कारण हैं :

1) अपराध बड़ा मामूली हो

2) थाना दूर हो

3) लोगों का कानून प्रणाली की विभिन्न संस्थाओं पर विश्वास न हो (जैसे पुलिस, मुकदमेबाजी, अदालतें आदि)

4) अपराधी और उसके सहयोगियों द्वारा परेशान किए जाने का भय

5) अपराध के शिकार व्यक्ति के लिए इसके बारे में बताना लज्जाजनक हो (सैक्स संबंधी अपराध)

6) किशोरों के मामलों में पड़ोसियों की सम्पत्ति के बच्चों द्वारा किए गए नुकसान की माँ-बाप भरपाई कर दें, दुकान से सामान चुराते किशोर के पकड़े जाने पर उससे सामान लेकर उसे छोड़ दिया जाए, आदि ऐसे अनेक अपचार हो सकते हैं, जिनकी देखने वाले या ऐसे अपराधों से नुकसान उठाने वाले भी यह सोचकर अनदेखी कर लें कि बढ़ते बच्चों से ऐसी गलती हो ही जाती है।

छिपे अपराधों और अपचारों के आँकड़े यानी ''डार्क फिगर्स'' का मामला तब और जटिल हो जाता है, जब हम ''स्वयं रिपोर्ट'' किए जाने के मामलों के परिणामों की समीक्षा करते हैं। हमारे देश में तो ऐसा प्रयास नहीं किया गया है, मगर पश्चिमी देशों में शोधकर्त्ताओं ने स्कूलों-कालेजों के सामान्य विद्यार्थियों की पहचान गुप्त रखते हुए उनकी ऐसी गतिविधियों की जानकारी प्राप्त की है जो समाज-स्वीकृत नहीं है। परिणामों से पता चलता है कि ऐसे विद्यार्थियों का व्यवहार सामाजिक नीति-नियमों का पालन करने वाले लड़के-लड़कियों से बहुत भिन्न नहीं था। लेकिन प्रशिक्षण-स्कूल के बहुत से किशोर-किशोरियों ने अनेक अपचारों में लिप्त रहने की बात को अवश्य स्वीकारा। उन्होंने ऐसे गलत काम स्कूल-कॉलेजों में लड़के-लड़कियों की तुलना में ज़्यादा बार किए।

ऐसे व्यवहार में सामाजिक-आर्थिक स्तर का कोई भेद नहीं था। हालाँकि ''अधिकारिक मामलों'' (Offical cases) में निम्न वर्ग के लोगों का अनुपात अधिक था। इसे समझना आसान है क्योंकि परिवार के सामाजिक-आर्थिक स्तर पर यह काफी हद तक निर्भर करता है कि अपराध करने वाले को गिरफ्तार किया जाएगा, सजा दी जाएगी या उसे समझा-बुझाकर सामाजिक नियमों-परंपराओं का पालन करने वाला बनाया जाएगा अथवा अन्य किसी प्रकार का व्यवहार किया जाएगा। हम जब अपनी किशोरावस्था की भूलों का स्मरण करें, तो इस बात की पुष्टि हो सकती है। मित्रों और अतिथियों के बीच अनौपचारिक पूछताछ से ऐसी अनेक जानकारियाँ मिलती हैं कि ''अच्छे परिवारों के बच्चे और किशोरों ने भी कैसे चोरी, दुकान से सामान उठा लेने, दोस्तों से लड़ाई-झगड़ा, बगीचों से चोरी से फल-फूल तोड़ने और चलती रेलगाड़ियों पर पत्थर फेंकने जैसे गलत काम किए। इनकी रिपोर्ट किए जाने पर इन किशोरों को निश्चित रूप से गिरफ्तार कर लिया जाता।

14.3.2 अपराध के कारण

बाल अपराध और वयस्कों के अपराधों के क्या कारण हैं? इसका कोई सीधा-सरल उत्तर नहीं है। हालाँकि वयस्क अपराधों के बीच कभी-कभी किशोर अपराधों में होते हैं, पर अनेक किशोर अपराधी बड़े होकर अपराधी नहीं बनते। कई बार ऐसा भी होता है कि किशोरावस्था में अपराधों की कोई पृष्ठभूमि नहीं होने के बावजूद व्यक्ति बड़ा होकर अपराधी बन जाता है। फिर भी, अपचार और अपराध दोनों में कुकर्मों का दायरा प्रेरणाएँ और संबद्ध कारण काफी हद तक समान होते हैं। अत: इन पर साथ-साथ विचार किया जाना उचित होगा।

सोचिए और करिए 1

अखबारों से अपराधों के समाचारों की कतरनें चार सप्ताह तक जमा करें। इनसे अपराध के कारणों के बारे में क्या निष्कर्ष निकलते हैं? इस बारे में दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखें और अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से अपनी टिप्पणी की तुलना करें।

कुछ बच्चों, महिलाओं और पुरुषों को कौन-से कारण सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने या कानून तोड़ने के लिए उकसाते हैं? अनेक लेखकों और शोधकर्त्ताओं ने इन कारणों को समझने का प्रयास किया है और उन्होंने अनेक कारणों का पता लगाया है, जैसे शारीरिक, भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक और परिवेश संबंधी एक जाने-माने विद्वान् का कहना है कि इस बारे में कोई एक विश्वव्यापी अथवा ऐसे दो-तीन स्रोत निर्धारित नहीं किए जा सकते। अपराध के कारण बड़े व्यापक हैं। अक्सर इसके अनेक और मिले-जुले कारण होते हैं। ऐसी करीब 170 स्थितियों को पहचाना गया है, जो अवांछित आचरण के लिए व्यक्ति को उकसाती हैं। समय बीतने पर ऐसा व्यवहार ही उसे किशोर अपराधों और वयस्क अपराधों की ओर ले जाता है। किसी भी अपराध में अन्य सहायक कारकों के बीच कोई एक (या कहें कुछेक) परिस्थिति(याँ) ही अक्सर उसके लिए सबसे ज़्यादा जिम्मेदार होती है/हैं।

कोष्ठक 14.01

यह माना जाता है कि अपेक्षतया कुछ विशेष परिस्थितियों में अपराध ज़्यादा पनपते हैं, हालाँकि यह नहीं कहा जा सकता ये हर हालत में अपराध अथवा अपचार को जन्म देते हैं। उदाहरण के लिए – शारीरिक विकलांगता, मानसिक, असंतुलन, मानसिक कमजोरी, भावनात्मक, असुरक्षा, गंदी बस्तियों का माहौल, माँ-बाप का अनुचित रवैया, अच्छी शिक्षा न मिलना, अपराधियों से दोस्ती, ग़रीबी, अपराध को बढ़ावा देने वाला वातावरण, आदि। स्पष्ट है कि ये कारण असामाजिक आचरण के लिए इनकी विपरीत परिस्थितियों की तुलना में कहीं अधिक जिम्मेदार हैं। यह सच है कि ऐसी सभी परिस्थितियाँ हर हाल में किसी व्यक्ति को अपराध करने को प्रेरित नहीं करतीं। यह भी सच है कि अच्छी लगने वाली परिस्थितियों में भी यह गारंटी नहीं दी जा सकती कि कोई व्यक्ति अपराध नहीं करेगा। ऐसे अप्रत्यक्ष कारण हमेशा मौजूद रहते हैं जिन्हें विश्व में सभी कारण-संबंधी सिद्धांतों द्वारा विशिष्ट स्थितियों से अलग नहीं किया जा सकता है।

ऐसी जटिल परिस्थिति में हम यही कह सकते हैं कि मानव व्यवहार का अनजाना पक्ष काफी महत्त्वपूर्ण है, हालाँकि अपराध और अपचार में कुछ व्यक्तिगत कारक और कुछ सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ भी प्रभावी होती हैं। इन कारकों का प्रभाव और इनका अनुपात हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग होता है। कुछ मामलों में व्यक्तिगत कारक परिवेशजन्य कारकों से ज्यादा प्रबल होते हैं, जबकि कुछ मामलों में परिवेशजन्य कारक प्रबल हो सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) बाल अपराध क्या है? पाँच से सात पंक्तियों में समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अपराध के कारण-संबंधी तथ्यों को समझाइए। पाँच से सात पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

14.4 सहज और परिवेश संबंधी कारक

अब अपराधों के सहज और वातावरण जन्य कारकों की कुछ विस्तार से चर्चा की जाएगी। व्यक्तिगत कारणों में कमजोर स्वास्थ्य, लम्बी बीमारी और अपंगता जैसे शारीरिक कारक आते हैं, जिनसे हीनभावना पनपती है, जो व्यक्ति को स्पर्धी जगत् में आगे बढ़ने के लिए अपराध का छोटा रास्ता पकड़ने को उकसाता है। मंद बुद्धि मस्तिष्क की अथवा मनोवैज्ञानिक गड़बड़ियों जैसे मानसिक कारकों का परिणाम शोषण, विवशता और समाज-अस्वीकृत सैक्स-व्यवहार में होता है। भावनात्मक और सामाजिक स्तर पर लंबे समय तक उपेक्षित किए जाने पर भी व्यक्ति में उग्र और हिंसक व्यवहार पनपने की आशंका रहती है।

भावनात्मक दृष्टि से परिपक्व व्यक्ति भावनाओं को प्रभावी तरीके से नियंत्रित करना जानता है। वह शांत रहता है और समाज-स्वीकृत व्यवहार के साथ तालमेल बनाकर रखता है। अनेक विद्वानों का मानना है कि अपचार और आपराधिक आचरण गंभीर भावनात्मक असंतुलन अथवा व्यक्तियों के व्यक्तित्व में परस्पर विरोधी भावों के टकराव से पैदा होता है। ऐसे व्यक्तियों के विचार अपने समाज के मूल्यों और नियमों से मेल नहीं खाते और वे अपने घनिष्ठ लोगों की भावनाओं को चोट पहुँचाते हैं। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से आपराधिक प्रवृत्ति के व्यक्ति का व्यक्तित्व विकृत होता है। उसकी निजी सनकें उसके असामाजिक आचरण के लिए काफी हद तक जिम्मेदार होती हैं और वह अपने सामाजिक परिवेश से अलग-थलग पड़ जाता है।

14.4.1 वास्तविकता बनाम कल्पना-संसार

बहुत कम लोगों का जीवन बचपन से लेकर वयस्क होने तक उनकी अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप गुजरता है और बहुत कम लोगों के जीवन में सभी अनुभव संतोष भरे होते हैं। इसलिए ज़्यादातर लोग अपने चारों ओर ऐसा कल्पना-लोक गढ़ लेते हैं, जिसमें रहकर वे अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। लेकिन इन सभी सामान्य मामलों में वास्तविकता ही उनके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों और कामकाज में प्रमुख भूमिका निभाती है। दूसरी ओर, भावनात्मक परेशानियों से घिरे कुछ लोग वास्तविकता का सामना नहीं कर पाते। इससे मानसिक द्वंद्व पैदा होता है। बचपन से ही उनके अनुभव ऐसे हैं कि वे मानसिक प्रतिक्रियाओं को ऐसा स्वरूप विकसित कर लेते हैं, जिससे उनके लिए वयस्क जीवन की जिम्मेदारियों को निभाना बड़ा कठिन हो जाता है। हो सकता है वे असुरक्षा, बहिष्कार जबर्दस्त विद्वेष, जीवन की कठिन परिस्थितियों, अपने कार्यक्षेत्र

की असफलता और अनेक अन्य दुर्भाग्यपूर्ण अनुभवों से पीड़ित रहे हों। इन कारणों से, उनके लिए जीवन की सच्चाइयों को झेल पाना बेहद मुश्किल हो जाता है और वे कानून के विपरीत आचरण कर बैठते हैं।

शारीरिक विकलांगता और कमियों से बच्चों और बड़ों के व्यक्तित्व में अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। छोटा कद, त्वचा रोग, बड़े कान, मोटापा आदि कमियों से बच्चों से सामाजिक संपर्कों में व्यक्तित्व-संबंधी और भावनात्मक गंभीर परेशानियाँ पैदा हो जाती हैं। समाज में ऐसे लोगों की उपेक्षा की जाती है और शादी-ब्याह के मामले, रोज़गार पाने और अनेक अन्य क्षेत्रों में ये लोग नुकसान में रहते हैं। इन लोगों के हृदयों में पनपता हुआ गुस्सा बहुत अधिक गंभीर रूप ले बैठता है, जिससे अनेक तरीके से सामाजिक अलगाव पनपते हैं। हो सकता है, कोई युवा अपनी हीनभावना से उबरने के लिए खतरनाक डाकू बन जाए, अथवा अपने को कष्ट देने वाले वास्तविक या काल्पनिक लोगों पर जवाबी हमले करे। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इनमें से ज्यादातर लोग इस दुनिया के साथ उचित तालमेल बिठा लेते हैं। ऐसे लोग तो ज्यादा अच्छी तरह तालमेल बिठा लेते हैं, जिन्हें बचपन में उनकी समस्याएँ समझने वाले माता-पिता मिलें और जिनके मित्रों ने उनके उपेक्षा न की हो।

14.4.2 स्वास्थ्य और रोग

हम देखते हैं कि बुरे स्वास्थ्य और रोगग्रस्त थके हुए लोग अक्सर जल्दी चिढ़ जाते हैं, तर्कसंगत बातें नहीं करते और उनका व्यवहार सामान्य लोगों की तुलना में कम नियंत्रित होता है। कमजोर मन वाले लोग अपराध और अपचार के कुचक्र में जल्दी फंस जाते हैं क्योंकि वे विवेकपूर्ण तरीके से नहीं सोच पाते हैं और वे अक्सर संतोषजनक फैसला नहीं ले पाते और उचित व्यवहार नहीं कर पाते। ऐसी मानसिक बीमारी की स्थिति में, जो व्यक्ति का आत्म-संयम और अच्छे-बुरे का निर्णय करने की क्षमता को गड़बड़ा देती है, उसका व्यवहार बेतुका, खतरनाक अथवा समाजविरोधी हो सकता है। सैक्स-संबंधी हत्याएँ, चोरी करने की प्रवृत्ति (क्लैप्टोमेनिया), आगजनी आदि ऐसे अपराध हैं जिनके पीछे मानसिक विकृति काम कर रही होती है।

14.5 परिवार में परिवेशजन्य कारक

निस्संदेह अपराध और अपचार की हर स्थिति में व्यक्तिगत कारक जुड़े होते हैं जिसमें व्यक्ति कानून तोड़ता है। लेकिन समाज-विरोधी कार्यों को उकसाने में परिवेशजन्य सामाजिक, आर्थिक और सामुदायिक कारण भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। सामान्यतया परिवेश का अर्थ हम मात्र व्यक्ति के जीवन से जुड़े नजर आने वाले कारकों से लेते हैं, इनमें उसका पास-पड़ोस, घर पारिवारिक जीवन, स्कूल, कार्य-स्थल और मित्रों से संपर्क आते हैं। निश्चय ही से सब परिवेश के अंग हैं। लेकिन वैज्ञानिक धारणा के रूप में, किसी व्यक्ति के जीवन के प्रारंभ से, यहाँ तक कि उसके गर्भ में आने से, जो-जो प्रेरक प्रभाव उसकी काया और व्यक्ति को प्रभावित करते हैं, वे सभी परिवेश के तहत आते हैं। एक व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों से हर संभव संपर्क परिवेश के अंतर्गत आ जाता है। वह कैसी पुस्तकें पढ़ता है, कैसी फिल्में (यहाँ तक कि पोस्टर भी!) देखता है तथा रेडियो, टेलीविजन – सभी उसके परिवेश के ही अंग हैं।

14.5.1 परिवार

हम परिवेशजन्य कारकों का दो भागों में अध्ययन कर सकते हैं – ''परिवार के अंदर'' और ''परिवार के बाहर''। हालांकि इन दोनों को बिल्कुल अलग-अलग नहीं किया जा सकता। दोनों

एक-दूसरे के निरंतर संपर्क में रहते हैं और एक-दूसरे पर असर डालते हैं। साथ ही इनका व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्थिति पर निरंतर असर पड़ता है।

बच्चे के जीवन में परिवार पहला महत्त्वपूर्ण समूह है। जन्म के समय कोई भी निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि बच्चा आगे चलकर अपराधी ही बनेगा या कानून का पालन करने वाला भला आदमी बनेगा। परिवार बच्चे के सामाजिक और व्यक्तिगत विकास को दिशा देने वाला पहला माध्यम है। परिवार में ही ऐसी जबर्दस्त शक्तियाँ हैं, जो बच्चे में समाज-विरोधी व्यवहार पनपा सकती हैं अथवा ऐसा व्यवहार पनपने को रोक सकती हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इसी वक्त बच्चा परिवार पर पूरी तरह निर्भर होता है और पूरी तरह परिवार के ही संपर्क में होता है। यह अवधि कई वर्षों तक चलती है। स्नेह व प्रेम भरे, स्थायी और घनिष्ट संबंधों वाले परिवार से बच्चा सीखता है कि समाज के लोगों का रवैया दोस्ती भरा है, उनसे परिचय बढ़ाना अच्छा है और उन पर विश्वास किया जा सकता है। जब परिवार में स्नेह-प्रेम न होकर सब एक-दूसरे से रूखा व्यवहार करें, उनका रवैया अपमानित और उपेक्षित करने वाला हो, तो बच्चा लोगों के प्रति अविश्वास और शत्रुता रखना तथा घृणा करना सीखेगा।

परिवार के अंदर की स्थितियों और संबंधों के परस्पर जुड़े अनेक पक्ष हैं। ये सब मिलकर जो वातावरण बनाते हैं, उनका बच्चे के व्यवहार पर असर पड़ता है। उदाहरण के लिए, ऐसे परिवारों की बातें करें जो माता-पिता में से किसी की मृत्यु, घर छोड़ देने या तलाक अथवा अलग रहने की बजह से बिखर गए हैं। माता और पिता परिवार-रूपी गाड़ी के दो पहिए जैसे हैं और एक के भी निकल जाने या इनके संबंधों में तालमेल तथा सौहार्द समाप्त हो जाने से यह गाड़ी अच्छी तरह नहीं चल सकती। यह माना जाता है कि ऐसे टूटे परिवारों में पले बच्चों के व्यक्तित्व में अनेक कमियाँ रह जाती हैं। ऐसे बीमार व्यक्तित्व वाले लोग आमतौर पर सामाजिक नियमों के अनुरूप चलने में बड़ी परेशानियाँ महसूस करते हैं। अनेक शोधकर्त्ताओं के विश्लेषण के अनुसार किशोरों और युवाओं के अपराधी होने के पीछे अक्सर परिवार का बिखराव भी महत्त्वपूर्ण कारण होता है।

14.5.2 परिवार के स्वरूप में बिखराव

परिवार के स्वरूप में बिखराव (मृत्यु को छोड़कर) हमेशा माता-पिता के बीच रोज-रोज के झगड़ों से होता है। बहुत तनाव और रोजमर्रा की जिंदगी की शांति भंग हो जाने का बच्चों पर बहुत बुरा असर पड़ता है। कुछ स्थितियों में तो माता-पिता में से एक का अलग हो जाना ही घर के माहौल को बहुत बेहतर बना सकता है। इस तरह परिवार के आपसी संपर्क बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। जिन परिवारों में आपसी तालमेल और सौहार्द नहीं होता, उनमें बच्चे भी परेशान होकर घर से दूर होने लगते हैं। वे बाहर की दुनिया के आकर्षण में बंधकर घर से बाहर नहीं निकलते, बल्कि घर की असुरक्षा और कुंठा भरे माहौल से मुक्ति पाने के लिए घर से निकल जाते हैं।

अपचार और अपराधों का सबसे ज़्यादा सुना जाने वाला कारण बच्चों से सही पालन-पोषण में माता-पिता की अक्षमता ही है। समाजीकरण (Socialisation) की प्रक्रिया के तहत बच्चा समाज के बुनियादी आदर्शों और मूल्यों को समझता है और उन्हीं के अनुरूप अपना दृष्टिकोण विकसित करता है। बचपन में ही परिवार से मिला प्रशिक्षण इन मूल्यों को पनपाने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बढ़ते बच्चे को यह अवश्य सीखना चाहिए कि किस काम को करने की समाज इजाज़त देता है और किस काम के लिए रोकता है। साथ ही, ऐसी सामाजिक अनुमति और निषेध का कारण क्या है। बच्चे को अन्य बच्चों और बड़ों के साथ उचित व्यवहार करना भी सीखना चाहिए। घर के अनुशासन, निर्देशों और घर के सदस्यों के व्यवहार के अनुकरण से ही बढ़ता बच्चा घर के अंदर और बाहर के तमाम दबावों और दायित्वों को निभाना सीखता है।

माता-पिता और बच्चे के बीच स्नेह का सहज और प्राकृतिक बंधन होता है। लेकिन बच्चे के व्यवहार पर सर्वांगीण प्रभाव डालने के लिए यह स्नेह ही पर्याप्त नहीं है। स्नेह के साथ निरंतर नियंत्रण और अनुशासन के प्रयास भी जरूरी हैं। जब माता-पिता का व्यवहार अनिश्चित बना हो तो बच्चा असुरक्षित महसूस करता है। उसके मन में हमेशा यह अनिश्चय बना रहता है कि उसके किसी कार्य पर माता-पिता की प्रतिक्रिया क्या होगी? यह देखता है कि माता-पिता कभी गुस्सा करते हैं, कभी दिलचस्पी लेते हैं, कभी उदासीन रवैया अपना लेते हैं। इससे बच्चा भ्रमित हो जाता है, तब तो उसकी समस्या और भी बढ़ जाती है जब माता-पिता एक-दूसरे के विपरीत व्यवहार करने लगते हैं। एक सहानुभूति दिखाता है तो दूसरा फटकारता है।

14.5.3 बच्चों की देखभाल और अपचार

महिलाओं के कामकाजी होने पर अक्सर यह आपत्ति उठायी जाती है कि बच्चे के उचित भावनात्मक और शारीरिक विकास के लिए माँ की निरंतर देखभाल चाहिए। जब महिला दिन में काफी देर काम पर बाहर चली जाती है और थकी-माँदी घर लौटती है, तो वह बच्चों पर इतना ध्यान नहीं दे पाती। साथ ही किशोरावस्था में बच्चे पर ध्यान देना ज़्यादा जरूरी हो जाता है। माँ के कामकाजी होने पर यह संभव नहीं हो पाता और बच्चे पर बुरी बातों का असर होने की संभावना बढ़ जाती है। लेकिन अभी हमारे पास जो प्रमाण हैं, उनसे माँ के कामकाजी होने और अपराध तथा अपचार के बीच कोई सीधा संबंध प्रमाणित नहीं होता है। महत्त्वपूर्ण मुद्दा माँ का रोज़गार नहीं, बल्कि बच्चे पर बच्चे पर उचित ध्यान नहीं देना है। अगर माँ घर पर रहकर भी बच्चे पर उचित ध्यान नहीं देती, तो उस स्थिति में उसमें अपराध प्रवृत्ति पनपने की ज़्यादा आशंका होती है, जबकि काम पर जाने पर भी अगर माँ ने बच्चे की देखभाल की समुचित वैकल्पिक व्यवस्था की है, तो उसके बिगड़ने की कम गुंजाइश होती है। सच तो यह है कि कामकाजी माँ का आर्थिक योगदान परिवार का स्वायित्व और तालमेल बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है इसके पीछे परिवार को ज़्यादा सुरक्षा देने, बच्चों की शिक्षा जारी रखने, छुट्टियाँ अच्छी तरह से मनाने अथवा परिवार के लाभ की अनेक चीजें जुटाने की इच्छा भी हो सकती है।

14.5.4 परिवार में ग़रीबी

समाज विरोधी व्यवहार का एक प्रमुख कारण घर की ग़रीबी को भी माना जाता है। यह सच है कि गलत कामों के लिए पकड़े गए बच्चों में ज़्यादातर ग़रीब परिवारों से होते हैं। आँकड़ों से भी पता चलता है कि करीब दो-तिहाई बच्चे ऐसे परिवारों से आते हैं, जिनकी मासिक आय 2000 रुपये से अधिक है (1989 के आँकड़ों के अनुसार)। लेकिन यह भी सच है कि ज़्यादातर ग़रीब बच्चे अपराधी नहीं होते। ग़रीबों में ईमानदार लोगों की संख्या बेईमानों से बहुत अधिक है। समृद्धि होना युवाओं या वयस्कों द्वारा कानून न तोड़ने की कोई निश्चित गारंटी नहीं है। अगर ऐसा होता तो पश्चिमी देशों में, जहाँ जीवन-स्तर बहुत ऊँचा है, अपराधों ओर अपचारों की दर कम होती। लेकिन समृद्धि के साथ वहाँ अपराध घटे नहीं, बल्कि बढ़े हैं। एक विशेषज्ञ का कहना है कि पश्चिमी देशों में लोग भूखे होने के कारण चोरी नहीं करते, वे ईर्ष्या और द्वेष से ऐसा करते हैं।

यह एक विरोधाभास भरी स्थिति है कि उपभोक्ता वस्तुओं के वितरण में समानता की बढ़ती प्रवृत्ति के साथ-साथ और अधिक समानता की अपेक्षाएँ भी बढ़ती हैं। जब अपेक्षाएँ जीवन-स्तर में सुधार की तुलना में ज़्यादा तेजी से बढ़ती हैं, तो उपभोक्ता वस्तुएँ जितनी ज़्यादा उपलब्ध होती हैं, उतना ही असंतोष भी बढ़ता जाता है। दूसरे शब्दों में, अनेक अपराधों के मूल में आर्थिक कारण होते हैं। लेकिन यह भी सच नहीं कि ज़्यादातर लोग भूख और अभाव से पीड़ित होकर अपराध करते हैं। अनेक छोटे-छोटे अपराध भूख और अभावों के कारण नहीं, बल्कि

ईर्ष्या और महत्त्वाकांक्षा होते हैं। लालच कई बड़े अपराधों का कारण है। वस्त्रों का अभाव नहीं, बल्कि बेहद कीमती वस्त्रों की लालसा सैकड़ों लड़कियों को वेश्यावृत्ति की ओर प्रेरित करती है। वास्तव में ग़रीबी नहीं, बल्कि सदा विषमता ही बुराइयों को जन्म देती है।

बोध प्रश्न 2

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति करें : अपचार के प्रमुख कारकों में ..... और ..... कारक शामिल हैं।

2) परिवार के अंदर के परिवेशजन्य कारक क्या हैं? परिवार में बिखराव का अपचारों और अपराधों पर क्या असर पड़ता है? सात से दस पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

14.6 सामाजिक परिवेश

इस भाग में तीन प्रमुख कारकों पर संक्षेप में चर्चा की जाएगी –

i) निम्न सामाजिक-आर्थिक स्तर वाली तंग बस्तियाँ या स्लम;

ii) पढ़ाई-लिखाई के जरिए ईमानदारी के कुछ कमाने के प्रयास; और

iii) जन-संचार माध्यम – जैसे रेडियो, टेलीविज़न, फिल्म, अखबार और पत्रिकाएँ।

14.6.1 तंग बस्तियाँ (स्लम)

गाँवों से लोगों के शहरों की ओर निरंतर पलायन से शहरों-कस्बों में आवास एक समस्या बन गई है। बिना आसरे के बेरोज़गार और कम आमदनी वाले लोग झुग्गी-झोपड़ी बस्तियों में रहते हैं। समाज के इन वंचित वर्गों में अपराध की दर ऊँची है क्योंकि इनमें जीवन एकदम अस्त-व्यस्त होता है। रोजी-रोटी कमाने में बड़े दबाव हैं। झुग्गियों में रहने वाली लोग भी ऐसी ही अच्छी चीजें चाहत हैं जिनको वे दूसरों को आनंद उठाते देखते हैं। उन्हें अक्सर ऐसा लगता है अच्छी शिक्षा और अच्छे अवसर न मिल पाने से वे ये चीजें ईमानदारी से नहीं पा सकते। इससे उनके मन में कुंठा और तनाव पनपते हैं। उनमें से कुछ कानून से प्रति अपेक्षा भरा रवैया अपनाने लगते हैं और उसका पालन आवश्यक नहीं समझते। अक्सर अपराध उनके लिए जीवन का मान्य तरीका और ईमानदार काम का एक सरल विकल्प बन जाता है क्योंकि ईमानदारी की रोजी या तो मिलती नहीं या उनकी पहुँच से बाहर होती है। अब यह बात दीगर है कि ईमान की कमाई को बेहतर और अवांछनीय माना जाता है। उनके आस-पास ऐसे गलत-चरित्र वाले लोग भी होते हैं, जो नजायज तरीकों से खूब पैसा कमा कर इलाके के सम्मानित व्यक्ति बन जाते हैं। ऐसे असामाजिक तत्त्वों के प्रभाव में आकर और लोग इनकी नकल करने लगते हैं। लेकिन यहाँ भी यह देखते हैं कि अपराध और अपचार का गंदी बस्तियों के माहौल से अप्रत्यक्ष

संबंध ही है। इन्हीं बस्तियों में रहने वाले हजारों लोग ग़ैर-कानूनी गतिविधियों से अपने को दूर ही रखते हैं।

14.6.2 कमाना और स्कूल जाना

शिक्षा का मतलब बच्चे को रोजी-रोटी कमाने के उपयुक्त तरीकों को सिखाने के साथ-साथ व्यक्तित्व का विकास भी है। शिक्षा के जरिए, बच्चे को ऐसे आदर्शों और श्रेष्ठ व्यक्तियों के बारे में जानकारी मिलनी चाहिए जिनकी प्रेरणा उसमें एक शालीन और विशाल दृष्टिकोण विकसित कर सके। आम तौर पर मध्यवर्गीय परिवारों में आगे निकलने की महत्त्वाकांक्षा प्रबल होती है। शैक्षिक उपलब्धियों और लम्बे समय तक आर्थिक लाभ देने वाले शिल्पों की जानकारी बहुत अच्छी समझी जाती है। मध्यमवर्गीय परिवार अपने बच्चों के समाजीकरण के दौरान उन्हें कड़े संघर्ष, आत्म-नियंत्रण और वर्तमान के आराम छोड़कर सुनहरे भविष्य के लिए योजनाएँ बनाने की प्रेरणा देते हैं। ग़रीब परिवारों में ऐसा समाजीकरण महत्त्वहीन रह जाता है। बच्चों का अक्सर स्कूल छुड़ा दिया जाता है क्योंकि परिवार की उसकी कमाई की जरूरत होती है। माँ के मेहनत-मज़दूरी के लिए चले जाने पर बच्चे को अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल भी करनी होती है। स्कूल छोड़ देने का मतलब है और ज़्यादा खाली वक्त। ऐसा खाली वक्त मिलने पर बड़ों की देखरेख कम हो जाती है और गलत तत्त्वों से मेल-जोल की आशंका बढ़ जाती है।

14.6.3 जन-संचार माध्यमों का दुष्प्रभाव

जन-संचार माध्यम निश्चय ही जानकारी देने, शिक्षित करने और मनोरंजन करने के साधन हैं, मगर आजकल इस बात पर बड़ी चिंता जाहिर की जा रही है कि ये माध्यम भी समाज पर बुरा असर छोड़ रहे हैं। अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि समाचार-पत्र, फिल्मी पत्रिकाएँ, कॉमिक्स, रेडियो, टेलीविज़न और फिल्में खास तौर से बच्चों पर बुरा प्रभाव छोड़ रहे हैं। अखबारों में अपराधों के सनसनीखेज समाचारों में अपराध करने के तरीकों का वर्णन भी विस्तार से दिया जाता है। इसके दो ख़तरे हैं। एक तो इससे बच्चों और किशोरों के मन में ऐसा ही अपराध करने की इच्छा पनपती है। बच्चों और किशोरों का मन बड़ा जल्दी प्रभावित होता है। दूसरे, अपराधों के विवरण के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर दोहराए जाने से कानून और व्यवस्था के प्रति उपेक्षा और उदासीनता का रवैया पनपता है। अपराधों की कहानियों वाली फिल्मों में अक्सर दिखाया जाता है कि ग़ैर-कानूनी तरीके से जीना बड़ा आसान है। फिल्मों में अपराधी जीवन की बड़ी रोमांचक तस्वीर पेश की जाती है, भले ही अंत में अपराधी को नुकसान ही होता है।

ये फिल्में, कम से कम शुरू के हिस्से में, यह संकेत देती हैं कि कानून से बचने के कई तरीके हैं। युवा लड़कियों को फिल्मों से लगता है कि प्यार करना बड़ा रोमांचक और बढ़िया कपड़ों से ही औरतें अच्छी लगती हैं। फिल्मों में अनेक दृश्य सैक्स भड़काने वाले होते हैं। टेलीविज़न का महत्त्व बढ़ता जा रहा है और वह ज़्यादा से ज़्यादा घरों में पहुँच रहा है। टेलीविज़न अपने आप में बुरा नहीं है। बुराई के अपराधों से भरी फिल्मों और कार्यक्रमों में है। ऐसी हिंसा और अश्लीलता दर्शकों को बलात्कार, वेश्यावृत्ति, डकैती, हमले और हत्या की ओर उकसाती हैं।

सोचिए और करिए 2

टेलीविज़न या सिनेमा हॉल में दो-तीन व्यावसायिक फिल्में देखें। इन फिल्मों में नायक और अपराधी (खलनायक) के चरित्र में क्या-क्या विभिन्नताएँ हैं? क्या दोनों कानून तोड़ते हैं? फिर सामाजिक स्तर और दंड मिलने के मामले में दोनों में अंतर क्यों किया जाता है?

दो पृष्ठों में उत्तर लिखें और अपने निष्कर्षों की अध्ययन केन्द्र में अन्य विद्यार्थियों के निष्कर्षों से तुलना करें।

भारत जैसे कम साक्षरता वाले देश में, सामान्य रवैये तथा आचरण के प्रति दृष्टिकोण पर रेडियो के प्रभाव अखबारों व किताबों से कहीं अधिक है। रेडियो कार्यक्रमों में भी अपराध से जुड़े नाटक, हिंसक विषयों वालों फिल्मों के विज्ञापन आपत्तिजनक हैं। खास तौर से फिल्मों के निर्माताओं/ वितरकों द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम ऐसे होते हैं।

अनेक विद्वानों का कहना है कि अपराध और अपचारों की बिगड़ती स्थिति के लिए सूचना-माध्यमों को बहुत अधिक दोषी मानना उचित नहीं है। कभी-कभी ज़रूर अपराधी बताते हैं कि उन्हें अपराध करने का तरीका अमुक अखबार में छपे अमुक अपराधी के कारनामों से पता चला। लेकिन ऐसे विवरण सामान्य जनता को भी अपराधियों के तौर-तरीकों से अवगत कराते हैं और यह भी बताते हैं कि अंतत: अपराधी पुलिस द्वारा पकड़ा ही जाता है। रेडियो, टेलीविज़न और फिल्मों को भी लाखों लोग देखते-सुनते हैं। इनमें बच्चे-बड़े सभी शामिल हैं। यह कहना एकदम गलत होगा कि उन सब पर इनका बुरा असर पड़ता है। यह तो व्यक्ति के अपने चरित्र पर निर्भर करता है। मजबूत इच्छा-शक्ति वाले बच्चों, किशोरों या वयस्कों पर इसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह प्रभाव अस्थायी होता है। कमजोर इच्छा शक्ति वाले व सामाजिक दृष्टि से असंतुलित लोगों पर कुछ असर पड़ सकता है, जनसंख्या के ऐसे अनिश्चित हिस्से के लिए सूचना-माध्यमों पर कड़े नियंत्रण लगाना उचित नहीं है। आज के युग में जन-संचार माध्यमों का जानकारी, शिक्षण और मनोरंजन देने में महत्त्व बढ़ता जा रहा है। लोकतांत्रिक समाजों में तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता बड़ा ही नाजुक मुद्दा है।

14.6.4 ग़रीबी और कम आमदनी

गिरफ़्तार और अपराध-सिद्ध लोगों में बड़ी संख्या उनकी है जो खराब आर्थिक स्थिति से संबंध रखते हैं। ध्यातव्य है कि जब कानून तोड़ा जाता है तो उनके – पुलिस और अदालत के बीच आने वाला कोई भी नहीं होता है। उनके पास संसाधनों का अभाव होता है और पुलिस के साथ-साथ अन्य कानून लागू करने वाले प्राधिकरण उन पर और ज़ुल्म ढाते हैं। सही अर्थों में कानून लागू करने वाली प्रशासनिक प्रक्रियाओं को आर्थिक सुख वाले व्यक्ति के प्रति नितांत अनुकूल के रूप में देखा जाता है। यदि विभिन्न आर्थिक स्तर वाले दो व्यक्तियों ने एक ही अपराध किया है, अधिक संभव है कि निम्न स्तर वाला गिरफ्तार किया जाएगा, और अपराध-सिद्ध भी।

स्वीकार करना पड़ता है कि आर्थिक कारक बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। ग़रीबी अनेक प्रत्यक्ष तरीकों से समाज-विरोधी गतिविधियों का ख़तरा पैदा कर सकती है। असंतोषजनक मानवीय संबंधों को प्राय: ही अभावग्रस्तता और ग़रीबी से उद्‌भूत होते देखा जाता है। अपर्याप्तता का एहसास और भावात्मक असुरक्षा संभावित अपराधियों के आन्तरिक जीवन में अपनी भूमिका निभाते हैं। ग़रीबी अल्पपोषण और खराब शारीरिक स्वास्थ्य को जन्म देती है जो कि, बदले में, कुकर्म प्रेरण के प्रति एक निम्नीकृत मानसिक प्रतिरोध की ओर प्रवृत्त कर सकती है। ग़रीबी के मारे परिवारों के पास आवासीय स्थान के चुनाव हेतु बहुत थोड़े विकल्प हो सकते हैं। प्राय: वे चाल अथवा झुग्गी-झोंपड़ियों में रहते हैं जहाँ जीवनदशाएँ अति संकुल होती हैं, खेल के मैदान एकाध अथवा वो भी नहीं होते हैं। यहाँ रहने के लिए जगह इतनी कम होती है कि आत्म-सम्मान वाले व्यक्तित्व के विकास के लिए आराम और एकान्त जुटाना मुश्किल होता है।

ज़ाहिर है, ग़रीबी और खराब दशाओं की वजह से बच्चों के विकल्प बहुत ही सीमित हो जाते हैं। इन परिवारों में, जो कि आम तौर पर औसत से बड़े होते हैं, जहाँ रहने की जगह कम होती है और जहाँ अपर्याप्त सुविधाएँ होती हैं, बच्चों को आमोद-प्रमोद के लिए गलियों में भेज दिया जाता है। खर्च संबंधी रोज़ के झगड़े, प्राय: जो मियाँ-बीबी के बीच कलहयुक्त खीज को जन्म देते हैं, जब न्यूनतम बुनियादी ज़रूरतों जैसे रोटी, कपड़ा, शिक्षा आदि हेतु बहुत थोड़ा-सा धन

होता है, परिवार पर अत्यधिक दबाव डालते हैं। ऐसी स्थिति में माता-पिता अपने बच्चों पर बहुत थोड़ा अथवा बिल्कुल भी ध्यान नहीं दे पाते हैं, यद्यपि वे उनसे स्नेह रखते हैं। इसके अलावा, धनाभाव के कारण अक्सर ही स्कूल जाने वाले बच्चों की जायज़ माँगों का उपहास उड़ाया जाता है और उसका शिक्षा पर दुष्प्रभाव पड़ता है।

तथापि, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया, हम यह नहीं कह सकते हैं कि ग़रीबी का परिवेश ही हर किसी को अपचारी या अपराधी बनाता है क्योंकि ऐसे तमाम लोग हैं जो इस प्रकार के परिवेश से ही आते हैं और कानून मानते हैं। परन्तु ग़रीब भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न काम करती है। कुछ लोगों के लिए इसके दबाव समाज-विरोधी व्यवहार के महत्त्वपूर्ण कारणों में हो सकते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाइए –

   क) झुग्गी-झोपड़ी बस्तियों के बढ़ने से अपराध की दर भी बढ़ती है।

   ख) झुग्गी-झोपड़ियों का अपराध की दर पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है और ऐसी बस्तियाँ बढ़ने से अपराधों की दर कम हो जाती है।

2) जन-संचार माध्यमों का अपराधों पर क्या असर पड़ता है? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

14.7 अपराध और अपचार नियंत्रण की नीति

वयस्कों के अपराध और किशोर अपचार हर समाज में, हर काल में होते रहे हैं और होते रहेंगे। इन्हें नियंत्रित करना ही संभव है। अपराधी व्यवहार के कारणों का व्यापक समीक्षा करते हुए हमें मानवीय प्रकृति पर ध्यान देना होगा, जिसमें अपराध प्रवृत्तियाँ मौजूद होती हैं। इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए भीतर व बाहर अंकुश लगाने वाली संस्थाओं की जरूरत पड़ती है। जब परिवार, विद्यालय और स्थानीय समाज अपनी भूमिका सही तरीके न निभा रहे हों या ये भंग हो जाएँ, तो आपराधिक प्रवृत्तियों को खुली छूट मिल जाती है। साथ ही जब आपराधिक न्याय प्रणाली अपर्याप्त या प्रभावहीन हो जाए, तो कुछ लोग नैतिक संवेदनाओं से रिक्त हो जाते हैं। कानून लागू करने की बेहतर व्यवस्था, ज़्यादा कर्त्तव्यपरायण और मुस्तैद पुलिस तथा अपराधियों को पकड़ने के लिए नए वैज्ञानिक तरीकों से कुछ हद तक अपराधों पर काबू पाया जा सकता है। अगर अपराध का निश्चित रूप से पता लग जाए, अदालतों में तेजी से कार्रवाई हो और उचित दंड मिले तो संभव है कि अनेक लोग अपराध न करें। साथ ही ग़रीबी और इससे जुड़ी बुराइयों को दूर करने से भी अपराध कम हो सकेंगे। पारिवारिक संबंधों को मज़बूत बनाया जाना चाहिए और बच्चों को खेलने को खुला और अच्छा स्थान मिलना चाहिए। उन्हें गलत संगत और बुरी आदतों से बचाया जाना चाहिए। हालाँकि इसकी गारंटी नहीं दी जा सकती, लेकिन इतना स्पष्ट है कि बचपन में खाली समय के बेहतर इस्तेमाल की जितनी अच्छी सुविधाएँ होंगी, बच्चों के विभिन्न अपचारों और अपराधों में उलझने की गुंजाइश उतनी ही कम होगी।

साथ ही, ऐसे उपाय भी किए जाने चाहिए कि अपराधियों को उचित सलाह, शिक्षा और विभिन्न धंधों का प्रशिक्षण दिया जाए ताकि वे अपने व्यवहार को सुधार सकें और फिर अपराध न करें। बाल संस्थानों, नारी निकेतनों और जेलों जैसे सही रास्ते पर लाने वाले संस्थानों में ये काम हो सकते हैं। अपराधियों के लिए प्रोबेशन, पेरोल/ लाइसेंस और छूटने के बाद उनका ध्यान रखने जैसे उपायों से भी ये लक्ष्य हासिल हो सकते हैं। लेकिन अगर हमें किशोर अपराधियों और वयस्क अपराधियों को सुधारना है और उन्हें नई जिंदगी देना है, तो इसके लिए और अधिक प्रशिक्षित लोग तथा पर्याप्त संसाधन जरूरी हैं।

14.8 सारांश

इस इकाई में हमने अपराध और अपचार के बारे में चर्चा की। हमने अपराध और उनके सामाजिक संपर्क, किशोर अपचार और अपराध तथा अपचार की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया। फिर हमने अपराध और अपचार के ऐसे मामलों की चर्चा की जिनकी जानकारी नहीं मिल पाती। हमने परिवेश संबंधी कारकों का अध्ययन किया। इनमें यथार्थ और कल्पना लोक का अंतर तथा स्वास्थ्य और रोगग्रस्तता की चर्चा शामिल थे। परिवेश-संबंधी कारकों में परिवार का स्वरूप, इस स्वरूप में बिखराव, बच्चों की देखभाल और अपचार आदि शामिल थे। हमने परिवार के आसपास के माहौल, जैसे तंग बस्तियों और जन-संचार माध्यमों के प्रभाव के बारे में बताया। अंत में हमने अपराध और अपचार पर नियंत्रण की नीति पर विचार किया। इस प्रकार हमने इस विषय को पूरी गहराई से समझाने का प्रयास किया।

14.9 शब्दावली

डार्क फिगर्स (Dark Figures) : ऐसे आँकड़े जो जानकारी में नहीं आते।

अपचार (Delinquency) : नियमों और आदर्शों का उल्लंघन, जो अक्सर अपराध माना जाता है।

परिवेश (Environment) : यह परिवार में या बाहर का हो सकता है। परिवार के अंदर का माहौल और बाहर का परिवेश, जैसे गंदी बस्तियाँ आदि इसमें शामिल हैं।

सहजात या जन्मजात (Innate) : जो किसी व्यक्ति या वस्तु में बिना किसी बाहरी प्रभाव के स्वत: होती है। जैसे, गणित की जन्मजात प्रतिभा।

स्लम (Slums) : बेहद बुरी हालत में, बुनियादी सुविधाओं से रहित, ग़रीब लोगों की बस्तियाँ।

14.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) किशोर अपचार एक विशिष्ट उम्र से कम के बच्चे द्वारा किया गया अपराध है। सारे विश्व में इस बारे में एक ही उम्र नहीं मानी जाती। भारत में यह उम्र लड़कों के लिए 16 वर्ष और लड़कियों के लिए 18 वर्ष रखी गई है।

2) किशोर अपचार के कोई सरल और सीधे सपाट कारण नहीं हैं। फिर भी, शारीरिक, भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक और परिवेश संबंधी कारणों की इनमें प्रमुख भूमिका है।

बोध प्रश्न 2

1) ''जन्मजात'' और ''परिवेशजन्य''।

2) व्यक्ति के कामकाज में परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समूह है। परिवार के सौहार्दपूर्ण होने से अच्छा असर पड़ता है। उपेक्षा और अनदेखी करने वाले परिवार में पला बच्चा लोगों पर अविश्वास और घृणा करने लगता है। पारिवारिक बिखराव में तालमेल समाप्त होना, झगड़े या माता-पिता अथवा किसी एक की मृत्यु होना है। माता-पिता की ओर से ऐसी अक्षमता किशोर अपचारों का प्रमुख कारण है।

बोध प्रश्न 3

1) (क)

2) जन-संचार माध्यमों की जानकारी देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका है, लेकिन इनका बुरा असर हो सकता है। सनसनीखेज खबरों से, जिनमें अपराध का पूरा विवरण होता है, बच्चों के जल्दी प्रभावित हो जाने वाले मन पर बुरा असर पड़ता है और ये खबरें उन्हें अपराध करने की उकसाती हैं। फिल्में दिखाती हैं कि अपराध करने से कैसे फायदा होता है। जन-संचार माध्यमों से बलात्कार और डकैती जैसी कई अपराधों की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

इकाई 15 नशीले पदार्थों का व्यसन तथा मद्यपान

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 उभरता प्रचलन

15.3 महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की परिभाषा

15.3.1 नशीली दवा किसे कहते हैं?

15.3.2 नशीली दवाओं का सही और गलत उपयोग

15.3.3 लत, सहन-शक्ति और निर्भरता

15.4 एल्कोहल से संबंधित तथ्य

15.5 नशीली दवाओं से संबंधित तथ्य

15.5.1 उद्दीपक दवाएँ

15.5.2 अवसादक दवाएँ

15.5.3 विभ्रांतिकारक दवाएँ

15.5.4 गांजा, भांग आदि

15.5.5 स्वापक (नींद लाने वाली) दवाएँ

15.6 लत लगने की प्रक्रिया

15.6.1 शराब की लत

15.6.1.1 आरंभिक अवस्था

15.6.1.2 मध्य अवस्था

15.6.1.3 स्थायी अवस्था

15.6.2 नशीली दवाओं की लत

15.6.2.1 आरंभिक अवस्था

15.6.2.2 मध्य अवस्था

15.6.2.3 स्थायी अवस्था

15.7 लत के कारण

15.7.1 शारीरिक कारण

15.7.2 व्यक्तिगत या मनोवैज्ञानिक कारण

15.7.3 सामाजिक-सांस्कृतिक/परिवेश संबंधी कारण

15.8 नशीली दवाएँ, अपराध और राजनीति

15.9 हस्तक्षेप : उपचार, पुनर्वास और रोकथाम

15.10 सारांश

15.11 शब्दावली

15.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- नशीली दवाओं, शराब के दुरुपयोग और इनके व्यसन के संबंध में विश्व की स्थिति के बारे में बता सकेंगे;
- नशीली दवाएँ क्या हैं? और व्यसन लगने की प्रक्रिया कैसे चलती है? इसे समझा सकेंगे;
- व्यसन के कारणों की व्याख्या कर सकेंगे;
- नशीली दवाओं के सेवन और अपराधों के बीच संबंध की चर्चा कर सकेंगे; और
- व्यापक पुनर्वास कार्यक्रमों और शराब तथा नशीली दवाओं के दुरुपयोग की रोकथाम के महत्त्व समझा सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने अपराध और अपचार के बारे में विचार किया था। इस इकाई में हम नशीली दवाओं और शराब के व्यसन के बारे में चर्चा करेंगे। नशीली दवा और शराब की लत दोनों गुमराह करने वाले कार्य हैं। इस इकाई के आरंभ में हम दवा के उपयोग और दुरुपयोग, दवा की लत, सहन-क्षमता और निभरता जैसी कुछ महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं को समझाएँगे। उसके बाद हम शराब और नशीली दवाओं के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करेंगे। यहाँ शराब और दवाओं के व्यसन की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। साथ ही लत लगने के कारणों का विवेचन किया गया है। इसके अलावा नशीली दवा के सेवन, अपराध और राजनीति के बीच संबंध पर विचार किया गया है। अंत में हमने व्यसन के उपचार, पुनर्वास और रोकथाम के बारे में चर्चा में करेंगे।

नशीली दवाओं और शराब के व्यसन ने आज विश्व-व्यापी संकट का रूप धारण कर लिया है। प्राकृतिक और प्रयोगशालाओं में निर्मित दवाओं की आपूर्ति और माँग लगातार बढ़ रही है। इसका प्रभाव बहुत से नए देशों पर पड़ रहा है। और नशेड़ियों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। इस कारण राष्ट्रीय उत्पादकता पर बुरा असर पड़ा है। बहुत से देशों ने इस समस्या को गंभीरता से लेना शुरू कर दिया है और इसका हल ढूँढने के लिए आवश्यक उपाय कर रहे हैं। इस इकाई में नशीली दवाओं और शराब के व्यसन की समय को नीचे दिए संदर्भों में प्रस्तुत किया गया है :

i) यह समस्या किस सीमा तक है

ii) दवाओं और शराब की प्रकृति

iii) व्यसन के कारण

iv) पुनर्वास कार्यक्रम

v) नशीली दवाओं और शराब के व्यसन में परस्पर संबंध

15.2 उभरता प्रचलन

अगर पूरे विश्व की स्थिति से संबंधित आँकड़ों की जाँच की जाए तो पता चलता है कि शराब, अफ़ीम और चरस ऐसी कुछ मुख्य नशीली दवाएँ हैं जिनका गलत इस्तेमाल किया जाता है (इनके बारे में विस्तार से आगे बताया गया है)। महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों पर इनके अधिक व्यसनी हैं। पिछले कुछ वर्षों से खासकर हेरोइन की लत लोगों में बहुत तेज़ी से बढ़ रही है (इसे आगे विस्तार से बताया गया है)। इन नशीली दवाओं को इंजेक्शन द्वारा लेने से "एड्स" जैसी

भयंकर बीमारियों के होने को भारी ख़तरा रहता है। कभी-कभी अधिक मात्रा में दवा के सेवन से मृत्यु तक हो जाती है।

पहले दवा की लत कुछ वर्गों तक सीमित थी, लेकिन अब इनके सेवन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। कुछ लोग तो एक साथ कई-कई दवाओं को सेवन भी करते हैं, जैसे शराब के साथ नशीली दवाओं का सेवन बहुत अधिक होने लगा है। अब पहले की अपेक्षा काफी कम आयु में दवाओं और शराब का सेवन किया जाने लगा है। भारत में शहरी और ग्रामीण, दोनों क्षेत्रों में यह समस्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है जिसके निम्न कारण हैं :

i) लोगों में बढ़ती समृद्धि

ii) आधुनिक जीवन के तनाव

iii) अत्यधिक आर्थिक और सामाजिक असमानता

iv) जीवन के प्रति बढ़ती हुई असंतोष की भावना

यदि हम नशीली दवाओं और शराब के उत्पादन को लें, तो हम देखते हैं कि लगभग सभी देशों में कड़े सरकारी नियंत्रण के बावजूद इनका उत्पादन बढ़ा है। इस समस्या से निपटने के लिए (1) सरकारों ने जबर्दस्त निगरानी शुरू कर दी है, (2) पोस्त की खेती और ग़ैर-कानूनी प्रयोगशालाओं को नष्ट करने के आदेश जारी कर दिए हैं, (3) नशीली दवाओं के अवैध व्यापार (आर्थिक लाभ पाने के लिए इन्हें बेचना-खरीदना) के विरुद्ध सख्त कानून बना दिए हैं, और (4) नशीली दवाओं के सेवन को रोकने के लिए अंतरराष्ट्रीय सहयोग का प्रस्ताव किया है।

इस विषय में विभिन्न देशों की सरकारें नशीली दवाओं के प्रसार की रोकथाम के लिए शिक्षा कार्यक्रमों को भी बढ़ावा दे रही हैं। इस लत की रोकथाम के लिए सरकारी और ग़ैर-सरकारी एजेंसियाँ जन-जागरण कार्यक्रम भी चला रही हैं। लेकिन शराब के सेवन के रोकथाम के लिए इतने ज़ोरदार प्रयास नहीं दिखाई देते क्योंकि इसे-दूसरे नशीले पदार्थों की अपेक्षा अधिक सामाजिक स्वीकृति मिली हुई है और यह लोगों के रोज़मर्रा के जीवन का एक हिस्सा बन चुकी है। अधिकांश देशों में शराब के उत्पादन पर अधिक कर लगाने के अलावा इसके उत्पादन, बिक्री और उपभोग पर किसी प्रकार की पाबंदी नहीं लगाई है। बहुत से देशों में शराब उनकी आय का प्रमुख साधन है। समाज का बहुत बड़ा भाग नशीली दवाओं की लत के बजाय शराब की लत का अधिक शिकार है। यह समाज के सभी सामाजिक-आर्थिक वर्गों को प्रभावित कर रहा है। आज इस बात की माँग बहुत जोर-शोर से होने लगी है कि नशीली दवाओं की लत तरह ही शराब की लत को भी गंभीर सामाजिक समस्या माना जाए।

इस बात को समझना आवश्यक है कि नशे या व्यसन को एक ऐसे प्रचलन के रूप में क्यों लिया जाता है, जो व्यक्ति को समाज से अलग और वंचित कर देता है। अनेक समाजों में शराब पीना जीवन का एक अंग बन गया है। कुछ लोगों में कुछ नशीली दवाओं को कानूनी मान्यता देने पर गंभीरता से विचार किया जा रहा है। तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि नशे की लत हमें समाज से विमुख या वंचित करती है। इसका कारण जिस दवा की लत होती है उससे होने वाली तबाही है। उस व्यक्ति को व्यसनी या नशेड़ी कहा जाता है :

i) जो नशीली दवा या शराब लिए बिना शारीरिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कार्य करने में अक्षम हो;

ii) जो सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि से स्वीकृत स्तर से अधिक नशीली दवा या शराब का सेवन करे और उसे सही स्थान तथा सही समय का भी ध्यान न रहे; और

iii) जिसे इस व्यसन के कारण अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, कार्य संबंधी और सामाजिक जीवन में हानिकारक परिणामों को भुगतना पड़े।

विचित्र बात यह है कि इस व्यसन का प्रभाव कुछ ही लोगों पर पड़ता है, जो शराब या नशीली दवा का सेवन करते हैं सभी पर नहीं। अधिकांश देशों में इसे व्यतिक्रम माना जाता है। शराब और दवाओं की लत क्यों पड़ती है, इस बात को समझना आवश्यक है। लेकिन, आइए पहले हम यह जान लें कि शराब और दूसरी नशीली दवाएँ हैं क्या।

15.3 महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की परिभाषा

नीचे दिए उपभागों में हम (नशीली) दवाओं के उपभोग, गलत दुरुपयोग, व्यसन, लत, सहन-शक्ति, निर्भरता आदि महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

15.3.1 नशीली दवा किसे कहते हैं?

कोई भी ऐसा पदार्थ (सामान्य रूप से रासायनिक) जिसे खाने या लेने से हमारा शरीर या हमारे मनोभाव प्रभावित हों, उसे नशीली दवा कह सकते हैं। यानी यह एक रासायनिक पदार्थ है, जिसे लेने से शरीर में ऐसा परिवर्तन होता है कि शरीर के कार्य करने और मस्तिष्क का विचार करने का ढंग बदल जाता है। ये पदार्थ औषधि के रूप में हो सकते हैं, जिसे डॉक्टर नींद न आने, सिरदर्द, तनाव आदि मामूली बीमारियों के इलाज के लिए देता है, लेकिन यदि इनका इस्तेमाल (1) डॉक्टरी परामर्श के बिना; (2) बहुत लंबे समय तक; (3) इलाज के अलावा दूसरे प्रयोजनों के लिए किया जाए तो यह हानिकारक होता है। ऐसे मादक प्रव्यों का उपयोग सामान्यत: वैध होता है।

कुछ नशीली दवाएँ स्वभावत: औषधि के रूप में प्रयुक्त नहीं होती जैसे – हेरोइन। इनका उपयोग ग़ैर-कानूनी है। दूसरे वर्ग की दवाओं का उपयोग कानूनन किया जा सकता है, लेकिन अगर कोई व्यक्ति उन्हें अधिक मात्रा में, नियमित रूप से ले तो उसके लिए हानिकारक होती है, जैसे शराब। कुछ ऐसे भी पदार्थ हैं जैसे सिगरेट, कॉफी, चाय आदि, जिन्हें हम सामाजिक रूप से स्वीकृत विधि-सम्मत मादक द्रव्य कह सकते हैं। इन्हें हानिकारक नहीं माना जाता। शराब, हेरोइन, ब्राउन शुगर आदि कुछ नशीली दवाएँ ख़तरनाक हैं जिनके सेवन से इनकी लत लग जाती है। अगले उपभाग में इन्हीं नशीली दवाओं के बारे में विचार किया जाएगा।

15.3.2 नशीली दवाओं का सही और गलत उपयोग

किसी मरीज़ के इलाज या किसी रोग की रोकथाम अथवा किसी रोगी के स्वास्थ्य में सुधार लाने के लिए औषधि के इस्तेमाल को नशीली, दवा का ''सही उपयोग'' कह सकते हैं। (औषधि के रूप में या औषधि से इतर रूप में) मात्रा, क्षमता या आवृत्ति की दृष्टि से दवाओं के इस प्रकार के उपयोग को दुरुपयोग कह सकते हैं जिससे व्यक्ति की शारीरिक या मानसिक कार्य-क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता हो। इसका मतलब यह है कि अगर कोई व्यक्ति अधिक मात्रा में, बार-बार, काफी लंबे समय तक गलत प्रयोजन से, गलत संयोजनों में इन मादक द्रव्यों का सेवन करे तो उसे इनका ''दुरुपयोग'' कहा जाएगा।

15.3.3 लत, सहनशक्ति और निर्भरता

नशीली दवाओं के इस प्रकार के गलत उपयोग से उनकी लत पड़ जाती है। ऐसी स्थिति में मादक द्रव्य/शराब के बिना व्यक्ति नियमित रूप से अपने रोज़मर्रा के कार्यकलाप नहीं कर पाता। इसके कारण कारण सहनशक्ति कम और नशीली दवा पर निर्भरता हो जाती है और इस दवा

का प्रयोग बंद कर देने पर निवर्तन लक्षण (withdrawal symptoms) प्रकट होने लगते हैं। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि सहनशक्ति का मतलब है पहले की तरह वैसे ही प्रभाव पैदा करने के लिए और अधिक मात्रा में तथा बार-बार नशीली दवा का लेना। निर्भरता शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की हो सकती है। शारीरिक निर्भरता से अभिप्राय है कि यह दवा लिए बिना शरीर रोज़मर्रा के कार्यकलाप नहीं कर पाता। मनोवैज्ञानिक निर्भरता का मतलब यह है कि वह व्यक्ति निरंतर उस दवा और उसे लेने के बारे में सोचता रहता है और उसे पाने का प्रयास करता रहता है। वह इसके बिना मानसिक दृष्टि से और भावनात्मक रूप से नियमित जीवन बिताने में असमर्थ हो जाता है। चरस-गांजा जैसी कुछ नशीले पदार्थों में केवल मनोवैज्ञानिक निर्भरता पैदा होती है, जबकि अफीम और हेरोइन जैसी मादक द्रव्यों में शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की निर्भरता पैदा होती है।

इन दवाओं पर निर्भर हो जाने के बाद यदि अकस्मात् दवा का सेवन रोक दिया जाए तो निवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इसमें अलग-अलग दवा के अनुसार थोड़ी-बहुत बेचैनी से लेकर बहुत अधिक उल्टियाँ आने और ऐंठन आदि के लक्षण प्रकट हो सकते हैं। आवश्यक नहीं कि नशीली दवा से सभी व्यसनियों में वैसे ही कष्टदायक निवर्तन लक्षण दिखाई दें जैसे दूरदर्शन के धारावाहिकों या फिल्मों में दिखाए जाते हैं। इन लक्षणों की गंभीरता नीचे दी गई बातों पर निर्भर करती है :

i) वह किस प्रकार की नशीली दवा का आदी है;

ii) वह नियमित रूप से उस दवा की कितनी मात्रा लेता है; और

iii) नशीली दवा लेने की अवधि और ऐसी विशेष चिकित्सा इकाइयों में किया जाने वाला उपचार, जहाँ सामान्य रूप से इस प्रकार के निवर्तन की व्यवस्था की जाती हो।

इन दवाओं से निवर्तन में व्यक्ति की मदद को निर्विषीकरण (detorification) कहते हैं। वह डॉक्टरों की देख-रेख में होता है। इसके द्वारा नशा करने वाला व्यक्ति धीरे-धीरे लत से छुटकारा पा जाता है।

इस बात का ध्यान रहे कि निवर्तन के लक्षणों के कारण नशीली दवा को छोड़ना बहुत अधिक कठिन हो जाता है क्योंकि निवर्तन के लक्षण बहुत ही कष्टदायक होते हैं। इसलिए व्यसनी नशीली दवा के सेवन को छोड़ने से घबराता है, भले ही उसे जीवन पर इस दवा से होने वाले हानिकारक प्रभावों का पता क्यों न हो।

सोचिए और करिए 1

यदि संभव हो तो ऐसा कोई टी.वी. सीरियल या फिल्म देखिए जिसमें नशीली दवाओं के निवर्तन के लक्षण दिखाए गए हों।

15.4 एल्कोहल से संबंधित तथ्य

एल्कोहल कई तरह का होता है। केवल एक तरह के एल्कोहल को ही पिया जा सकता है। इसे ईथाइल एल्कोहल कहते हैं। इसका प्रयोग बियर, शराब, ताड़ी, व्हिस्की, ब्रांडी, रम, अरक या देशी शराब बनाने में किया जाता है। एल्कोहल रक्त प्रवाह में मिलने के बाद सारे शरीर में फैल जाता है। इसका प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि एल्कोहल कितनी मात्रा में ली गई है। इसका प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि शराब पीने वाला व्यक्ति कितनी जल्दी जल्दी या धीरे-धीरे शराब पीता है। पीने वाले का वज़न और पेट में खाने की मात्रा कितनी पड़ी है, इससे भी अंतर पड़ता है। शराब में एल्कोहल का प्रतिशत और कुछ हद तक कुछ

मनोवैज्ञानिक कारणों का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे – वह किसके साथ शराब पी रहा है, यह भी महत्त्वपूर्ण है। वह कितने समय से शराब पी रहा है और पीने के बारे में उसका रवैया क्या है, ये बातें भी महत्त्वपूर्ण हैं। एल्कोहल का असर सीधे दिमाग पर होता है। इससे दिमाग और सुषुम्ना (रीढ़ की) की क्रियाशीलता मंद पड़ जाती है। यह एक अवसादक के रूप में कार्य करता है यानी इससे शारीरिक अनुक्रियाएँ मंद पड़ जाती हैं। इस संबंध में एक गलत धारणा यह भी है कि यह उत्तेजक का काम करता है क्योंकि इससे झिझक समाप्त हो जाती है और पीने वाला अधिक प्रसन्नचित्त हो जाता है। सामान्य धारणाओं के विपरीत, एल्कोहल में कैलोरी बिल्कुल नहीं होती और न ही उसमें किसी प्रकार के पोषक तत्त्व होते हैं।

बहुत से लोगों में एल्कोहल के कारण परावलंबन की भावना पैदा हो जाती है। इसके कारण व्यावसायिक और पारिवारिक जीवन में घोर कठिनाई पैदा हो जाती है। वित्तीय क्षेत्रों में, सामाजिक मेल-जोल में तथा पीने वाले और उसके परिवारजनों के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य की समस्याएँ भी बड़ी हो जाती हैं।

कम मात्रा में एल्कोहल (शराब) पीने का अल्पकालीन प्रभाव यह होता है कि पीने वाले व्यक्ति की झिझक कम हो जाती है। उसे गुस्सा अधिक आता है, वह कड़वे अनुभवों को भूल जाता है और उसे हल्कापन महसूस होता है। नियमित रूप से, बहुत अधिक और असंगत ढंग से शराब पीने से चिड़चिड़ापन आ जाता है और निर्णय लेने की शक्ति समाप्त हो जाती है। शारीरिक कार्यकलापों पर उसका नियंत्रण नहीं रहता और सतर्कता समाप्त हो जाती है। इसके कारण स्पष्ट रूप से बोलने, निर्णय ले सकने में बाधा पड़ती है तथा लंबी बीमारी तथा मृत्यु भी हो सकती है।

15.5 नशीली दवाओं से संबंधित तथ्य

नशीली दवा एक ऐसा पदार्थ है जो भावनाओं, सोचने की शक्ति या व्यवहार को प्रभावित करता है। मस्तिष्क में रासायनिक प्रतिक्रिया के प्रभाव से ऐसा होता है। इस दृष्टि से शराब भी एक नशीली दवा है। इन दवाओं का सेवन उन्हें खाकर, सूँघकर, नस्वार लेकर, पीकर, सिगरेट या चिलम में धुएँ के माध्यम से या इंजेक्शन लगाकर किया जाता है। शराब या एल्कोहल को छोड़कर अन्य दवाओं को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

i) उद्दीपक दवाएँ (Stimulants) : ऐसी दवाएँ जिनके सेवन से मस्तिष्क की क्रियाशीलता बढ़ जाती हो।

ii) अवसादक दवाएँ (Depressants) : ऐसी दवाएँ जो मस्तिष्क की क्रियाशीलता को कम करती है।

iii) विभ्रांतिकारक (Hallucinogens) दवाएँ : ऐसी दवाएँ जो हमारे देखने, सुनने और अनुभव करने के ढंग को बदल देती हैं।

iv) गांजा, हशिश, चरस, भांग आदि नशीली दवाएँ (Cannabis) जो भांग के पौध से तैयार की जाती हैं।

v) स्वापक दवाएँ (Opiates) : अफ़ीम से बनाई जाने वाली नशीली दवाएँ या ऐसी कृत्रिम तौर पर तैयार की गई दवाएँ जो अफ़ीम जैसे प्रभाव पैदा करती हैं।

15.5.1 उद्दीपक दवाएँ

इन उद्दीपक दवाओं को आम तौर पर ''अपर्स'' (uppers) ''पेप पिल्स'' या ''स्पीड'' के रूप में जाना जाता है क्योंकि इनसे उत्तेजना या उल्लास की अनुभूति होती है। इस वर्ग में सबसे

अधिक प्रचलित दवा 'एम्फीटेमाइन' है। इनका उपयोग अधिकतर विद्यार्थी या खिलाड़ी करते हैं। इससे उनमें अस्थायी रूप से स्फूर्ति आ जाती है। इससे उनके अंदर पढ़ने या खेलने की तात्कालिक अतिरिक्त शक्ति आ जाती है और वे काफी अधिक समय तक पढ़ या खेल सकते हैं। शरीर इस दवा की काफी मात्रा ले सकता है और उसे सहन कर सकता है। उद्दीपक दवाओं को प्राय: निगल लिया जाता है। कोकेन सबसे खतरनाक उद्दीपक दवा है। दक्षिणी अमेरिका में इसे कोक पौधे से तैयार किया जाता है। कोकेन का कश नाक से लिया जाता है। कोकेन का एक और रूप ''क्रैक'' है। अब हेरोइन पश्चिमी देशों में अधिकाधिक प्रचलित होती जा रही है। शारीरिक रूप से कोकेन व्यसनकारी नहीं है लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बहुत अधिक व्यसनकारी है। चिंता, अवसाद और बेहोशी आदि इसके कुछ प्रभाव हैं। इससे कुछ दीर्घकालिक लक्षण हैं – शरीर का वज़न कम होना, भय की भावना घर कर जाना, नींद न आना और बेचैनी आदि।

15.5.2 अवसादक दवाएँ

अवसादक दवाओं को आम तौर पर डाउनर्स (downers) कहा जाता है। शामक और अवसादक दवाएँ इसी वर्ग में आती हैं क्योंकि इनके सेवन से हल्कापन और शांति का अनुभव होता है। ये गोलियों के रूप में मिलती हैं। जैसे – मैंड्रैक्स, वेलियम और लिब्रियम आदि। एल्कोहल (शराब) भी इसी श्रेणी में आती है। शराब को कुछ लोग इन गोलियों के साथ मिलाकर लेते हैं, जो बहुत ही खतरनाक हो जाती है। इससे कभी-कभी मृत्यु तक हो सकती है। एक अन्य प्रकार की अवसादक दवा गोलियों के रूप में मिलती है। इन गोलियों में बार्बीटुरेट नामक रसायन होते हैं जो अक्सर नींद की गोलियों में पाए जाते हैं। ये शामक दवाओं से अधिक तेज होते हैं और प्राय: इनकी आदत पड़ जाती है। अधिक मात्रा में लेने से इनसे मृत्यु तक हो जाती है। डॉक्टर की देख-रेख बिना इन दवाओं का सेवन अचानक बंद करना बड़ा खतरनाक सिद्ध होता है।

15.5.3 विभ्रांतिकारक दवाएँ

इन दवाओं को आम तौर पर चेतना प्रसारी (psychedelic) दवाएँ कहा जाता है। इन दवाओं के प्रयोग से व्यक्ति चीज़ों को अत्यधिक व्यापक रूप में और भिन्न रूप में देख-सुन सकता है। विशिष्ट प्रकार की संगति का इन दवाओं से होने वाले प्रभाव पर गहरा असर पड़ता है। इनसे एक तो तीव्र मनोवेगों का अनुभव होता है, मानसिक संवेदनों को तीव्र किया जा सकता है और उनके इस्तेमाल से समय, स्थान और पहचान का बोध समाप्त हो सकता है। इन दवाओं में एल. एस.डी. (Lysergic Acid, Diethylamide) या 'एसिड' सबसे अधिक प्रचलित हैं। इसका प्रभाव जिसे ''ट्रिप'' भी कहते हैं, का असर कई दिन तक बना रहता है। इसके बहुत ही कम मात्रा के उपयोग से भी ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे बहुत ऊँचाई पर हों। यदि इस ''स्पीड'' (Amphetamine) के साथ मिलकर लिया जाए, तो यह बहुत ही खतरनाक ''ट्रिप'' बन जाता है। अगर इसे सही मार्गदर्शन के बिना लिया जाए तो यह खतरनाक भी हो सकती है और इससे मृत्यु हो सकती है। भारत में पाए जाने वाले धतूरे का एल.एस.डी. से भी अधिक तेज़ होता है जिससे कभी-कभी मानसिक अस्थिरता पैदा हो जाती है। धतूरे के सूखे पत्तों का धूम्रपान किया जा सकता है और इसके पत्ते, जड़ और बीजों के अर्क या रस को खाया या पिया जा सकता है।

15.5.4 गांजा, भांग आदि

इस वर्ग में गांजा, हशिश (चरस) और भांग आते हैं। ये सब भंग के पौधे के विभिन्न भागों से बनाए जाते हैं। इन नशीली दवाओं का उपयोग विश्व में सबसे अधिक होता है। गांजा, जिसे ग्रास, पॉट ज्वॉइंट, वीड, मारिजुआना, रीफ़र तथा डोप आदि भी कहते हैं, को सिगरेट के साथ पिया जाता है। चरस की काली-काली गोलियाँ बनाकर उन्हें सिगरेट में भरकर या खाने के साथ खाया जाता है। आम तौर पर भांग को भी सिगरेट की तरह या चिलम में रखकर या ठंडाई में पीसकर पिया जाता है, तथा इसे पीसकर भी खाया जाता है।

गांजे या भांग को सिगरेट की तरह पीने का तत्कालीन प्रभाव यह होता है कि इससे हल्कापन महसूस होता है और इससे अधिक गहराई से अनुभव करने या देखने की प्रवृत्ति होती है। इसके सेवन से उस समय विद्यमान मनोवेग अधिक बढ़ जाते हैं और झिझक कम हो जाती है। इसके कारण समय या गति का बोध एकदम बदल जाता है। इसके सेवन से ऐसे कार्यों को करने की क्षमता नष्ट हो जाती है जिनमें ध्यान लगाने, तेज़ी से कार्रवाई करने और समन्वय की आवश्यकता होती है। इसके कारण व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से इस दवा पर निर्भर हो जाता है। इसके सेवन का सबसे ख़तरा यह है कि इसको लेने के कुछ समय बाद और अधिक तेज या प्रभावकारी दवा लेने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

15.5.5 स्वापक (नींद लाने वाली) दवाएँ

स्वापक दवाएँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती हैं। इनमें से एक तो अफीम ही है, दूसरी दवाएँ हेरोइन और मॉर्फीन हैं। ये सभी पोस्त के पौधे से बनती हैं। कुछ स्वापक दवाएँ प्राकृतिक रूप से उपलब्ध होती हैं तो कुछ प्रयोगशाला में तैयार की जाती हैं। भारत के गाँवों में लोग आम तौर पर अफ़ीम का सेवन करते हैं। इसका कभी-कभार इस्तेमाल करने से कोई सामाजिक समस्या खड़ी नहीं होती। लेकिन बहुत से लोग इन दवाओं के आदी हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे शारीरिक और मानसिक रूप से इन पर निर्भर हो जाते हैं।

मॉर्फीन का इस्तेमाल दर्दनाशक के रूप में किया जाता है। इसके सेवन से इसकी जबर्दस्त लत लग जाती है। हेरोइन मॉर्फीन से निर्मित प्रयोगशाला में तैयार की गई सबसे अधिक विनाशकारी नशीली दवा है। इसका सेवन सबसे अधिक प्रचलित है। हेरोइन, मॉर्फीन से भी कई गुना तेज शक्तिशाली दवा है। इसका सेवन सबसे अधिक होता है इसकी लत भी बहुत जल्दी लगती है। शुद्ध हेरोइन बहुत महँगी होती है इसलिए हेरोइन की ''ब्राउन शुगर'', ''स्मैक'' या ''गर्ड'' आदि अपरिष्कृत किस्मों का बहुत अधिक प्रचलन है। इस नशीले पदार्थों की मूल कीमत बहुत कम होती है, इसलिए ग़रीब लोग इन्हें आसानी से खरीद सकते हैं। इसके धूम्रपान से या इंजेक्शन द्वारा लिया जा सकता है। इसके सेवन का एक और भी तरीका प्रचलित है – इसे किसी चम्मच या चाँदी के वक्र पर रखकर नीचे से गर्म किया जाता है और इससे जो धुआँ निकलता है, उसको मुँह से अंदर लिया जाता है। शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बहुत अधिक व्यसनकारी दवा है। आजकल भारत में इन नशीली दवाओं का सबसे अधिक गलत इस्तेमाल होता है।

उपर्युक्त नशीली दवाओं के अलावा भी कुछ अन्य स्वापक दवाएँ हैं। ये हैं – ''मीथेडोन'' और ''पैथिडीन''। पश्चिमी देशों में जिनको हेरोइन जैसी बहुत तेज दवाओं की लत होती है, उनकी लत छुड़ाने के लिए हेरोइन के स्थान पर कम तेज ''मीथेडोन'' का इस्तेमाल किया जाता है।

कोष्ठक 15.01

नेटवक्र प्रतिचयन तकनीक द्वारा मध्य प्रदेश के सागर विश्वविद्यालय परिसर के चार हज़ार शहरी विद्यार्थियों का अध्ययन किया गया। इनमें एक सामान्य बात यह पाई गई कि सभी को मन: प्रभावी नशीली दवाएँ लेने की आदत थी। इस संदर्भ में दो प्रारूप विज्ञानी अध्ययन किए गए। इनमें पहला ''निर्भरता प्ररूप विज्ञान'' से संबंधित था। इस अध्ययन में नशीली दवाओं का इस्तेमाल कितनी बार किया जाता है, इसे आधार माना गया था। दूसरा अध्ययन ''सातत्य प्ररूप विज्ञान'' से संबंधित था, जो इस्तेमाल की अवधि पर आधारित था।

यह देखा गया कि नशीली दवाओं का सेवन करने वाले अधिकांश लोग शहरी थे जिनकी औसत आयु 23.72 साल थी। इनमें अधिकांश हिंदू परिवारों के थे। इनमें अधिकांश विद्यार्थी, नौकरीपेशा कृषक वर्ग या व्यापारी वर्ग से संबंधित थे। आर्थिक दृष्टि से वे सम्पन्न थे। इनमें से 80 प्रतिशत छात्र बड़ी कक्षाओं के थे, जो स्नातक या डॉक्टरेट के लिए अध्ययन कर रहे

थे और शेष छात्र प्रौद्योगिकी संकाय से थे। बाकी विद्यार्थी ग़ैर-व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में पढ़ रहे थे। ज़्यादातर छात्र शराब और तंबाकू का सेवन करते थे। गांजा, भांग और अन्य नशीली दवाओं के सेवन भी किया जाता था। अनेक छात्र कई तरह की दवाओं का भी सेवन करते थे। जिन छात्रों के नमूने के लिए गए, उनमें 46.7 प्रतिशत छात्र शराब और तंबाकू का सेवन करते थे। इनमें से 67.7 प्रतिशत छात्र कभी-कभी नशीली दवा लेते थे, जबकि एक-तिहाई से कुछ कम छात्र ऐसे थे, जो नियमित रूप से सेवन करते थे।

स्वापक दवाओं के सेवन करने वालों में जीवाणुयुक्त या इंजेक्शन की गंदी सुइयों के इस्तेमाल से, गंदे पानी के संक्रमण से और गलत ढंग से इंजेक्शन लगाने से कई अन्य प्रकार की स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं। इसके अलावा, स्वापक दवा लेने वालों में एक खास बात यह भी होती है कि वे कुपोषण, अपने प्रति लापरवाही के भी शिकार होते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) दवाओं का गलत उपयोग क्या होता है? इसमें और दवा की लत में क्या अंतर है? आठ पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) दवाएँ कितने प्रकार की होती हैं, बताएँ। आठ-नौ पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15.6 लत लगने की प्रक्रिया

आज साधारणतया यह बात स्वीकार की जाती है कि दवा की लत एक रोग है, इसे केवल चारित्रिक कमज़ोरी या इच्छाशक्ति का अभाव नहीं कहा जा सकता। इस भाग में शराब (एल्कोहल) और नशीली दवाओं का व्यसन लगने की प्रक्रिया की अलग-अलग जाँच की गई है।

15.6.1 शराब की लत

अत्यधिक मद्यपान की लत को पुरानी बीमारी कहा जाता है। शराबी व्यक्ति थोड़ी-थोड़ी देर बाद शराब का सेवन करता है और वह इस हद तक पीता है कि (1) वह समुदाय के सामान्य व्यवहार और सामाजिक मर्यादाओं की सीमा को लांघ जाता है, और (2) स्वास्थ्य पर इसका बुरा असर पड़ता है, जिसका प्रभाव उसकी सामाजिक अथवा आर्थिक स्थिति पर पड़ता है। फलस्वरूप उसे नई-नई समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

जिस व्यक्ति को शराब की लत लग जाती है, उसका ध्यान इन समस्याओं की ओर नहीं जाता पर यदि उसे इनका पता चल भी जाए तो भी वह पीने की आदत को पूरी तरह नहीं छोड़ पाता।

अतिमद्यपता (अंधाधुंध शराब पीने) का विवरण नीचे दिया गया है :

i) अतिमद्यपता एक रोग है। यह किसी मनोवैज्ञानिक समस्या का लक्षण नहीं है। इस रोग के कारण ही मनोवैज्ञानिक और शारीरिक समस्याएँ पैदा होती हैं। इनका समाधान अतिमद्यपता के उपचार द्वारा ही संभव है।

ii) यह ऐसा रोग है, जो उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। यानी अगर इसका उपचार न किया जाए तो यह गंभीर रूप धारण कर लेता है।

iii) यह रोग घातक सिद्ध हो सकता है। अगर इसका उपचार न किया जाए तो यह गंभीर रूप धारण कर लेता है।

iv) इस रोग का उपचार हो सकता है। सही उपचार से इस बीमारी को नियंत्रित या आगे बढ़ने से रोका जा सकता है। इसका अंतिम लक्ष्य रोगी को शराब की लत से पूर्ण रूप से मुक्त कराना है। इस प्रकार पियक्कड़ व्यक्ति न तो यदा-कदा पीता है और न ही वह समाज में बैठकर सभ्य रूप से पी सकता है। यह बात उन लोगों के बारे में भी उतनी ही सही है, जिन्होंने सालों तक शराब को हाथ भी नहीं लगाया होता। चाहे वह थोड़ी मात्रा में ही शराब क्यों न पिए, वह फिर बार-बार पीना शुरू कर सकता है।

एक प्रगामी रोग के रूप में यह कई अवस्थाओं में से गुज़रता है। इन अवस्थाओं के लक्षणों का वर्णन नीचे दिया गया है।

15.6.1.1 आरंभिक अवस्था

क) पहले की तरह नशा पाने के लिए उसे और अधिक शराब की जरूरत होती है।

ख) अपराध बोध के कारण वह व्यक्ति शराब के बारे में चर्चा नहीं करना चाहता।

ग) ''निश्चेतनता की स्थिति'' यानी शराब के नशे के दौरान उसने जो कुछ भी किया होता है, उसे वह भूल जाता है।

घ) उसे केवल पीने की चिंता होती है, यानी वह यही सोचता रहता है, कि कैसे, कब और कहाँ उसे फिर शराब पीने का अवसर मिलेगा।

15.6.1.2 मध्य अवस्था

क) उसका शराब की मात्रा, समय और स्थान पर कोई नियंत्रण नहीं रहता।

ख) दूसरों को और स्वयं को शराब पीने के बारे में सफाई देना।

ग) शान जताना यानी अपनी हैसियत से ज़्यादा करके दिखाना, जैसे – शान दिखाने के लिए खूब पैसा ख़र्च करना।

घ) बातचीत में गाली-गलौज और मारपीट पर उतर आना।

ङ) अपराध बोध होना और उसके लिए पछताना।

च) कुछ समय के लिए अस्थायी तौर पर मद्यपान छोड़ देना।

छ) शराब पीने में कमी करने के लिए शराब पीने के तरीकों को बदल देना यानी शराब की किस्म या ब्रांड को बदल देना। पीने के स्थान और समय को बदल देना आदि। लेकिन इनसे कोई कोई ठोस परिणाम नहीं निकलता।

ज) इससे सामाजिक संबंधों में समस्याएँ आ जाती हैं। इसके साथ ही परिवार, व्यवसाय और वित्तीय समस्याएँ बढ़ जाती हैं।

झ) कभी-कभी सुबह उठते ही शराब पीने लगना, ताकि पूर्व संध्या में बहुत अधिक शराब पीने के कारण जो अस्वस्थता और अरुचिकर शारीरिक लक्षण प्रकट हुए थे, उन पर नियंत्रण पाया जा सके।

ट) कभी-कभी पियक्कड़ शराब की लत से उबरने के लिए दूसरों से सहायता भी माँग सकता है।

15.6.1.3 स्थायी अवस्था

क) सहनशक्ति में कमी आ जाती है यानी अब उसे थोड़ी सी मात्रा में शराब पीने से भी नशा हो जाता है।

ख) शारीरिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

ग) अंधाधुंध पीना यानी कि कई दिन तक लगातार पीते रहना।

घ) अपनी रोज़मर्रा के शराब के कोटे का ख्याल रखना कि कहीं वह शराब पिये बिना न रह जाए।

ङ) शराब पाने के लिए आपराधिक आचरण और नैतिक दृष्टि से गिर जाना, यानी सामाजिक मूल्यों के अनुसार जीने में असमर्थ होना।

च) मन में ऐसा संदेह होना कि हर व्यक्ति उसके खिलाफ़ है।

छ) पुरुषों में यौन इच्छा या यौन व्यवहार समाप्त हो जाता है। इसके कारण उसे अपनी पत्नी की वफादारी पर संदेह होने लगता है।

ज) मामूली बातों से भयभीत होना, जैसे अकेलापन।

झ) अपने शरीर के काम, चलने-फिरने वाले अंगों पर नियंत्रण खत्म हो जाना, यानी हिलने और काँपने के कारण वह मामूली से काम भी नहीं कर पाता।

ट) उसे विभ्रांति का अनुभव होता है यानी उसे ऐसा लगता है कि कहीं से आवाज़ आ रही है। वह ऐसी चीज़ें देखता है, जो वहाँ होती नहीं और बाहरी उद्दीपकों के अभाव में उसे कई प्रकार के संवेदनों का अनुभव होता है।

ठ) यह यदि शराब पीना बंद कर दे, तो उसे भयंकर शारीरिक बेचैनी और दर्द होता है।

ड) अंतिम अवस्था में या उसकी मृत्यु हो जाती है या फिर वह मानसिक रूप से अस्वस्थ हो जाता है।

15.6.2 नशीली दवाओं की लत

नशीली दवाओं के लक्षण भी शराब की ही तरह के होते हैं। इस दवाओं के व्यसन की अवस्थाएँ भी शराब की लत की अवस्थाओं के समान ही हैं, जिनका विवरण आगे दिया गया है :

15.6.2.1 आरंभिक अवस्था

क) नशीली दवा की मात्रा और इसको लेने की आवृत्ति बढ़ जाती है। यानी वह पहले दो बार नशीली दवा लेता था तो अब तीन-चार बार लेने लगता है।

ख) वह व्यक्ति नशीली दवाओं पर ज़्यादा समय और पैसा खर्च करने लगता है तथा जीवन की दूसरी गतिविधियों पर कम समय लगाता है।

ग) वह हमेशा नशीली दवाओं के बारे में ही सोचता रहता है और उन्हें पाने की आवश्यकता उसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

15.6.2.2 मध्य अवस्था

क) अपने आपको स्वस्थ अनुभव करने के लिए उसे नशीली दवा की पहले की अपेक्षा ज़्यादा मात्रा की जरूरत होती है यानी उसे दवा की लत लग जाती है।

ख) इस दवा के प्रयोग को बंद करने या कम करने का बार-बार प्रयास करने या निर्णय करने के बावजूद उसका दवा के सेवन पर कोई नियंत्रण नहीं रहता।

ग) वह उस दवा को छिपाकर रखने लगता है।

घ) शिक्षा, कामकाज, परिवार आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में नई-नई समस्याएँ आने लगती हैं।

ङ) वह अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा करने लगता है।

च) अपने मित्रों और पहले वाले रुचि के क्षेत्र से दूर रहने लगता है।

छ) व्यक्तित्व में परिवर्तन आ जाता है।

15.6.2.3 स्थायी अवस्था

क) नशीली दवाओं के सेवन पर नियंत्रण करना पूरी तरह समाप्त हो जाता है।

ख) वह लगभग सदा नशे में रहता है।

ग) उसे अपनी ज़रूरतों के लिए दूसरों की मदद की ज़रूरत होती है जैसे, भोजन आदि।

घ) वह नशीली दवा का सेवन करने वाले अन्य लोगों के साथ ही रहता है।

ङ) उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो सकती है।

इस प्रकार नशीली दवाओं की लत के कारण उसके व्यवहार, सामाजिक जीवन तथा निर्णय करने, सोचने-समझने की शक्ति में कमी आने लगती है।

15.7 लत के कारण

किसी चीज़ की लत क्यों लगती है, यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न है। अनुसंधान से यह पता चलता है कि लत लगने का कोई एक कारण नहीं होता अपितु इसके विविध कारण हो सकते हैं।

पहले यह विश्वास किया जाता था कि विशिष्ट प्रकार के लोग ही लत के शिकार होते हैं। लेकिन ऐसा कोई नियत व्यक्तित्व नहीं है, जिस लत लगने की संभावना होती हो। कुछ ऐसे तत्त्व हो सकते हैं, जिनसे किसी व्यसन या लत के विकसित होने के लिए अनुकूल वातावरण बन जाता हो। कुछ ऐसे तत्त्व भी हो सकते हैं, जिनके कारण किसी लत को छोड़ना कठिन हो जाता हो। इसके बारे में आगे के उपभागों में विचार किया जाएगा।

15.7.1 शारीरिक कारण

यह देखा गया है कि अगर बच्चों के माता-पिता दोनों को किसी चीज़ की लत हो, तो बच्चे में उसे व्यसन लगने की संभावना अधिक होती है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सभी व्यसनी माता-पिताओं के बच्चे भी व्यसनी ही होंगे। खासकर परिवार के बच्चों में शराब पीने की लत पड़ सकती है। इससे यह संकेत मिलता है कि व्यसनी होने की प्रवृत्ति वंशगत होती है। फिर भी इस समस्या की वृद्धि के लिए अन्य बातें भी जिम्मेदार हो सकती हैं, जैसे :

i) नशीली दवा की कितनी मात्रा और कितनी बार ली जाती है।

ii) वह दवा कैसे ली जाती है? (इंजेक्शन द्वारा ली जाने वाली दवाइयाँ अधिक व्यसनकारी होती हैं।)

iii) उपलब्धता, पहुँच और कीमत।

iv) पारिवारिक प्रभाव के अलावा उस व्यक्ति के वातावरण के अन्य प्रभावी कारणों की मौजूदगी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि शराब की लत को विकसित करने में कई अन्य शारीरिक कारकों का भी योगदान होता है, जैसे – अतिमद्यपता में शोषण की कमी, विभिन्न शारीरिक तंत्रों का ठीक से कार्य न करना। उदाहरण के लिए, अंत:स्रांवित-तंत्र आदि। लेकिन इनमें से कोई भी बात निश्चयात्मक रूप से सिद्ध नहीं हुई है।

15.7.2 व्यक्तिगत या मनोवैज्ञानिक कारण

वर्षों से नशीली दवा की लत को व्यक्तिगत समस्याओं के कारण होने वाली मानसिक विकास माना जाता रहा है। अध्ययनों से यह पता चलता है कि असुरक्षित लोगों को व्यसन लगता है। बहुत से व्यसनियों में हल्की से तेज मानसिक परेशानियों के लक्षण देखे गए हैं, यद्यपि अभी यह स्पष्ट नहीं हुआ कि मानसिक समस्याओं के कारण लत लगती है, या लत से मानसिक समस्याएँ पैदा होती है पर इनमें चाहे कोई भी संबंध हो, इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि नशीली दवाओं के व्यसनी व्यक्ति व्यक्तित्व की गंभीर समस्याओं, अपूर्णता की भावना, पर निर्भरता, लाचारी, अलगाव और स्वाभिमान की कमी से ग्रस्त होते हैं। लत लगने से पूर्व उनमें तथा बचपन से संबंधित समस्याओं के तनाव के लक्षण भी मिलते हैं।

यह भी कहा जाता है कि दवाओं की लत शिक्षा का परिणाम है। पहले-पहले नशीली दवा के सेवन के बाद आनंद की अनुभूति होती है। उसे प्रतिफल समझ कर वह दवा की मात्रा निरंतर बढ़ाता जाता है। इस प्रकार यदि आरंभिक अनुभव आनंददायक हो तो दवा की लत लग जाती है। लेकिन सामान्य रूप से यह सिद्धांत मान्य है कि दूसरों की अपेक्षा कुछ व्यक्तियों में व्यसन की प्रवृत्ति अधिक होती है।

15.7.3 सामाजिक-सांस्कृतिक/परिवेश संबंधी कारण

आज बहुत से ऐसे सिद्धांत प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिनमें यह दावा किया गया है कि नशे की लत का मूल कारण सामाजिक-सांस्कृतिक है। जिन समाजों में लोग नशीली दवाओं और/अथवा शराब के पीने को बुरा नहीं मानते और जहाँ नशीली दवाएँ सस्ती और सुलभ होती हैं, वहाँ

नशीली दवाओं/ शराब की खपत ज़्यादा होती है। कुछ जनजातीय समाजों में शराब का उपयोग धार्मिक कर्मकांडों और संस्कारों का भाग होता है। इस प्रकार नियमित सेवन से यह स्वाभाविक है कि कुछ लोगों को इनकी लत लग जाए। इसका मतलब यह नहीं है कि केवल समाज द्वारा मान्यता और सुलभता से इनकी लत को प्रोत्साहन मिलता है। कुछ समाजों में जहाँ इनके सेवन को हेय दृष्टि से देखा जाता है वहाँ भी कुछ लोगों को नशे की लत पड़ जाती है। युवक लोग प्राय: समाज में वयस्कों के लिए निर्धारित मानदंडों और मूल्यों के प्रति विद्रोह-भाव लेने लगते हैं। इस प्रकार के सांस्कृतिक विपथन के सिद्धांत से यह संकेत मिलता है कि नशीली दवाओं के विकास का कारण ग़ैर-परंपरागत वर्गों से साथ इन मनोवेगात्मक और सामाजिक संबंधों का होना है।

इसके साथ ही हम समाज के कुछ वर्गों में शराब और हल्की किस्म की दवाओं के सेवन को सामाजिक स्वीकार्यता की बात के साथ जोड़ सकते हैं। भारत में शादी, मृत्यु, उत्सव आदि कुछ धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर विशेष रूप से कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक वर्गों में शराब, भांग, गांजा आदि के उपयोग को परंपरागत मान्यता प्राप्त है। आजकल सभी सामाजिक-सांस्कृतिक वर्गों में सामाजिक रूप से शराब पीने में वृद्धि हुई है। अब समाज में मदिरापान को प्रतिष्ठा का सूचक माना जाने लगा है। कुछ पश्चिमी देशों में सामाजिक रूप से शराब पीना और दर्द दूर करने के लिए तथा अपनी कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए गोली लेना आम बात है।

दवाओं के व्यसन के दायरे को निर्धारित करने में नशीले पदार्थों का कानूनी दर्जा भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है। चाहे कोई संस्कृति नशीली दवाओं के सेवन को कानूनी और सांस्कृतिक मान्यता होने के कारण दवाओं की लत बढ़ती है। अगर कम नशीली दवाओं को कानूनन मान्यता दे दी जाए तो अधिक नशीली दवाओं के व्यसनियों की संख्या कम हो जाएगी। ऐसा मत रखने वाले लोगों का कहना है, कि सभी दवाओं को एक व्यापक श्रेणी में रखने से नशे की लत को रोकने के प्रयासों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है।

युवा वर्ग में कुछ सम्पन्न परिवारों के युवक ऐसे होते हैं, जो अपने समकक्ष लोगों के बीच अपनी पहचान बनाने के लिए शराब का सेवन करते हैं। चूँकि शराब पीना मर्दानगी का प्रतीक माना जाता है, ये लड़के छोटी आयु में ही अपने सम्पन्न साथी के प्रभाव में आकर शराब पीना और कभी-कभी नशीली दवाएँ लेना शुरू कर देते हैं।

नशे की लत आयु और सांस्कृतिक पश्ष्ठभूमि की ही भाँति व्यवसाय से भी सम्बद्ध पाई गई है। जो लोग ऐसे धंधों में लगे होते हैं, जहाँ उन्हें शारीरिक और/अथवा मानसिक तनाव का सामना करना पड़ता है, उन्हें भी नशे की लत लग सकती है। जिन लोगों को लत लगने की संभावना होती है, उनका विवरण आगे दिया है :

i) जिन लोगों के व्यवसाय का संबंध अप्रीतिकर कार्यकलापों से होता है, जैसे मल सफाई कर्मियों, अंत्येष्टि कर्म या मुर्दाघर में काम करने वालों, कूड़े से सामान बीनने वाले कबाड़ियों आदि को नशे की लत लग जाती है।

ii) जो लोग बहुत थका देने वाले और उबाऊ काम करते हैं, जैसे ट्रकों के ड्राइवर, रिक्शा-चालक, माल ढोने वाले और कुली आदि इन्हें भी शराब आदि की लत लग जाती है।

iii) विपणन (मार्केटिंग) और विक्रय आदि के स्पर्धी धंधों में लगे ऐसे लोगों को भी शराब आदि की लत लग जाती है, जिनमें बहुत से सौदे शराब के दौर के साथ ही तय होते हैं।

इसके अतिरिक्त परिवेश सम्बन्धी एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक परिवार का प्रभाव है। यदि परिवार में किसी वयस्क व्यक्ति को शराब आदि की लत हो तो परिवार के सदस्य उसकी नकल कर सकते हैं। कुछ अन्य कारक जो प्रभावित करते हैं, निम्नलिखित हैं :

i) संक्रमण काल, जैसे किशोरावस्था, जवानी के समय परिवार द्वारा तनाव में वृद्धि के कारण;

ii) माता-पिता के आवश्यक नियंत्रण के अभाव से; और

iii) परिवार में फूट पड़ने या पारिवारिक व्यवस्था में सामंजस्य होने के कारण।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, प्रभावी सम्पन्न वर्ग द्वारा नशीली दवाओं का गलत सेवन करने और उसे व्यसन लगने की हद तक बढ़ावा देना बहुत निर्णायक है। समाजीकरण द्वारा यह निर्धारित होता है कि लोग किस हद तक व्यापक सामाजिक मानदंडों के अनुसार चलते हैं या वे सामाजिक बंधनों को तोड़कर सामान्य मार्ग से हटकर शराब या नशीली दवाओं के गुलाम बनकर जाते हैं।

विभिन्न संस्कृतियाँ अपने सदस्यों को संतोष प्रदान करने और तनावों से मुक्त दिखाने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय करती हैं। यदि किसी संस्कृति में अपने सदस्यों के लिए विशेष रूप से, युवा लोगों के लिए और उन लोगों के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक तनाव में जीते हैं, तनाव को दूर करने के लिए खेल, सृजनात्मक कलाएँ, कर्मकाण्ड और संस्कार आदि स्वस्थ उपायों की व्यवस्था हो, तो उनकी शराब या दूसरी नशीली दवाओं की ओर जाने की संभावना कम होती है और उनमें इनकी लत लगने की प्रवृत्ति भी कम होती है।

समाजविज्ञान सिद्धांतवादी इसकी कई अन्य व्याख्याएँ भी करते हैं। जो लोग तनाव के सिद्धांत को मानते हैं, उनके विचार में लोगों का नशीली दवाओं और शराब की ओर झुकाव इसलिए होता है क्योंकि उनके आसपास के वातावरण की सामाजिक परिस्थितियाँ उन्हें सफलता के पर्याप्त अवसर प्रदान नहीं करतीं। यह बात विशेष रूप से उन वर्गों पर लागू होती है जो सामाजिक दृष्टि से अलाभकरी स्थिति में होते हैं तथा सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से निचले वर्ग में आते हैं।

यह भी विश्वास किया जाता है कि लोग शराब और अन्य नशीली दवाओं का सेवन करते हैं, उनका रहन-सहन का ढंग असामान्य हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी प्रवृत्ति नशीली दवाओं और शराब पर निर्भर होने की हो जाती है तथा यह व्यसन उनके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाती हैं।

इसलिए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शराब की लत के पीछे कई सामाजिक-सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और शारीरिक कारण होते हैं, जो अमूमन मिल-जुलकर ही इसको जन्म देते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) एक रोग के रूप में अतिमद्यपता के चार अभिलक्षण क्या हैं? लगभग दस पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) नशीली दवाओं और शराब आदि की लत डालने में पारिवारिक प्रभाव किस प्रकार से प्रेरक कारण हैं? लगभग नौ पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15.8 नशीली दवाएँ, अपराध और राजनीति

नशीली दवाओं के व्यसन से न केवल लोगों का स्वास्थ्य ही खराब होता है बल्कि उससे कानून और व्यवस्था तथ राष्ट्रीय सुरक्षा को भी खतरा होता है। बृहत्तर समाज पर इसके परिणाम भयंकर होते हैं। अधिकांश देश कानून द्वारा नशीली दवाओं के उत्पादन, खपत और बिक्री को नियमित करते हैं। कानून द्वारा दवाओं के उपयोग को निरुत्साहित किया जाता है या उसके लिए कठोर सजा की व्यवस्था होती है। फिर भी दवा के उत्पादन और बिक्री अवैध व्यापार एक लाभदायक व्यवसाय है। नशीली दवाओं का बड़ा बुरा चस्का लगता है। उनके ग्राहक और अधिक माँग करते हैं। यह बात बिल्कुल स्वाभाविक है कि आपराधिक संगठन ही इन दवाओं के अवैध व्यापार को संचालित करते हैं।

वे इस धंधे को बड़ी बेरहमी से चलाते हैं। अपनी गतिविधियों पर अंकुश लगाने वाले सभी प्रयासों को वे निष्फल कर देते हैं। जब सरकार सख्त कानून बनाती है, तो अवैध धंधा करने वाले लोग अस्थायी तौर पर छिप जाते हैं और सरकारी नीतियों के हानिकारक प्रभावों को समाप्त करने के लिए गुप्त अभियान चलाते हैं। जब दवाओं को संसाधित करने वाली प्रयोगशालाओं का सरकार का पता चलता है और वह उन्हें नष्ट कर देती है, तो वे नई और चलती-फिरती प्रयोगशालाएँ शुरू कर देते हैं। नशीली दवाओं, अपराध और राजनीति में भ्रष्टाचार, घूसखोरी तथा हिंसा कोई नई बात नहीं है। ये लोग अपने काम में रुकावट डालने वालों की हत्या तक करने में नहीं हिचकते।

दवा के सेवन के परिणामस्वरूप होने वाले छोटे-मोटे और गंभीर अपराध आम बात है। नशीली दवा की एक खुराक के इंजेक्शन के लिए नशेड़ी चोरी तक करने में संकोच नहीं करता। वह दूसरे को ठग सकता है, अपना या दूसरे का सामान बेच सकता है। यहाँ तक कि वह किसी की हत्या तक कर सकता है। दवा की लत का यहाँ तक प्रभाव होता है कि व्यक्ति हिंसात्मक अपराध

कर सकता है क्योंकि दवा के प्रयोग से उसके शरीर की रासायनिक स्थिति ऐसी हो जाती है जो उसे उग्र बना देती है। हमें इन दवाओं का अवैध व्यापार कनने वालों की तीव्र भर्त्सना करनी चाहिए। सामान्य रूप से ये छोटे-मोटे फेरी वालों और दवा व्यसनियों को दवा पहुँचाने वालों की आड़ लेकर अपना धंधा चलाते हैं। दवा पहुँचाने वालों को स्वयं भी लत होती है। वे दवाओं के दुरुपयोग के लिए ऐसे लोगों को तलाश में रहते हैं, जिन्हें वे दवा का आदी बना सकें और इस प्रकार अपनी लत की आदत को पूरा करने के साधन जुटा सकें। ये दवा का ग़ैर-कानूनी धंधा करने वाले बेरहम व्यापारी होते हैं। ये आसानी से बड़ी रकम बनाने की ताक में रहते हैं। उन्हें पकड़ना बड़ा मुश्किल होता है क्योंकि उनके संपर्क अपराध जगत् पैसे वालों और शक्तिशाली राजनीतिज्ञों के साथ होते हैं। अवैद्य व्यापार करने वाले संगठन ऐसी योजनाएँ बनाते हैं जो उनकी आय के वास्तविक स्रोत छिपा लेती हैं। ये हांगकांग और स्विट्ज़रलैंड जैसे देशों में स्थित वाली निगमों के माध्यम से दवाओं को बेचने का धंधा करते हैं। ये देश नशीली दवाओं के उत्पादक देशों से बहुत दूर स्थित हैं।

1985 में अधिकांश 81 सरकारों ने नशीली दवाओं के संयुक्त राष्ट्र के आयोग को पेश अपनी वार्षिक रिपोर्ट में नशीली दवाओं के अवैध व्यापार के अस्तित्व को स्वीकारा है। नशीली दवाओं के वितरण के लिए सुनिश्चित मार्ग है। उदाहरण के लिए, कुछ देशों में दवाओं का उत्पादन होता है, तो कुछ देशों का उपयोग दवाओं को लाने ले जाने के लिए किया जाता है और कुछ लोगों ले जाकर बेचा जाता है। इन तीनों प्रकार के देशों में नशे की लत की दर ऊँची है।

अधिकारी गण प्रतिदिन अधिक से अधिक अवैध नशीली दवाओं को ज़ब्त कर रहे हैं, लेकिन यह वास्तव में चोरी-छिपे लाई जाने वाली दवाओं का एक शतांश भी नहीं है। अब सभी देश मिलकर इस अवैध धंधे को रोकने का मिलकर प्रयास कर रहे हैं। वे :

i) अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नशीली दवाओं के अवैध व्यापार को रोकने के लिए कार्यनीति बना रहे हैं।

ii) नशीली दवाओं के उत्पादन को घटाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

iii) अधिक सख्त दंड और रोकथाम के कार्यक्रम तैयार कर नशीली दवाओं के प्रति जन-सामान्य के आकर्षण को कम करने का प्रयास कर रहे हैं।

अंत में, एक बात ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है कि जहाँ नशीली दवाओं के उत्पादन, बिक्री और खपत को कम करने के लिए सम्मिलित रूप से सख्त उपाय किए जा रहे हैं, वहीं शराब के लिए ऐसा कोई प्रयास नहीं किया जा रहा है। अधिकांश सरकारों के लिए शराब राजस्व का अच्छा साधन है। शराब पर नियंत्रण के लिए केवल शराब के विज्ञापनों और जन-संचार माध्यमों में उसके समर्थन पर रोक लगाई गई है। लेकिन भारत में ही सरकार की नीति में स्पष्ट विरोध दिखाई देता है। मद्य निषेध एक बहुत ही मूल्यवान आदर्श है, लेकिन बहुत-सी राज्य सरकारें अपने राजस्व का बहुत बड़ा भाग शराब के लाइसेंस और बिक्री से प्राप्त करती हैं।

नशीली दवा के रूप में शराब दूसरी नशीली दवाओं से यदि व्यसनकारी और खतरनाक नहीं है तो उनसे कम भी नहीं है। शराब के नशे में गाड़ी चलाने के कितने ही लोगों की जान से हाथ धोना पड़ता है। शराब की लत के कारण व्यक्ति आपराधिक गतिविधियों में फँस जाता है। इसके कारण परिवार और व्यक्ति दोनों तबाह हो जाते हैं। उद्योगों को हानि उठानी पड़ती है तथा कितनी ही दुर्घटनाएँ होती हैं।

अत: यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि अधिकांश सरकारें इसे अत्यधिक हानिकारक नशीली दवा और जनता का पहला दुश्मन मानने में संकोच करती हैं।

कोष्ठक 15.02

नशीली दवाओं पर शिक्षा का उद्देश्य नशीली दवाओं के उपयोग को घटाना है। विधायकों की भूमिका में नीति-वादी, कानूनवेत्ता और राजनीतिज्ञ इस उद्देश्य की ओर आकर्षित हो सकते हैं। औषधि विज्ञान की दृष्टि से हमारे सामने समस्या यह है कि हम नशीली दवाओं के इस्तेमाल पर रोक क्यों लगाएँ? फिर कुछ दवाओं के इस्तेमाल पर रोक क्यों लगाएँ? फिर कुछ दवाओं का प्रयोग तो हमारे धार्मिक अनुष्ठानों में युगों से हो रहा है। इस प्रकार की मन:प्रभावी दवाओं पर प्रतिबंध लगाना आसान नहीं है।

नशीली दवाओं के प्रचलन की रोकथाम बीच का रास्ता अपनाकर की जा सकती है, जो इस प्रकार है :

i) कम से कम लोगों को नशीली दवा की लत का शिकार बनने देना यानी उनकी संख्या में कमी लाना;

ii) नशीली दवा के इस्तेमाल से होने वाली हानि को रोकना;

iii) पूर्व व्यसनग्रस्त लोगों का सुगम पुनर्समाजीकरण करना।

इन उद्देश्यों का उल्लेख करना तो आसान है लेकिन उन्हें कार्यान्वित करना बहुत कठिन है।

15.9 हस्तक्षेप : उपचार, पुनर्वास और रोकथाम

सौभाग्य से नशीली दवाओं के व्यसन-रूपी रोग का उपचार किया जा सकता है। शारीरिक बीमारी की तरह इसमें भी दवा की ज़रूरत होती है लेकिन यह उपचार की लत का इलाज नहीं। इसका उपयोग भूख बढ़ाने, सहनशक्ति और दम-खम बढ़ाने, विनिवर्तन के लक्षणों को काबू में लाने और इस लत के कारण होने वाली दूसरी बीमारियों के इलाज के लिए किया जा सकता है। मूल रूप से इस उपचार का उद्देश्य शराब और दूसरी तरह की नशों के इस्तेमाल को उस समय तक पूरी तरह छुड़ाना होता है, जब तक पुन: एक बार उसे दवा या शराब लेने की इच्छा या प्रवृत्ति समाप्त न हो जाए। नशा छोड़ने के बाद कभी-कभार फिर उसे लेने की इच्छा होना स्वाभाविक है।

इस अवस्था की शुरुआत निर्विषीकरण के बाद होती है। यह वह अवधि होती है जब शराब या दवा को लेना बंद कर दिया जाता है। इस दौरान रोगी की डॉक्टरी देख-रेख की जाती है। इसमें रोगी और उसके परिवार को सलाह द्वारा मनोवैज्ञानिक सहायता दी जाती है। यह सलाह व्यक्तिगत रूप से, सामूहिक रूप से पति-पत्नी के स्तर पर या पारिवारिक स्तर पर दी जाती है। इसका उद्देश्य नौकरी, वित्त, मनोरंजन तथा पारिवारिक और रोज़मर्रा के जीवन में आने वाली समस्याओं को दूर करना होता है। इसमें हमारा ध्यान रोगी की मनोवृत्ति को बदलने, उसके रहन-सहन के ढंग में सुधार लाने और समाज में उसका जो स्थान पहले था, उसे फिर से दिलाने की ओर रहता है। यह काम उसे नौकरी पाने में मदद करके, परिवार और समाज में उसे स्थान दिलाकर मनोरंजन तथा हॉबी में आनंद ले सकने योग्य बनाकर किया जा सकता है। साथ में इनसे जुड़ी भावनात्मक समस्याओं को सुलझाने और रुपये-पैसे व आराम-चैन के दूसरे साधन खोजने जैसे रोज़मर्रा के मामलों को भी गहराई से समझने की ज़रूरत होती है।

उपर्युक्त अवस्थाओं के लिए विभिन्न तरीकों और संसाधनों का इस्तेमाल किया जा रहा है शारीरिक संचालन की व्यवस्था डॉक्टरों के मार्गदर्शन में (विशेष/सार्वजनिक) अस्पतालों में, विशेष केंद्रों में अथवा घरों में भी की जा सकती है। मनोवैज्ञानिक सहायता की व्यवस्था नीचे दिए स्थानों में की जा सकती है :

i) अस्पतालों, सार्वजनिक-अस्पतालों, मानसिक अस्पतालों, निजी अस्पतालों या लत को छुड़ाने के लिए खोले गए केंद्रों में;

ii) नशे की लत से उबरे लोगों या फिर पेशेवर लोगों (डॉक्टर आदि) द्वारा चलाए जाने वाले दिवसीय या आवासीय संस्थानों में; और

iii) एल्कोहलिक्स एनोनिमस/नर्कोटिक्स एनोनिमस नामक संस्था द्वारा, जिसे नशे की लत से उबरे लोगों ने बनाया है। यह इस संस्था के सदस्यों और दूसरे लोगों की संयमी बनने और नशे से दूर रहने में मदद करती है। नशीली दवाओं या शराब की लत छूटने के बाद ठीक हुए गुमनाम मद्यपियों (शराबियों) के लिए एक भाईचारा संस्था बनाई गई है। इसका उद्देश्य दूसरे व्यसनियों और स्वयं को संयत रखना या शराब और नशीली दवाओं से दूर रहने के प्रेरणा देना है।

नशे की लत से उबरने या निर्विषीकरण के बाद आदमी को समाज में अपना स्थान बनाने या यूँ कहें अपने दायित्वों को पूरा करने और अपने अधिकारों को पाने के लिए कई तरह की परिस्थितियों या कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। नशे के शिकार लोगों को शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टि से इन परिस्थितियों का मुकाबला करने में मदद करना ही पुनर्वास की प्रक्रिया है। इस प्रकार रोज़गार दिलाने या उसमें शामिल करने का काम इस प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण पहलू है। इन्हें हम आमदनी देने वाली परियोजनाएँ चलाकर और नौकरियाँ दिलाकर कर सकते हैं।

संक्षेप में, पुनर्वास के लक्ष्यों को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है :

i) शराब और नशीली दवाओं से पूर्ण परहेज़

ii) व्यक्ति की शारीरिक स्थिति में सुधार करना

iii) अपने व्यवहार के प्रति स्वयम् उत्तरदायी होना

iv) अपने प्रति, दूसरों के प्रति और आध्यात्मिक शक्ति के प्रति विश्वास जगाना

v) स्वस्थ आत्म-दृष्टिकोण का विकास करना और अपने आपको समझना

vi) जीवन में सामाजिक रूप से स्वीकार्य और सार्थक लक्ष्यों का विकास करना

vii) आत्म नियंत्रण सीखना

viii) अपनी शिक्षा, नौकरी और सामाजिक भूमिकाएँ फिर से शुरू करना

ix) परिवार में फिर से अपना सही स्थान बनाना।

सोचिए और करिए 2

भाग 15.9 को ध्यान से पढ़िए और नशीली दवाओं की बिक्री को रोकना क्यों कठिन है, इसके कारणों की सूची बनाइए। हमारे समाज में दवाओं की बिक्री को कम करने के लिए कुछ ऐसे सुझाव दीजिए।

ये सारे लक्ष्य और अवस्थाएँ कठिन हैं कुछ ज्ञात तथा उन असंख्य अनजाने व्यवसायियों की संख्या को देखते हुए अधिकांश देशों में इनके लिए पर्याप्त चिकित्सा सेवाएँ उपलब्ध नहीं हैं। ठीक जिस प्रकार किसी शराबी या नशीली दवाओं के व्यसनी की पहचान और उसे अभिप्रेरित करना कठिन है उसे तरह फिर से शराब और दवाओं की लत पड़ने पर (जो बहुत स्वाभाविक है) उसे संभालना और दुबारा लत पड़ने पर उसकी देखभाल की व्यवस्था करना भी कठिन है। इसके

अलावा, व्यावसायिक दृष्टि से उसे फिर से काम पर लगाना और भी दुष्कर है। इसका कारण एक तो सामाजिक बदनामी है और दूसरा बहुत से देशों में साधनों की कमी भी है।

इस प्रकार दवाओं के गलत इस्तेमाल को रोकने के काम का महत्त्व और बढ़ जाता है। इसके लिए नशीली दवाओं की आपूर्ति और माँग दोनों को कम करना होगा। यानी यह देखना होगा कि नशीली दवाएँ और शराब खुले रूप से बेची जाएँ और आसानी से उपलब्ध न हों। दूसरे लोगों को यह समझाया जाए कि इनकी लत के क्या बुरे परिणाम होते हैं ताकि वे उनसे दूर रहें। लोगों को नशीली दवाओं और शराब से दूर रखने के लिए मनोरंजन और रोज़गार सेवाओं की पर्याप्त सुलभ होनी चाहिए।

दूसरी ओर, दवाओं की बिक्री को रोकने के लिए समान और कठोर कानून और उनका लागू होना जरूरी है। ऐसे अति-संवेदनशील वर्गों की लत से होने वाली समस्याओं के बारे में सावधान करना होगा। उन्हें जीवन में आने वाली नियमित और विशिष्ट समस्याओं से निपटने की शिक्षा देनी होगी ताकि उन्हें नशीली दवाओं के व्यसन से दूर रखा जा सके। लत की रोकथाम के लिए किए जाने वाले कार्यक्रमों पर जो भी पैसा, प्रयत्न और समय खर्च होगा उसका शराब और दवा की लत को कम करने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण होगा।

बोध प्रश्न 3

सही उत्तरों पर टिक (✓) का निशान लगाइए।

1) समाज में अवैध दवाओं के उपयोग को बढ़ाने के लिए मुख्य रूप से निम्नलिखित दोषी हैं :

   क) पाश्चात्य संगीत गायक

   ख) दवाओं का अवैध व्यापार करने वाले

   ग) ज़रूरतमंद लोगों तक चोरी-छिपे दवा पहुँचाने वाले

   घ) सरकारी नीति बनाने वाले

2) जिन्हें नशीली दवा आदि की लत लग जाती है, उनके पुनर्वास के निम्नलिखित ध्येय हैं :

   क) उन्हें शिक्षा और नौकरी संबंधी तथा पारिवारिक और सामाजिक भूमिकाओं के निर्वाह में सहायता करना

   ख) पूरी तरह से परहेज़ करना

   ग) आत्म-विश्वास बढ़ाना और आत्म-नियंत्रण

   घ) उपर्युक्त सभी।

15.10 सारांश

इस इकाई के शुरू में विश्वभर में दवाओं और शराब के गलत इस्तेमाल की स्थिति के बारे में पाया गया है। इसके बाद नशीली दवा और शराब (एल्कोहल) से क्या अभिप्राय है, इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है तथा उनके दुरुपयोग, व्यसन, अतिमद्यपता, निर्भरता, सहनशक्ति और विनिवर्तन जैसी अवधारणाओं के बीच अंतर को समझाया गया है। फिर विभिन्न दवाओं का विवरण तथा अतिमद्यपता और व्यसन की प्रक्रिया की व्याख्या की गई है। इसके बाद अतिमद्यपता, शराब और दवाओं की लत के शरीर क्रियात्मक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों का विवरण दिया गया है। इस इकाई के अंत में नशीली दवाएँ और

अपराध तथा नशीली दवाओं की लत एवं अतिमद्यपता के उपचार, पुनर्वास और रोकथाम से संबंधित महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के बारे में चर्चा की गई है।

15.11 शब्दावली

लत या व्यसन (Addiction) : कुछ रासायनिक पदार्थों (दवा या शराब आदि) के अभाव में नियमित जीवनचर्या में असमर्थ होने को रोग कहा जाता है।

शराब (Alcohol) : यह ऐसी नशीली दवा है जिसकी लत लग जाती है और यह शरीर और मन के सामान्य कार्यकलापों को प्रभावित करती है।

अतिमद्यपता (Alcoholism) : यह एक दीर्घकालिक रोग है जिसमें व्यक्ति सामान्य से बहुत अधिक मात्रा में और बार-बार शराब पीता है। इसके उसका कामकाज, पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन प्रभावित होता है।

गांजा, चरस आदि (Cannibis) : भांग के पौधे के विभिन्न हिस्सों से तैयार की जानी वाली नशीली दवाएँ।

निर्भरता (Dependence) : शारीरिक : नशीली दवा का सेवन किए बिना सामान्य शारीरिक कार्यकलाप संभव नहीं होते। मनोवैज्ञानिक : व्यक्ति हमेशा नशीली दवाओं के बारे में सोचता रहता है कि कैसे उसका उपयोग करे, कैसे उसे प्राप्त करे, आदि यह व्यक्ति नशीली दवा का सेवन किए बिना भावनात्मक दृष्टि से सामान्य जीवन नहीं जी सकता।

अवसादक दवाएँ (Depressants) : ऐसी दवाएँ जो मस्तिष्क की क्रियाशीलता को मंद कर देती हैं।

निर्विषीकरण (Detoxification) : दवाओं के प्रयोग को बंद करने की वह प्रक्रिया जिसके द्वारा धीरे-धीरे व्यक्ति दवा के प्रयोग के बिना जीने का आदी बनाया जाता है।

नशीली दवा (Drug) : उस रासायनिक पदार्थ को कहते हैं जिसे लेने से मस्तिष्क पर उसकी रासायनिक प्रतिक्रिया होती है। इसका शरीर और मन के सामान्य कार्यकलापों पर प्रभाव पड़ता है।

नशीली दवाओं का दुरुपयोग (Drug Abuse) : (डॉक्टरी या ग़ैर-डॉक्टरी) रासायनिक पदार्थों का इतनी मात्रा, शक्ति में बार-बार उपयोग, जिसके कारण शारीरिक तथा मानसिक कार्यकलापों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

विभ्रांतिकारक दवाएँ (Hallucinogens) : ऐसी दवाएँ जिनके उपयोग से व्यक्ति के देखने, सुनने और अनुभव करने का ढंग बदल जाए।

स्वापक दवाएँ (Opiates) : अफ़ीम से बने ऐसे कृत्रिम पदार्थ जिनका अफ़ीम के समान प्रभाव होता है।

पुनर्वास (Rehabilitation) : यह निर्विषीकरण के बाद की अवस्था है। नशे की आदत पड़ जाने के बाद समाज में जिन अधिकारों और दायित्वों से व्यक्ति वंचित हो गया था, समाज के सक्रिय सदस्य के रूप में उन्हें फिर से पाने के लिए सहायता देना।

उद्दीपक दवाएँ (Stimulants) : ऐसी दवाएँ जिनके उपयोग से उत्तेजना का अनुभव हो क्योंकि ये मस्तिष्क की क्रियाशीलता को बढ़ा देती हैं।

सहनशक्ति या सह्यता (Tolerance) : पहले की तरह दवा के प्रभाव को पैदा करने के लिए ज़्यादा और बार-बार दवा का सेवन करना।

विनिवर्तन (Withdrawal symptoms) : दवा के व्यसनियों को यदि दवा का उपयोग अकस्मात बंद कर दिया जाए तो शरीर में बहुत ही कष्टदायक लक्षण प्रकट होते हैं। इससे शारीरिक बेचैनी से लेकर उल्टियाँ और ऐंठन आदि होती है।

15.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) नशीली दवाओं के उस इस्तेमाल को दवाओं का दुरुपयोग कह सकते हैं, जिसमें दवा की मात्रा, बारंबारता या लेने के ढंग के व्यक्ति की शारीरिक या मानसिक कार्यक्षमता प्रभावित होती है। नशीली दवा चाहे औषधि के रूप में डॉक्टर द्वारा दी गई हो या अन्य प्रयोजन से ली गई हो, दवा के इस प्रकार के गलत सेवन से दवा की लत लग जाती है जिसका मतलब है कि आदमी नशीली दवा के बिना नहीं जी सकता।

2) विभिन्न प्रकार की दवाओं का विवरण नीचे दिया गया है :

   क) उद्दीपक दवाएँ, यानी ऐसी दवाएँ जो मस्तिष्क की क्रियाशीलता को बढ़ा देती हैं (ऐम्फीटेमाइन्स)।

   ख) अवसादक दवाएँ यानी ऐसी दवाएँ जो मस्तिष्क की क्रियाशीलता को कम कर देती हैं। (एल्कोहल या शराब अवसादक हैं) उदाहरण के लिए, वैट्पुइम।

   ग) विभ्रांतिकारक दवाएँ यानी ऐसी दवाएँ जिनका हमारे देखने, सुनने और अनुभव करने पर प्रभाव पड़ता है, जैसे एलएसडी।

   घ) गांजा आदि दवाएँ, यानी भांग के पौधे के विभिन्न हिस्सों से तैयार की जानी वाली दवाएँ जैसे भांग, चरस।

   ङ) स्वापक (नींद लाने वाली) दवाएँ, यानी ऐसी दवाएँ जो अफ़ीम से तैयार की जाती है या अफ़ीम की तरह प्रभावित करती हैं जैसे स्मैक, हेरोइन।

बोध प्रश्न 2

1) रोग के रूप में अतिमद्यपता के चार लक्षण हैं :

क) यह किसी मनोवैज्ञानिक समस्या का लक्षण मात्र नहीं होता है बल्कि यह स्वयं रोग है जिसमें शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याएँ पैदा होती हैं।

ख) यह उत्तरोत्तर बढ़ने वाली बीमारी है यानी इसका इलाज न किया जाए तो मरीज की हालत बिगड़ती जाती है।

ग) यह बीमारी इतनी गंभीर हो सकती है कि यदि इलाज न किया जाए तो मृत्यु तक हो सकती है।

घ) इस बीमारी का इलाज हो सकता है। यानी यदि सही उपचार किया जाए तो इसे ठीक किया जा सकता है।

2) जीवन में कभी-कभी तनाव के समय में (विशेषत: किशोरावस्था में) पारिवारिक परिस्थितियाँ तनाव को और बढ़ा देती हैं जिससे नशे की लत पड़ होती है। परिवार द्वारा व्यक्ति पर अत्यधिक नियंत्रण या बिल्कुल नियंत्रण न होने के कारण भी ऐसा होता है। टूटे परिवारों या ऐसे परिवारों में जिसमें समुचित तालमेल न हो और परिवार में कलह आदि आम बात हो तो परिवार के सदस्य को नशीली दवा या शराब लेने की प्रवृत्ति पैदा हो सकती है। इसके अलावा यदि परिवार के किसी बड़े सदस्य को दवा आदि की लत हो, तो छोटे सदस्यों को उसका अनुसरण करके शराब या नशीली दवाओं की लत लग सकती है।

बोध प्रश्न 3

1) ख

2) घ

इकाई 16 हिंसा और आतंकवाद

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 हिंसा और आतंकवाद की अवधारणा

16.3 हिंसा और आतंकवाद के कारण व रूप

16.3.1 कारण

16.3.2 रूप

16.4 राजनीति और आतंकवाद

16.4.1 हिंसा और कानून

16.5 जातीय पहचान और हिंसा

16.5.1 राज्य हिंसा और मानव अधिकार

16.5.2 हिंसा से निपटने के उपाय

16.5.3 आतंकवाद से निपटने के उपाय

16.6 सारांश

16.7 शब्दावली

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको ऐसी जानकारी देना है जिससे आप :

- हिंसा और आतंकवाद की अवधारणा स्पष्ट कर सकेंगे;
- हिंसा के कारणों और इसके बदलते हुए रूपों की चर्चा कर सकेंगे;
- राजनीतिक हिंसा और असंतुलित विकास के बीच संबंध का विश्लेषण कर सकेंगे;
- सजातीय और हिंसा का वर्णन कर सकेंगे; और
- कमजोर वर्गों के खिलाफ़ हिंसा का वर्णन कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने मादक द्रव्यों के व्यसन (Drug addiction) और शराब के व्यसन (Alcoholism) का वर्णन और विश्लेषण किया था। जब हम हिंसा और आतंकवाद का विश्लेषण कर रहे हैं। सबसे पहले हम हिंसा की अवधारणा का विश्लेषण करेंगे और उसके बाद आतंकवाद का विश्लेषण करेंगे। फिर हम हिंसा और आतंकवाद के कारणों का विश्लेषण करेंगे। इसके बाद राजनीति और आतंकवाद पर चर्चा करेंगे। अलग विश्लेषण असंतुलित विकास के संदर्भ में हिंसा

के बारे में किया गया है, जो राजनीति और आतंकवाद से जुड़ा है। तदोपरांत जातीय पहचान और हिंसा पर चर्चा की गई है। इस विषय का एक पहलू राज्य हिंसा और मानव अधिकार है। इसके बाद हिंसा से निपटने के उपायों पर चर्चा की गई है और अंत में, आतंकवाद का मुकाबला करने के उपायों का उल्लेख किया गया है। आइए, अब हम अपनी इकाई शुरू करें।

16.2 हिंसा और आतंकवाद की अवधारणा

हिंसा उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव इतिहास। प्राचीन कथाओं तथा दन्त कथाओं में इसे इतिहास के प्रारंभ से जोड़कर प्रस्तुत किया गया है और हमेशा कथा नायकों के शौर्यपूर्ण कार्यों के रूप में देखा गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से, हिंसा को ''मानवीय घटना'' के रूप में माना जाता है। दर्शनशास्त्रीय कोश की परिभाषा के अनुसार – हिंसा ''शक्ति का नाजायज या (सभी घटनाओं में) गैर-कानूनी प्रयोग है। यह लोकतांत्रिक भावना के विकास का फल है।" हिंसा वह घटना है जो आजादी और खुशी की विरोधी है। इसका मुकाबला किया जाना चाहिए। परंतु यह एक मानवीय, मानवेत्तर व्यवहार का एक पहलू बना रहता है और कभी-कभी यह हिंसा के विरुद्ध स्वयं अंतिम उपाय सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में, हिंसा दूसरों की आज़ादी का अतिक्रमण है। किसी व्यक्ति या समूह से किसी ऐसी वस्तु को जिसे वे अपनी इच्छा से नहीं देना चाहते हैं, प्राप्त करने के लिए बल का प्रयोग करना हिंसा है।

बलात्कार सदा ही इसका स्पष्ट उदाहरण है और इसे हिंसा का पूर्ण रूप माना गया है क्योंकि इसे बलपूर्वक किया जाता है। हिंसा भयभीत करने वाली होती है। मगर साथ ही यह आकर्षक भी है क्योंकि इससे बलवान व्यक्ति या वर्ग कमजोर व्यक्ति या वर्ग को अधिक हानि पहुँचाए बिना उसके साथ लाभदायक संबंध स्थापित कर सकता है।

हिंसा के कई अर्थ हैं। फिर भी, हाल ही में, किए गए अध्ययन (मैकेंजी, 1975 पृष्ठ 39) के अनुसार – हिंसा ''व्यक्तियों या सम्पत्ति को चोट पहुँचाने अथवा हानि करवाने के लिए शारीरिक शक्ति को प्रयोग, इस श्रेणी के अंतर्गत आने वाले कार्य अथवा आचरण, शारीरिक क्षति पहुँचाने के लिए व्यवहार अथवा कार्य अथवा व्यक्तिगत आजादी में जबरन हस्तक्षेप'' है।

हिंसा को ''मनोविकारी व्यवहार'' समझा जाता है। तीन-स्तरीय वर्गीकरण के अनुसार हिंसा इतने प्रकार की होती है :

i) अशांति जैसे दंगे, राजनीतिक हड़तालें

ii) षडयंत्र जैसे छोटे पैमाने पर आतंकवाद, राजनीतिक हत्याएँ

iii) आंतरिक युद्ध जैसे सुसंगठित राजनीतिक हिंसा।

हिंसा के निम्न कारण है :

i) कुंठा-क्रोध सिद्धांत मानता है कि हिंसा कुंठाजनित क्रोध के कारण होती है।

ii) सापेक्ष वंचन सिद्धांत (गर्र, 1970) के अनुसार कि वंचना आदमी को कुछ कर गुजरने के लिए उकसाती है।

iii) यह विश्वास किया जाता है कि क्रांतिकारी हिंसा तब भड़कती है, जब उपलब्धि के अभाव के कारण कुंठा स्वत: उग्र रूप ले लेती है। इन्हें अधिकतर आधी-अधूरी आकांक्षाओं के सफल बनाने की उम्मीद से बढ़ावा मिलता है।

iv) कुछ विद्वान व्यवस्थाजन्य कुंठा के बारे में बात करते हैं। इस तरह की कुंठा को समूचा समाज अनुभव करता है। इन कुंठाओं के फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होता है।

v) अन्य विद्वान महसूस करते हैं कि व्यावहारिक राजनीतिक संस्थाओं का अभाव हिंसा पर लगाम लगाने की इजाज़त नहीं देता है, विशेषकर जब कोई समाज परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा हो। संक्रमणकालीन समाजों में क्रांति और बगावत आम बात है।

ये सभी सिद्धांत स्थायी राजनीतिक व्यवस्थाओं की अभिधारणा पर आधारित हैं। ये परिवर्तन की अपेक्षा स्थायित्व पर अधिक विश्वास करते हैं। इसके अलावा, ये अनौपनिवेशीकरण पर कोई प्रकाश नहीं डालते जो कि आज के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अनौपनिवेशीकरण से व्यापक हिंसा भड़कती है। जैसा कि फेनॉन ने कहा है कि हिंसा भावोन्नयन तथा परिवर्तन की अग्रदूत दोनों हो सकती है। उसके (फेनॉन 1965) के अनुसार उपनिवेश से जकड़ा व्यक्ति हिंसा में आज़ादी ढूँढता है। इसे परिमार्जनी शक्ति के रूप में देखा जाता है।

यद्यपि समाज में हिंसा अनादिकाल से विद्यमान रही है, फिर भी, हाल ही के वर्षों में आतंकवाद की समस्या के उभरने से यह एक ज्वलन्त विषय बन गया है। समाचार-पत्रों के प्रमुख समाचार, टेलीविज़न के बुलेटिन और रेडियो प्रसारण हमें बताते हैं कि किस प्रकार लोगों को गोलियों से भूना गया, उन्हें घायल किया गया, बहुत से विमानों का यात्रियों सहित अपहरण किया गया, बैंक लूटे गए आदि-आदि। तस्वीरों में मृतकों और घायलों को दिखाया जाता है। इनमें नष्ट की गई सम्पत्ति आतंकवादियों आदि से पकड़े गए हथियार और गोला-बारूद दिखाए जाते हैं।

पिछले तीन दशकों के दौरान आतंकवाद की समस्या कई गुना बढ़ी है। आतंकवाद की परिभाषा किस की प्रकार से की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है : ''हिंसा अथवा धमकी के वे कार्य जिनका लक्ष्य किसी राज्य अथवा संगठन के हितों की क्षति पहुँचाना अथवा उससे रियायत पाने की मंशा हो''। दूसरी परिभाषा यह है : ''आतंकवाद हिंसा की धमकी, हिंसा के व्यक्तिश: कार्य अथवा मुख्य रूप से आतंकित करने के लिए हिंसात्मक अभियान है।''

परिभाषाओं को स्पष्ट करने के लिए यह अच्छा होगा कि हम आतंकवाद के कुछ उदाहरण दें क्योंकि उनसे आतंकवाद को बेहतर ढंग से बताया जा सकता है। 17 दिसम्बर, 1953 को लंदन में हरॉड्रस के बाहर कार बम-विस्फोट हुआ। छह लोग मारे गए और 94 घायल हुए। पॉल कारनॉफ जो बैल्फास्ट का रहने वाला था, पर इस बम-विस्फोट का अभियोग लगाया गया। उसने पहले पाँच बार षड्यंत्र किया था। यह कार्रवाई आई.आर.ए. (आइरिश रिपब्लिक आर्मी) ने की थी और बिना किसी उद्देश्य के क्रिसमस की खरीदारी पर निकले लोगों को निशाना बनाया गया था। प्रत्यक्ष रूप से यह कार्रवाई राजनीतिक नहीं थी। इसका इरादा केवल आई. आर.ए. की मुहीम को जाहिर करना और उत्तरी आयरलैंड से इंग्लैण्ड की वापसी की माँग करना था।

दूसरा मामला पेरू का माओवादी गुरिल्ला आंदोलन शाइनिंग पाथ का है। सन् 1980 से वे शहरों में श्वेत लोगों के ठिकानों और पुलिस स्टेशनों पर आक्रमण करते रहे हैं। वे बिजली की लाइनें उड़ाते और सेना की टुकड़ियों पर भी आक्रमण करते रहे हैं।

गुरिल्लाओं की संख्या अनिश्चित होती है – यह सैकड़ों से हज़ारों तक हो सकती है। ये लोग सुरक्षित गाँवों को हथियाने के लिए जाने जाते हैं। ये मुकदमे चलाते हैं, जिसे वे ''जन अदालत'' कहते हैं। उन्होंने इन गाँवों में प्रशासनिक कार्मिकों को प्राणदंड दिए हैं। राष्ट्रपति बेलॉण्डे टेरी द्वारा शुरू किए गए सैन्य अभियान के फलस्वरूप बहुत से गुरिल्ला हताहत हुए। मगर, चार वर्षों के बाद भी शाइनिंग पाथ के कार्यकर्त्ताओं की संख्या में बढ़ोत्तरी हो रही है।

आतंकवाद एक प्राचीन प्रचलन है। आतंकवादी भय या आतंक को एक हथियार के रूप में प्रयोग करते हैं। इससे वे बहुधा बहुत से लोगों को चालाकी से प्रभावित करने तथा भयभीत करने में सफल हुए हैं। हिंसा के प्रभावों की आमतौर पर भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

आतंकवादियों के कई उद्देश्य होते हैं। वे कहते हैं कि वे आय के असमान वितरण के विरुद्ध लड़ रहे हैं। फिर भी उनमें से अधिकांश डकैतों से कम नहीं होते और वे इसमें लूट के हिस्सेदार बनने के लिए शामिल होते हैं। यह एक प्रकार की व्यक्तिगत कुंठा भी है। कुछ आतंकवादी मानसिक रूप से विकृत होते हैं। उन्हें निर्दोष लोगों की हत्या करने में आनन्द मिलता है, जैसे लिड्डा हवाई अड्डे में हुए जनसंहार में लिप्त आतंकवादी ओकामोटो जो अभी तक जिंदा है।

आतंकवादी विस्मयकारी और नृशंस तरीकों का इस्मेमाल करते हैं। अगर उनके हाथ परमाणु हथियार पड़ जाएँ, तो सोचिए क्या होगा, तो कितनी नृशंस हत्याएँ होंगी।

अब तक हुई चर्चा से हम उन कुछ कार्यों को आतंकवादी गतिविधि कह सकते हैं ये गतिविधियाँ इस प्रकार हैं :

i) हत्या, आगजनी, अपहरण, तोड़फोड़ आदि करने के लिए धमकी अथवा हिंसा का प्रयोग

ii) ऐसे कार्य के पीछे कोई राजनीतिक उद्देश्य

iii) कतिपय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सरकार को आतंकित करना और उन पर दबाव डालना

iv) महत्त्वपूर्ण लक्ष्य चुनना, और

v) उनकी गतिविधियों की कोई सीमा नहीं है।

16.3 हिंसा और आतंकवाद के कारण व रूप

आतंकवाद और हिंसा विघटनकारी सामाजिक घटना है। इसका जन्म एक-दूसरे से जुड़े विभिन्न कारकों से होता है भिन्न-भिन्न प्रकार के समाजों में हिंसा और आतंकवाद के विशेष रूप होते हैं। आगे के उपभागों में हम आपसे इस सामाजिक घटना के विशेष रूप से भारत के संदर्भ में, कारणों और रूपों पर बात करेंगे।

16.3.1 कारण

जहाँ तक कारणों का संबंध है, अमेरिका में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि प्रकृति ने हमें हिंसा की केवल क्षमता प्रदान की है। यह सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जो निर्धारित करती हैं कि हम उस क्षमता का प्रयोग कैसे कर सकते हैं। अध्ययनों से यह भी मालूम होता है कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में हिंसा और अस्थिरता बहुत अधिक है। इन देशों में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन बहुत तेजी से हो रहे हैं, परंतु अभी व्यवहार्य राजनीतिक संस्थाएँ विकसित की जानी है। परंपरागत और आधुनिक राजनीतिक हिंसा और अस्थिरता के लिए कम प्रवृत्त होते हैं। संक्रमणकालीन समाजों में सैनिक सत्ता परिवर्तन, बगावत, गुरिल्ला युद्ध और हत्याएँ आम बात हैं।

बहुत से समाजशास्त्रियों का विचार है कि लोगों में वंचना के फलस्वरूप असंतोष पैदा होता है और जब इसका राजनीतिकरण हो जाता है, तो यह असंतोष हिंसा के रूप में प्रकट किया जाता है। इस घटना को निम्न प्रकार दिखाया जा सकता है :

वंचना
↓
असंतोष की वृद्धि
↓
असंतोष का राजनीतिकरण
↓
हिंसा के रूप में असंतोष की अभिव्यक्ति

वंचना, शिक्षा, प्रशिक्षण, रोज़गार के अवसरों अथवा शारीरिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के ज़रियों के अभाव के रूप में हो सकती है। उदाहरण के लिए, यदि नौकरी पाने के लिए कानूनी साधन उपलब्ध नहीं है तो लोग हथियारों की तस्करी, नशीली दवाओं आदि के अवैध व्यापार को अपना सकते हैं। यदि इन अवैध कार्यों को रोका नहीं जाता है, तो अन्य समस्याएँ उत्पन्न होंगी। भिन्न-भिन्न स्तरों पर वंचना महसूस की जाएगी और यह भावना पैदा होगी कि स्थिति से निपटने के लिए राजनीतिक व्यवस्था असक्षम है। वंचन के फलस्वरूप असंतोष हो सकता है। हड़ताल, बंद, प्रदर्शन, मोर्चा आदि के रूप में असंतोष प्रकट हो सकता है। यदि ये तरीके राज्य का ध्यान आकर्षित नहीं कर सके तो ग़ैर-परंपरागत तरीके अपनाए जाने की संभावना हो सकती है। कभी-कभी इन माँगों का राजनीतिकरण होता है। जब ऐसा होता है तो कानूनी प्रक्रिया को ताक में रखा जा सकता है।

इस अवसर पर हत्या, बैंक डकैती, व्यक्तिगत सम्पत्ति की लूटपाट, अपहरण आदि तरीकों में असंतोष की अभिव्यक्ति होती है। निर्दोष व्यक्तियों की हत्याओं से लोगों में भय फैलता है। राजनीतिक कारणों से बंदी व्यक्तियों की रिहाई से आतंकवादियों को स्थिति का लाभ उठाने का मौका मिलता है।

तथापि, धार्मिक कट्टरवाद और अन्य धर्मों के प्रति बढ़ती सहिष्णुता अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद के उद्गमन और पोषण के लिए एक निर्णायक कारक बन गए हैं। धार्मिक मतारोपण ने ही 'नब्बे के दशक में तालिबान के उदय, मध्य पूर्व में अलक़ायदा बलों, 11 सितम्बर 1999 को अमेरिका में विश्व व्यापार केन्द्र पर, 12 दिसम्बर 1999 को भारतीय संसद और विश्व की अनेक राज्य राजधानियों में विदेशी दूतावासों व उच्च उपयोग पर हमलों ने भूमण्डलीय आतंकवाद के उदय को इंगित किया है। भूमण्डलीय आतंकवाद ने विश्व के लोकतंत्र की बुनियाद को ही हिलाकर रख दिया है। भूमण्डलीय आतंकवाद के उदय के साथ ही सीमा-पार आतंकवाद की भी दृश्यघटना सामने हैं, जिसका भारत एक भुक्तभोगी है। यहाँ सीमा-पार पड़ौसी देशों में आतंकवादियों का प्रशिक्षित किया जाता है ताकि लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई सरकार को अस्थिर कर सकें। तदनुसार, भूमण्डलीय आतंकवाद के विरुद्ध लड़ाई का नारा लगाया जाता रहा है। वस्तुत: सीमा-पार आतंकवाद भूमण्डलीय आतंकवाद का ही एक हिस्सा है। दुर्भाग्यवश, आतंकवाद के विरुद्ध लड़ाई में वे राज्य जो स्वयं भी गुप्त रूप से आतंकवाद को प्रायोजित करते हैं, इस प्रकार की लड़ाई को समाप्त करने में लगे हैं। इस संबंध में, दुर्भाग्यवश आतंकवाद पश्चिमी देशों द्वारा एकरूपता के साथ परिभाषित नहीं किया गया है, जो कि इस लड़ाई में आगे हैं।

स्थानीय स्तर पर, आंध्र प्रदेश, बंगाल, उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, झारखण्ड व अन्य कई राज्यों में माओवादी आतंकवादियों के हमले देखने में आते रहे हैं। विभिन्न नृजातीय समूहों के नेतृत्व में क्षेत्रीय प्रकार का आतंकवाद भी देखने में आया है।

16.3.2 रूप

पिछली तीन शताब्दियों के दौरान हिंसा और आतंकवाद प्रमुख मुद्दा बना रहा है। हिंसा शब्द प्रयोग तरह-तरह से हुआ है। जैसे :

i) हिंसात्मक अपराध (शारीरिक हमला अथवा उसकी धमकी)

ii) सड़कों पर हिंसा (उकसाव, प्रदर्शन, पुलिस हिंसा, समर्थकों द्वारा प्रतिहिंसा, आंतरिक युद्ध)

iii) आत्म हिंसा (आत्महत्या, शराब का व्यसन, नशा आदि)

iv) वाहन दुर्घटनाओं से होनी वाली हिंसा

v) संचार माध्यमों में हिंसा (लक्षण समष्टि : हिंसा के सनसनीखोज समाचार अथवा वृत्तांत जिनमें आगे और हिंसा भड़क सकती है)

vi सामाजिक हिंसा (सहनशीलता का दमन)।

सोचिए और करिए 1

यदि संभव हो तो आतंकवाद और हिंसा पर चार सप्ताहों के समाचार-पत्रों या पत्र-पत्रिकाओं की कतरनें एकत्र कीजिए। उनका अध्ययन कीजिए और नोट कीजिए :

i) हिंसा की किस्म

ii) आतंकवाद की किस्म

अपने अध्ययन केन्द्र के अन्य छात्रों से अपनी टिप्पणियों का मिलान कीजिए।

हालाँकि हिंसा अत्यंत भयभीत करने वाली हैं और कभी-कभी निन्दात्मक भी, परंतु तब कम निन्दात्मक होती है जब वह किसी समुदाय में लम्बे समय तक प्रचलित रही हो। ऐसा तब अधिक होता है, जब इसे प्रतिष्ठित संस्थाओं या विचारधाराओं द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाता है। दूसरे शब्दों में, इसकी व्याख्या हिंसा की अतिसंवेदनशीलता के रूप में की जाती है। हिंसा के प्रति अतिसंवेदनशीलता और सहनशीलता हाल ही की घटनाएँ हैं, या कहें कि इसे हाल ही में अति महत्त्वपूर्ण आयाम मिला है।

वास्तव में या आतंकवाद से निपटने के लिए अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। भारत सहित कुछ देशों में औपनिवेशिक शासकों के दमनकारी कृत्यों को झेला है और रंग-भेद सरकारें आतंकपूर्ण रही हैं। उदाहरण के लिए, दक्षिण अफ्रीका में स्वतंत्रता संग्राम आतंकपूर्ण कहा जा सकता है।

16.4 राजनीति और आतंकवाद

निरंकुश राज्य हिंसा का प्रयोग शासन की एक प्रणाली के रूप में करते हैं। परंतु लोकतंत्र इसका प्रयोग केवल संकट काल में ही करता हैं, तब वे मानव अधिकार संबंधी अंतरराष्ट्रीय परिपाटी की भी अनदेखी कर देते हैं। सरकार स्थिति की गंभीरता का मूल्यांकन करती है और ऐसी स्थिति में दुरुपयोग भी संभव हो सकता है। 'संकट' शब्द में शासन व्यवस्था को धमकी शामिल है। दुर्बल और निराशाजनक लोकतंत्र में सत्तारूढ़ सत्ता में बने रहने के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हिंसा को भी जारी रखते हैं। सत्ता में बने रहने के लिए शासक जब उस स्थिति पर पहुँचते हैं जिस पर उनके समर्थक उन्हें छोड़ दें या वे अल्पमत में हो जाएँ तो वे लोकतंत्र को ही ध्वस्त कर देते हैं। पीछे से सेना उनकी सहायता करती है। प्रत्येक लोकतांत्रिक संविधान में ऐसे उपबंध होते हैं जिनके अंतर्गत सरकार विशेष शक्तियाँ ग्रहण करती हैं। यहाँ भी सत्ता का दुरुपयोग होने का खतरा रहता है।

आतंकवाद प्रदेश अथवा राज्य के लोगों को हतोत्साहित करता है। यद्यपि कुछ अवसरों पर यह एकता करने वाला कारक सिद्ध होता है। फिर भी, आतंकवाद हमेशा कानून और व्यवस्था की समस्या बनाए रखता है। तो भी यह संपूर्ण सामाजिक प्रणाली को अस्त-व्यस्त करने में सक्षम नहीं हुए हैं। आतंकवादियों द्वारा की गई हत्याओं से राजनीतिक ढाँचा नहीं बदलता है। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता है कि सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। वे किसी न किसी हिस्से को कमजोर करते हैं। आतंक के कार्यों को रोकने के लिए समुचित तंत्र बनाया जाना आवश्यक है।

कोष्ठक 16.01

आतंकवादी कार्यों में बहुधा व्यवस्थित योजना होती है, जो किसी छोटी-मोटी सैनिक कार्रवाई के समान ही होती है। अभिप्रेत शिकार (अथवा अन्य आतंकवादी योजना) का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाता है। लोगों की सभी आदतों और गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। आतंकवादियों को अपराध स्थल तक आने-जाने के लिए परिवहन की जरूरत होती है। उन्हें अपने पास जाली पहचान-पत्र, हथियार और धन रखने की जरूरत होती है। अपने आपराधिक कार्य में सफल होने के लिए उन्हें प्रचार एकक की जरूरत होती है। सभी प्रमुख आतंकवादी समूह का केंद्रीय कमांड होता है, जो या तो अत्यंत व्यावसायिक होता है या फिर शौकिया। आतंकवाद हमेशा सुधार से तत्त्व को अपनाए रखते हैं। अंत में अत्यंत सावधानीपूर्वक बनाई गई योजना भी सभी स्थितियों में खरी नहीं उतर सकती।

व्यक्ति या समूह हिंसा को तब अपनाते हैं, जब उनकी वैध माँगें वैध तरीकों से पूरी नहीं होती। उदाहरण के लिए, जब

i) भ्रष्टाचार होता है

ii) अनाचार होता है

iii) शोषण होता है

iv) कानून का पालन करने वाले नागरिकों की रक्षा करने में राज्य असफल रहता है।

तब लोगों द्वारा अपनी माँगों को पूरा करवाने के लिए हिंसा का रास्ता अपनाने की संभावना होती है। जब परंपरागत तरीके जैसे – विरोध, धरना, प्रदर्शन, हड़ताल आदि का प्रयोग प्रभावहीन हो जाता है, तब ग़ैर-परंपरागत तरीके जैसे – हत्या, आगजनी, बैंक डकैती, व्यक्तिगत सम्पत्ति की लूटपाट, अपहरण आदि अपनाए जाते हैं। इसके अलावा, बाद में लोगों को आतंकित किया जाता है और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की हत्याएँ की जाती हैं।

बोध प्रश्न 1

1) पाँच वाक्यांश लिखिए जिन्हें हिंसा व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

.....

.....

.....

.....

.....

2) कोई एक समूह हिंसा का सहारा कब लेता है? पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

16.4.1 हिंसा और कानून

इस बात के काफी प्रमाण हैं कि असंतुलित विकास के फलस्वरूप तनाव, संघर्ष और हिंसा होती है। पिछले वर्षों में कई देशों में विद्रोह की घटनाएँ यह बताती हैं कि सामाजिक परिवर्तन की द्रुतगति से जुड़ी हिंसा जुड़ी रहती है। सामाजिक परिवर्तन की उच्च दर अस्थिरता से जुड़ी है। सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप समाज के अधिकारों के वितरण में असंतुलन हो सकता है इसलिए समाज में कुछ लोगों पर इस परिवर्तन का प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है।

सोचिए और करिए 2

यदि आपने हिंसा और आतंकवाद पर बनाया गया टी.वी. कार्यक्रम अथवा चलचित्र देखा हो या इस विषय पर उपन्यास पढ़ा हो, तो यह नोट कीजिए कि कानून के दुश्मन व्यक्ति किस प्रकार आतंकवाद और हिंसा में लिप्त रहते हैं इन घृणित कृत्यों को रोकने में कानून क्या करता है, आदि अपनी बातों को लिखिए और यदि संभव हो तो अपने अध्ययन केंद्र के अन्य छात्रों के साथ उसका मिलान कीजिए।

कभी उपनिवेश रहे देशों को निम्नलिखित समस्याएँ विरासत में मिली हैं :

i) गरीबी

ii) असमानता, और

iii) पैतृक संपत्ति के रूप में अवसर का अभाव।

यह विरासत लम्बे समय तक चलती रही है क्योंकि जिस व्यवस्था को हमने पाया था, उसके ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं था। इसने आभिजात्यों द्वारा शोषण को और बढ़ाया, जिन्होंने नये राजनीतिक ढाँचे में शक्ति प्राप्त कर ली थी। निर्धनता, असमानता और शोषण ज्यों का त्यों बना रहा। नये राजनीतिक सत्ता गुट ने नई राजनीतिक व्यवस्था में शोषण को वैध बना कर दिया। शक्ति और सम्पत्ति कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में रही।

असमान समाज में (जनजाति, जाति, वर्ग, धार्मिक अथवा अन्य सम्प्रदायों में विभाजित) असंतुलित विकास का अभिप्राय नौकरियों, सेवाओं, शैक्षिक और सामाजिक सुविधाओं में असमान अवसर है। इन कारकों से समूहों और वर्गों में संघर्ष को बढ़ावा मिला और व्यक्तिगत कुंठा प्रबल हुई। इससे धनी अधिक धनवान हुए हैं। मध्य वर्ग ने अपने कार्यकलापों के क्षेत्र का विस्तार किया और ग़रीब या तो ग़रीब ही रहे या कुछ मामलों में अधिक ग़रीब हुए। यह धनी और निर्धन के बीच बढ़ती हुई खाई के कारण हुआ।

शोषण और किसी भी प्रकार का भेदभाव रोकने के लिए नियमनकारी कानूनों और संविधान के उपबंधों से भी अधिक लाभ नहीं पहुँचा है। पंजाब, असम, जम्मू और कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियाँ, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के समीपवर्ती क्षेत्रों में नक्सलवादी समस्या असंतुलित विकास के विरुद्ध लोगों द्वारा हथियार उठाने के उदाहरण हैं। आरक्षण नीति ने भी बहुत राज्यों में स्थिति और भी अधिक खराब कर दी है और वहाँ हिंसा की वारदातें हुई हैं।

16.5 जातीय पहचान और हिंसा

ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनमें स्पष्ट रूप से यह दिखाई देता है कि हिंसा किसी समूह विशेष पर होती है। अध्ययनों से पता चलता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानताएँ हैं। वे असमानताएँ यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि श्वेतों की अपेक्षा अश्वेतों में अपराध की उच्च दर पाई जाती है। इसी प्रकार

भारतीय कारावासों में यह देखा जा सकता है कि अधिकांश कैदी निम्न सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि के होते हैं। इसके दो अर्थ हो सकते हैं :

i) जो समाज के निम्न सामाजिक-आर्थिक स्तर के हैं, वे अन्य की अपेक्षा आपराधिक कार्यों में अधिक शामिल होते हैं;

ii) अमीरों की बजाय ग़रीबों पर कानून अधिक सख्ती में लागू किया जाता है।

यदि हम भारत की स्थिति पर विचार करें तो हमारे यहाँ जातीय हिंसा के ठोस उदाहरण हैं। यह खास तौर पर साम्प्रदायिक दंगों की स्थिति में देखा जाता है, जो देश के भिन्न-भिन्न भागों में होते ही रहते हैं। दंगे बहुधा हिन्दुओं और मुसलमानों, हिन्दुओं और सिखों, शिया और सुन्नी मुसलमानों के बीच होते हैं। इसके अलावा उनके अंतरजातीय और अंत:जातीय भी होते रहते हैं। इस संघर्षों के दौरान जान और माल की बहुत अधिक क्षति होती है।

समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में मतभेद होने पर हिंसा हो सकती है। यह तब होता है जब वे अपने को असुरक्षित महसूस करते हों, अथवा उन्हें अन्य समूह (समूहों) द्वारा शोषित किया जा रहा होता है। एक वर्ग के व्यक्तियों को दूसरे वर्ग द्वारा मारे जाने से हमें हिंसा जातीय स्वरूप स्पष्ट दिखाई दे जाता है।

16.5.1 राज्य हिंसा और मानव अधिकार

आमतौर पर राज्य द्वारा जो हिंसा की जाती है, उसे वैधता का जामा पहनाया जाता है। कुछ परिस्थितियों में हिंसा के कुछ रूपों की अनुमति विभिन्न समय और स्थानों पर हैं। हिंसा का औचित्य बहुधा बहाना होता है। बहुधा यह बताया जाता है कि आतंकवादियों अथवा नक्सलवादियों के साथ मुठभेड़ हुई थी और उनमें से इतने मारे गए। दूसरे, यह भी आरोप लगाया जाता है कि ऐसी मुठभेड़ें नकली होती हैं। व्यक्तियों अथवा समूहों को पर्याप्त कारण के बिना मारा जाता है। राज्य में हिंसा होने पर खास तौर पर पुलिस हमेशा कुछ न कुछ बहाना ढूँढ लेती है।

निरंकुश राज्य हिंसा को अपनी प्रणाली के एक अंग के रूप में प्रयोग करते हैं। लोकतंत्रात्मक राज्यों में संकट के समय यह स्थिति को निरंकुश में लाने के एक साधन के रूप में काम करता है। संकट के दौरान लोकतंत्रात्मक राज्यों में भी लगभग सभी मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर दिया जाता है और मानव अधिकार के लिए कोई स्थान नहीं रहता है। अंतरराष्ट्रीय परिपाटी को एक ओर रख दिया जाता है। परिस्थिति का आकलन आम तौर पर राज्य द्वारा ही किया जाता है। संकट के बहाने से पुलिस और सेना की सहायता से हिंसा का प्रयोग करके सत्ता को मिली चुनौती को ध्वस्त कर दिया जाता है। लोकतंत्रात्मक देशों में अधिकांश संविधानों में ऐसी व्यवस्था होती है, जिससे सरकार को विशेष शक्तियाँ मिल जाती हैं। वास्तव में इससे मानव अधिकारों के संरक्षण के सभी नीति-नियम निष्फल हो जाते हैं।

1975-77 के दौरान लगी आपातस्थिति, पंजाब में ऑपरेशन ब्लू स्टार (1984)– ये ऐसे मुद्दे हैं, जिन पर बहुत चर्चा हुई है। केंद्रीय सरकार के ये कार्य आतंकपूर्ण समझे जाते हैं। समय-समय पर ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति होती है और व्यक्तियों तथा समूहों के मानव अधिकार सरकार द्वारा छीन लिए जाते हैं।

16.5.2 हिंसा से निपटने के उपाय

आतंकवादियों द्वारा अंतरराष्ट्रीय गतिविधियाँ तेज होने के कारण इस समस्या से निपटने के लिए विभिन्न सम्मेलन आयोजित किए गए। ये हैं :

i) आतंकवाद के निवारण और दंड व्यवस्था के लिए 1937 का सम्मेलन।

ii) आतंकवाद के कार्यों व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध अंतरराष्ट्रीय महत्त्व के सम्बद्ध लूट-खसोट के निवारण तथा दंड व्यवस्था पर 1971 का सम्मेलन।

iii) आतंकवाद सहित अंतरराष्ट्रीय रूप से संरक्षित व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध के निवारण और दंड व्यवस्था पर 1773 का सम्मेलन।

उसी वर्ष में यूरोप में भी सम्मेलन हुए। (i) आतंकवाद के दमन पर, (ii) बंधक बनाए जाने के विरुद्ध 1979 का अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन। इसके अलावा हवाई जहाजों के अपहरण पर भी सम्मेलन हुए थे। वे हैं –

i) टोक्यो सम्मेलन, 1969

ii) हेग सम्मेलन

iii) वायुयान में अपराध, वायुयान को बंधक बनाने की समस्या से निपटने के लिए मॉट्रियल सम्मेलन और वायु में और भूमि पर अपराध भी शामिल हैं तथा यह राज्य को अपराध रोकने के लिए कार्रवाई करने की अनुमति भी प्रदान करता है।

कोष्ठक 16.02

परमाणु आतंकवाद केवल राष्ट्र के लिए ही ख़तरा नहीं है। अपितु यह बहुत बड़ा अंतरराष्ट्रीय संकट पैदा कर सकता है। परमाणु ब्लैकमेल की सम्भावना बहुत ही नाटकीय है। फिर भी अन्य आयुध भी समान रूप से घातक हैं : इनमें विष जैसे OPAS। स्नायु गैस, जैसे मोनोफ्लूओरोलियेथिक कम्पाउंड (BTX) बड़ी घातक है, भले ही यह किसी भी तरीके से शरीर में प्रवेश करे।

ऐंथ्रेक्स, बुबोनिक प्लेग, एनसिफैलाइटिस और सित्ताक्रसिस जैसी घातक महामारियाँ रासायनिक आतंकवाद द्वारा पैदा की जा सकते हैं। इन रोगों की महामारी दूर-दूर तक फैल सकती है। परंतु इन आयुधों का प्रयोग आतंकवादियों के बजाय किसी पागल व्यक्ति द्वारा ही किया जा सकता है।

आतंकवादी चोरी से या उपहार में परमाणु आयुध (बम) प्राप्त कर सकते हैं। आतंकवादियों के लिए दूसरी संभावना यह है कि वे सही विशेषज्ञता वाले वैज्ञानिकों और इंजीनियरों की सहायता से परमाणु बम बना सकते हैं। इस प्रकार के परमाणु आतंकवाद की सम्भावना यह है कि इससे परमाणु युद्ध हो सकता है। इसलिए अभी तक इसका परिहार किया गया है।

बोध प्रश्न 2

1) राज्य हिंसा और मानव अधिकार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। अपना उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) आतंकवाद को कम करने अथवा इसके उन्मूलन के लिए विभिन्न सम्मेलन किए गए और इसमें से एक सम्मेलन था (सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाइए)

i) आतंकवाद के निवारण और दंड व्यवस्था के लिए 1937 का सम्मेलन

ii) हिंसा और आतंकवाद के विरुद्ध 1990 कानून

iii) कोई भी सही नहीं है

iv) दोनों सही हैं।

16.5.3 आतंकवाद से निपटने के उपाय

भारत ने ऐसी समस्याओं से निपटने के लिए एक कानून बनाया है जो ''आतंकवादी और विघटनकारी गतिविधि (निवारण) अधिनियम, 1985'' के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम में आतंकवादी और विघटनकारी गतिविधियों, इससे संबंधित कार्यों के निवारण के लिए तथा उसका सामना करने के लिए विशेष प्रावधान है। अधिनियम आतंकवादी और विघटनकारी गतिविधियों से निपटने के लिए कानून प्रवर्तनकारी एजेंसियों को व्यापक शक्तियाँ प्रदान करता है। अधिनियम के अधीन मुख्य प्रावधान हैं : जो भी आतंकवादी कार्य करता है और किसी भी व्यक्ति की मृत्यु का कारण होता है, उसे मृत्युदंड दिया जाएगा। आतंकवाद की अन्य गतिविधियों के मामले में कारावास की अवधि पाँच वर्ष से कम नहीं होगी। यह आजीवन कारावास तक बढ़ाई जा सकती है और जुर्माना भी हो सकता है। षड़यंत्र के मामले में न्यूनतम कारावास की अवधि तीन वर्ष से कम नहीं होगी। इसे जुर्माना सहित आजीवन कारावास तक बढ़ाया जा सकता है।

जहाँ तक विघटनकारी गतिविधियों का प्रश्न है, आतंकवादी कार्य करने के षड़यंत्र करने के लिए भी दंड वैसा ही है। विघटनकारी कार्यकलाप, चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष जो भारत की प्रभुसत्ता अथवा क्षेत्रीय एकता को प्रभावित करे, कार्य अथवा भाषण द्वारा सत्तातंरण अथवा पृथकतावादी आदि हो, इन्हें विघटनकारी गतिविधियों के रूप में समझा जाता है। केंद्रीय सरकार शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा आतंकवादी और विघटनकारी गतिविधियों को रोकने अथवा उनका सामना करने के लिए नियम बना सकती है। इस अधिनियम की धारा-5 केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्रों के प्रशासकों को आतंकवादियों तथा विघटनकारी गतिविधियों से निपटने के लिए व्यापक अधिकार देती है। अधिनियम की धारा-6 में आयुध अधिनियम 1959, विस्फोटक अधिनियम 1884 अथवा विस्फोटक पदार्थ अधिनियम 1952 के उल्लंघन के लिए व्यापक दंड का प्रावधान किया गया है। किसी भी व्यक्ति द्वारा इन उपबंधों के किसी भी प्रकार के उल्लंघन किए जाने पर उसे दंड दिया जा सकता है, जो 10 वर्ष तक अथवा आजीवन कारावास तक हो सकता है और जुर्माना भी।

निर्दिष्ट न्यायालय के समक्ष सभी कानूनी कार्रवाइयाँ कैमरे की नज़र में रहेंगी। गवाहों की पहचान गुप्त रखी जाएगी। जो भी रिकार्ड जनता की पहुँच के भीतर हों उनमें गवाहों के नाम और पते नहीं दिए जाएँगे। संक्षेप में, यह उल्लेख किया जाता है कि अधिनियम में आतंकवादियों और विघटनकारी गतिविधियों की समस्या से निपटने के लिए काफी सख्त उपायों की व्यवस्था की गई है।

16.6 सारांश

इस इकाई में हमने हिंसा और आतंकवाद के विभिन्न रूपों की चर्चा की है। हमने हिंसा की अवधारणा और आतंकवाद की अवधारणा से शुरू किया। इसके बाद हिंसा और आतंकवाद के कारणों का वर्णन किया गया। तत्पश्चात् हमने हिंसा और आतंकवाद से रूपों का विश्लेषण किया। इसके आगे हमने राजीनीति और आतंकवाद का विवेचन किया। इसके बाद हमने हिंसा

और कानून के संबंध में समाज के असंतुलित विकास पर चर्चा की। तदन्तर हमने सजातीय पहचान और हिंसा की चर्चा की। अन्य तीन पहलुओं जिनकी हमने चर्चा की, वे हैं – राज्य, हिंसा और मानव अधिकार, हिंसा से निपटने के उपाय और अंत में आतंकवाद का सामना करने के उपाय बताए गए।

16.7 शब्दावली

वंचन या वचना (Deprivation) : किसी ऐसी वस्तु का न होना जिसे आम ज़रूरत में समझा जाता है।

शोषण (Exploitation) : उन लोगों, समूहों और समुदायों से जो कमजोर हैं, अनुचित लाभ लेने के लिए शक्ति और बुद्धि का उपयोग।

अपहरण (Kidnapping) : किसी व्यक्ति को जबरदस्ती और ग़ैर-कानूनी रूप से उठाना और उसे आपराधिक हिरासत में रखना।

असंतुलित विकास (Maldevelopment) : असमान समाज के संदर्भ में इसका आशय है – नौकरी, सेवाओं आदि के लिए प्रतियोगिता में असमान अवसर हैं।

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) सड़कों पर हिंसा
   ii) बाहरी आक्रमण
   iii) वाहन दुर्घटनाओं से होने वाली हिंसा
   iv) संचार माध्यमों में हिंसा
   v) सामाजिक हिंसा

2) वैध माँगे तरीकों से पूरी नहीं होने पर समूहों में व्यक्त हिंसा पर उतर आते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कानून का पालन करने वाले नागरिकों की हिफाजत करने में सरकार की तरह से कमी होती है, तो हिंसा विभिन्न तरीकों से भड़क सकती है।

बोध प्रश्न 2

1) राज्य की ओर से की गई हिंसा को वैधता का आवरण प्राप्त होता है। निरंकुश राज्य अपनी प्रणाली के अंग के रूप में हिंसा का प्रयोग करते हैं। लोकतांत्रिक राज्यों में इसका प्रयोग संकट के समय किया जाता है। इस प्रकार राज्य द्वारा मानव अधिकारों पर कभी-कभी आघात किया जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

कैवन, आर.एस. तथा टी.एन. फर्डिनैंड (1975), *जुवेनाइल डेलिंक्वेंसी,* जे.बी. लिपिनकॉट : फिलाडेल्फिया।

गर्र, टी.आर., (1970), *वाइ मैन रैबल,* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रैस : प्रिंसटन।

फैनन, फ्रैण्ट (1965), *द रैविड ऑफ़ द अर्थ,* पेंग्विन लंदन।

मरिकस, एस.जे. (सं.) (1988), *पॉवर्टी इन इंडिया,* ज़ेवियर बोर्ड : त्रिवेन्द्रम।

भारत सरकार (2000), वार्षिक प्रकाशन, *क्राइम इन इण्डिया,* गृह मंत्रालय, पुलिस अनुसंधान एवं विकास ब्यूरो : नई दिल्ली।

मैकेन्ज़ी, डब्ल्यु, जे.एम. (1975), *पॉवर वॉयलन्स एण्ड टैरॅर : मॉटिफ एण्ड मोटिवेशन्ज़,* यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रैस : बक्रिले एण्ड लॉस एन्जेल्स।

टीटीके हॉस्पिटल (1989), *एडिक्शन टु एल्कोहल एंड ड्रग्स इलेस्ट्रेटेड गाइड फॉर कम्युनिटी वर्कर्स,* टीटीके : मद्रास।

डाँडेकर, वी.एम. एवं एन. रथ (1971), 'पॉवर्टी इन इण्डिया, डाइमैन्शंज़ एण्ड ट्रेण्ड्ज़', *इकॉन्मिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* जनवरी 2, 1971 तथा जनवरी 9, 1971।

यू.एन.डी.पी. *ह्यूमन डिवैलॅपमण्ट रिपोर्ट* (2003), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस : नई दिल्ली।

लेविस, ऑस्कर (1960), *टैपोज़ालान : ए केस स्टडी इन कल्चरल एन्थ्रोपॅलोजी,* होल्ट, आर. डब्ल्यु. : न्यूयार्क।

लैकअर, वाल्टर (1987), *दि राज ऑफ़ टैरॅरिज़्म,* जोर्ज वीडन फील्ड एण्ड निकलसन लिमिटेड : लंदन।

सरकार, सी. (1987), *जुवेनाइल, डेलिंक्वेंसी इन इंडिया''* दया पब्लिशिंग हाउस : दिल्ली।

सिंह, गुरमीत (1984), ''एल्कोहलिज़्म इन इंडिया'' ऐलन एंड डी.ए. डिसूजा (सं.) कृत *साइकिएट्री इन इंडिया,* पृ. 240-251 भालानी बुक डिपो : मुंबई।

स्वामी, डी.एस. और ए. गुलाटी (1986), ''फ्रॉम प्रॉसपेरिटी टू रिट्रोग्रेशन : इंडियन कल्टीवेटर्स ड्यूरिंग द 1970'' *ई.पी. डब्ल्यू.* 21 जून, 88, पृष्ठ 63।

_____, (1989), एलकोहलिज़्म एंड ड्रग डिपेन्डेंसी, टीटीके : मद्रास।

_____, (2001), *क्राइम इन इण्डिया,* गृह मंत्रालय : नई दिल्ली।

इकाई 17 बाल वर्ग

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 जनसांख्यिकीय पहलू

- 17.2.1 लिंग अनुपात
- 17.2.2 शिशु मृत्यु दर

17.3 बेघर और अनाथ बच्चे

- 17.3.1 बाल मज़दूरी की किस्में
- 17.3.2 भारत में बाल मज़दूर
- 17.3.3 बाल मज़दूरी पर प्रतिबंध

17.4 बाल मज़दूर

- 17.4.1 बाल मज़दूरी की किस्में
- 17.4.2 भारत में बाल मज़दूर
- 17.4.3 बाल मज़दूरी पर प्रतिबंध

17.5 बाल अपराध

- 17.5.1 बाल अपराध में वृद्धि करने वाले कारक
- 17.5.2 बाल अपराध को सुधारने के तरीके

17.6 बाल अधिकार

- 17.6.1 1959 की संयुक्त राष्ट्र घोषणा
- 17.6.2 अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष
- 17.6.3 1989 का संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन

17.7 बाल कल्याण में सम्मिलित संयुक्त राष्ट्र एजेंसियाँ

- 17.7.1 विश्व स्वास्थ्य संगठन
- 17.7.2 यूनिसेफ (UNICEF)

17.8 अंतर्राष्ट्रीय बालिका वर्ष एवं दशक तथा भारतीय परिदृश्य

- 17.8.1 सार्क (SAARC) देशों द्वारा की गई पहल
- 17.8.2 बालिका : भारतीय परिदृश्य

17.9 राष्ट्रीय बाल नीति

- 17.9.1 नीति और उपाय
- 17.9.2 प्राथमिकता क्षेत्र
- 17.9.3 स्वैच्छिक प्रयास

17.10 सारांश

17.11 शब्दावली

17.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारत में बाल वर्ग की कुछ समस्याओं के समकालीन आयामों का विवरण दिया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा :

- बच्चों की जनसांख्यिकीय संविरचना और उनकी उत्तरजीविता से संबंधित मुद्दों का विवरण देना;
- बेघर और अनाथ बच्चों की विशेषताएँ और उनकी समस्याओं के समाधान के लिए शुरू किए गए उपायों की विवेचना करना;
- बाल मज़दूर की अवधारणा, इसकी किस्में और भारत में बाल मज़दूरों की संख्या का विवरण देना;
- बाल अपराध की अवधारणा को प्रोत्साहित करने वाली स्थितियाँ और इसके सुधार के लिए किए गए उपायों का विश्लेषण करना;
- अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा घोषित बाल अधिकारों पर सूक्ष्म दृष्टि डालना।
- भारत में बालिकाओं की स्थिति की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना; और
- भारत सरकार द्वारा 1974 में अंगीकृत राष्ट्रीय बाल नीति और उसमें किए गए प्रावधानों का विवरण देना।

17.1 प्रस्तावना

पूरे इतिहास में ढूंढने पर बच्चों के बारे में बढ़ती दिलचस्पी का सूत्र अवश्य मिलेगा। परंतु बीसवीं शताब्दी के अंत में, विशेषकर प्रथम विश्व युद्ध के बाद पूरे संसार में बच्चों के अधिकारों की मान्यता के बारे में सम्मिलित प्रयास शुरू हुए। हम यह महसूस करने लगे हैं कि किसी देश का भविष्य उसके बच्चों पर निर्भर है। अब्राहम लिंकन के अनुसार, "आपने जो शुरू किया है उसे आगे भी जारी रखने वाला व्यक्ति बच्चा ही है। जहाँ आज आप हैं, कल वहाँ वह होगा और आपके बाद वह उन चीज़ों की देखभाल करेगा जो आपके लिए महत्त्वपूर्ण हैः मानवता का भविष्य उसी के हाथों में है।" जवाहरलाल नेहरू ने भी बच्चों के सर्वोच्च महत्त्व के बारे में हमें याद दिलाया था। उन्होंने कहा था, "अपनी योजनाओं और कार्यक्रमों के बारे में विचार करते समय हम यह तथ्य भूल जाते हैं कि अंत में, सभी बातें मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित हैं। योजनाएँ भी ज़रूरी हैं पर आखिर में निःसंदेह मनुष्य ही महत्त्वपूर्ण है और अगर यह सच है तो वह एक वयस्क की तुलना में बाल रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

प्रस्तुत इकाई में, इस मानवीय पृष्ठभूमि में हम समकालीन भारत में बच्चों की सामाजिक समस्याओं की जाँच करेंगे। इस इकाई की शुरुआत हमने भारत में बच्चों की जनसांख्यिकीय संविरचना के बारे में संक्षिप्त विवेचना से की है। लड़के और लड़कियों के बीच बढ़ते असंतुलन की ओर यह हमारा ध्यान आकर्षित करती है। इसके बाद हम अनाथ और बेघर बच्चों और सरकार द्वारा उनके पुनर्वास के लिए किए जा रहे उपायों के बारे में विचार करेंगे।

बच्चों की एक बड़ी संख्या तरह-तरह के कामों में लगी हुई है। यह उनके मानसिक और शारीरिक विकास में बाधक है। बाल श्रम विषयक के भाग में हम इसी पहलू पर ध्यान केंद्रित करेंगे। इसके बाद इस इकाई में बच्चों के अपराधी प्रवृत्ति में लीन होने के अनेक

कारणों के बारे में चर्चा करेंगे। अपराध-वृत्ति को रोकने के विभिन्न उपायों व अपराधियों के पुनर्वास के बारे में भी इस इकाई में विचार करेंगे।

इस इकाई में अलग-अलग समय पर घोषित बच्चों के अधिकारों के बारे में भी जानकारी दी गई है। इसमें विश्व में बाल श्रमिकों के बारे में बढ़ती दिलचस्पी के बारे में बताने का भी प्रयास किया गया है। इसके बाद बाल कल्याण में संलग्न संयुक्त राष्ट्र एजेंसियों का उल्लेख किया गया है।

भारत में बच्चों की लगभग आधी जनसंख्या लड़कियों की है पर वे अपने जीवन के हर पहलू में उपेक्षित हैं। वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक प्रथाएँ उनके विरुद्ध भेदभाव को और प्रोत्साहित करती हैं। इसके बारे में हमने "अंतर्राष्ट्रीय वर्ष और बालिका वर्ष" नामक भाग में चर्चा की है। इकाई के अंत में हम अपना ध्यान राष्ट्रीय बाल नीति पर केंद्रित करेंगे।

17.2 जनसांख्यिकीय पहलू

"बच्चा" शब्द के अनेक अर्थ हैं। कभी यह शारीरिक और मानसिक अपरिपक्वता के संदर्भ में प्रयुक्त होता है। परंतु व्यावहारिक रूप में "बच्चा" शब्द का अर्थ कालक्रमिक आयु से ही है। 15 वर्ष की आयु से नीचे का हर व्यक्ति बच्चा कहलाता है।

पिछले कुछ वर्षों में भारत में (0-14 वर्षीय) बच्चों की संख्या बढ़ती जा रही है। 1971 में 23 करोड़ 3 लाख बच्चे थे जो कि 1981 में बढ़कर 27 करोड 20 लाख हो गए। जनसंख्या प्रक्षेपण की विशेषज्ञ समिति के अनुमान के अनुसार 1991 में बच्चों की संख्या 29 करोड़ 77 लाख तक पहुँच गई है। परंतु पिछले कुछ दशकों में संपूर्ण जनसंख्या के प्रतिशत की तुलना में बच्चों की जनसंख्या कम हुई है। उदाहरण के लिए, 1971 में 42.02 प्रतिशत से घटकर 1981 में 39.7 रह गई। 1991 में जनसंख्या का लगभग 37% इनका था। योजना आयोग के अनुसार 2000 में 33.61% जनसंख्या बच्चों के आयु वर्ग की थी।

17.2.1 लिंग अनुपात

मानव जीव विज्ञान के नियमानुसार लड़के व लड़कियाँ दोनों ही समान अनुपात में जन्म लेते हैं। परंतु जनगणना रिपोर्टों से पता चलता है कि भारत में लड़कियों की संख्या 13 करोड़ 17 लाख थी, जबकि लड़कों की संख्या 14 करोड़ 3 लाख थी। दूसरे शब्दों में, प्रति हजार लड़कों पर 938 लड़कियाँ थीं। सन् 2001 के आंकड़ों के अनुसार भारत में 15 करोड़ 66 लाख लड़के और 14 करोड़ 95 लाख लड़कियाँ थीं – जो कि लिंग अनुपात में गिरावट को दर्शाते हैं।

स्त्री-पुरुष के बीच का यह असमान वितरण जन्म से ही शुरू होकर लगभग पूरे जीवन भर जारी रहता है। 1951 में स्त्रियों का अनुपात प्रति हजार पुरुषों पर 946 था जो कि 1981 में घटकर 933 रह गया है। यह तथ्य बड़ा ही उलझन भरा है। जनगणनाओं के अनुसार इस स्त्री-पुरुष असंतुलन के अनेक कारण हैं, जैसे कि माता की मृत्यु, पुरुषों का आप्रवासन और स्त्रियों की पूर्ण रूप से गणना न करना। परंतु ये तथ्य इस घटना को आंशिक रूप से ही स्पष्ट करते हैं। लड़कियों के प्रति सांस्कृतिक रूप से स्वीकृत उपेक्षा दृष्टि और उदासीनता ही इसके प्रमुख कारण हैं। जन्म से ही पहले भ्रूण हत्या के रूप में उसके साथ भेदभाव किया जाता है। उसे वंचना, अस्वास्थ्य व शोषण से भरा जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता है।

तालिका 1 : लिंग और आवास के अनुसार 0-14 वर्ष तक आयु-वर्ग में जनसंख्या का प्रतिशत भारत और उसके मुख्य राज्य,* 1994

	कुल			ग्रामीण			शहरी		
भारत और मुख्य राज्य	व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला
भारत	36.5	36.8	36.1	37.5	37.9	37.0	33.3	33.3	33.4
आंध्र प्रदेश	33.8	34.0	33.5	33.6	34.0	33.3	34.1	34.1	34.2
असम	39.6	39.0	40.4	40.6	40.1	41.1	31.8	30.0	3.8
बिहार	41.2	41.5	40.8	41.6	42.1	41.0	37.9	36.9	39.1
गुजरात	33.8	34.4	33.2	34.1	34.7	33.5	33.2	33.7	32.8
हरियाणा	37.7	37.9	37.5	38.6	38.7	38.5	35.0	35.6	34.4
हिमाचल प्रदेश	34.6	36.2	33.0	35.1	37.0	33.3	28.8	28.4	29.2
कर्नाटक	34.0	34.3	33.7	35.1	35.4	34.8	31.7	31.9	31.4
केरल	28.8	30.3	27.4	29.4	31.0	27.9	27.1	28.3	26.0
मध्य प्रदेश	37.9	38.0	37.7	38.4	38.6	38.1	36.0	35.8	36.2
महाराष्ट्र	34.4	34.7	34.1	35.6	36.7	34.6	33.1	32.6	33.6
उड़ीसा	34.2	34.5	34.0	34.4	34.8	34.0	33.1	32.6	33.6
पंजाब	33.6	34.1	32.9	33.3	33.8	32.7	34.3	34.9	33.5
राजस्थान	39.1	39.6	38.5	39.6	40.1	39.0	37.0	37.6	36.2
तमिलनाडु	31.0	31.5	30.5	32.2	32.7	31.7	28.8	29.3	28.3
उत्तर प्रदेश	39.6	39.8	39.4	39.9	40.1	39.7	38.0	38.1	38.0
पश्चिम बंगाल	35.3	34.8	35.7	37.8	37.6	38.0	28.2	27.4	29.2

* जम्मू-कश्मीर और मिजोरम को छोड़कर

स्रोत : प्रतिदर्श पंजीकरण प्रणाली, 1995 कार्यालय मुख्य पंजीयक, भारत

तालिका 2 : वर्ष 1996-2016 के दौरान भारत में आयु-वर्ग के अनुसार बच्चों की संख्या

क्र.सं.	वर्ष	0-4 वर्ष	5-9 वर्ष	10-14 वर्ष	0-14 वर्ष
1.	1996	1,19,546	1,23,686	1,09,545	3,52,777
2.	2001	1,08,494	1,16,145	1,22,905	3,47,544
3.	2006	1,13,534	1,05,744	1,15,488	3,34,766
4.	2011	1,19,530	1,10,968	1,05,206	3,35,704
5.	2016	1,22,837	1,17,099	1,20,461	3,50,397

स्रोत : भारतीय जनगणना, 1991; भारत और उसके राज्यों के लिए जनसंख्या परिकल्पना, 1996-2016

17.2.2 शिशु मृत्यु दर

शिशु मृत्यु दर बच्चों के स्वास्थ्य व विकास का एक महत्त्वपूर्ण संकेतक माना जाता है। शिशु मृत्यु दर का अर्थ है कि एक निश्चित वर्ष में, प्रति 1000 जीवित जन्में शिशुओं में एक वर्ष से कम आयु के शिशुओं की मृत्यु संख्या कितनी है। 1947 में 1000 जीवित जन्में शिशुओं में यह संख्या 160 थी जो एक वर्ष की आयु पूरे नहीं कर पाए थे। 1986 में यह संख्या गिरकर 96.4 रह गई। शिशु मृत्यु के मुख्य कारण शैशवावस्था की कुछ विशिष्ट

बीमारियाँ हैं, जैसे समयपूर्व प्रसव, श्वसन संक्रमण व दस्त आदि। खाँसी, बुखार और पाचन संबंधी विकार भी बाल मृत्यु के महत्त्वपूर्ण कारण हैं। सन् 2000 में भारत में शिशु मृत्यु दर मात्र 69 थी। भले ही शिशु मृत्यु दर में कमी हुई है, यह विश्व में विकसित देशों की तुलना में अपेक्षाकृत काफी अधिक है (विस्तृत ब्यौरों के लिए मानव विकास रिपोर्ट, 2003 देखें)।

बच्चों की अस्वस्थता और मृत्यु के छः सर्वाधिक सामान्य कारण हैं— टी.बी. अथवा तपेदिक, टिटनस, काली खाँसी, डिप्थीरिया, पोलियो और खसरा, ये बीमारियाँ प्रतिरक्षीकरण द्वारा रोकी जा सकती हैं। भारत सरकार ने सर्वव्यापक प्रतिरक्षण कार्यक्रम (यू. आई. पी.) शुरू किया है और यह आशा की जाती है कि सन् 2000 ई. तक सभी बच्चे पूरी तरह से प्रतिरक्षित हो जाएँगे।

शिशु मृत्यु दर और जन्म दर में धीरे-धीरे कमी होने से जन्म के समय जीवित रहने की आशा बढ़ गई है। अनुमान है कि 1986 से 1991 के दौरान जन्म के समय जीवन प्रत्याशा पुरुषों में 58.1 वर्ष और स्त्रियों के लिए 59.1 वर्ष रही। 2000 ई. तक स्त्री व पुरुष दोनों के लिए 64 वर्ष की आयु का लक्ष्य निर्धारित किया गया और उस वर्ष तक औसत भारतीयों की जन्म के समय औसत जीवन-प्रत्याशा बढ़कर 63.3 वर्ष हो गई। पुरुषों के लिए यह 59.9 वर्ष है जबकि महिला के लिए यह 64.7 वर्ष (यू एन ओ यू, 2003)।

17.3 बेघर और अनाथ बच्चे

भारत में बच्चों की एक बड़ी संख्या गरीबी, सामाजिक मूल्यों की क्षीणता, घर के असंतोषजनक वातावरण और संकट के समय सामाजिक सुरक्षा के तरीकों की कमी का शिकार है, जिसके फलस्वरूप वे निराश्रित हो जाते हैं। बेघर और अनाथ बच्चे इन्हीं कारकों की उपज हैं। वे बच्चे अनाथ कहलाते हैं, जिनके माता-पिता में से कोई एक है या माता-पिता दोनों ही हैं पर वे उन्हें त्याग चुके हैं या छोड़ गए हैं। ये निराश्रित बच्चे भी कहे जाते हैं। बेघर बच्चे वे हैं जिनके घर नहीं हैं। ये बच्चे अलग-अलग अतिसंवेदनशील समूहों से आते हैं। फिर भी ये समूह हमेशा परस्पर अनन्य नहीं होते, इनमें से कुछ समूहों के बारे में यहाँ बताया जा रहा है।

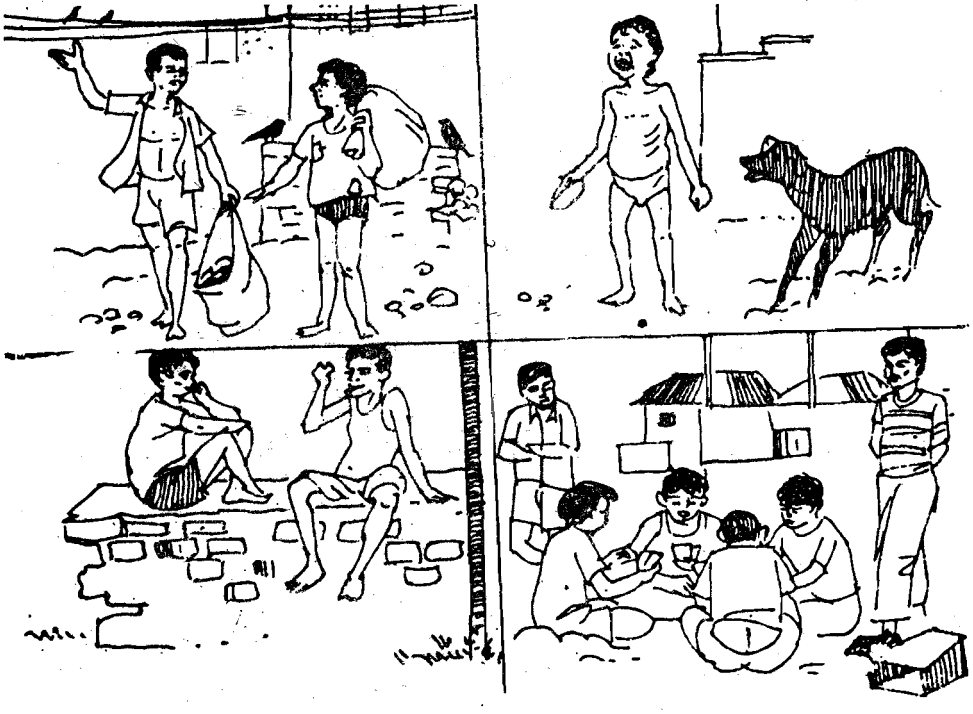

अनाथ और आवारा बच्चे

17.3.1 प्रमुख श्रेणियाँ

इन बच्चों को मोटे तौर पर निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

i) वे बच्चे, जिन्हें, भोजन, कपड़े, रहने का स्थान, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा आदि की थोड़ी-सी भी सुविधा प्राप्त नहीं है,

ii) वे बच्चे जो एक प्रकार से अपने परिवारों में "शोषित" या "उपेक्षित" हैं,

iii) वे बच्चे जिनके जीवन-निर्वाह का कोई साधन या रहने का स्थान नहीं है या पूरी तरह से निराश्रित हैं,

iv) वे बच्चे जो अनाथ हैं, छोड़े हुए या त्याग दिए गए हैं,

v) वे बच्चे जो अपने घरों से भाग आए हैं, और उनके माता-पिता का पता न मिलने के कारण उन्हें उनके हवाले नहीं किया जा सकता,

vi) वे बच्चे जो आवारा, अपराधी व अनियंत्रणीय हैं,

vii) वे बच्चे जो दुर्व्यवहार, उपेक्षा या घर के असंतोषजनक वातावरण से पीड़ित हैं और जिन्हें मानसिक व शारीरिक कष्ट दिए जाते हैं,

viii) वे बच्चे जिनके माता-पिता उन्हें अनैतिक गतिविधियों जैसे— मदिरापान, जुआ, नशाखोरी, अपराध और वेश्यावृत्ति आदि के कारण उपयुक्त घरेलू जीवन की सुविधा नहीं देते हैं, या दे नहीं पाते हैं, और

xi) वे बच्चे जो कि दलालों या असामाजिक तत्वों की देखरेख में या अकेले ही भीख माँगते पाए जाते हैं।

17.3.2 पुनर्वास के उपाय

बेघर और अनाथ दोनों ही तरह के बच्चों को भोजन, कपड़े, आवास, स्नेह और सुरक्षा की ज़रूरत होती है। उन्हें अपने मानसिक और शारीरिक विकास के लिए उपयुक्त अवसरों की भी ज़रूरत होती है। सरकार ने पहले ही, उन बच्चों के लिए जिन्हें देखभाल व सुरक्षा की ज़रूरत है, एक योजना शुरू की हुई है। इस योजना की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

i) अनाथालयों और बालगृहों की स्थापना द्वारा यह सांस्थानिक संरक्षण प्रदान करती है,

ii) यह बच्चे को एक निश्चित समय के लिए ऐसे परिवार से रखकर जो उसे घरेलू वातावरण देने के लिए राजी है, पालन-पोषण संरक्षण (foster care) प्रदान करती है,

iii) यह योजना स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से लागू की जाती है, उन्हें स्वीकृत मदों की खरीददारी के खर्चे के लिए 90 प्रतिशत तक सहायता अनुदान प्रदान किया जाता है। यह अनुदान राशि केंद्र सरकार और राज्य सरकार दोनों बराबर मात्रा में बांट लेती हैं,

iv) 18 साल तक के बच्चे बालगृहों में रखे जाते हैं, और

v) 6 साल तक के बच्चों को पालन-पोषण संरक्षण दिया जाता है जो कि विशेष मामले में 14 साल तक बढ़ाया जा सकता है।

फिर भी बेघर बच्चों की देखभाल और सुरक्षा के लिए, सरकार निकट भविष्य में कुछ योजनाएँ प्रारंभ करने पर विचार कर रही है।

सोचिए और करिए 1

यह संभव लगता है कि आपको अपने रिश्तेदारों, मित्रगणों एवं आस-पड़ोस के 20 घरों की पारिवारिक विसंरचना के बारे में पता होगा। यदि ऐसा नहीं है तो आप 20 परिवारों के लिंग पर आधारित आँकड़े एकत्र कीजिए। इसके बाद इन परिवारों में बच्चों के बीच लिंग अनुपात का पता लगाइए। यदि संभव हो तो अपने जाँच-परिणामों की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से कीजिए।

17.4 बाल मज़दूर

"बाल मज़दूर" शब्द का प्रयोग अक्सर "कामकाजी बच्चों" या "नौकरीशुदा बच्चों" के लिए होता है। ये सभी पारिभाषिक शब्द काम करने वाले व्यक्ति की आयु को ही ध्यान में रखकर बनाए गए हैं परंतु कामकाजी और नौकरीशुदा का अर्थ है कि काम करने वाले बच्चों से मज़दूरी लेते हैं। भारत के संविधान के अनुसार वह व्यक्ति जो 14 वर्ष से कम आयु का है और पैसा कमाने के लिए काम कर रहा है, बाल मज़दूर कहलाएगा। तथापि, बाल मज़दूरी से बच्चों को मानसिक और शारीरिक विकास के अवसर नहीं मिलते और नतीजा यह होता है कि उनके जीवन के विभिन्न अवसर कम हो जाते हैं। घरेलू कामों में लगे बच्चों को और उन बच्चों को जो अपने माता-पिता की खेती-बाड़ी या घर-बाहर के कामों में मदद करते हैं, कोई मज़दूरी नहीं मिलती, परंतु उनके काम से उनकी बचपन की गतिविधियों जैसे, शिक्षा और मनोरंजन में बाधा ज़रूर पड़ती है। अतः बाल मज़दूर शब्द की परिभाषा करते समय, वेतन पाने वाले और न पाने वाले दोनों कामों को सम्मिलित किया जाना चाहिए। बड़ौदा के आपरेशन रिसर्च ग्रुप (Operation Research Group) की बाल मज़दूर शब्द की परिभाषा के अनुसार वह व्यक्ति जो 5 से 15 वर्ष की आयु वर्ग का है, वेतन या बिना वेतन के काम कर रहा है और घर में या घर के बाहर दिन में कितने भी समय तक व्यस्त रहता है, बाल मज़दूर कहलाएगा। बंगलौर के सी.डब्ल्यू.सी. (Concerned for Working Childern) ने बाल मज़दूर की निम्नलिखित परिभाषा दी है कि "कोई भी व्यक्ति जो 15 वर्ष से कम आयु का है और मज़दूरी/वेतन सहित या इसके बिना पूर्णकालिक और अंशकालिक किसी भी रूप में काम कर रहा है, बाल मज़दूर कहलाता है"।

17.4.1 बाल मज़दूरी की किस्में

अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संगठन अर्थात् आई.एल.ओ. ने बच्चों के कामों का एक वर्गीकरण किया है, जो अनेक देशों में प्रयुक्त होता है। ये श्रेणियाँ निम्नलिखित हैं :

i) **घरेलू अवैतनिक काम**

ग्रामीण और शहरी दोनों ही इलाके में बच्चे परिवार के अंदर घर की देखभाल के लिए बिना वेतन के काम करते हैं। यह स्व-रोज़गार है और सामान्यतया "समय बोधक" है। इस श्रेणी के अंतर्गत ये कार्य आते हैं : छोटे भाई-बहनों की देखभाल, खाना पकाना, सफाई, कपड़े धोना, पानी भरकर लाना आदि। भारत में ऐसे कार्य प्रमुखतः लड़कियाँ ही करती हैं।

ii) **गैर-घरेलू अवैतनिक काम**

इस तरह का काम प्रायः बच्चे गाँवों में करते हैं। इसके अंतर्गत पशुओं की देखभाल, पशु-पक्षियों से फसल की सुरक्षा, शिकार करना, निराई करना (weeding) आदि कार्य शामिल हैं। यह काम भी "समय बोधक" है और अक्सर घरेलू काम भी इससे जुड़े रहते हैं।

iii) **मज़दूरी का काम**

ग्रामीण और शहरी इलाकों में संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों में बच्चे मज़दूर के रूप में काम करते हैं। वे शिल्पकारी उत्पादन, लघु उद्योग, उत्पादन, व्यापार में, विनिर्माण और

नौकरी-पेशों में काम करते हैं। वे भोजनालयों में, कबाड़ी, फेरी वाले व अखबार बेचने के रूप में काम करते हैं। वयस्कों की तुलना में इन कामों के लिए बच्चों को अधिक रखा जाता है क्योंकि कम मज़दूरी देकर भी उनसे एक वयस्क के बराबर काम लिया जा सकता है।

iv) **बंधुआ मज़दूर**

बच्चे बंधुआ मज़दूरों के रूप में काम करते हैं। वे माता-पिता द्वारा किसी ऋण या उधार के बदले तब तक बंधक रख दिए जाते हैं जब तक कि ब्याज सहित ऋण की वसूली न हो जाए। वे भोजन या बहुत मामूली वेतन के बदले में काम करते हैं। कभी-कभी बच्चे के माता-पिता और मालिक के बीच एक निश्चित समय के लिए काम करवाने का अनुबंध भी होता है। बंधुआ मज़दूर तथा ग्रामीण और शहरी दोनों असंगठित क्षेत्रों में प्रचलित हैं। कानूनी तौर पर बंधुआ मज़दूरी प्रथा को समाप्त किया जा चुका है, फिर भी हमारे देश के कई भागों में यह प्रथा अब भी चल रही है।

17.4.2 भारत में बाल मज़दूर

भारत में कामकाजी बच्चे बड़ी संख्या में हैं। गैर-सरकारी आँकड़ों के अनुसार बाल मज़दूरों की संख्या 4.4 करोड़ से 10 करोड़ के बीच में है। 1981 की जनगणना में काम की यह परिभाषा दी गई है—"किसी भी आर्थिक रूप से उत्पादक कार्य में भागीदारी", मुख्य कामगारों और उपान्तिक कामगारों के बीच भी भेद किया गया है। मुख्य कामगार वे कहलाते हैं जिन्होंने परिगणना की तारीख से पहले ही शुरू करके साल के अधिकांश हिस्से में (183 दिन या उससे अधिक) काम किया है। उपान्तिक मज़दूर वे हैं जिन्होंने कुछ काम तो किया है, परंतु जिन्हें मुख्य मज़दूरों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

0-14 वर्ष की आयु-वर्ग के बच्चों में 4.18 प्रतिशत बालक और 8.35 प्रतिशत बालिकाएँ मुख्य कामगार वर्ग में हैं। इसी प्रकार 10.32 प्रतिशत बालक और 9.38 प्रतिशत बालिकाएँ अतिरिक्त मज़दूर वर्ग में हैं। लगभग 78.68 प्रतिशत मुख्य बाल मज़दूर खेतिहर और कृषक मज़दूरों के रूप में काम कर रहे हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार हमारे देश में काम करने वाले बच्चों की संख्या 1 करोड़ 12.8 लाख थी जिनमें से 85% बच्चे ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि, पशुपालन और मछली पालन में काम कर रहे हैं।

हाल ही की रिपोर्ट के अनुसार 2000 में भारत के 10-15 वर्ष की आयु-वर्ग के 14% बच्चे श्रम बल में हैं।

यूनिसेफ की 1995 की रिपोर्ट को उद्धृत करते हुए दक्षिण अफ्रीका में मानव विकास के अनुमान अनुसार इस क्षेत्र में 1 करोड़ 34 लाख बच्चे बाल मज़दूरी में कार्यरत हैं। इस क्षेत्र में लगभग एक करोड़ बच्चे भारत में हैं। दस से चौदह वर्ष की आयु के बच्चों का अत्यधिक उच्च अनुपात जीविका के लिए काम कर रहा है। भूटान में 55%, नेपाल में 44%, बंगलादेश में 29% और पाकिस्तान में 17% बाल मज़दूर हैं।

यद्यपि बाल मज़दूरी के मुख्य कारण गरीबी और प्रौढ़ बेरोज़गारी हैं परंतु मालिकों का निहित स्वार्थ भी इसको जारी रखने के लिए प्रोत्साहित करता है। मालिक कम मज़दूरी देकर बच्चों से वयस्कों के बराबर ही काम करा लेते हैं।

17.4.3 बाल मज़दूरी पर प्रतिबंध

भारत में बाल मज़दूर प्रथा को जारी रखा जाए या बंद किया जाए इसके बारे में दो राय हैं। लोगों के एक समूह का विचार है कि बाल मज़दूरी को समाप्त कर दिया जाए क्योंकि

एक तो यह बच्चे के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, दूसरा यह भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धांतों के विरुद्ध है। दूसरे समूह के लोगों के विचार से बाल मज़दूर प्रथा के उन्मूलन से पहले गरीबी का उन्मूलन आवश्यक है। उनका निवेदन है कि बाल मज़दूरी को नियंत्रित किया जाना चाहिए जिससे कि बच्चे खतरनाक कामों में नियुक्त न किए जाएँ। भारत सरकार एक तकनीकी कमेटी बनाने की दिशा में कदम उठा रही है जिसके द्वारा उन व्यवसायों की पहचान की जाएगी जो बच्चों के लिए खतरनाक हैं।

कोष्ठक 1 : दक्षिण अफ्रीका में बाल श्रम (मज़दूर) : वेश्यावृत्ति और एड्स के मुद्दे

यूनिसेफ की रिपोर्ट के अनुसार : "बाल वेश्यावृत्ति दक्षिण एशिया में व्यापक रूप से विद्यमान है लेकिन इस पर चर्चा कभी-कभार ही होती है। व्यापक गरीबी और अपर्याप्त सामाजिक सुरक्षा के कारण बच्चों के पास कोई विकल्प शेष नहीं बचता और वे अपनी देह को बेचने के लिए विवश हो जाते हैं, जिनकी संख्या काफी अधिक है।

इस रिपोर्ट के अनुसार लगभग 1,00,000 बच्चे वेश्यावृत्ति में लिप्त हैं। लेकिन रिपोर्ट में दिए गए तथ्यों के अनुसार यह संख्या और ज्यादा ही होगी।

रिपोर्ट के अनुसार, हर वर्ष लगभग 7,000 बच्चे भारत में वेश्यावृत्ति के लिए लाए जाते हैं। एक नेपाली गैर-सरकारी संगठन के अनुसार रिपोर्ट का कथन है कि 1,00,000 से 2,00,000 नेपाली लड़कियाँ भारत में वेश्याओं का काम कर रहीं हैं। नेपाल में किशोरियाँ गंभीर निर्धनता, दहेज और अन्य समस्याओं का सामना कर रही हैं और हाई स्कूल की पढ़ाई बीच में ही छोड़ देने वाली लड़कियों की संख्या भी अत्यधिक है। इन कारणों से भी ये लड़कियाँ वेश्यावृत्ति की ओर उन्मुख हो जाती हैं। बंगलादेशी लड़कियाँ भी भारत व पाकिस्तान में लाई जाती हैं, जबकि भारतीय लड़कियों को वेश्यावृत्ति के लिए अन्य देशों में भेजा जाता है। 30,000 श्रीलंकाई बच्चों को विदेशी पर्यटकों के लिए देह-व्यापार करने वालों के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। इसमें उत्तरी श्रीलंका के सिविल युद्ध में पकड़े गए बच्चों की दुर्दशा का वर्णन है। जब जीविका उपार्जकों की हत्या कर दी जाती है तो अनाथ बच्चे उन भ्रष्ट व्यापारियों को अपनी देह बेचने के लिए विवश हो जाते हैं जो युद्ध क्षेत्र से उनकी पलायन की इच्छा का शोषण करते हैं। बच्चों का नियमित रूप से सामूहिक बलात्कार किया जाता है, उन्हें पीड़ित किया जाता है और खतरनाक यौन क्रियाएँ करने के लिए मज़बूर किया जाता है। उन्हें एड्स और यौन संचारित रोग हो जाते हैं। आगे दी गई रिपोर्ट के अनुसार, "हाल ही में हुए सर्वेक्षण के अनुसार हर वर्ष भारत से वापस लौटने वाले नेपाली सेक्सवर्कर में से 65% एच. आई. वी. पॉजिटिव होते हैं। उनके अपने समुदाय ही अक्सर उन लोगों को स्वीकार नहीं करते जो भाग कर वापस अपने घरों को लौट आते हैं"।

स्रोत : वर्ल्ड सोशियलिस्ट वेबसाइट

1992 में भारत ने बाल अधिकार विषयक औपचारिक समझौते का अनुसमर्थन किया है जिसके अनुसार भारत विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियों के बीच बच्चों के मुद्दों पर व्यापक जागरूकता सुनिश्चित करेगा। भारत ने बच्चों की उत्तरजीविता, सुरक्षा और विकास विषयक विश्व घोषणा पर भी हस्ताक्षर किए हैं और तदन्तर मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन महिला एवं बाल विकास विभाग के अंतर्गत बच्चों के लिए राष्ट्रीय कार्य-योजना तैयार की है। इसके मद्देनज़र बाल श्रम पर भारत की नीति ने एक ओर अंतर्राष्ट्रीय मानकों और दायित्वों और दूसरी ओर भारत की बुनियादी वास्तविकताओं के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। अतः यहाँ अनेक विधान नज़र आते हैं।

बाल श्रम निषेध एवं नियंत्रण अधिनियम, 1986 के अनुसार फैक्टरियों, खानों और अन्य खतरनाक रोज़गारों में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को बाल श्रम के रोज़गार पर रखने की मनाही है और यह अधिनियम अन्य रोज़गारों में बच्चों की कार्य-स्थितियों को विनियमित करता है। 1993 में तदन्तर की सरकारी अधिसूचना के अनुसार अपने कानून के तहत सरकार ने कसाईखाने, छापेखाने, काजू छिलाई एवं प्रसंस्करण और (टंकाई) सोलडरिंग जैसे उद्योगों में बच्चों के रोज़गार पर निषेध है। 1994 में श्रम मंत्री की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय बाल-श्रम उन्मूलन प्राधिकरण स्थापित किया गया जिसका दायित्व बाल मज़दूरी के उन्मूलन के लिए सरकार के विभिन्न विभागों के प्रयासों के बीच समन्वय लाना था।

संवैधानिक अधिदेश और बाल मज़दूर पर प्रचलित कानून के अनुसार भारत सरकार ने 1987 में राष्ट्रीय बाल मज़दूर नीति भी अपनाई। इन नीति में तीन सम्पूरक उपाय हैं :

- बाल श्रम (निषेध एवं नियंत्रण) अधिनियम के विभिन्न प्रावधानों को अत्यधिक सख्ती से लागू करने के लिए कानूनी कार्य योजना।
- जहाँ कहीं संभव हो वहाँ बच्चों को लाभ प्रदान करने वाले सामान्य विकास कार्यक्रमों पर ध्यान केंद्रित करना। जिन बच्चों को काम से हटा लिया गया है ऐसे कामकाजी बच्चों के लिए अनौपचारिक शिक्षा की व्यापक पद्धति को विकसित करने और उनके अभिभावकों के लिए रोज़गार और आय-सृजक योजनाएँ तैयार किए जाने की कल्पना करता है। स्वयंसेवी संगठनों को अनौपचारिक शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण स्वास्थ्य देखभाल बच्चों के लिए पोषण और शिक्षा के प्रावधान, जैसी गतिविधियाँ प्रारंभ करने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु विशेष 'बाल श्रमिक प्रकोष्ठ' की स्थापना की गई।
- क्षेत्र-विशिष्ट परियोजनाएँ : बाल मज़दूरों की उच्च सघनता वाले क्षेत्रों पर ध्यान केंद्रित करने और कामकाजी बच्चों को, उन्हें काम से हटाने और उनके पुनर्वास के लिए परियोजना अभिगम अपनाने के लिए (http:// www.indianembassy.org).

बोध प्रश्न 1

1) भारत में शिशु और बाल मृत्यु के मुख्य कारण क्या हैं? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) अनाथ बच्चों के पुनर्वास के लिए भारत में क्या उपाए किए जा रहे हैं? लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से प्रत्येक का एक पंक्ति में उत्तर दीजिए :

क) बाल श्रम की प्रतीकात्मक व्याख्या किसने की है?

.....

.....

ख) आज भारत में बच्चों की जनसंख्या कितनी है?

.....

.....

17.5 बाल अपराध

बाल अपराध (Juvenine delinquency) की परिभाषा है— "व्यक्तिगत और सामाजिक अव्यवस्था से संबद्ध किसी भी तरह का गैर-सामाजिक व्यवहार।" यह व्यवहार का वह रूप है जो कि समाज के नियमों और प्रतिमानों के विरुद्ध है और जो लोगों को बुरी तरह से प्रभावित करता है। कुछ का विचार है कि वह कोई भी काम, व्यवहार या स्थिति जो अदालत में ले जायी जाए और वहाँ उसका निर्णय किया जाए, अपराध है। अतः अपराध व्यवहार का वह रूप है जो कि समाज के नियमों और मान्यताओं के विरुद्ध है और सामान्य व्यवहार से हटकर है,। अतः बाल अपराध सामाजिक और कानूनी दोनों ही तरह की संकल्पना है।

17.5.1 बाल अपराध में वृद्धि करने वाले कारक

बाल अपराध कई हालातों और परिस्थितियों की उपज है। इन हालातों या कारकों को निम्नलिखित समूहों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है :

i) वे टूटे परिवार, जहाँ बच्चों को प्यार, अपनापन, स्नेह व सुरक्षा नहीं मिलती।

ii) रहने की खराब जगह, घरों में और आसपास मनोरंजन के लिए स्थान की कमी।

iii) गरीबी और माता-पिता द्वारा उपेक्षा।

iv) बच्चे जो ऐसे व्यवसायों और ऐसी जगहों में काम कर रहे हैं जो अपराधी प्रवृत्ति के लिए अनुकूल हैं।

v) स्कूल, काम की जगह और आस-पड़ोस में अवांछनीय संगी-साथी।

vi) सिनेमा और साहित्य का आपत्तिजनक प्रभाव।

ऊपर बताए गए कारक केवल उदाहरण के लिए हैं, अनन्य नहीं। इसका यह मतलब नहीं है कि इसमें से एक या एकाधिक कारणों की उपस्थिति बाल अपराध को अवश्य ही बढ़ाएगी। हाँ, ये तत्त्व एक रूप में या मिले-जुले रूप में, अपराधी व्यवहार को बढ़ा सकते हैं।

17.5.2 बाल अपराध को सुधारने के तरीके

बाल अपराधी की चर्चा करते समय आयु एक महत्त्वपूर्ण घटक है। भारतीय परिपक्वता अधिनियम के अनुसार परिपक्वता की आयु 18 वर्ष निश्चित की गई है। भारतीय दण्ड-संहिता के अनुसार 7 वर्ष की आयु से कम उम्र के बच्चे द्वारा किया हुआ गलत काम अपराध नहीं माना जाता। सामान्यतया 7 से 21 साल तक के बच्चे किशोर माने जाते हैं। परंतु 1986 के बाल अधिनियम के अनुसार, भारत में 16 साल की आयु से कम उम्र का लड़का और 18 साल की आयु से कम उम्र की लड़की किशोर माने जाते हैं। पहले बाल अधिनियम के अनुसार अलग-अलग प्रदेशों में किशोरों की अलग-अलग आयु-सीमा होती थी।

यह अनुभव किया जाता है कि बाल अपराधियों से बर्ताव वयस्क अपराधियों से भिन्न तरीके से किया जाना चाहिए। यदि हम एक किशोर को एक वयस्क की भाँति ही सजा दें और जेल में बंद कर दें तो वह जेल से बाहर आने के समय तक एक पक्का अपराधी बन चुका होगा, जबकि अगर हम उसे एक भिन्न वातावरण में रहने में मदद करें तो यह संभव है कि वह बदल जाए और अपराधी बनने से बच सके। इसको ध्यान में रखते हुए कुछ निवारक और सुधारात्मक उपाय शुरू करने के लिए कुछ नियम बनाए गए हैं। इन अधिनियमों के अंतर्गत बनाए गए प्रावधानों का नीचे वर्णन किया जा रहा है।

किशोरों के मामलों को अनौपचारिक व सरल वातावरण में सुलझाने के लिए किशोर अदालतों का गठन किया गया है। इन अदालतों का नेतृत्व पूर्णकालिक विशेष मजिस्ट्रेटों, अधिमानतः स्त्रियों द्वारा किया जाता है। किशोरों को अदालत में हथकड़ी या बेड़ी डालकर नहीं लाया जाता। उनके मामलों की पैरवी वकीलों द्वारा नहीं बल्कि विशेष अधिकारियों जिन्हें परिवीक्षा अधिकारी (probation officer) कहते हैं, द्वारा होती है।

वे लोग जिन्हें सामाजिक कार्य और सुधारात्मक प्रशासन का प्रशिक्षण प्राप्त है, परिवीक्षा अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं। प्रत्येक परिवीक्षा अधिकारी को कुछ बाल अपराधी सौंप दिए जाते हैं। वह अधिकारी (स्त्री या पुरुष) उनके घरों व स्कूलों में जाकर व उनके माता-पिता, मित्रों और पड़ोसियों से मिलकर उनके मामलों की जाँच-पड़ताल करता है। वह सुधारात्मक उपायों और बच्चों के पुनर्वास के लिए योजनाएँ बनाता है।

अदालत द्वारा मामलों का निर्णय होने तक बाल अपराधियों को "सुधार-गृह" अर्थात् "रिमांड होम" में रखा जाता है। वहाँ उन पर कड़ी निगरानी रखी जाती है और उनके मानसिक, शारीरिक और नैतिक सुधार के लिए पर्याप्त उपाय किए जाते हैं। लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग सुधार-गृह हैं।

अदालत के निर्णय के पश्चात् वे बच्चे, जिनके अपराध छोटे ही होते हैं, माता-पिता को सौंप दिए जाते हैं और वे बच्चे जिन्हें निगरानी की बराबर ज़रूरत है देखभाल, उपचार, शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए अनुमोदित स्कूलों और संस्थाओं में रखे जाते हैं। उनसे यह आशा की जाती है कि जब तक वे स्कूलों से बाहर आएंगे, उनकी अपराधी वृत्तियाँ समाप्त हो चुकी होंगी और वे अच्छी नागरिकता के गुणों से परिपूर्ण हो चुके होंगे।

17.6 बच्चों के अधिकार

बच्चों को अपनी शारीरिक और मानसिक अपरिपक्वता के कारण जन्म से पहले भी और बाद में भी, विशेष सुरक्षा उपायों और देखभाल की ज़रूरत पड़ती है। बहुत पहले ही, 1924 में सबसे पहले बाल अधिकारों की जेनेवा घोषणा में इन विशेष सुरक्षा उपायों की ज़रूरत के बारे में अभिव्यक्ति की गई। बाद में बाल निधि रक्षा अंतर्राष्ट्रीय इकाई (Save the Children Fund International Unit) द्वारा उसे आगे बढ़ाया गया। यह एक पाँच-सूत्रीय विषय था जिसे राष्ट्र संघ (League of Nations) द्वारा दुनियाभर में पहुँचाया गया। आगे आने वाले वर्षों में इसका विस्तार हुआ जो आगे चलकर 1959 की बच्चों के अधिकारों की घोषणा बनी।

17.6.1 1959 की संयुक्त राष्ट्र घोषणा

20 नवंबर 1959 को संयुक्त राष्ट्र जनरल ऐसेम्बली द्वारा अंगीकृत बाल अधिकारों की घोषणा, बच्चों को "मानव जाति जो सर्वोत्तम दे सकती है" दिलाने की घोषणा करती है। यह इस बात का पुनः समर्थन करती है कि बच्चे अपनी भलाई, व समाज की भलाई के लिए अपने अधिकारों का उपभोग करें। यह माता-पिता, स्त्री-पुरुष और स्वैच्छिक संगठनों, स्थानीय अधिकारी वर्गों और राष्ट्रीय सरकारों सभी से इन अधिकारों को पहचानने और विधायी व अन्य उपायों द्वारा इनके अनुपालन के लिए प्रयास करने के लिए आह्वाहन करती है।

इस घोषणा में घोषित मुख्य नियम या अधिकार निम्नलिखित हैं :

i) सभी बच्चे, चाहे जो हो पर बिना किसी अपवाद के या जाति, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीति या अन्य विचार, राष्ट्रीय और सामाजिक उद्भव, सम्पत्ति, जन्म आदि में बिना किसी भेदभाव के या अपनी और अपने परिवार की दूसरी स्थितियों के विभेदीकरण के बिना इस घोषणा में घोषित अधिकारों के लिए अधिकृत हैं।

ii) कानूनी रूप में या दूसरी तरह से, बच्चे को विशेष सुरक्षा, अवसर व सुविधाएँ मिलनी चाहिए, जिससे कि उसका शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विकास हो सके, और यह विकास उसकी स्वतंत्रता व प्रतिष्ठा को बनाए रखते हुए एक स्वस्थ व सामान्य तरीके से हो।

iii) बच्चे को जन्म से ही एक नाम और एक राष्ट्रीयता पाने का अधिकार होना चाहिए।

iv) बच्चे को सामाजिक सुरक्षा के लाभों से लाभान्वित होना चाहिए और उसे एक स्वस्थ वातावरण में बढ़ने और विकसित होने का अधिकार मिलना चाहिए। यहाँ तक कि उसे और उसकी माता को विशेष देखभाल और सुरक्षा मिलने का प्रबंध होना चाहिए, जिसमें कि प्रसव-पूर्व और प्रसवोत्तर देखभाल भी शामिल है। उसे पर्याप्ति पोषण, रहने का प्रबंध, मनोरंजन और स्वास्थ्य सेवाओं के अधिकारों का उपभोग करने का अधिकारी होना चाहिए।

v) उस बच्चे को जो कि, शारीरिक, मानसिक या सामाजिक किसी भी रूप में अक्षम है, विशेष उपचार, शिक्षा मिलनी चाहिए और उसकी विशिष्ट स्थिति में आवश्यक देखभाल की जानी चाहिए।

vi) बच्चे को अपने व्यक्तित्व के संपूर्ण और सुसंगत विकास के लिए प्यार और सहानुभूति की ज़रूरत होती है। जैसे भी संभव हो, उसका विकास माता-पिता की जिम्मेदारी

और देखभाल में होना चाहिए और हर हालत में एक स्नेहपूर्ण, नैतिक और भौतिक रूप से सुरक्षित वातावरण में ही होना चाहिए। कुछ अपवादपूर्ण परिस्थितियों के सिवाय एक कच्ची उम्र का बच्चा अपनी माँ से कभी अलग नहीं रखा जाना चाहिए। उन बच्चों की जिनके परिवार नहीं हैं या जिसके पास सहायता के पर्याप्त साधन नहीं है, विशिष्ट देखभाल करना समाज और सार्वजनिक अधिकारियों का कर्तव्य है।

vii) कम से कम, प्रारंभिक अवस्था में तो बच्चे को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। उसे इस तरह की शिक्षा देनी चाहिए जो उसकी सामान्य संस्कृति को उन्नत कर सके, और समान अवसर के आधार पर, उसकी योग्यताओं के विकास, उसकी व्यक्तिगत निर्णय क्षमता, उसे नैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति समझ पैदा करने के योग्य बना सके और उसे समाज का एक उपयोगी सदस्य बना सके। बच्चे को खेल और मनोरंजन के पूरे अवसर मिलने चाहिए और शिक्षा के उद्देश्यों के समान खेल और मनोरंजन में भी वही भावना प्रकट होनी चाहिए।

viii) हर हालत में बच्चे को ही सबसे पहले सुरक्षा और सहायता मिलनी चाहिए।

xi) बच्चे की हर तरह की उपेक्षा, निर्दयता और शोषण से रक्षा की जानी चाहिए। उसे किसी भी रूप में व्यापार का विषय नहीं होना चाहिए। एक उपयुक्त अल्पतम उम्र तक उसे रोज़गार में भर्ती नहीं करना चाहिए। उसे किसी भी ऐसे व्यवसाय या रोज़गार में लगने की अनुमति व कारण विषय नहीं मिलने चाहिए जिनसे उसका स्वास्थ्य या शिक्षा प्रभावित हो या उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास में बाधा पड़े।

x) बच्चे की ऐसी प्रथाओं से रक्षा की जानी चाहिए जिनसे जातिगत, धार्मिक या किसी और तरह के भेदभाव पनपते हों। सहानुभूति, सहनशीलता, मैत्री, शांति एवं विश्व-बंधुत्व तथा संपूर्ण चेतना की भावनाओं के वातावरण में उसका पालन होना चाहिए और ताकि उसकी शक्ति व प्रतिभा उसके अपने साथियों की सेवा में समर्पित हो।

संक्षेप में कहा जा सकता कि 1959 की बाल अधिकारों की संयुक्त राष्ट्र घोषणा में बच्चे को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किए गए, ये हैं— स्नेह का अधिकार, प्यार और सहानुभूति, पर्याप्त पोषण और स्वास्थ्य सेवा का अधिकार, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार, खेल और मनोरंजन के पूरे अवसर मिलने का अधिकार, नाम और राष्ट्रीयता का अधिकार, विकलांग होने पर विशेष देखभाल का अधिकार, संकट के समय सबसे पहले राहत पाने का अधिकार, समाज के उपयोगी सदस्य बनने की शिक्षा पाने एवं व्यक्तिगत योग्यताओं का विकास करने का अधिकार, शांति एवं विश्व-बंधुत्व की भावना के साथ विकसित होने का अधिकार तथा जाति, रंग, लिंग, धर्म, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्भव पर ध्यान दिए बिना इन अधिकारों का उपभोग करने का अधिकार।

17.6.2 अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 1979 को अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष घोषित किया । इसमें प्रत्येक देश को अपने बच्चों की दशा की समीक्षा करने तथा बच्चों के पूरे सामर्थ्य को विकसित करने के लिए अपने कार्यक्रमों के नवीकरण तथा तेज करने का अवसर दिया गया है। इसका लक्ष्य प्रत्येक सरकार को अपने कार्यकलापों का विस्तार करने के लिए प्रेरित करना था जिससे अनेकानेक बच्चों को प्रभावित करने वाली प्रतिकूल दशाओं पर काबू पाया जा सके।

बाल वर्ष ने सरकार, निजी संगठनों तथा लोगों को उन बच्चों के लिए बहुत कुछ करने के लिए प्रोत्साहित किया जिन्हें विशेष सहायता की आवश्यकता थी। इस प्रकार बाल वर्ष ने बच्चों के अधिकारों को जीवंत वास्तविकता प्रदान करने के लिए व्यावहारिक कार्यकलापों के अवसर प्रदान किए।

17.6.3 1989 का संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन

20 नवंबर 1989 को अंगीकृत संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार समागम के बाल अधिकारों पर 20वीं शताब्दी का सबसे व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण समझौता अपनाया गया।

इसमें बच्चों की सुरक्षा के लिए सर्वसम्मत मानक निश्चित किए गए हैं तथा प्रत्येक देश के बच्चों के यथार्थवादी तथा निरापद भविष्य को सुरक्षित करने के लिए विकास कार्यक्रमों तथा नीतियों की महत्त्वपूर्ण रूपरेखा दी गई है। समागम में 18 वर्ष से कम आयु के व्यक्ति को तब तक बालक माना गया है, जब तक कि वह बालकों पर लागू होने वाले कानून के अंतर्गत इससे पहले वयस्कता प्राप्त नहीं कर लेता।

इस सम्मेलन में 1959 के बाल अधिकारों की घोषणा में निर्धारित सभी अधिकार शामिल हैं। इसमें ऐसे अनेकों अधिकार भी शामिल हैं जिन्हें पूर्ववर्ती घोषणा में शामिल नहीं किया गया था। इन नए अधिकारों में से कुछ नीचे दिए गए हैं :

i) बच्चा जिसमें अपने विचार स्वयं बनाने की क्षमता है, उसे ऐसे विषयों पर इन विचारों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अधिकार है जो उसे प्रभावित करते हैं। बच्चे की आयु तथा परिपक्वता के अनुसार बच्चे के विचारों को उचित महत्त्व दिया जाएगा। बच्चे को प्रभावित करने वाली किसी भी बात पर उसे न्यायिक या प्रशासनिक कार्रवाइयों में अपनी बात कहने का अवसर प्रदान किया जाएगा।

ii) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार जिसमें सभी प्रकार के विचार तथा कानून लेने, प्राप्त करने तथा प्रदान करने की स्वतंत्रता शामिल है।

iii) विचार, अन्तःकरण एवं धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार।

iv) सभा करने तथा शांतिपूर्ण संगठन के लिए स्वतंत्रता का अधिकार।

v) अवैध रूप से विदेश में भेजने तथा वहाँ से न लौटने देने के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने का अधिकार।

इस सम्मेलन में निश्चित किए गए अधिकारों को मोटे तौर पर उत्तरजीविता, सुरक्षा तथा विकास नामक शीर्षकों में वर्गीकृत किया जा सकता है। उत्तरजीविता अधिकारों में अंतर्निहित है कि बच्चों को निरोध्य रोगों से बचाया जाना चाहिए। सुरक्षा अधिकार इस बात का संकेत करता है कि प्रत्येक बच्चे को शारीरिक, मानसिक तथा यौन शोषण से बचाया जाना चाहिए। विकास में पर्याप्त पोषण, प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल तथा प्रारंभिक शिक्षा के अधिकार शामिल हैं।

यह सम्मेलन एक प्रकार से विशिष्ट है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय कानून में पहली बार किसी समझौते में बच्चों के अधिकार निर्दिष्ट किए गए हैं जिसे मानने के लिए वे राष्ट्र बाध्य हैं जो उनका अनुमोदन करते हैं। इस अर्थ में भी विशिष्ट है कि समागम में जो दायित्त्व हाथ में लिए गए थे उन्हें प्राप्त करने में राष्ट्रों ने कितनी प्रगति की है, इसकी जाँच करने के लिए एक निर्वाचित कमेटी होगी।

सोचिए और करिए 2

पाठांश 17.6.1, 17.6.2 और 17.6.3 को पुनः ध्यानपूर्वक पढ़िए। अपने प्रतिदिन के अनुभवों के आधार पर यह जाँचिए कि हमारे समाज में किस हद तक बच्चों के अधिकारों को लागू किया जाता है। आपके अनुसार समाज में बच्चों के अधिकारों को पूरी तरह न अपनाने के मुख्य कारण क्या हैं। इस विषय पर सोचिए और दो पृष्ठ की एक टिप्पणी तैयार कीजिए। यदि संभव हो तो अपने परामर्शदाता और अन्य विद्यार्थियों के साथ इस पर चर्चा कीजिए।

17.7 बाल कल्याण में सम्मिलित संयुक्त-राष्ट्र एजेंसियाँ

अनेक संयुक्त-राष्ट्र (यू.एन.) एजेंसियाँ विश्व के विकासशील देशों के बच्चों के लिए तथा उनके विकास के लिए कार्य कर रही हैं। इनमें सबसे बड़े संगठन जिनका बच्चों की समस्याओं से प्रत्यक्ष संबंध है, विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू.एच.ओ.) तथा संयुक्त राष्ट्र बाल निधि (यूनिसेफ) हैं।

17.7.1 विश्व स्वास्थ्य संगठन

संयुक्त राष्ट्र आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा एक विशेषीकृत एजेंसी के रूप में 7 अप्रैल 1948 को विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation) की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य संसार के सभी व्यक्तियों को कम से कम लागत में यथासंभव अधिक से अधिक उच्च स्तर तक स्वास्थ्य उपलब्ध कराना है।

यह संगठन स्वास्थ्य सेवाएँ मज़बूत करने, रोग उन्मूलन करने की प्रेरणा और काम को बढ़ावा देने, माँ तथा बाल स्वास्थ्य को बढ़ावा देने, मानसिक स्वास्थ्य, औषधीय अनुसंधान तथा दुर्घटनाओं को रोकने, स्वास्थ्य व्यवसाय में शिक्षा तथा प्रशिक्षण के स्तर बेहतर बनाने और पोषण, आवास, स्वच्छंदता प्रबंध, काम की दशाओं तथा परिवेशीय स्वास्थ्य के अन्य पहलुओं में सुधार करने में सरकार की मदद करता है।

17.7.2 यूनिसेफ

1946 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने युद्ध के बाल पीड़ितों को सहायता देने तथा युद्ध से प्रभावित देशों के बच्चों के स्वास्थ्य में सुधार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र बाल निधि (United Nations Childrens Fund) की स्थापना की। चूँकि यह एक आपातकालीन उपाय था, इसलिए इसे संयुक्त राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय बाल आपात निधि (United Nations International Childrens Emergency Fund) कहा गया।

1950 में इस कार्यक्रम में अल्पविकसित देशों के बच्चों को भी शामिल कर लिया गया। 1953 में यह एक स्थायी संगठन बन गया। इसमें विकासशील देशों के बच्चों तथा माताओं के जीवन स्तर में सुधार लाने वाले विकास कार्यों में सहायता देने पर बल दिया गया। यूनिसेफ ने चार प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल तकनीकों को सर्वसुलभ बनाने पर ध्यान केंद्रित किया, जिनकी लागत कम है तथा इससे अपेक्षाकृत थोड़े ही समय में परिणाम मिल जाते हैं। इनमें शामिल हैं : अतिसार के संक्रमण के प्रभावों से बचने के लिए मुख द्वारा पुनः जलयोजन चिकित्सा (rehydration theraphy), शैशवावस्था में होने वाले छह प्रमुख सामान्य रोगों से बचने के लिए विस्तृत प्रतिरक्षीकरण, बाल विकास का अनुवीक्षण तथा स्तनपान को प्रोत्साहन देना। यूनिसेफ विश्व स्वास्थ्य संगठन के सहयोग से मिलकर काम करता है। यूनिसेफ टीकाकरण (vaccine) तथा उन्हें वितरित करने में आवश्यक ठंडा करने

के उपस्करों के साथ-साथ मुख से पुनः जलयोजन लवणों का विश्व का सबसे बड़ा पूर्तिकार है।

बोध प्रश्न 2

1) अपराध को बढ़ावा देने वाले मुख्य कारक बताइए। अपना उत्तर लगभग आठ पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) बाल अपराध के विरुद्ध सुधार के कौन-से उपाय किए गए हैं। लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) उपयुक्त उत्तर द्वारा रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

क) पहली बार बाल अधिकारों की घोषणा वर्ष ..... में की गई।

(क) 1926 (ख) 1924 (ग) 1925 (घ) 1935

ख) वर्ष ..... को अंतर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के रूप में मनाया गया।

(क) 1976 (ख) 1989 (ग) 1990 (घ) 1979

ग) विश्व स्वास्थ्य संगठन की स्थापना ..... को हुई।

(क) 7 अप्रैल, 1948 (ख) 7 अप्रैल, 1946

(ग) 6 मई, 1952 (घ) 9 जून, 1942

17.8 अंतर्राष्ट्रीय बालिका वर्ष एवं दशक तथा भारतीय परिदृश्य

1959 के बाल अधिकारों की संयुक्त राष्ट्र घोषणा तथा 1989 में संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार सम्मेलन में बालक-बालिका के बीच भेदभाव या बालिका शिशु के प्रति अन्याय पर सही तरह से ध्यान नहीं दिया गया। प्रारंभ में महिलाओं तथा बाल विकास पर सार्क तकनीकी समिति (SAARC Technical Committee) ने भी बालिका शिशु पर ध्यान केंद्रित नहीं किया। 1986 में बच्चों पर अपनी कांग्रेस में सार्क (दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ) ने प्रत्येक तकनीकी कमेटी में बच्चों की विशिष्ट समस्याओं की जाँच करने का निश्चय किया।

17.8.1 सार्क देशों द्वारा की गई पहल

सार्क (SAARC) देशों ने बालिका के निम्न स्थान के प्रति जागरूकता पैदा करने तथा उनके प्रति भेदभाव समाप्त करने के लिए सुधारात्मक उपायों की कार्य योजना पर सहमति दे दी है। नई दिल्ली में सितम्बर 1988 में हुई सार्क कार्यगोष्ठी में 7 सार्क देशों– भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका तथा मालद्वीप में बालिका शिशु के प्रति भेदभाव के विरोध में अभियान को निर्णायक दबाव देने की दृष्टि से वर्ष 1990 को "बालिका वर्ष" घोषित करने का निश्चय किया गया। 1990 के दशक को "बालिका शिशु दशक" घोषित किया गया।

17.8.2 बालिका : भारतीय परिदृश्य

धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिवेश के संदर्भ में यहाँ हमें भारत की बालिकाओं की निम्न स्थिति को देखना है। ये सारे घटक मिलकर बालिका के प्रति भेदभाव बनाए रखने में सहायक हैं। बालिका के जन्म पर खुशी नहीं दुःख मनाया जाता है। यदि किसी महिला के दो या तीन बेटियाँ पैदा हो जाती हैं तो उसे तिरस्कृत किया जाता है।

बालिका को बहुत कम बार तथा बहुत कम समय के लिए स्तनपान कराया जाता है। बालिकाओं को काफी पहले से ही स्तनपान छुड़ाने की कोशिश की जाती है। माता-पिता उसे घटिया किस्म का आहार देते हैं तथा उसे भर पेट खाने भी नहीं देते क्योंकि उन्हें भय रहता है कि वह बहुत जल्दी बड़ी न हो जाए। माता-पिता सोचते हैं कि लम्बी तथा भारी भरकम लड़कियाँ अस्त्रियोचित लगती हैं तथा उनके लिए वर ढूँढ़ने में भी कठिनाई होती है। लड़कियों के धीरे-धीरे बढ़ने से माता-पिता को उनके विवाह के लिए दहेज जुटाने का समय मिल जाता है। इस प्रकार बालिका को पूरे जीवन भर अच्छा तथा पोषक आहार नहीं मिल पाता है।

लड़की को "पराया धन" (दूसरे की संपत्ति) समझा जाता है इसलिए उसके पालन-पोषण पर किसी भी प्रकार के खर्च को फिजूलखर्ची समझा जाता है। उसे अपने व्यक्तित्व का विकास करने के पूरे अवसर भी नहीं दिए जाते। दूसरी ओर उसे घरेलू कामकाज में लगा दिया जाता है जिससे वह अपने सास-ससुर को स्वीकार्य हो सके। उसे वे सभी कामकाज सिखाए जाते हैं जो उसे अपने सास-ससुर के घर में करने पड़ सकते हैं। उसे दूसरों के अधीनस्थ रहना तथा आत्म-त्याग करना सिखाया जाता है। उसे विचार, बोलचाल, पहनने-ओढ़ने तथा आहार में अति संयम रखने की आदत सिखाई जाती है।

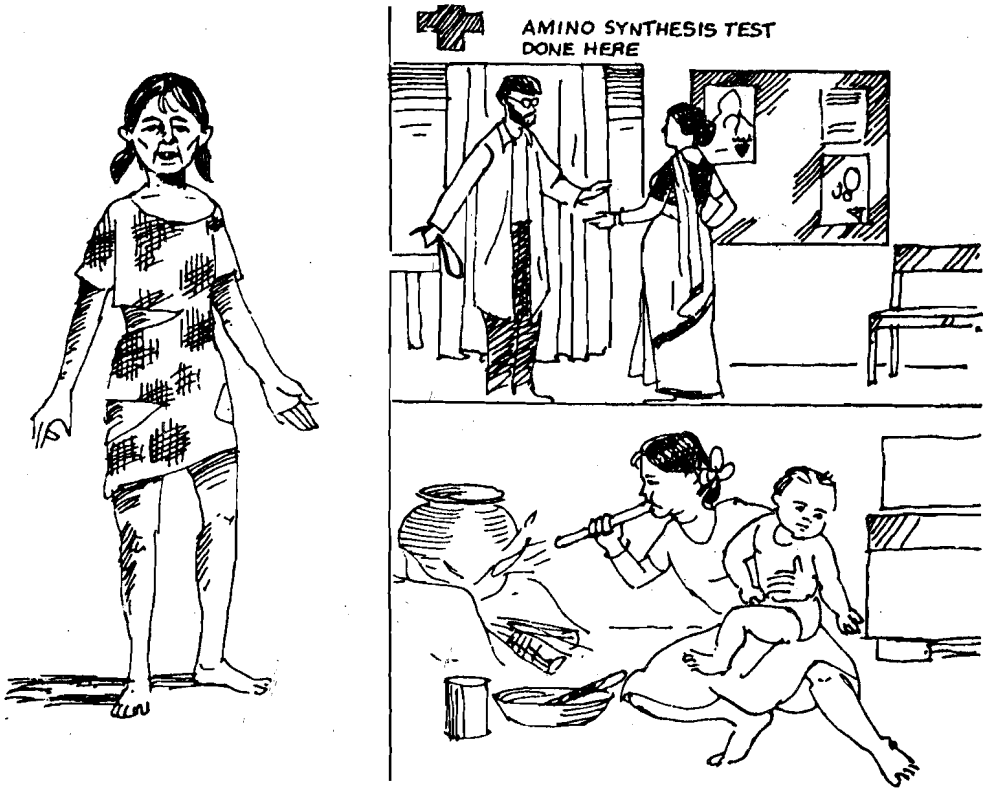

भारत में बालिका

लड़कियों में अस्वस्थता का अनुक्रम अधिक होता है। परंतु उन्हें बहुत कम चिकित्सा उपचार प्राप्त होते हैं। उन्हें जानलेवा बीमारियों के लिए भी कम प्रतिरक्षित कराया जाता है। बहुत कम लड़कियों का ही स्कूलों में नाम लिखाया जाता है। हमारी संस्कृति में कुरीति के चलते लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को निम्न स्थान दिया गया है। सामाजिक मूल्यों तथा प्रतिमानों से लड़कों और लड़कियों के बीच असमानता को बढ़ावा मिलता है। आशा है कि बालिका दशक में उचित सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम शुरू किए जाएँगे जिनसे लड़कियों के प्रति भेदभाव में कमी हो जाएगी। तथापि, इस बीच बालिकाओं पर किए गए अन्यायों के प्रति लोगों में जागरूकता उत्पन्न करने के लिए स्वैच्छिक एजेंसियाँ, महिला मंडल, सामाजिक कार्यकर्त्ता तथा जन-संचार आदि ने कार्यक्रम बनाकर उसे जनता तक पहुँचाया है।

17.9 राष्ट्रीय बाल नीति

कोई भी देश इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि राष्ट्र संघ महासभा के बाल अधिकारों की घोषणा में निश्चित किए गए सिद्धांतों को वह कार्यान्वित करे ही। तथापि भारत सरकार ने संसाधनों की उपलब्धता तथा देश के सामने आने वाली समस्याओं के परिणाम के आधार पर परिस्थिति के अनुकूल कार्यक्रमों द्वारा इन अधिकारों को पाने के प्रयास करने प्रारंभ कर दिए हैं। पहली बार तीसरी पंचवर्षीय योजना में सामाजिक कल्याण क्षेत्र के अंतर्गत बाल विकास पर एक कार्यक्रम प्रारंभ किया गया।

वर्ष 1967 में भारत सरकार ने इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए और समस्याओं पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की। समिति ने उन क्षेत्रों का पता लगाया जहाँ कार्यवाही की आवश्यकता थी तथा उचित कार्यवाही करने के अनुकूल कार्यक्रमों के सुझाव दिए। समिति ने बाल विकास के लिए एक व्यापक राष्ट्रीय नीति बनाने की

आवश्यकता महसूस की तथा देश के सामाजिक और आर्थिक विकास के परिप्रेक्ष्य में बच्चों की आवश्यकताओं का समेकित उद्देश्य प्राप्त करने के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय समिति का गठन करने का सुझाव दिया।

समिति के सुझावों पर विचार करने के पश्चात् भारत सरकार ने 22 अगस्त, 1974 की राष्ट्रीय बाल नीति पर एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव के अनुसार बच्चे सर्वोपरि महत्त्व की राष्ट्रीय परिसंपत्ति है। मानव संसाधनों के विकास के लिए हमारी राष्ट्रीय योजनाओं में बच्चों के कार्यक्रमों को एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए जिससे बड़े होकर हमारे बच्चे शारीरिक रूप से स्वस्थ, समाज के लिए अपेक्षित दक्षताओं तथा अभिप्रेरणाओं से संपन्न हृष्ट-पुष्ट नागरिक बन सकें।

17.9.1 नीति तथा उपाय

राज्य को आदेश दिया गया है कि वह बच्चों को उनके जन्म से पूर्व तथा जन्म के बाद और विकास काल में उनके शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक विकास को सुरक्षित करने के लिए पर्याप्त सहायता प्रदान करे। राज्य उत्तरोत्तर इस प्रकार की सहायताओं का कार्यक्षेत्र और अधिक बढ़ाता जाए जिससे यथोचित समय में देश के सभी बच्चों के संतुलित विकास के लिए इष्टतम परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकें।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए गए :

i) सभी बच्चों को एक व्यापक स्वास्थ्य कार्यक्रम में शामिल किया जाएगा।

ii) बच्चों के आहार में कमियों को दूर करने के उद्देश्य से पोषण सहायता कार्यक्रम लागू किए जाएँगे।

iii) गर्भवती माताओं तथा स्तनपान कराने वाली माताओं के सामान्य स्वास्थ्य में सुधार करने, उनकी देखभाल करने, पोषण तथा पोषण संबंधी शिक्षा देने के लिए कार्यक्रम प्रारंभ किए जाएँगे।

iv) सरकार 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा देने की व्यवस्था करेगी जिसके लिए एक समयबद्ध कार्यक्रम बनाया जाएगा जो संसाधनों की उपलब्धता पर निर्भर होगा। विद्यालयों में होने वाले अपव्यय तथा निष्क्रियता को कम करने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाएँगे, विशेष तौर पर लड़कियों तथा समाज के कमज़ोर वर्गों के बच्चों पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। इन वर्गों के उन बच्चों के लिए जो विद्यालय जाने की उम्र से छोटे हैं उनके लिए अनौपचारिक शिक्षा के कार्यक्रम भी शुरू किए जाएँगे।

v) जो बच्चे औपचारिक स्कूली शिक्षा का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकते हैं, उन्हें उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप अन्य प्रकार की शिक्षा दी जाएगी।

vi) विद्यालयों, सामुदायिक केंद्रों तथा ऐसी ही अन्य संस्थाओं में व्यायाम, खेल, क्रीड़ा तथा अन्य प्रकार के सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक कार्यकलापों को प्रोत्साहन दिया जाएगा।

vii) सब को समान अवसर प्रदान करने की दृष्टि से समाज के कमजोर वर्ग के सभी बच्चों अर्थात् ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के बच्चों को विशेष सहायता प्रदान की जाएगी।

viii) उन बच्चों को शिक्षा, प्रशिक्षण तथा पुनर्वास के लिए सुविधाएँ प्रदान की जाएंगी तथा उन्हें उपयोगी नागरिक बनने में सहायता दी जाएगी जो सामाजिक रूप से

असुविधापूर्ण स्थिति में है, जो अपराधी हो गए हैं, जिन्हें भीख मांगने के लिए मज़बूर कर दिया गया है या जो अन्य प्रकार से संकट में हैं।

xi) बच्चों को उपेक्षा, क्रूर तथा शोषण से बचाया जाएगा।

x) 14 वर्ष से कम आयु के किसी भी बच्चे को जोखिम वाले व्यवसाय में लगाने की इज़ाज़त नहीं दी जाएगी या उनसे भारी काम नहीं लिया जाएगा।

xi) शारीरिक रूप से विकलांग, संवेगात्मक रूप से परेशान तथा मानसिक रूप से मंद बच्चों की देखभाल, विशेष उपचार, शिक्षा तथा पुनर्वास के लिए सुविधाएँ प्रदान की जाएंगी।

xii) खतरे या प्राकृतिक संकट के समय सुरक्षा तथा राहत देने में बच्चों की वरीयता दी जाएगी।

xiii) बच्चों, विशेषकर समाज के कमज़ोर वर्ग से आने वाले प्रतिभासंपन्न बच्चों का पता लगाने, प्रोत्साहित करने तथा सहायता देने के लिए विशेष कार्यक्रम बनाए जाएँगे।

xiv) विद्यमान कानूनों में संशोधन किया जाना चाहिए जिससे कानूनी झगड़े, चाहे वे माता-पिता या संस्थाओं के साथ हों, में बच्चों के हित का सर्वोपरि ध्यान रखा जाए।

xv) बच्चों के लिए सहायता की व्यवस्था करते समय पारिवारिक बंधन को मज़बूत करने के प्रयास किए जाने चाहिए जिससे सामान्य परिवार, आस-पड़ोस तथा सामुदायिक परिवेश में बच्चों का विकास हो सके।

कोष्ठक 2

राष्ट्रीय बाल विकास मंडल (National Child Development Board)

राष्ट्रीय बाल विकास मंडल की स्थापना दिसंबर 1974 में हुई थी। भारत का प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष होता है और मानव संसाधन विकास मंत्री उपाध्यक्ष होता है। इस मंडल के मुख्य उद्देश्य हैं :

क) बाल कल्याण और विकास संबंधी कार्यक्रमों को बनाना और उसके कार्यान्वयन की समीक्षा करना।

ख) इन कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में विभिन्न सरकारों और निजी एजेंसियों द्वारा किए गए प्रयासों के बीच तालमेल रखना।

ग) कार्यान्वित सेवाओं में रह गई कमियों का पता लगाना और इन्हें दूर करने के उपाय सुझाना।

घ) समय-समय पर कार्रवाई के प्राथमिकता क्षेत्रों के बारे में सुझाव देना।

ड.) बाल कल्याण और विकास के लिए राष्ट्र की प्रतिबद्धता का प्रतीक बनकर एक अति प्रभावशाली निकास के रूप में कार्य करना।

17.9.2 प्राथमिकता क्षेत्र

विभिन्न क्षेत्रों में कार्यक्रम बनाते समय इन विषयों से संबंधित कार्यक्रमों को वरीयता दी जानी चाहिए :

i) बच्चों के स्वास्थ्य के निवारक तथा संवर्धक पहलू

ii) गर्भवती तथा स्तनपान कराने वाली माताओं के साथ-साथ शिशुओं तथा विद्यालय जाने से पूर्व आयु-वर्ग के बच्चों के लिए पोषण

iii) अनाथ तथा बेघर बच्चों के अनुरक्षण, शिक्षा तथा प्रशिक्षण

iv) कामकाजी तथा बीमार माताओं के बच्चों की देखभाल के लिए शिशु-गृह तथा अन्य सुविधाएँ

v) विकलांग बच्चों की देखभाल, शिक्षा, प्रशिक्षण तथा पुनर्वास।

बच्चों के स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा और कल्याण की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए योजना, समीक्षा तथा कार्यों की विविधता के समुचित तालमेल के लिए एक मंच प्रदान करने की दृष्टि से, राष्ट्रीय बाल नीति ने राष्ट्रीय बाल मंडल (National Childrens Board) का गठन करने की व्यवस्था की है। राज्य स्तर पर भी इसी प्रकार के मंडलों का गठन किया जा सकता है।

17.9.3 स्वैच्छिक प्रयास

बच्चों की राष्ट्रीय नीति में इस बात पर बल दिया गया है कि बाल कल्याण के क्षेत्र में काम करने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं को राज्य की सहायता से अथवा स्वयं अपने आप शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन तथा समाज-कल्याण सहायताएँ विकसित करने के उचित अवसर प्राप्त होते रहेंगे। राज्यों को यह आदेश दिया गया है कि वे स्वैच्छिक कार्यवाही को बढ़ाएँ जिससे बाल-कल्याण कार्यक्रमों को बढ़ाने और विकसित करने में राज्य तथा स्वैच्छिक संस्थाएँ, न्यासों, धार्मिक तथा धर्मदाय संस्थाओं को अधिक से अधिक काम में लाया जा सके।

उपर्युक्त लक्ष्यों को पाने के लिए राज्य अनिवार्य वैधानिक और प्रशासनिक सहायता प्रदान करेगा। बढ़ते हुए कार्यक्रमों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा सेवाओं की प्रभावकारिता में सुधार करने के लिए कार्मिकों के प्रशिक्षण तथा अनुसंधान सुविधाओं का विकास किया जाएगा।

राष्ट्रीय बाल नीति के अनुसरण में देश में एक समेकित बाल विकास सेवा योजना (आई.सी.डी.एस.) प्रारंभ की गई है। इस योजना का लक्ष्य गर्भवती, स्तनपान कराने वाली महिलाओं तथा 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों को छः सेवाओं का एक पैकेज प्रदान करना है। ये सेवाएँ हैं— सम्पूरक आहार, प्रतिरक्षण, माताओं को स्वास्थ्य तथा पोषण संबंधी शिक्षा। ये सेवाएँ गाँवों, शहरों तथा जनजातीय क्षेत्रों में स्थित आंगनवाड़ी केंद्रों में प्रदान की जाती हैं। 1974 में यह योजना 33 विकास खंडों में एक प्रयोगात्मक आधार पर शुरू की गई थी तथा वर्ष 1989-90 तक यह संख्या देश के 2438 खंडों तक पहुँच गई है।

बोध प्रश्न 3

1) राष्ट्रीय बाल नीति का मूल उद्देश्य क्या है? लगभक तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

2) राष्ट्रीय बाल नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए क्या उपाय किए हैं? लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) उन देशों के नाम बताइए जहाँ बालिका वर्ष मनाया गया। लगभग तीन पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

17.10 सारांश

इस इकाई में हमने भारत के बच्चों की जनसांख्यिकीय संविरचना की चर्चा की। हमने बेघर तथा बेसहारा बच्चों के सामने आने वाली समस्याओं को देखा तथा सरकार द्वारा उनके पुनर्वास के लिए किए गए उपायों के बारे में जाना।

इसके पश्चात् हमने बाल मज़दूरों को लिया तथा फिर बाल अपराध के बारे में जानकारी प्राप्त की। इसके बाद हमने बाल-कल्याण में लगी हुई संयुक्त राष्ट्र एजेंसियों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपनाए गए बाल अधिकारों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। फिर हमने बालिका के साथ होने वाले भेदभाव की चर्चा की। अंत में हमने राष्ट्रीय बाल नीति के बारे में पढ़ा।

17.11 शब्दावली

जनसांख्यिकी (demography) : यह जनसंख्या से संबंधित जैव सांख्यिकी जैसे जन्म, मृत्यु, विवाह आदि का विज्ञान है।

किशोर अदालत (juvenile court) : यह एक कानून अदालत है जिसमें निश्चित आयु-वर्ग से कम आयु के बच्चों के मामलों का फैसला किया जाता है।

नीति (policy) : कोई नियंत्रक सिद्धांत या कार्य करने की कार्यविधि।

योजना (scheme) : किसी निश्चित योजना पर वस्तुओं का एक व्यवस्थित संयोजन।

कार्यक्रम (programme) : किसी कार्य को करने की रूपरेखा।

17.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) शिशु मृत्यु के प्रमुख कारण हैं— समयपूर्व, जन्म, श्वसन संबंधी संक्रमण, अतिसार, खांसी, बुखार तथा पाचक गड़बड़ियाँ। बाल मृत्यु के प्रमुख कारण हैं— तपेदिक, टिटनेस, काली खाँसी, डिप्थीरिया, पोलियो, मेरुरज्जु तथा खसरा।

2) अनाथ बच्चों का पुनर्वास करने के लिए सरकार ने एक कार्यक्रम प्रारंभ किया है जिसे जरूरतमंद बच्चों के लिए देखभाल तथा सुरक्षा योजना का नाम दिया गया।

योजना के अंतर्गत स्वैच्छिक संस्थाओं को बालगृह चलाने के लिए सहायता अनुदान दिया जाता है जहाँ 18 वर्ष तक के बच्चों की देखभाल, सुरक्षा, साधारण शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि दिया जाता है। इसके अलावा पालन-पोषण संरक्षण देने का प्रावधान भी किया गया है जिसके अनुसार बच्चे को किसी निश्चित समय तक किसी परिवार में रखा जाता है जो बच्चे को एक उपयुक्त घर जैसा वातावरण प्रदान करने की सहमति देता है।

3) क) अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन / आई.एल.ओ.

ख) 1991 में भारत में बच्चों की संख्या (एक करोड़ 12.8 लाख) थी।

ग) 1981 में प्रति एक हजार लड़कों पर लड़कियों की संख्या 938 थी।

बोध प्रश्न 2

1) जिन घटकों से बाल अपराध को बढ़ावा मिलता है, वे हैं – टूटे हुए परिवार, घर में एकांत की कमी, खराब आवास, घर तथा पास-पड़ोस में मनोरंजन के लिए स्थान का अभाव, माता-पिता की उपेक्षा तथा उनकी (माता-पिता) गरीबी। इसके अलावा विद्यालय, काम करने के स्थान तथा पास-पड़ोस में अवांछनीय मित्रमंडली, सिनेमा, साहित्य तथा अन्य संचार माध्यमों के अवांछनीय प्रभाव से बाल अपराध को बढ़ावा मिलता है।

2) अपराध के विरुद्ध निवारक के साथ-साथ सुधारात्मक उपाय करने के लिए कानून भी जारी किए गए हैं। इन कानूनों के तहत पूर्णकालिक महिला मैजिस्ट्रेटों के नियंत्रण में किशोर अदालतें बनाई गई हैं। किशोरों को अदालत में बिना हथकड़ी के पेश किया जाता है। उनके मामलों में विशेष अधिकारी बहस करते हैं जिन्हें परिवीक्षा अधिकारी कहते हैं। ये अधिकारी सामाजिक कार्य तथो सुधारात्मक प्रशासन में प्रशिक्षित होते हैं। जब तक अदालत में उनके मामलों का फैसला नहीं हो जाता, इन किशारों को सुधार-गृहों में रखा जाता है। अदालत के फैसले के बाद वे किशोर जिन पर लगातार देखभाल करने की आवश्यकता होती है, देखभाल, उपचार, शिक्षा तथा प्रशिक्षण के लिए अनुमोदित स्कूलों में रखे जाते हैं। आशा की जाती है कि स्कूल से निकलने के समय तक उनकी मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक अवस्था बदल चुकी होगी तथा उनमें एक अच्छे नागरिक के गुण आ गए होंगे।

3) (क) 1924 (ख) 1979 (ग) 7 अप्रैल, 1948

बोध प्रश्न 3

1) राष्ट्रीय बाल नीति का मुख्य उद्देश्य बच्चों के जन्म से पूर्व तथा जन्म के पश्चात् उनके विकास काल में, उनको शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक विकास प्रदान करना है।

2) राष्ट्रीय बाल नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जो उपाय अपनाए गए हैं, उनमें शामिल हैं– समेकित स्वास्थ्य कार्यक्रम, पोषण कार्यक्रम, पोषण शिक्षा, औपचारिक शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, स्कूल, सामुदायिक केंद्रों में खेल-क्रीड़ा, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक कार्यकलापों की सुविधाएँ, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों के बच्चों के लिए विशेष सहायता तथा शारीरिक रूप से विकलांग, संवेगात्मक रूप से विक्षुब्ध अथवा मानसिक रूप से मंद बच्चों के इलाज, शिक्षा, पुनर्वास तथा देखभाल के लिए विशेष कार्यक्रम।

3) जिन 7 सार्क देशों ने 1990 को बालिका वर्ष के रूप में मनाया, वे हैं– बंगलादेश, भूटान, भारत, मालद्वीप, नेपाल, पाकिस्तान तथा श्रीलंका।

इकाई 18 युवा वर्ग : पहचान और अलगाव

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 'युवा' एवं 'युवा' संस्कृति की परिभाषा

18.2.1 युवा

18.2.2 युवा संस्कृति

18.3 भारतीय युवा वर्ग की जनसांख्यिकीय विशेषताएँ

18.3.1 युवा जनसंख्या का लिंग अनुपात

18.3.2 ग्रामीण-शहरी वितरण

18.3.3 वैवाहिक प्रस्थिति

18.3.4 युवा वर्ग की शिक्षा संबंधी उपलब्धियाँ

18.3.5 युवा वर्ग की कार्यकारी जनसंख्या

18.3.6 युवा जनसंख्या में वृद्धि का निहितार्थ

18.4 युवा वर्ग की बदलती हुई मूल्य पद्धति और अलगाव

18.4.1 बदलती हुई मूल्य पद्धति

18.4.2 अलगाव

18.5 छात्र असंतोष

18.5.1 छात्र असंतोष के कारण

18.5.2 छात्र असंतोष के निहितार्थ

18.6 युवा समस्या के कुछ संभावित दृष्टिकोण

18.7 सारांश

18.8 शब्दावली

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमने भारत में युवा वर्ग के समसामयिक आयामों पर चर्चा की है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा :

- भारत में युवा जनसंख्या की जनसांख्यिकीय स्थिति की व्याख्या करना;
- युवा विद्यार्थी एवं युवा गैर-विद्यार्थी के बीच अंतर करना;
- युवा वर्ग की परंपरागत और परिवर्तनशील मूल्य पद्धति की जाँच करना;
- अलगावित युवाओं की समस्याएँ जानना;

- उन कारकों और समस्याओं का विवेचन करना जिनके कारण छात्र असंतोष होता है; और
- युवाओं के लिए बनाए गए कुछ कार्यक्रमों की चर्चा करना।

18.1 प्रस्तावना

भारत में युवा अध्ययन में कई आयामों का विचार अंतर्निहित है। युवा वर्ग को परिमाणात्मक तथा गुणात्मक दोनों तरह से समझा जा सकता है। गुणात्मक विवरण का अभिप्राय सामाजिक-सांस्कृतिक परिवृत्यों पर चर्चा करने से है। परिमाणात्मक शब्द का अभिप्राय जनसंख्या में युवाओं के अनुपात के अनुमानों पर चर्चा करना है, अर्थात् शिक्षा, व्यवसाय, आय, जीवन-स्तर, शहरी-ग्रामीण अंतर जैसे सामाजिक-सांस्कृतिक परिवृतियों की चर्चा करना है। युवाओं पर समाजशास्त्रीय चर्चा भारत में युवाओं के सामाजिक-जनसांख्यिकीय और सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर आधारित की जानी चाहिए।

हमने यह इकाई "युवा" शब्द की परिभाषा से शुरू की है। इसके बाद हमने युवाओं के जनसांख्यिकीय परिवृतियों अर्थात् आयु-लिंग, शहरी-ग्रामीण वितरण, वैवाहिक प्रस्थिति, शैक्षिक उपलब्धि और बेरोजगारी दर पर ध्यान केंद्रित किया है।

परंपरागत मूल्य पद्धति, अलगाव, पहचान संकट से युवाओं के मतभेदों पर संक्षिप्त चर्चा की गई है। उसके बाद छात्र असंतोष के कारणों पर चर्चा है। अंत में हमने युवाओं के भावी कार्यक्रमों पर समाजशास्त्रियों के प्रेक्षणों का उल्लेख किया है।

18.2 'युवा' एवं 'युवा संस्कृति' की परिभाषा

आइए, सबसे पहले हम यह जान लें कि युवा शब्द से हमारा क्या अभिप्राय है। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से इसे एक जैवभौतिक अवस्था (biophysical stage) माना जाता है लेकिन सामाजिक समस्या के अध्ययन से युवा शब्द का गहन समाजशास्त्रीय महत्त्व है।

18.2.1 युवा

युवा शब्द तकनीकी रूप में प्रयुक्त नहीं किया जाता है बल्कि यह नियत जनसंख्या के 15-24 वर्ष के आयु-वर्ग के व्यक्तियों की विशेषताओं की श्रृंखला का वर्णन करता है। यह शब्द भ्रमात्मक है। कुछ के विचार में युवा एक जैविक प्रकृति के तत्त्वों द्वारा विशिष्टीकृत अवस्था होती है अर्थात् वे जैवभौतिक परिवर्तन जो बचपन और प्रौढ़ता के बीच मोटे तौर पर 15 और 24 वर्ष के आयु-वर्ग में होते हैं। इसीलिए युवा वर्ग पर किए गए बहुत से अध्ययनों में 15-24 वर्ष की आयु के युवाओं को शामिल किया गया है।

इस प्रकार के वर्गीकरण में अंतर्निहित कमी को महसूस करते हुए जिसके अंतर्गत इस आयु वर्ग को संपूर्ण देश में बहुत-सी जटिल समस्याओं के लिए समानता से नहीं अपनाया जा सकता है, फिर भी समाजशास्त्रियों सहित समाजविज्ञान अधिकतर इस आयु-वर्ग वर्गीकरण पर निर्भर करते हैं। इस इकाई में युवाओं पर चर्चा के लिए 15-24 वर्ष का आयु-वर्ग ही लिया गया है। इस वर्गीकरण के साथ-साथ समाजशास्त्रीय रूप से "युवा संस्कृति" की धारणा जुड़ी हुई है। यह एक प्रासंगिक धारणा है। आइए, भारतीय संदर्भ में इसकी जाँच करें।

18.2.2 युवा संस्कृति

यूरोपीय-अमेरिकन समाजशास्त्रियों, उदाहरणतः बेनेट बर्जर (1963) ने बहुधा युवा संस्कृति के बारे में चर्चा की है। पश्चिमी समाजों में युवा संस्कृति को अभिन्न समझा जाता है और इसी कारण इसे उप-सामाजिक पद्धति माना जाता है जैसा कि अश्वेत संस्कृति, अमेरिकी, मैक्सिकन संस्कृति, आदि। परंतु भारत जैसे देश में युवा सामाजिक व्यवस्था के कुछ अन्य तत्त्वों से बहुत निकटता से जुड़े हुए हैं। इसलिए विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत युवा संस्कृति की धारणा को भारतीय समाजशास्त्री अनिच्छा से स्वीकार करते हैं। युवा वर्ग की चर्चा में हमने युवाओं को भारतीय समाज की "सामाजिक-जनसांख्यिकीय अथवा सांख्यिकीय श्रेणियों" के रूप में लिया है।

भारत में युवा वर्ग से संबंधित समाजशास्त्रीय अध्ययनों में कई आयामों को शामिल किया गया है, जैसे – जनसांख्यिकीय, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक। यहाँ पर निवास, शिक्षा और कार्यशील जनसंख्या के संदर्भ में भारतीय युवाओं की जनसांख्यिकीय विशेषताओं की जाँच करना उपयोगी होगी।

18.3 भारतीय युवा वर्ग की जनसांख्यिकीय विशेषताएँ

देश में युवाओं की जनसांख्यिकीय विशेषताओं की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए भारत की जनगणना और उसमें दर्ज 15-24 वर्ष आयु-वर्ग के व्यक्तियों पर ध्यान केंद्रित किया जा सकता है। लिंग अनुपात, ग्रामीण-शहरी वितरण, वैवाहिक प्रस्थिति और शैक्षिक उपलब्धि के संदर्भ में युवा जनसंख्या का विश्लेषण करना उपयोगी होगा।

यह देखना महत्वपूर्ण है कि इस शताब्दी के प्रारंभ में देश में युवाओं की जनसंख्या 4 करोड़ थी। 1901 से कुल जनसंख्या में युवाओं का अनुपात अपरिवर्तित रहा है। वर्ष 1971 तक यह लगभग 17 प्रतिशत था।

1981 में युवाओं की जनसंख्या 12 करोड़ 20 लाख थी अर्थात् देश की कुल जनसंख्या के 18.5 प्रतिशत से कुछ कम थी। 1951-1981 के दौरान युवाओं की जनसंख्या लगभग दुगुनी 6 करोड़ 20 लाख से 12 करोड़ 20 लाख हो गई। 1991 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या में 18.3 प्रतिशत जनसंख्या युवाओं की है।

18.3.1 युवा जनसंख्या का लिंग अनुपात

1981 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का 52 प्रतिशत पुरुष युवा थे। लिंग अनुपात के संदर्भ में प्रति 1000 पुरुषों पर 929 महिलाएँ होती हैं। यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि भारत में पिछले 20 वर्षों के दौरान प्रति 1000 युवतियों पर युवकों का अनुपात बढ़ता जा रहा है जो कि युवतियों की जनसंख्या में 7 प्रतिशत की गिरावट दर्शाता है।

18.3.2 ग्रामीण-शहरी वितरण

1991 में कुल ग्रामीण और शहरी जनसंख्या में युवा क्रमशः 17.7 और 20.1% थे।

18.3.3 वैवाहिक प्रस्थिति

अधिकतर युवा 20 वर्ष की आयु तक अविवाहित रहते हैं। परंतु भारत में स्थिति भिन्न है, युवा जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग विवाहित है। 1981 में शहरी क्षेत्रों में 15-29 वर्ष की आयु-वर्ग की लगभग आधी युवतियाँ अविवाहित थीं। जबकि केवल 28 प्रतिशत युवतियाँ

ही विवाहित थीं। पिछले जनगणना वर्षों की तुलना में विवाह की वर्तमान औसत आयु बढ़ गई है। फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में काफी युवतियों की शादी कम आयु में ही हो जाती है। 1961-1981 के दौरान अविवाहित रहने वाले युवाओं का अनुपात ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों में बढ़ा है।

18.3.4 युवा वर्ग की शिक्षा संबंधी उपलब्धियाँ

भारत में समग्र युवा वर्ग की साक्षरता दर 2002 में 72.6% थी। दूसरे शब्दों में, लिंग और निवास के संदर्भ में निरक्षरों की संख्या अधिक है।

पिछले 20 वर्षों के दौरान साक्षरता दर 24 प्रतिशत से बढ़कर 36 प्रतिशत हुई है। 1961 में दसवीं कक्षा तक शिक्षित युवा 3.6 मिलियन (36 लाख) थे और 1981 में 20.2 मिलियन (2 करोड़ 2 लाख)। दूसरे शब्दों में, यह स्पष्ट रूप में छः गुनी वृद्धि है। युवतियों में यह वृद्धि सुस्पष्ट है। इस वृद्धि के बावजूद देश में आधे युवक और तीन-चौथाई युवतियाँ आज भी लिख-पढ़ नहीं सकते हैं।

18.3.5 युवा वर्ग की कार्यकारी जनसंख्या

आमतौर पर कार्यकारी जनसंख्या का अनुपात रोज़गार-बेरोज़गार दर में व्यक्त किया जाता है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एन.एस.एस.ओ.) ने अपने आवधिक सर्वेक्षण में इस संबंध में आँकड़े दिए हैं।

i) बेरोज़गारी दर

देश में बेरोज़गारी के आँकड़ों का विश्लेषण स्पष्टतया यह दर्शाता है कि कुल बेरोज़गार व्यक्तियों में युवाओं की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या है। विसारिया के अनुसार 1977-78 में रोज़गारप्राप्त जनसंख्या में युवाओं का भाग ग्रामीण युवतियों में 48.5 प्रतिशत से लेकर शहरी युवकों में 79.8 प्रतिशत तक था।

जब शिक्षित युवाओं में बरोज़गारी दर का विश्लेषण किया जाता है तो यह देखने में आता है कि सभी शिक्षित युवाओं में माध्यमिक कक्षा तक शिक्षित बेरोज़गार युवाओं का अनुपात शहरी और ग्रामीण दोनों में अन्य की अपेक्षा अधिक है (देखें तालिका)।

तालिका : शैक्षिक उपलब्धि के अनुसार बेरोज़गारी दर

1977-78

	ग्रामीण		शहरी	
	पुरुष	**महिला**	**पुरुष**	**महिला**
सभी	3.6	4.1	7.1	4.4
निरक्षर	2.5	3.6	3.6	4.4
माध्यमिक (secondary)	10.6	28.6	10.0	33.6
स्नातक (graduate)	16.2	32.3	8.8	31.0

स्रोत : एन.एस.एस.ओ., भारत (1981)

ऊपर दी गई तालिका से स्पष्ट है कि ग्रामीण युवाओं की अपेक्षा शहरी युवाओं में रोज़गार की दर कम है। शिक्षित युवा जनसंख्या में तो यह संकट की स्थिति में पहुँच गई है।

देश में युवा बेरोज़गारी संबंधी आँकड़ों का विश्लेषण कुछ उपयोगी प्रवृत्तियों को दर्शाता है,

क) कर्नाटक, उड़ीसा, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश और केरल राज्यों में ग्रामीण युवतियों में बेरोज़गारी दर राष्ट्रीय औसत की तुलना में अधिक है जो विचाराधीन वर्ष (1977-78) में 5.6 प्रतिशत थी।

ख) उड़ीसा, बिहार, हरियाणा, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु और केरल में ग्रामीण युवकों में यह दर 6 प्रतिशत के राष्ट्रीय औसत की तुलना से अधिक थी।

ग) उड़ीसा, बिहार, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल और केरल में शहरी क्षेत्रों के युवकों में बेरोज़गारी की दर राष्ट्रीय औसत की तुलना में ऊँची थी।

घ) शहरी युवतियों में बेरोज़गारी सर्वाधिक थी। असम, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, केरल और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में यह दर राष्ट्रीय औसत से अधिक थी।

च) बहुत से राज्यों में ग्रामीण बेरोज़गारी दर शहरी बेरोज़गारी दर की तुलना में प्रभावपूर्ण रूप से कम थी।

18.3.6 युवा जनसंख्या में वृद्धि के निहितार्थ

युवा जनसंख्या में वृद्धि दर के शैक्षिक और रोज़गार अवसर दोनों पर गंभीर परिणाम हुए हैं। विभिन्न क्षेत्रों में युवाओं की इन विशेषताओं के बीच पायी जाने वाली भिन्नता के बावजूद कुछ सामान्य समस्याओं को आसानी से पहचाना जा सकता है।

भारत में अधिकांश ग्रामीण युवा विद्यालयों से बाहर ही हैं। कुछ स्कूल बीच में ही छोड़ देते हैं। फिर भी विभिन्न सामाजिक स्तरों में शिक्षा का प्रसार हो रहा है। वे युवा जो स्कूल से बाहर हैं उनके चरित्र में कुछ भिन्नता दिखाई देती है। उन बच्चों की किसी न किसी रूप में व्यस्क होने से पहले ही उत्पादन चक्र में काम करने के लिए बाध्य किया जाता है।

ग्रामीण युवाओं की संख्यात्मक प्रधानता के बावजूद इस क्षेत्र को बहुत कम अवसर मिले हैं। यह स्पष्ट है कि ग्रामीण युवाओं को अन्य युवाओं की तुलना में सहभागिता, आत्माभिव्यक्ति और मनोरंजन के लिए शिक्षा ग्रहण करने के कम अवसर उपलब्ध हुए हैं।

बोध प्रश्न 1

1) युवा की परिभाषा किस प्रकार की गई है? उत्तर लगभग चार पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) भारत में युवाओं के अध्ययन के कुछ महत्त्वपूर्ण आयाम बताइए। उत्तर लगभग तीन पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

3) भारतीय युवाओं की कुछ जनसांख्यिकीय विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए। उत्तर लगभग आठ पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) भारत में युवा जनसंख्या पर जनसांख्यिकीय आँकड़ों की महत्ता का संक्षेप में वर्णन कीजिए। उत्तर लगभग तीन पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

18.4 युवा वर्ग की बदलती हुई मूल्य पद्धति और अलगाव

पिछले दो दशकों में हमारी परंपरागत मूल्य पद्धति में बृहत् परिवर्तन हुए हैं। आइए, हम इन परिवर्तनों की विवेचना करें। यह पता लगाएँ कि क्या इन परिवर्तनों का हमारे समाज पर कोई प्रभाव हुआ है? इस संदर्भ में हमने युवाओं के अलगाव पर विशेष ध्यान दिया है।

18.4.1 बदलती हुई मूल्य पद्धति

परंपरागत हिंदू पद्धति में जीवन को सामाजिक दायित्वों सहित चार स्पष्टतः निर्देशित अवस्थाओं में देखा जाता है। इसमें युवा अवस्था को कोई सत्ता प्राप्त नहीं थी। परंतु दूसरी अवस्था अर्थात् गृहस्थ में कुछ कार्य दिए हुए होते थे।

इस पद्धति में वयोवृद्धों को सम्मान दिया जाता था, और "युवावस्था" अलाभकर होती थी। यह भी नोट किया जाना चाहिए कि हिंदू समाज (स्तरीकृत) में शिक्षा कुछ निश्चित जातियों (स्तर) तक ही सीमित थी। इसलिए सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक गतिशीलता भी लगभग संकुचित थी। आज इस मूल्य को विपरीत देखा गया, विशेषकर स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद यह पद्धति धर्म और क्षेत्र को ध्यान में रखे बिना परिवर्तित हो गई है।

मूल्य पद्धति में परिवर्तन लाने वाला महत्त्वपूर्ण कारक जन शिक्षा पद्धति का विकास था। नई विचारधाराओं और मूल्यों का संचार शिक्षा के माध्यम से किया गया। यह युवा विद्यार्थियों को परिवर्तन के लिए सुग्राही बनाती है। कई समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इस विचारधारा का समर्थन किया गया है कि युवा विद्यार्थी परिवार, जाति पदक्रमित प्रस्थिति की धारणाओं (अस्पृश्यता सहित) तर्कसंगति, धर्मनिरपेक्षता, समानता, सामाजिक न्याय, महिलाओं की स्थिति एवं इसी तरह के अन्य क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन के लिए बहुत उत्सुक हैं (डामले 1977, पृष्ठ 203)। इस पर बल दिया जाना चाहिए क्योंकि ग्रामीण और शहरी युवाओं में अंतर के बावजूद उनकी परंपरागत मूल्य पद्धति लगभग समान है।

18.4.2 अलगाव

अलगाव शब्द अन्य लोगों से विमुखता और स्थापित प्रतिमानों के बारे में भ्रम की भावना को दर्शाता है। बहुत से लेखक अलगाव की संकल्पनाओं में शक्ति का अभाव, निरर्थकता, अकेलेपन की भावना और विमुखता जैसी धारणाओं को शामिल करते हैं।

अलगाव के कई कारण हैं। विद्यमान परिप्रेक्ष्य में कुछ कारक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

i) पीढ़ी दर पीढ़ी अंतर

उनमें एक है, युवा और वृद्ध पीढ़ी में मतभेद। युवा विशेषकर शहरी क्षेत्रों में अपने माता-पिता पर अधिक आश्रित रहते हैं। एक तरफ तो उनकी आकांक्षाओं और अपेक्षाओं में वृद्धि हुई है। दूसरी ओर वे परंपराओं की शक्तियों का विरोध करते हैं। आधुनिक भारतीय युवा बहुतमत से परंपरागत मूल्यों और प्रतिमानों से बंधे नहीं रहना चाहते थे। वे धर्मनिरपेक्ष जीवन शैली एवं तर्कसंगत दृष्टिकोण अपनाना चाहते हैं। इससे विरोधाभास पैदा होता है और बाद में यही अलगाव को जन्म देता है।

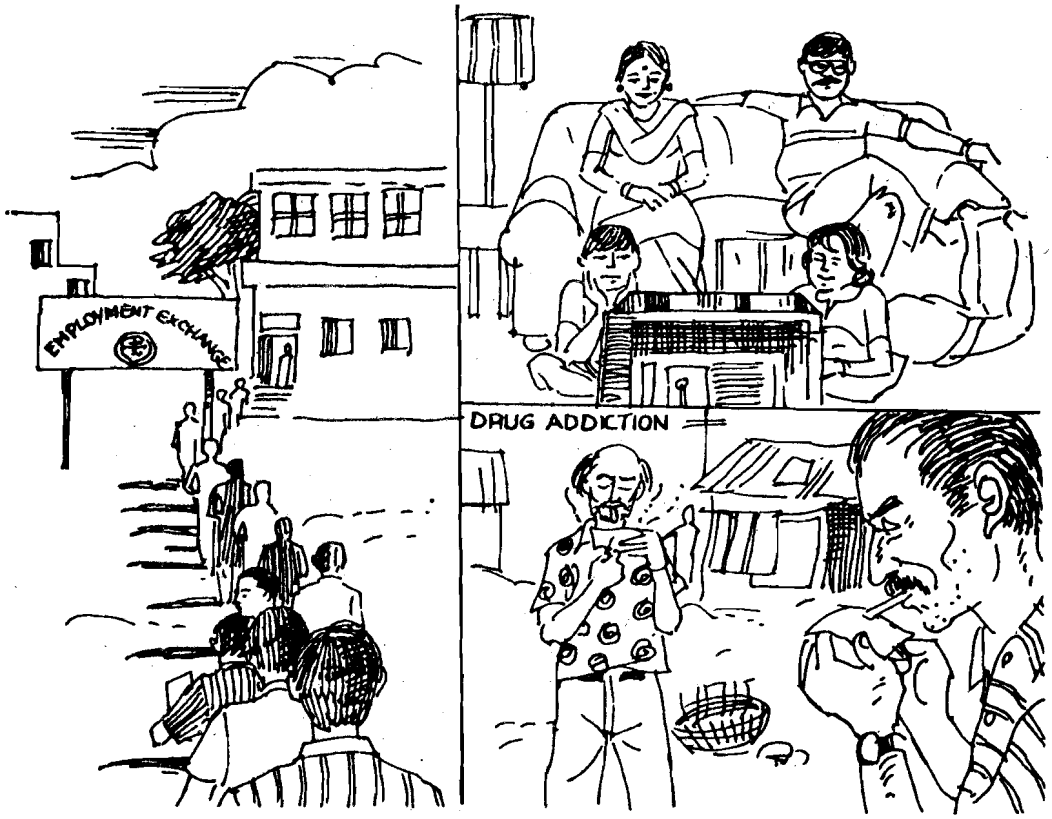

युवा और अन्यत्रभाव

ii) बेरोज़गारी

अलगाव को उत्पन्न करने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण कारक घोर रूप से व्याप्त बेरोज़गारी की स्थिति है। एक आयु स्तर पूरा करने के तुरंत बाद युवा आर्थिक सुरक्षा चाहते हैं। परंतु जब वे कोई काम पाने में असफल होते हैं, तो वे अकेलापन महसूस करते हैं। यह एक निर्णायक स्थिति होती है। यहाँ पर वे किसी भी बुराई के शिकार हो जाते हैं, जैसे–मानसिक रुग्णता, आपराधिक कार्यकलाप, नशीली दवाओं का सेवन। यहाँ ग्रामीण और शहरी दोनों युवा वर्ग करीब-करीब समान स्थिति में होते हैं। सच्चिदानंद (1988) के अनुसार, "वे (ग्रामीण) बालक जो अपना अध्ययन जारी रखने के लिए शहरों में नहीं जा सकते हैं और गाँव में रह जाते हैं, वे अपना समय गपशप में ही बिताते हैं और कभी-कभी असामाजिक कृत्यों में लग जाते हैं। यह भी पाया गया है कि ऐसे बहुत से शिक्षित युवक राहजनों व डकैतियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। ऐसी स्थिति भारत के बहुत से भागों में आम है।"

उत्तर-पूर्वी और मध्यवर्ती भारत के भागों में कुछ अध्ययन किए गए थे। इनसे विश्वविद्यालय और कालेज परिसरों में "नशीली दवाओं के व्यसन" की व्यापक घटनाओं का पता चला

है। यह पूरी तरह से तय नहीं किया जा सकता है कि अलगावित युवा नशीली दवाओं के शिकार हुए हैं अथवा नशीली दवाओं के व्यसन के कारण ही वे अलगावित हुए हैं। ये दोनों कारक एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। और साथ-साथ कार्य करते हैं।

iii) **पहचान का संकट**

पहचान जागरूकता की ऐसी भावना को दिखाती है जिसमें व्यक्ति जाने अथवा अनजाने में विद्यमान सामाजिक ढाँचे में अस्तित्व, मान्यता और प्रतिफल के लिए प्रयत्न करता है। अपने अस्तित्व के लिए संसाधन प्राप्त करने तथा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में स्थान पाने के लिए आजकल युवा वर्ग अपनी पहचान को परिभाषित करने की कोशिश करता है।

यह महसूस किया जा रहा है कि शिक्षा और व्यवसाय के मामले में युवाओं को संतोषजनक स्थिति में नहीं रखा गया है। अपने व्यक्तित्व की पहचान की खोज करने के बदले युवा पहचान संकट के विक्षोभ से गुज़र रहे हैं। इसके फलस्वरूप वे अपर्याप्तता के निराकरण के रूप में पुनर्जागरण की ताकतों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। इस उभरते हुए पहचान संकट से निपटने के लिए समुचित आदर्श के अभाव में युवा वर्ग विशेषकर शिक्षित बेरोज़गार युवा गलत कार्यों में लग जाते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) परंपरागत हिंदू पद्धति में जीवन को सामाजिक दायित्वों सहित चार स्पष्टतः निर्देशित अवस्थाओं में देखा जा सकता है। इस पद्धति में युवाओं को प्राप्त है :

   क) बिना किसी सामाजिक दायित्व के पर्याप्त प्राधिकार। ( )

   ख) सामाजिक दायित्व सहित पर्याप्त प्राधिकार। ( )

   ग) कोई अधिकार नहीं अपितु जीवन की दूसरी अवस्था अर्थात् गृहस्थ में कुछ कार्य सौंपे हुए होते थे। ( )

   घ) सभी गलत हैं। ( )

2) ग्रामीण और शहरी युवाओं के बीच अंतर होता है; और उनकी परंपरागत मूल्य पद्धति

   क) भी भिन्न होती है। ( )

   ख) लगभग एक-समान होती है। ( )

   ग) इन दो विपरीत मापों में निर्धारित नहीं की जा सकती। ( )

3) निम्नलिखित में से कौन-सा युवा वर्ग के अलगाव का कारण नहीं है?

   क) युवा और वृद्ध पीढ़ी के बीच मतभेद ( )

   ख) व्यापक बेरोज़गारी ( )

   ग) नशीली दवाओं की लत ( )

   घ) रोज़गार का विस्तृत कार्य क्षेत्र ( )

18.5 छात्र असंतोष

युवा छात्रों में असंतोष की घटना छात्रों और प्राधिकारियों दोनों स्तरों की भावनाओं का महत्त्वपूर्ण सूचक है। हाल के दशकों में शैक्षणिक संस्थाओं में असंतोष की काफी घटनाएँ

हुई हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि युवा असंतोष और शैक्षणिक संस्थाओं का आपस में गहरा संबंध है।

देश में शैक्षणिक संस्थाओं के परिसरों में असंतोष पर किए गए एक समाजशास्त्रीय अध्ययन के अनुसार यह देखा गया था कि 1968 से 1971 की अवधि के दौरान देश के लगभग सभी राज्य छात्रों की हिंसात्मक कार्रवाइयों से प्रभावित हुए थे (विनायक, 1972)। छात्र असंतोष के 744 मामलों में से 80 प्रतिशत मामले हिंसात्मक थे और लगभग, 20 प्रतिशत शांतिपूर्ण थे। हिंसात्मक और शांतिपूर्ण आंदोलनों का अखिल भारतीय अनुपात 4 : 5 से लेकर 1 : 0 था और बिहार तथा मद्रास में 2 : 3 से लेकर 1 : 0 के बीच था। मध्य प्रदेश में 31 : 0 से 0 : 0 था। दक्षिणी राज्यों के विश्वविद्यालयों में अपेक्षाकृत अधिक शांति थी अथवा कम हिंसा हुई। छात्रों की हिंसात्मक कार्रवाइयों की सबसे अधिक संख्या दिल्ली में थी, इसके बाद उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में। सबसे कम असंतोष वाले राज्य गुजरात, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, हरियाणा, तमिलनाडु और राजस्थान थे।

18.5.1 छात्र असंतोष के कारण

असंतोष और हिंसा के कारणों की मोटे तौर पर दो श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं, 'परिसर के अंदर' और 'परिसर के बाहर'। परिसर के अंदर के मुद्दों में शैक्षणिक और गैर-शैक्षणिक दोनों प्रकार के मुद्दे होते हैं। परिसर के अंदर के मुद्दे परीक्षा, शुल्क, आवास सुविधाओं से संबंधित होते हैं। परिसर से बाहर के मुद्दे सहानुभूतिक हड़ताल (बंद) और छात्रों तथा गैर, छात्रों के बीच विवाद से जुड़े होते हैं।

विनायक ने अपने अध्ययन में पाया है कि 1968-71 की अवधि के दौरान असंतोष के 65 प्रतिशत से अधिक मामले परिसर से बाहर के मुद्दों पर थे। लगभग 24 प्रतिशत मामले शैक्षणिक मुद्दों के कारण थे और लगभग 11 प्रतिशत मामले अन्य कारणों से थे। राज्यवार विश्लेषण से पता चला है कि आंध्र प्रदेश में 66 मामले, असम में 25, बिहार में 44, दिल्ली में 128, गुजरात में 7, हरियाणा में 6, हिमाचल प्रदेश में 7, जम्मू और कश्मीर में 15, तमिलनाडु में 51, महाराष्ट्र में 14, उड़ीसा में 22, पंजाब में 50, राजस्थान में 18, उत्तर प्रदेश में 109 और पश्चिम बंगाल में 101 मामले घटित हुए। इस अध्ययन ने दर्शाया की 1968-71 के दौरान लगभग सभी राज्य छात्र हिंसा से प्रभावित थे। इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता है कि पिछले दशक के दौरान परिसरों में आंदोलनों के कई मामले दर्ज किए गए।

असंतोष के कारणों को समाप्त करने के लिए, कुछ विशिष्ट अध्ययन किए गए थे।

i) एक स्रोत के अनुसार असंतोष का अंतर्निहित कारण युवाओं में निराशा की सामान्य भावना है। शिक्षित छात्रों में यह विश्वास घर करता जा रहा है कि वर्तमान व्यवस्था की सरकारी नीतियों में गुण और योग्यता की उपेक्षा की जाती है।

ii) छात्र असंतोष का अन्य महत्तवपूर्ण कारण छात्र यूनियन संगठन के साथ राजनैतिक दलों का हस्तक्षेप रहा है। कई अध्ययनों ने इन विचारों का समर्थन किया है कि छात्र शाखा जैसे युवा कांग्रेस, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, एस.एफ.आई. आदि के माध्यम से छात्रों को विभिन्न राजनीतिक दलों का सहयोग मिलता है। ये कई तरीकों में हिंसा भड़काने के लिए उत्तरदायी रहे हैं। राष्ट्रीय राजनीतिक दल और उनके स्थानीय निकायों में आने वाले चुनावों के लिए अपनी शक्ति परीक्षण के क्षेत्र के रूप मे छात्रों का उपयोग करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

iii) असंतोष को प्रोत्साहित करने वाला तीसरा कारण बेरोज़गारी है। यह सुपरिचित तथ्य है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली उपयुक्त रोज़गार की गारंटी नहीं देती है। इसके बहुत से कारण है : उचित मार्गदर्शन, प्रशिक्षण, आजीविकोन्मुखी कार्यक्रम की कमी और रोज़गार की अनुपलब्धता।

हाल ही में प्रवीण विसारिया (1985) द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार यह सुस्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रों में प्रयासों के बावजूद जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ बेरोज़गारी की मात्रा भी लगातार बढ़ती जा रही है। विसारिया ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शहरी क्षेत्रों में बरोज़गार महिलाओं से बेरोज़गार पुरुषों की संख्या अधिक है। इस अध्ययन ने ग्रामीण पुरुषों की बेरोज़गारी दर में सीमांत वृद्धि का संकेत दिया है परंतु ग्रामीण महिलाओं की बेरोज़गारी दर में तेजी से कमी का उल्लेख किया है। युवा जनसंख्या (15-24 आयु-वर्ग) के लिए यह प्रवृत्ति समान है। शहरी युवकों और युवतियों दोनों में बेरोज़गारी की दर में वृद्धि हुई है और ऐसा ही ग्रामीण युवकों में भी देखा गया है।

18.5.2 छात्र असंतोष के निहितार्थ

भारत में कुल बेरोज़गार जनसंख्या में युवा अपेक्षाकृत काफी अधिक है। बेरोज़गारी के कई कारण हैं और वे जनसंख्या वृद्धि, आर्थिक विकास और शिक्षा प्रसार से बहुत समय से जुड़े हुए हैं। युवाओं में बेरोज़गारी वृद्धि के परिणाम स्वयं युवाओं के लिए और उनके परिवारों के लिए होते हैं। यह संकेत दिया गया है कि शिक्षित युवाओं की संख्या में वृद्धि और शिक्षा की गुणवत्ता की तटस्थता ने इसको और भी बिगाड़ दिया है, खास तौर पर छात्र असंतोष के लिए यह जिम्मेदार है।

सोचिए और करिए 1

भाग 18.5 को फिर से पढ़िए। हाल ही के वर्षों में विश्वविद्यालय परिसरों में असंतोष और हिंसा के पीछे कौन-कौन से मुद्दे रहे हैं, इनकी सूची बनाइए। अपने क्षेत्र में छात्र असंतोष के अपने स्वयं के अनुभव लिखिए। यदि संभव हो तो अपने अनुभवों की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के साथ कीजिए।

18.6 युवा समस्या के कुछ संभावित दृष्टिकोण

सच्चिदानंद (1988) के अनुसार युवाओं के प्रश्न पर चर्चा के लिए दो संभव और सम्पूरक दृष्टिकोणों पर विचार किया जा सकता है। यह या तो व्यक्ति विशिष्ट अथवा सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य जिसमें वह रहता है, पर आधारित हो सकता है।

विभिन्न प्रदेशों में युवाओं की विशेषताओं में विद्यमान अंतर के बावजूद और समान समस्याओं की पहचान की जा सकती है। पहला, जनसंख्या में ग्रामीण युवाओं का प्रतिशत काफी ऊँचा है। इस क्षेत्र को अपनी भूमिका अदा करने के अवसर दिए जाने चाहिए। इस संबंध में शिक्षा का अभाव एक बड़ी बाधा है जबकि शिक्षा स्वयं से ही सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने में सक्षम नहीं है। फिर भी, यदि परिवर्तन लाना है तो यह अपेक्षा की जाती है कि शैक्षिक अवसरों की पूर्ति की जाए। इसलिए भावी कार्यक्रम शिक्षा नीतियाँ विद्यमान क्षेत्रीय और स्थानीय परंपराओं की तुलना में लचीली और अधिक सुग्राह्य होनी चाहिए। इसके अलावा, विकास की गलत प्रक्रिया द्वारा युवा सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं। इसलिए भावी शैक्षणिक नियोजन में अध्ययन से कार्य को जोड़ने की स्थिति तथा रोज़गार की संभावना पर विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए।

कोष्ठक 1

युवा सेवाएँ

राज्य व केंद्र सरकारों द्वारा विभिन्न युवा कार्यक्रम शुरू किए गए हैं। इन कार्यक्रमों में युवाओं को इस योग्य बनाया जाता है कि वे : क) अपनी कुशलता और व्यक्तित्व को बेहतर बनाएँ और विकास की प्रक्रिया में प्रभावी रूप से भाग ले सकें, और ख) उन्हें ऐसे अवसर उपलब्ध कराए जाएँ ताकि वे राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया में सहभागी बन सकें। हमने इनमें से कुछ कार्यक्रमों की जानकारी नीचे दी है।

i) **राष्ट्रीय सेवा योजना (एन.एस.एस.)**

इस योजना के उद्देश्य हेतु महाविद्यालयों के विद्यार्थियों को स्वैच्छिकता और चयन के आधार पर समाज सेवा एवं राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रम में शामिल किया जाता है।

ii) **नेहरू युवक केंद्र (एन.वाई.के.)**

इस योजना के अंतर्गत गैर-विद्यार्थीगण एवं ग्रामीण युवाओं को यह ध्यान में रखते हुए सेवाएँ दी जाती हैं कि वे अपने व्यक्तित्व और रोज़गार क्षमता को बेहतर बना सकें। ये केंद्र आयोजित करते हैं– युवा नेतृत्व व प्रशिक्षण कार्यक्रम, राष्ट्रीय एकीकरण कैम्प, बायोगैस संयंत्र प्रचालन, मधुमक्खी पालन, परासैन्य प्रशिक्षण आदि। बहुत से स्थानों पर केंद्रों के माध्यम से स्वरोज़गार के लिए ग्रामीण युवा प्रशिक्षण की योजनाएँ कार्यान्वित की जाती हैं।

iii) **स्काउट और गाइड**

यह अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन का एक भाग है जिसका उद्देश्य लड़के और लड़कियों का चरित्र निर्माण करना है।

बहुत-सी अन्य योजनाएँ– जैसे अंतर्राष्ट्रीय युवा प्रतिनिधि मंडल आदान-प्रदान, राष्ट्रीय एकीकरण संवर्धन, राष्ट्रीय स्वयंसेवी सेवा योजना, भारत में युवाओं से संबंधित युवा प्रदर्शन, युवाओं के लिए होस्टल, राष्ट्रीय युवा पुरस्कार योजना (इंडिया, 1990)।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मुद्दा देश की सामान्य जनसंख्या संरचना में युवाओं की स्थिति से संबंधित है। भारत में पिछले पाँच दशकों में जीवन संभाव्यता में काफी वृद्धि हुई है। अगले बीस वर्ष में इसके और अधिक बढ़ने की आशा है। इसलिए युवाओं और पीढ़ी के बीच स्पष्ट विभाजन आवश्यक होगा। समाजशास्त्रीय शब्दों में इसका अभिप्राय है – दो व्यापक परंतु स्पष्ट समूह : वृद्ध और युवा। चूँकि भूमिका और उत्तरदायित्व व्यक्तियों से जुड़े होते हैं, इसमें एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में सत्ता का हस्तांतरण होता है अर्थात् बुजुर्गों से युवाओं में। इसलिए दो पीढ़ियों के बीच विचारों और कार्यों में संघर्ष और विरोध की संभावना रहती है। इस प्रकार का विरोध भावी वर्षों में सामने आ सकता है। फिर भी, संघर्ष की समस्या को हल करने के तरीके हैं। एक तो परिवार की विचारधारा में यथासंभव परिवर्तन संघर्ष का समाधान कर सकता है। लोकतांत्रिक स्वरूप के पारिवारिक वातावरण से यह संघर्ष टल सकता है। इसी प्रकार, अन्य सामाजिक संस्थाओं जैसे – नातेदारी और जाति प्रथा में भी आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 3

1) छात्र असंतोष के मुख्य कारण क्या हैं? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) गलत कथन के सामने टिक (✓) निशान लगाइए।

हाल ही में हुए एक अध्ययन के अनुसार—

क) शहरी क्षेत्रों में बेरोज़गार पुरुषों की संख्या बेरोज़गार महिलाओं से अधिक है।

( )

ख) ग्रामीण पुरुषों के बेरोज़गारी दर में बहुत कम वृद्धि हुई है जबकि ग्रामीण महिलाओं की बेरोज़गारी दर में तेजी से कमी हुई है। ( )

ग) शहरी युवाओं के बेरोज़गारी दर में वृद्धि हुई है। ( )

घ) कोई भी कथन सही नहीं है। ( )

3) भारत में युवाओं विशेषतया ग्रामीण युवाओं की समस्या के संभावित दृष्टिकोणों की संक्षेप में चर्चा कीजिए। लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

18.7 सारांश

इस इकाई में भारत में युवाओं से संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है। हमने युवा शब्द की परिभाषा करने में कठिनाइयों का उल्लेख किया है। यद्यपि इस शब्द की परिभाषा 'आयु वर्ग' श्रेणी के रूप में की गई है परंतु सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों पर भी बल दिया गया है। इन्हें युवाओं के अध्ययन में पहचान करने वाले मानदंड के रूप में माना गया है। हमने युवाओं के कुछ जनसांख्यिकीय पहलुओं की चर्चा विस्तार से की है, जैसे–आयु-लिंग, शहरी-ग्रामीण वितरण, वैवाहिक प्रस्थिति, शैक्षणिक उपलब्धियाँ और बेरोज़गारी दर।

परंपरागत मूल्य पद्धति से युवाओं का विरोध, अलगाव और पहचान संकट पर संक्षेप में चर्चा की गई है। युवाओं की परिस्थिति और समस्याओं की चर्चा कुछ विस्तार से की गई

है। अंत में युवाओं के लिए भावी कार्यक्रम पर समाजशास्त्रियों के प्रेक्षणों का उल्लेख भी किया गया है।

18.8 शब्दावली

अलगाव (alienation) : अन्य लोगों से विमुखता की भावना और विद्यमान प्रतिमानों के बारे में अस्पष्टता।

जनसांख्यिकी (demography) : मानव जनसंख्या से संबंधित घटनाओं का अध्ययन। जैसे– जन्म, विवाह और मृत्यु, आप्रवसन और उन्हें प्रभावित करने वाले कारक। इसमें सांख्यिकी भी अंतर्निहित है।

पहचान (identity) : जिसका वर्णन किया गया अथवा निश्चय के साथ कहा गया है, उसी के समान स्थिति की मौजूदगी।

लिंग अनुपात (sex ratio) : प्रति 1000 पुरुषों पर महिलाओं की संख्या जैसा कि भारत की जनगणना में परिभाषित किया गया है।

मूल्य पद्धति (value system) : साझे सांस्कृतिक मानदंड जिनके अनुसार औचित्य-नैतिक, सौंदर्यबोध-वस्तुओं की, अभिवृद्धि की, आकांक्षा और आवश्यकताओं की तुलना और निर्धारण किया जा सकता है।

हिंसा (violence) : संघर्ष का चरम रूप।

युवा (youth) : निर्धारित जनसंख्या में 15-24 वर्ष के आयु वर्ग के व्यक्ति। यह सामाजिक-सांस्कृतिक अथवा सांख्यिकीय श्रेणी है।

युवा संस्कृति (youth culture) : वृहत्तर सामाजिक प्रणाली की पहचान योग्य उप-सामाजिक प्रणाली।

18.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) युवक की परिभाषा सामाजिक और सांख्यिकीय दोनों श्रेणियों में की गई है। सामान्यतः 15 से 24 वर्ष की आयु के व्यक्ति युवा माने जाते हैं।

2) भारत में युवाओं के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण आयाम सामाजिक जनसांख्यिकी और सांस्कृतिक हैं।

3) सामान्य जनसंख्या में युवाओं के जनसांख्यिकीय लक्षणों को आयु-लिंग-आवास वितरण के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

   ग्रामीण-शहरी अनुपात 3 : 1 है (शहरी युवक 33 मिलियन, ग्रामीण युवक 92 मिलियन है)। युवाओं की औसत विवाह आयु 22 वर्ष है। आधे युवक और तीन-चौथाई युवतियाँ अभी भी निरक्षर है।

4) मुख्य उपयोग शिक्षा प्रसार और रोज़गार के अवसरों के सृजन से संबंधित है।

बोध प्रश्न 2

1) ग

2) ख

3) घ

बोध प्रश्न 3

1) छात्र असंतोष के कारणों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में रखा जा सकता है : परिसर के अंदर और परिसर से बाहर। परिसर के अंदर के मुद्दे परीक्षा शुल्क, आवास सुविधाओं आदि से संबंधित होते हैं। परिसर से बाहर सहानुभूति सूचक, हड़ताल (बंद) और छात्रों एवं गैर-छात्रों के बीच विवाद से जुड़े होते हैं। सामान्यतया छात्र असंतोष में निराशा की भावना, बेरोज़गारी, राजनैतिक हस्तक्षेप आदि का भी काफी हाथ होता है।

2) घ

3) ग्रामीण युवाओं को अपनी भूमिका अदा करने के अवसर दिए जाने चाहिए। समाज में परिवर्तन लाने के लिए उन्हें पर्याप्त रूप से शिक्षा सुविधाएँ देनी होंगी। शिक्षा नीतियों को क्षेत्रीय परंपरा के अनुसार लचीला बनाना होगा। भावी शैक्षणिक नियोजन में अध्ययन से कार्य को जोड़ने तथा स्थिति के अनुसार रोज़गार की संभावनाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

इकाई 19 महिलाएँ

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 महिलाओं के प्रस्थिति सूचक

19.2.1 जनसांख्यिकीय प्रस्थिति

19.2.2 स्वास्थ्य प्रस्थिति

19.2.3 साक्षरता प्रस्थिति

19.2.4 रोज़गार प्रस्थिति

19.2.5 राजनीतिक प्रस्थिति

19.3 सामाजिक प्राधार, सामाजिक प्रक्रियाएँ और महिलाएँ

19.3.1 जाति प्राधार

19.3.2 परिवार

19.3.3 परिवार के अंतर्गत समाजीकरण

19.3.4 वर्ग प्राधार और महिलाओं के कार्य

19.4 महिलाओं पर हिंसा

19.4.1 बलात्कार, यौन उत्पीड़न और दुर्व्यवहार

19.4.2 पारिवारिक मारपीट और दहेज मौतें

19.4.3 वेश्यावृत्ति

19.4.4 अश्लील साहित्य और संचार-साधनों में महिलाओं का मिथ्या निरूपण

19.5 महिलाओं संबंधी मुद्दे : चुनौतियाँ और प्रतिक्रियाएँ

19.6 सारांश

19.7 शब्दावली

19.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमने महिलाओं की अस्मिता, गरिमा और सामाजिक न्याय से संबंधित मुद्दों पर चर्चा की है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा :

- महिलाओं की प्रस्थिति के विभिन्न सूचकों की विवेचना करना;
- उन संरचनाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं को स्पष्ट करना जिनके कारण महिलाओं को गौण समझा गया है;

- समाज में होने वाले विभिन्न प्रकार की हिंसा की भूमिका की जाँच करना;
- संरचनात्मक और ऐतिहासिक संदर्भ में महिलाओं के मुद्दों का विश्लेषण करना; और
- भारत में महिलाओं के मुद्दों के प्रति समकालीन चुनौतियों व प्रतिक्रियाओं का वर्णन करना।

19.1 प्रस्तावना

भारत में महिलाओं की प्रस्थिति पर समिति द्वारा बनाई गई रिपोर्ट समानता की ओर (Towards Equality) प्रस्तुत होने के बाद ही भारत में महिलाओं की प्रस्थिति पर ध्यान आकर्षित हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्देशों के अनुपालन में भारत सरकार द्वारा गठित इस समिति ने भारत में महिलाओं की प्रस्थिति का मूल्यांकन करने के लिए विभिन्न प्रस्थिति सूचकों पर विचार किया। इस रिपोर्ट में स्तब्ध करने वाली इस सूचना का रहस्योद्घाटन किया गया कि देश में विभिन्न क्षेत्रों में तो उत्तरोत्तर परिवर्तन हो रहे हैं, परंतु महिलाओं को निरंतर अधोगामी परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। विश्व के अनेक भागों से इसी प्रकार के रहस्योद्घाटनों के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्रसंघ ने वर्ष 1975 को महिला वर्ष और 1975-85 के दशक को महिला दशक घोषित किया।

रिपोर्ट के निष्कर्षों और उसके बाद के शोध अध्ययनों में महिलाओं के लिए समानता की संवैधानिक गारंटी और वास्तविकता में विरोधाभास पाया गया है। महिला संगठनों और मानव अधिकार संगठनों द्वारा विभिन्न मुद्दों जैसे – बलात्कार, दहेज मौतें, पारिवारिक मारपीट, सती, परित्यजन, भ्रूण-हत्या आदि मामलों के लिए अभियान शुरू किए गए और लिंगभेद संबंधी न्याय पाने का प्रयास किया गया। 1970 और 1980 के दशक के मध्य में इस शताब्दी के महिला आंदोलन की दूसरी लहर दिखाई दी। भेदभाव, अधीनता और उपेक्षा के प्रति अनुभवों को स्पष्ट करने की इस नई जागरूकता के कारण ज्ञान के विद्यमान स्वरूप की जाँच करने का अवसर मिला। इस समय से महिलाओं से संबंधित शोध कार्य प्रारंभ हुए। अनेक कमियों के बावजूद 1970-80 के दशक के दौरान महिलाओं से संबंधित अधिनियमों, नीतियों और कार्यक्रमों में संशोधन किए गए तथा कानून बनाए गए।

प्रस्तुत इकाई में हम कुछ समस्याओं पर ध्यान केंद्रित करेंगे जिनका सामना भारतीय महिलाएँ करती हैं। इकाई का प्रारंभ महिलाओं की प्रस्थितियों के सूचकों की पहचान करने से किया है। इसके बाद एक संस्था के रूप में परिवार तथा महिलाओं को एक गौण भूमिका अदा करने में परिवार की समाजीकरण की भूमिका पर ध्यान केंद्रित किया गया है। अंत में दुर्व्यवहार और हिंसा के विभिन्न रूपों पर विस्तार से चर्चा की गई है जो महिलाओं के व्यक्तित्व और सम्मान को चुनौती देते हैं जैसे – यौन अत्याचार और बलात्कार, पारिवारिक मारपीट और दहेज-मौतें, व्यभिचार अथवा वेश्यावृत्ति और अश्लील साहित्य और संचार-माध्यमों में महिलाओं का मिथ्या निरूपण।

19.2 महिलाओं के प्रस्थिति के सूचक

यह विचित्र सी बात है कि भारत में जहाँ देवियों की पूजा की जाती है, वहाँ महिलाओं को स्वतंत्र व्यक्तित्व और प्रस्थिति से वंचित रखा जाता है। यह प्रवृत्ति हमारे सामाजिक ढाँचे, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति में दृढ़तापूर्वक समायी हुई है। मनु संहिता में कहा गया है –"महिलाओं को कभी स्वतंत्र नहीं होना चाहिए।" बाल्यकाल में उस पर उसके पिता का

अधिकार होता है, यौवन काल में उसके पति का और बुढ़ापे में उसके पुत्र का (मनुस्मृति, धर्मशास्त्र, IX, 3)। महिलाओं की अस्मिता, आजादी, संसाधनों तक पहुँचने का अवसर आदि, परिवार की जाति और वर्ग प्रस्थिति द्वारा निर्धारित होती है। वैवाहिक प्रस्थिति और उनकी प्रजनन शक्ति से महिलाओं की पहचान होती है। विवाह होने पर उसको उच्चतम प्रस्थिति "सौभाग्यवती" दी जाती है। विवाहित महिलाएँ मातृत्व प्राप्त करने के बाद विशेषकर पुत्र को जन्म देने पर परिवार और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करती है।

परिवार और समाज की विभिन्न सांस्कृतिक प्रक्रियाओं द्वारा महिला के आत्म (तत्त्व स्वत्व) को बचपन से ही नकारा जाता है। स्वतंत्रता, व्यक्तिवाद और पहचान सीमित और दबी हुई रहती है और इसके बहुत से प्रभाव होते हैं। यद्यपि महिलाओं की शिक्षा, रोज़गार, पंचायतों में भाग लेने आदि के संबंध में कई सकारात्मक परिवर्तन हो रहे हैं, फिर भी अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है।

आमतौर पर पुरुषों की प्रस्थिति की तुलना में महिलाओं की प्रस्थिति का मूल्यांकन किया जाता है। इस मूल्यांकन में जिन मुख्य प्रतिकूल द्योतकों का प्रयोग किया जाता है, वे हैं –जनसांख्यिकीय प्रस्थिति, स्वास्थ्य प्रस्थिति, साक्षरता प्रस्थिति, रोज़गार दर और विन्यास तथा राजनीतिक प्रस्थिति।

19.2.1 जनसांख्यिकीय प्रस्थिति

लिंग अनुपात (sex ratio), मृत्यु दर (mortality rate) और रुग्णता दर (morbidity rate) तथा जीवन संभाव्यता (life expectancy) जैसे द्योतक जनसंख्या की जनसांख्यिकीय प्रस्थिति का मूल्यांकन करते हैं। महिलाओं की जनसांख्यिकीय प्रस्थिति के लिए लिंग अनुपात और मृत्यु दर विन्यास का विस्तार से वर्णन किया जाएगा। लिंग अनुपात से अभिप्राय आबादी में 1,000 पुरुषों के लिए महिलाओं का अनुपात है। भारत में इस शताब्दी के प्रारंभ से महिलाओं का अनुपात जनसंख्या में गिर रहा है। 1981 की जनगणना के अनुसार इस अनुपात में थोड़ी-सी वृद्धि हुई है, फिर भी, 1991 की जनसंख्या के अनंतिम आँकड़ों में पुनः गिरावट दिखाई गई है, 2001 में न्यूनतम वृद्धि के साथ।

तालिका 1 : 1901-1911 लिंग अनुपात

वर्ष	अनुपात
1901	972
1911	964
1921	955
1931	950
1941	945
1951	946
1961	941
1971	930
1981	934
1991	929
2001	933

मृत्यु दर मौतों की आवृत्ति अर्थात् बारंबारता को नापती है। यह वार्षिक दर है और 1,000 जीवित जन्मों के लिए मृत्यु की संख्या के रूप में विभिन्न आयु-वर्गों के लिए परिकलित की जाती है। आयु विशेष मृत्यु दर के आँकड़े बालिका शिशुओं (0-4 वर्ष) की उच्च मृत्यु दर और मातृ (15-25 वर्ष) उच्च मृत्यु दर सूचित करती है। बालिक शिशु मृत्यु दर (33.6) है जबकि बालिका शिशु मृत्यु दर (36.8) है। यह इस बात का संकेत देता है कि बालिका शिशुओं को पर्याप्त भोजन, स्वास्थ्य देखभाल के बारे में भेदभाव का सामना करना पड़ता है (नमूना पंजीकरण प्रणाली, 1987)। मातृ मृत्यु की उच्च दरों (2.7 का 46.1 प्रतिशत) का कारण प्रसव के समय प्रसूति जोखिम तथा अपर्याप्त चिकित्सा देखभाल है। छोटी उम्र में विवाह और कम उम्र में गर्भाधान के कारण प्रसव के समय जोखिम होता है। जीवन संभाव्यता दर का अभिप्राय किसी व्यक्ति की औसत आयु से है जिसमें वह विद्यमान मृत्यु दर स्थितियों के बाद जीवित रहता है। जीवन संभाव्यता दर की गणना भी विशिष्ट आयु वर्गों के अनुसार की जाती है। महिलाओं की जीवन संभाव्यता 63.8 वर्ष है और पुरुषों की 62.8 वर्ष है। (सन् 2000 के अनुसार, यह पाया गया है कि बुढ़ापे के दौरान महिलाओं में अधिक जीने की संभाव्यता होती है,। जबकि युवा अवस्था में उनकी मृत्यु दर ऊँची होती है (देखें ई.एस.ओ.-12 के खंड 7 की इकाई 33)।

19.2.2 स्वास्थ्य प्रस्थिति

स्वास्थ्य की देखभाल जुटाने में भी महिलाओं के प्रति भेदभाव किया जाता है। अस्पताल दाखिलों और आँकड़ों के अध्ययन से पता चला है कि महिलाओं और लड़कियों की तुलना में पुरुष और लड़कों की स्वास्थ्य देखभाल अधिक होती है। यह कहा जाता है कि महिलाएँ और लड़कियाँ पुरुष और लड़कों की तुलना में बीमारी की स्थिति में काफी विलम्ब से अस्पतालों में ले जाई जाती है। इसके अलावा अधिकांश भारतीय महिलाओं में रक्ताल्पता (anaemia) होती है। वे भोजन पकाने, सफाई करने, कपड़ा धोने, पानी लाने, लकड़ी इकट्ठा करने, बच्चें और वृद्धों की देखभल करने, पशुओं की देखभाल करने और खेती के कामकाज जैसे कई कार्यों में बहुत शक्ति व्यय करती हैं जबकि खर्च की गई शक्ति की तुलना में वे कम कैलोरी लेती हैं। कैलोरी की कमी से आमतौर पर महिला के स्वास्थ्य पर खासतौर से प्रजनन स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

यह देखा गया है कि पर्यावरण ह्रास से महिलाओं को ईंधन की लकड़ी इकट्ठा करने और पानी लाने के लिए कई मील दूर जाना पड़ता है। इससे महिलाओं के कार्य का भार बढ़ गया है। इसका उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार, चूँकि पानी लाने का काम अधिकतर महिलाएँ करती हैं, इससे वे जल जनित रोग का शिकार भी हो जाती हैं। फसल के अवशिष्टों, गोबर के उपलों आदि जैसे ईंधन से भोजन बनाने और स्टोव से सांस की जीर्ण बीमारियाँ होती हैं। खेती, खादों, पादप रोपण और गृह आधारित उत्पादन जैसे बीड़ी बनाना, कागज की थैलियाँ बनाना, कसीदाकारी आदि से कई व्यावसायिक स्वास्थ्य हानियाँ होती हैं और इन्हें किसी भी स्वास्थ्य कार्यक्रम के अंतर्गत नहीं लिया गया है।

19.2.3 साक्षरता प्रस्थिति

सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शिक्षा को महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। व्यक्तित्व विकास के अलावा शिक्षा वित्तीय आत्मनिर्भरता और प्रस्थिति गतिशीलता को प्राप्त करने का काम भी करती है।

भारत में स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद से बालिकाएँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हैं और पुरुष-प्रधान क्षेत्रों में भी प्रवेश कर रही हैं। फिर भी, समग्र साक्षरता दर और सापेक्ष साक्षरता दर पुरुष साक्षरता दर की तुलना में अभी कम है। भारत में कुल साक्षरता दर 65.38 प्रतिशत

है, जबकि पुरुषों के लिए यह 75.85 प्रतिशत और महिलाओं के लिए 54.16 प्रतिशत है (जनगणना 2001)।

कई ऐसे कारक हैं जिनसे यह स्थिति बनती है। पहला, परिवार की निम्न सामाजिक और आर्थिक प्रस्थिति के कारण बच्चों को स्कूल नहीं भेजा जाता है। यदि बच्चे स्कूल में दाखिल भी किए जाते हैं तो बालिकाओं को स्कूल से हटा दिया जाता है और उन्हें छोटे बच्चों की देखभाल और घर के कामकाज की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। आर्थिक आवश्यकता, जो बच्चों को मज़दूरी करने के लिए विवश करती है, इससे भी बच्चे शिक्षा से वंचित रहते हैं। लड़की की शादी और मातृत्व को बहुत महत्त्व दिया जाता है, इसलिए परिवार लड़कियों की शिक्षा में अपने दुर्लभ संसाधनों को नहीं लगाना चाहते। लड़कों को रोज़गार के अधिक अच्छे अवसर प्राप्त करवाने के लिए उनकी शिक्षा पर अधिक खर्च किया जाता है (अधिक जानकारी के लिए देखें ई.एस.ओ.-12 के खंड 7 की इकाई 32)।

19.2.4 रोज़गार प्रस्थिति

नृशास्त्र संबंधी अध्ययनों से पता चलता है कि मानव इतिहास में भोजन, वस्त्र, दस्तकारी और कई विभिन्न औज़ार बनाने में महिलाओं की प्रमुख भूमिका रही है।

अपने परिवारों की उत्तरजीविता के लिए भारतीय महिलाओं ने कई कार्यकलापों में भाग लिया, फिर भी 'काम' और 'कामगार' शब्दों की व्याख्या महिलाओं के कार्य की विविधताओं को समझने में अपर्याप्त है। 2001 की जनगणना के अनुसार, 25.7 प्रतिशत महिलाएँ और 39.3 प्रतिशत पुरुष श्रमजीवी हैं। कुल महिला श्रमजीवियों में 32.5 प्रतिशत खेतिहर, 39.4 प्रतिशत कृषि मज़दूर हैं, 6.4 प्रतिशत घरेलू उद्योगों में कार्यरत और 21.7 प्रतिशत अन्य श्रेणी के श्रमिक हैं। समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 के बावजूद महिलाओं को अभी भी कम मज़दूरी मिलती है उन्हें कम कौशलपूर्ण कार्यों पर लगाया जाता है और दक्षता प्रशिक्षण और पदोन्ति के लिए भी उनकी पहुंच कम है। शहरी क्षेत्रों में रोज़गारशुदा महिलाएँ शिक्षक, नर्स, डॉक्टर, क्लर्क और टाइपिंग जैसे नियत धारणाओं वाले काम मे लगी हुई हैं। अब महिलाएँ, अभियांत्रिकी, वास्तुकार, वैमानिकी, निर्माण, पुलिस सेवा और प्रबंध जैसे पुरुष-प्रधान व्यवसायों में भी प्रविष्ट हो रही हैं। परंतु सांस्कृतिक बाधाएँ जिसमें महिला को अबला नारी (weaker sex) के रूप में देखा जाता है, उनके चुनाव, प्रशिक्षण और पदोन्नति में बाधक बनती हैं। महिलाओं को अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए दुगनी मेहनत करनी पड़ती है। (अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए पढ़ें ई.एस.ओ.- 12 के खंड 2 की इकाई 31 एवं ई.एस.ओ.- 16 के खंड 7 की इकाई 11)।

19.2.5 राजनीतिक प्रस्थिति

बहुत से पश्चिमी देशों के विपरीत जहाँ महिलाओं ने मताधिकार प्राप्त करने के लिए संगठित संघर्ष किया, परंतु भारत में इस राष्ट्र के नागरिक के रूप में उन्हें मताधिकार प्राप्त है। यद्यपि भारत में महिला प्रधानमंत्री– श्रीमती इंदिरा गांधी रहीं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि संसद और राज्य विधानमंडलों तथा स्थानीय निकायों में महिलाआ का उचित प्रतिनिधित्व है। संसद में उनकी केवल 8.91 प्रतिशत सीटें हैं। कुल मिलाकर महिलाएँ चुनाव में निष्क्रिय मतदाता मात्र रह गई हैं और उनके मतदान का स्वरूप पुरुष सदस्यों के निर्णय के अनुसार निर्धारित किया जाता है। लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के लिए 30 प्रतिशत सीटें आरक्षित करने के प्रश्न पर हाल ही में चर्चा हुई है। हालांकि यह विधेयक कई बार संसद में रखा गया लेकिन किसी न किसी तर्क के कारण इसे वापस ले लिया गया। तथापि 73वें संवैधानिक संशोधन से भारत में, पंचायती

राज संस्थाओं में महिलाओं की सहभागिता सुनिश्चित हो गई है। पंचायती राज संस्थाओं में 30 प्रतिशत आरक्षण का लाभ उठाते हुए 3 करोड़ से भी ज्यादा महिलाएँ राजनीतिक निर्णय लेने में सक्रिय रूप से सहभागी हैं।

बोध प्रश्न 1

1) क्या आपको महिलाओं के लिए समानता की संवैधानिक गारंटी और वास्तविकता के बीच कोई विरोधाभास दिखाई देता है? लगभग नौ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) महिलाओं की निम्न प्रस्थिति के क्या प्रभाव हैं? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाइए :

महिला कामगारों की प्रतिशतता कम है, क्योंकि–

क) महिला गृहणियाँ होती हैं। ( )

ख) महिलाओं की गणना कामगार के रूप में नहीं की जाती है। ( )

ग) महिलाएँ काम नहीं करती हैं। ( )

घ) कामगार हमेशा पुरुष ही होते हैं। ( )

19.3 सामाजिक प्राधार, सामाजिक प्रक्रियाएँ और महिलाएँ

आइए, इस इकाई में हम उन विभिन्न प्राधारों को समझने की कोशिश करें जो महिलाओं की प्रस्थिति को गौण बनाते हैं और विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से इस विभेद को बनाए रखते हैं।

19.3.1 जाति प्राधार

जाति पदक्रम के विकास में महिलाओं का अधीनीकरण बहुत महत्त्वपूर्ण था, जितनी ऊँची जाति होती थी। महिलाओं पर दबाव उतने ही अधिक थे। यह देखा गया है कि स्त्री लैंगिकता के नियंत्रण पर आधारित लिंग विभाजन का विकास सामाजिक प्राधार निर्माण का अभिन्न भाग था।

यह पूछना प्रासंगिक होगा : स्त्री लैंगिकता पर नियंत्रण की क्या आवश्यकता थी? वह क्या था जो महिलाओं की शक्ति को खतरे में डालता? यह वस्तुतः संसाधनों से किस प्रकार जुड़ा हुआ था? इन प्रश्नों को सुलझाने के लिए जाति-व्यवस्था को समझना आवश्यक है।

अन्य पाठों में आपने जो कुछ पढ़ा होगा, आइए संक्षेप में आपको उसका स्मरण कराएँ। क्षेत्रीय आधार पर हजारों उप-जातियाँ हैं, जो जाति के रूप में जानी जाती है। फिर भी, अखिल भारतीय सामाजिक पदक्रम व्यवस्था वर्ण पदक्रम व्यवस्था पर आधारित है जो कि हिंदू जनसंख्या को चार मुख्य समूहों में विभाजित करती है : सबसे ऊपर ब्राह्मण (पुरोहित वर्ग), उसके बाद क्षत्रिय (योद्धा वर्ग), तब वैश्य (सामान्य वर्ग–आमतौर पर व्यापारी और दस्तकार जातियाँ) और सबसे नीचे शूद्र (खेतिहर मज़दूर) इनमें से कुछ जाति पदक्रम व्यवस्था से अलग हैं, वे अछूत समझे गए थे। शुचिता-प्रदूषण सिद्धांत, सहभोज और सजातीय विवाह के नियम, जाति-व्यवस्था और जीवन-शैली के लिए प्रतिबद्धता जैसी बातों द्वारा जाति सीमाओं को पूर्णतः बनाए रखती है। धार्मिक प्रस्थिति के स्वरूप में आनुष्ठानिक पवित्रता है परंतु आर्थिक सम्पत्ति और सामाजिक सम्मान इसके साथ-साथ जुड़े होते हैं। अर्थात् उच्च जातियों के पास अधिक सम्पत्ति होती है और निचली जातियाँ सम्पत्तिहीन होती हैं अथवा उनके पास बहुत ही कम सम्पत्ति होती है। पिछले कुछ दशकों में आनुष्ठानिक प्रस्थिति और आर्थिक प्रस्थिति संबंधी परिवर्तन हुए हैं। 'प्रबल जाति' की अवधारणा इसे सिद्ध करती है। (इस पर ई.एस.ओ.- 14, खंड 5, इकाई 18, पृष्ठ 15 में चर्चा की गई है)।

शुचिता अर्थात् पवित्रता के तीन मुख्य लक्षण हैं : शाकाहार, मद्यत्याग और महिलाओं पर सख्त पाबंदी लगाना। इससे यह संकेत मिलता है कि आनुष्ठानिक पवित्रता काफी हद तक पारिवारिक कार्यों के माध्यम से आती है। महिलाओं पर नियंत्रण के दो प्रमुख पहलू हैं :

1) अचल संपत्ति से महिलाओं को वंचित रखना, अलग रखकर या पर्दे में रखकर उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र से हटाना और घर तक ही सीमित रखना।

2) राजीनामा विवाह, बाल-विवाह, तलाक की मनाही और महिलाओं के लिए बाधित एकल विवाह, जिसके फलस्वरूप सती होना और शिशु अथवा बाल विधवा सहित विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबंध द्वारा स्त्रियों पर पुरुषों द्वारा बहुत अधिक नियंत्रण रखा जाता है।

ऊँची जातियों द्वारा आनुष्ठानिक पवित्रता, जैविक शुद्धता जाति की श्रेष्ठता और आर्थिक शक्ति के बनाए रखने के लिए ये प्रतिबंध बहुत कठोरता से लागू किए गए थे। आर्थिक शक्ति में सुधार से उर्ध्वगामी प्रस्थिति की गतिशीलता प्राप्त करने का प्रयास करने वाली

निचली जातियों के समूह भी महिलाओं की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने वाली उच्च जाति के प्रतिमान अपनाते थे। एम.एन. श्रीनिवास ने इस संबंध को "संस्कृतीकरण" के सूचक के रूप में देखा था।

धार्मिक ग्रंथों और पितृसत्तात्मक, पितृवंश परंपरा और पितृस्थानिक परिवार प्रणाली द्वारा जाति प्रथा बनाए रखने के लिए वैचारिक और भौतिक आधार विनियमित होते हैं।

19.3.2 परिवार

आपने पिछले पाठों में अवश्य पढ़ा होगा कि परिवार एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक इकाई है जिसमें सदस्य पारस्परिक बंधनों, भूमिकाओं और बाध्यताओं के तंत्र में रहते हैं, अर्थात् यहाँ बच्चे जन्म लेते हैं, यहाँ छोटे बच्चों का पोषण होता है तथा उनका समाजीकरण होता है (अर्थात् परंपरा, संस्कृति, धार्मिक और सामाजिक मूल्यों का संचरण होता है) ताकि वे समाज में विभिन्न भूमिकाएँ निभा सकें। परिवार पीढ़ियों को आगे बढ़ाने तथा निजी संपत्ति के हस्तांतरण का काम करता है। प्रजनन में परिवार की भूमिका वंशक्रम और धार्मिक निर्देशों/प्राथमिकताओं के विन्यास से जुड़ी होती है। वंश दो प्रकार के होते हैं : पितृवंश परंपरा और मातृवंश परंपरा। पितृवंश परंपरा की वंशक्रम प्रणाली में परिवार की संपत्ति पुरुष संतान द्वारा हस्तांतरित होती है, उदाहरण के लिए पिता से पुत्र को। मातृवंशक्रम प्रणाली में संपत्ति का हस्तांतरण महिला द्वारा होता है जैसे माता से पुत्री को।

धार्मिक प्रथाओं की विभिन्न परंपराओं में शोधकार्य, 'शक्ति' (देवियों) की उपासना की मातृसत्तात्मक विरासत और विश्वास यह दिखाते हैं कि वंशक्रम का पितृवंश परंपरा का स्वरूप देवताओं का अस्तित्व और महिलाओं की आजादी पर नियंत्रण आदि आर्य परंपराएँ थीं, जिन्हें उदार देशीय परंपराओं पर थोपा गया। आजकल केरल के नायर समुदाय, उत्तर-पूर्व के खासी, पूर्वी भारत के गारो और लक्ष्यद्वीप की कुछ जनजातियों को छोड़कर अन्य सभी समुदायों में पितृवंश पंरपरा की वंशक्रम प्रणाली प्रचलित है। भारत के सभी भागों में देवी माताओं की उपासना की जाती है।

पितृवंश परंपरा से निकटतम रूप से जुड़ी हुई पतिस्थानिक प्रथा है, अर्थात् विवाह के बाद पति के गाँव/निवास/परिवार में महिला के निवास का स्थानांतरण। पुत्र अपने पिता के साथ रहते हैं। इसीलिए संपत्ति कानून पुत्रियों को अचल संपत्ति के अधिकार से वंचित करते हैं, चूंकि ऐसी संपत्ति विवाह होने पर उनके पति के परिवार को चली जाएगी इसलिए महिलाओं को चल संपत्ति (जैसे जेवरात) का कुल हिस्सा दिया जाता है जिसे दहेज के नाम से जाना जाता है। भौतिक संसाधनों से जुड़ यही कारण है कि लड़की का जन्म चिंता का विषय माना जाता है।

इसके अलावा, धार्मिक ग्रंथ विशेषकर हिंदू धर्म में पुत्रों को वरीयता दी गई है। मनु की संहिता के अनुसार व्यक्ति केवल अपनी पत्नी की पवित्रता और इसके माध्यम से अपने पुत्रों की पवित्रता की रक्षा करने से ही योग्यता प्राप्त कर सकता है। पिता की चिता को अग्नि देने के लिए तथा श्राद्ध द्वारा पैतृक वंशजों की आत्मा की शांति के लिए पुत्र का होना आवश्यक है और इससे पिता और पैतृक वंशज मोक्ष (पुनर्जन्म से मुक्ति) प्राप्त कर सकते हैं। महिलाओं की भूमिका पुरुष वंशक्रम निरंतरता के लिए पुत्र को जन्म देना है ताकि आनुष्ठानिक कार्य सुविधापूर्वक होते रहें। पुरुष और महिला भूमिकाओं का यह पदक्रम बच्चों के देखभाल, शिक्षा, आज़ादी, अधिकार और न्याय के मामले में पुत्री की उपेक्षा की जाती है। सद्भावपूर्ण, समतावादी और सहमति की ऐसी इकाई के रूप में परिवार जो सामाजिक व्यवस्था बनाए रखता है, ऐसे परिवारों के महिलाओं से संबंधित कई

प्रेक्षणों में समाजशास्त्री अंधकार में ही रहे हैं। परिवार में महिलाओं के अनुभव पुरुषों के अनुभवों से भिन्न होते हैं।

19.3.3 परिवार के अंतर्गत समाजीकरण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, समाजीकरण संस्कृति, परंपर, सामाजिक मूल्यों और प्रतिमानों के हस्तांतरण का कार्य करता है। परिवार में पैतृक समाजीकरण के अलावा विभिन्न अभिकरण, जैसे– स्कूल, समकक्षी समूह, साहित्य और फिल्म प्रारंभिक समाजीकरण और प्रौढ़ समाजीकरण में भूमिका निभाते हैं। लड़कियाँ और लड़के अलग-अलग समाजीकरण पाते हैं जो विषम भूमिकाओं और संबंधों को और स्थायी बनाते हैं। लड़के उच्च शिक्षा और क्षमता प्राप्त करते हैं ताकि वे 'पालनकर्ता' की भूमिका निभा सकें और लड़कियों को प्रारंभिक अवस्था से ही घरेलू कामकाज में लगाया जाता है, उन्हें कम शिक्षा दी जाती है, कष्ट सहना, कठोर परिश्रम करना और निम्न आत्म-सम्मान विकसित करना सिखाया जाता है। लड़कों को स्थायी प्रस्थिति मिलती है जबकि लड़कियों को परिवार के गौण सदस्यों के रूप में देखा जाता है। बहुत कम परिवारों में लड़कियों को अपना व्यक्तित्व और सम्मान विकसित करने के अवसर दिए जाते हैं।

यह देखा गया है कि स्कूली पुस्तकें माता की छवि 'गृहिणी' के रूप में चित्रित करती हैं और पिता की 'पालनकर्ता' के रूप में, लड़के बंदूक, ट्रक के खिलौने से खेलते हैं और लड़कियाँ गुड़ियों से खेलती है। यद्यपि कई स्कूल खेलकूद में लड़कों और लड़कियों दोनों को प्रोत्साहित करते हैं, परंतु खेल के भी नियत धारणाओं वाले विन्यास हैं, लड़के फुटबाल, बास्केट बॉल और क्रिकेट खेलते हैं और लड़कियाँ रस्सी कूदना खेलती हैं तथा सीमित खेलों में शामिल होती हैं। महिलाओं और लड़कियों के बारे में संचार-माध्यम के संदेश नियत धारणाओं वाली लैंगिक छवि चित्रित करते हैं ताकि उद्योग अपना मार्केट बनाए रख सके (उप-भाग 19.4.4 में आगे और विस्तार से चर्चा की गई है)।

सोचिए और करिए 1

स्कूल, और परिवार में विभेदक समाजीकरण के बारे में अपने (पुरुष अथवा महिला के रूप में) अनुभव पर एक निबंध लिखिए। अपने निबंध की तुलना अपने अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों के निबंधों से करिए।

19.3.4 वर्ग प्राधार और महिलाओं के कार्य

वर्ग की परिभाषा मूलतः संपत्ति अथवा पूंजी अथवा आर्थिक संसाधनों के स्वामित्व द्वारा की जाती है। सरल शब्दों में, पूँजीवादी प्राधार में पदक्रम का निर्धारण मज़दूरी संबंध द्वारा किया जाता है – जो व्यक्ति मज़दूरी के लिए काम करते हैं और जो व्यक्ति मज़दूरी के लिए मज़दूरों को काम पर लगाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ जाति प्राधार के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति होती है, वहाँ महिलाओं पर नियंत्रण भी ऊँची जाति से निचली जातियों में वर्ग प्राधार के अनुसार भिन्न-भिन्न कोटि में लागू किए जाते हैं। ऊँची जातियों/वर्गों की महिलाएँ घर में ही रहती हैं और घरेलू कामकाज में ही भाग लेती हैं। मध्यम वर्ग की महिलाएँ, जिनके पास मध्यम आकार और कम जोत की खेती है, अपने ही खेतों में काम करती हैं और कभी-कभी मज़दूरी के लिए भी काम करती हैं। कारीगर परिवारों/वर्गों की महिलाएँ गृह आधारित उत्पादन में योगदान करती हैं। निचली जातियों की महिलाएँ संपत्तिहीन भी होती हैं और मज़दूरी करती हैं। वे समाज की सबसे निचली श्रेणी की होती हैं, जहाँ गतिशीलता पर कोई नियंत्रण व प्रतिबंध नहीं लगाया जाता है।

शहरों में जहाँ कामकाज गैर-कृषि व्यवसाय में परिवर्तित हो जाते हैं (प्रदत्त प्रस्थिति से अर्जित प्रस्थिति की स्थिति) मध्यम वर्ग की ऊँची जातियाँ प्रबल समूह बनाती हैं। इस वर्ग की महिलाएँ इस शताब्दी के दौरान शिक्षा और रोजगार लेने के लिए पृथक्कृत जीवन से उभरी हैं। इसका महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता समाप्त हो गई है। फिर भी, इससे महिलाओं के अधीनीकरण में कोई आमूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि जाति प्राधार वर्ग प्राधार में विद्यमान लिंग पदक्रम बनाती है। वर्ग प्राधार के अंतर्गत परिवार महिलाओं की शिक्षा और रोज़गार से उच्च प्रस्थिति भी प्राप्त करता है। शिक्षित गृहिणी, माता और अर्जक के रूप में महिलाएँ परिवार की प्रस्थिति को बनाए रखने और उसको ऊँचा करने की भूमिका निभाती हैं। वैवाहिक कालमों के विज्ञापन इस प्रवृत्ति के पर्याप्त साक्षी हैं। इस संदर्भ में परिवार की चिंता महिलाओं की शिक्षा की किस्म, कोटि और प्रयोजन, रोज़गार का स्वरूप और स्तर सीमित रखने तथा यह ज़रूरत बनाए रखने में है कि महिलाएँ पारिवारिक भूमिका के साथ-साथ रोजगार भी करती रहें।

महिलाओं का अधीनीकरण जाति तथा वर्ग पदक्रम से मज़बूती से जुड़ा हुआ है जिसे समझना बहुत जरूरी है। अन्यथा महिलाओं के मुद्दे ठीक से नहीं समझे जा सकेंगे और उन्हें मात्र सांस्कृतिक दुर्घटना और महिलाओं पर अत्याचार की छुट-पुट घटना समझा जाएगा।

बोध प्रश्न

1) जाति प्राधार द्वारा महिलाओं पर क्या नियंत्रण लगाए गए हैं? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) वर्ग प्राधार द्वारा महिलाओं पर क्या प्रतिबंध लगाए गए हैं? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

19.4 महिलाओं पर हिंसा

महिलाओं पर अनेक प्रकार से हिंसा होती हैं जो कि महिलाओं के स्वतंत्र व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा स्थापित करने में सैद्धांतिक चुनौती के रूप में कम काम करती है। यहाँ हमने हिंसा के निम्नलिखित रूपों पर विचार किया है :

1) बलात्कार, यौन शोषण और दुर्व्यहवार

2) पारिवारिक उत्पीड़न और दहेज मौतें

3) वेश्यावृत्ति, और

4) अश्लील साहित्य।

19.4.1 बलात्कार, यौन उत्पीड़न और दुर्व्यवहार

पुरुषों द्वारा महिलाओं/युवतियों के साथ बलात्कार, उत्पीड़न, छेड़छाड़ और दुर्व्यवहार महिलाओं की स्वतंत्रता सीमित करने का कार्य करता है और इस धारणा को कायम रखता है कि महिलाओं को जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पुरुषों के संरक्षण की आवश्यकता है। महाविद्यालयों, सार्वजनिक परिवहनों और अन्य सार्वजनिक स्थानों में छेड़खानी आम बात है। देश के कई भागों में महाविद्यालयों में सामूहिक बलात्कार के मामले और युवतियों को कुरूप बनाने के लिए तेजाब फेंकने की घटनाएँ भी होती हैं। काम के स्थानों पर महिलाओं के उत्पीड़न और उनके साथ दुर्व्यवहार के प्रति आवाज मुश्किल से उठाई जाती है या उसकी रिपोर्ट की जाती है क्योंकि उन्हें अपने रोज़गार से वंचित होने का और निंदा का भय होता है।

यह कहना व्यर्थ होगा कि महिलाओं द्वारा भड़कीले वस्त्र पहनने से यौन उत्पीड़न और छेड़खानी को बढ़ावा मिलता है। बहुत से मामलों में साड़ी और सलवार कमीज पहनी हुई महिलाएँ भी यौन उत्पीड़न की शिकार हुई हैं। यह महिलाओं के प्रति सम्मान का अभाव है जिसमें महिलाओं के प्रति कोई भावना न रखकर उन्हें उपभोग की वस्तु माना जाता है।

बलात्कार महिला की इच्छा और सहमति के बिना और जोर-जबर्दस्ती सम्भोग क्रिया है। यह पुरुष और महिला के बीच शक्ति संबंध का प्रमाण है। बलात्कार में एक व्यक्ति के रूप में महिला के व्यक्तित्व का ह्रास होता है और उसे केवल एक वस्तु मान लिया जाता है। भारत में महिलाओं पर अत्याचार और अपराध बढ़ रहे हैं और बलात्कार की घटनाएँ भी इसी प्रकार बढ़ रही हैं। आँकड़ों से यह अनुमान लगता है कि प्रति दो घंटे में देश में कहीं न कहीं बलात्कार होता है। सबसे अधिक भयानक और निराशाजनक स्थिति तो यह है कि इसकी संख्या निरंतर बढ़ रही है और 12 वर्ष से कम आयु की बालिकाएँ भी बलात्कार की शिकार हो रही हैं। यहाँ तक कि दो या तीन वर्ष की अबोध बच्चियों को भी नहीं बख्शा जा रहा है और बलात्कारियों द्वारा लैंगिक परितुष्टि की उपयुक्त वस्तु समझा जा रहा है।

हमारे समाज में विरोधाभास यह है कि बलात्कार की शिकार हुई महिला को हेय दृष्टि से देखा जाता है। जिस महिला के साथ बलात्कार होता है उस पर दोष लगाया जाता है इसके पीछे यह धारणा होती है कि"महिला ने ही उसे आमंत्रित किया होगा", या"उसने कुछ भड़कीले वस्त्र पहने होंगे" आदि।

कुछ मामलों को छोड़कर, अधिकांश बलात्कार की घटनाएँ कामुकता प्रधान नहीं होती हैं। बलात्कार के कई रूप हैं :

क) परिवार के भीतर ही बलात्कार (जैसे– कौटुम्बिक व्यभिचार, बाल यौन दुरुपयोग और पति द्वारा बलात्कार, इसे कानूनी तौर पर बलात्कार नहीं माना गया है)

ख) जाति वर्ग की प्रधानता के रूप में बलात्कार (उदाहरण के लिए, उच्च जाति के पुरुष द्वारा निम्न जाति की महिला के साथ बलात्कार, ज़मींदारों द्वारा भूमिहीन/कृषि महिला मज़दूरों, बंधुवा महिला मजदूरों के साथ बलात्कार)

ग) बच्चों, अव्यस्क, असुरक्षित युवतियों के साथ बलात्कार, युद्ध, साम्प्रदायिक दंगों और राजनीतिक विप्लवों के दौरान सामूहिक बलात्कार

घ) हिरासत के दौरान बलात्कार (जैसे– पुलिस हिरासत, रिमांड गृहों, अस्पतालों, काम के स्थानों में आदि)

च) आकस्मिक, अप्रत्याशित बलात्कार।

पुलिस हिरासत में महाराष्ट्र, मथुरा और हैदराबाद में रमज़ाबी की बलात्कार की बड़ी घटनाओं और इन मुकदमों में न्यायालय के जिस फैसले में सहमति के अनुच्छेद पर पुलिसकर्मियों को दोषमुक्त किया गया था, उसके फलस्वरूप बलात्कार कानून में सुधार के लिए राष्ट्रव्यापी आंदोलन हुआ। दंड विधान (संशोधन) अधिनियम, 1983 द्वारा इस कानून में परिवर्तन लाया गया। किसी व्यक्ति को बलात्कार करने का दोषी तब कहा जाएगा यदि उसने किसी स्त्री के साथ उसकी सहमति के बिना संभोग किया हो, अथवा उसकी सहमति से परंतु पागलपन अथवा नशे की अवस्था में अथवा उसे या अन्य कोई भी व्यक्ति जिसमें वह रुचि रखती है, उसकी मृत्यु अथवा हानि के भय से सहमति ली हो अथवा जब वह सोलह वर्ष से कम आयु की हो। अधिनियम में हिरासत संबंधी बलात्कार की श्रेणियाँ भी निर्धारित की गई हैं। हिरासत के दौरान बलात्कार के किसी भी मामले में, यदि पीड़ित महिला यह साक्ष्य देती है कि उसने संभोग के लिए सहमति नहीं दी, तो न्यायालय यह मानेगा कि उसने सहमति नहीं दी। यह सिद्ध करना कि बलात्कार नहीं किया गया था, इसका दायित्व पुरुष का होगा। फिर भी, बलात्कार का अभियोग स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने के लिए महिला के पिछले यौन संबंधी ब्यौरे मालूम करने संबंधी पहलू को अछूता रखा गया है। अर्थात् कानून ने महिलाओं की रक्षा के लिए नैतिकता के मानदंड निर्धारित किए हैं।

19.4.2 पारिवारिक मारपीट और दहेज मौतें

परिवार में महिलाओं से मारपीट– पत्नी की पिटाई, दुर्व्यवहार, भावप्रवण अत्याचार और इस प्रकार के अन्य व्यवहार को पारिवारिक समस्याएँ माना जाता है और इन्हें महिलाओं के विरुद्ध अपराध के रूप में नहीं माना गया है। यह भी देखा गया है कि समाज के सभी वर्गों में पारिवारिक अत्याचार होते रहते हैं। एक शोध अध्ययन में समाचार-पत्र की रिपोर्टों के विश्लेषण से यह देखा गया है कि विवाह के पश्चात् शुरू के कुछ वर्षों में महिलाओं की मृत्यु की घटनाएँ बढ़ रही हैं। नव-विवाहितों पर अत्याचार के चरम रूप को 'दहेज मौत' या 'बहू को जलाने की घटना' के रूप में माना जाता है।

अधिकांश बहुएँ जलाने की घटनाएँ या दहेज मौतें या दहेज हत्या के मामले लड़की के ससुराल वालों की उन अतृप्त माँगों के कारण होती है जिन्हें लड़की के माता-पिता पूरी नहीं कर पाते हैं। बहू को अपर्याप्त दहेज लाने के लिए तंग किया जाता है और ससुराल वाले बहू को खत्म करने की साजिश करते हैं ताकि वे अपने लड़के की शादी एक बार फिर कर सकें और नई वधू के माता-पिता से अधिक दहेज ले सकें।

अधिकांश मामलों में दहेज मौत या दहेज हत्या या विवाह के बाद की आत्महत्या (ससुराल वालों द्वारा वधू को दी गई यातनाओं से तंग आकर) रोकी जा सकती हैं, यदि बहू के माता-पिता या रिश्तेदार उसके बार-बार अपने ससुराल न जाने की इच्छा को मानकर उसे अपने पास रखने के लिए तैयार हों। अरवीन (गोगी) कौर अपने माता-पिता की इकलौती संतान थी। उसने अपने माता-पिता को आत्महत्या करने से काफी पहले लिखा था –"पापा, मुझे इस तरह दूर मत फेंकिए। पापा, मैं आपकी कसम खाकर कहती हूँ कि मैं यहाँ नहीं रह सकती। मैं वापस आना चाहती हूँ। मुझे इससे अधिक कुछ नहीं चाहिए। पापा, आप मुझे अपने पास रखने में समर्थ हैं, क्या ऐसा नहीं है? पापा, कुछ कहिए, आप नहीं जानते कि आपकी बेटी यहाँ किस तरह रह रही है। कृपया मुझे वापस बुला लो। पापा, मैं मर जाऊँगी परंतु यहाँ नहीं रहूँगी"..... और वास्तव में वह मर गई।

वधू द्वारा की गई आत्महत्याओं की घटनाओं के पीछे अधिकतर तो ससुराल वालों अथवा पति द्वारा किए गए अत्याचार होते हैं। कभी-कभी कुछ अन्य कारण भी होते हैं जैसे–बेटी को अकेले अथवा बच्चों सहित रखने में माता-पिता को अतिरिक्त खर्च उठाना पड़ता है। इसके अलावा माता-पिता की इज्जत का सवाल भी उठता है, जिसमें शादी के बाद यदि लड़की अपने माता-पिता के घर में रहती है तो समाज में उनके परिवार की प्रतिष्ठा और प्रस्थिति कलंकित हो जाती है। इस कारणवश वे विवाह के पश्चात् बेटी को अपने साथ नहीं रखना चाहते हैं।

इस बात को ध्यान में रखते हुए सामाजिक कार्यकत्ताओं और नारीवादियों ने माता-पिता की पैतृक और स्व-अर्जित दोनों प्रकार की सम्पत्ति में लड़की के अधिकार की माँग की है। यह महसूस किया गया है कि इससे दहेज मौतों या दहेज हत्या की दुर्घटनाएँ रुकेंगी। वधू की आर्थिक सुरक्षा उसके माता-पिता, रिश्तेदारों की भावात्मक और नैतिक सहायता की तरह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

दहेज प्रथा का अस्तित्व, प्रचलन तथा विस्तार बहुत भयानक है। शहरों, छोटे कस्बों और महानगरों में बढ़ रही दहेज मौतों की घटनाओं ने महिला समूहों का ध्यान आकृष्ट किया और 1980 के दशक के शुरू के वर्षों में दहेज अधिनियम में संशोधन की माँग की गई। विवाह के समय दहेज के भावी भुगतान से मुक्ति पाने के लिए अमीनोसैंटेसिस (लिंग पहचान परीक्षण) की सहायता से उत्तरी भारत और पश्चिमी भारत में जानबूझकर मादा भ्रूण की हत्याएँ की गईं।

यह देखा गया है कि दहेज प्रथा का प्रचलन अनुलोम विवाह (hypergamy) अर्थात् उच्च जाति के पुरुष और निम्न जाति की महिला के बीच विवाह से शुरू हुआ। 'स्त्री धन' की अवधारणा संपत्ति में हिस्सा जिसे महिलाएँ विवाह के समय प्राप्त करती हैं, उसका स्थान धीरे-धीरे दहेज ने ले लिया है। अचल संपत्ति के बदले आमतौर पर वधू को नकद या किसी अन्य रूप में दहेज दिया जाता है जिस पर शायद ही उसका नियंत्रण होता है। मध्यम वर्ग में उपभोक्तावाद की वृद्धि अर्थात् उपभोग की वस्तुएँ जैसे–टी.वी., वीडियो, फ्रिज़ आदि हासिल करने की इच्छा ने दहेज की माँग को और हवा दी है। यह प्रथा अब निम्न वर्ग और गैर-हिंदू समुदायों में भी आ रही है, जहाँ यह पहले बिल्कुल नहीं थी। दहेज के बारे में प्रचलित धारणा है कि यह महिला के निर्वाह का उत्तरदायित्व लेने के लिए वर के परिवार को क्षतिपूर्ति दी जाती है। यह धारणा इस संकल्पना पर बनी है कि महिला 'कामकाजी' व्यक्ति नहीं है और विवाह वर के परिवार पर वधू के परिवार से 'गैर कामकाजी' व्यक्ति के निर्वाह के इस 'भार' को डालता है। यह धारणा गलत है क्योंकि (क) यह गृहिणी और माता के रूप में महिलाओं द्वारा निभाई जाने वाली बहु आयामी भूमिका को कम आँकता है, और (ख) इस बात को स्पष्ट नहीं करता है कि रोज़गारशुदा महिलाओं के लिए भी दहेज देने की आशा क्यों की जाती है?

कुछ महिलाएँ संगठन परामर्श एवं कानूनी सहायता देती हैं और संकटग्रस्त महिलाओं के लिए सहायता केंद्र और अल्पकालिक निवास-गृह-चलाती हैं। फिर भी, महिलाओं को 'उत्सर्जनीय', 'अनावश्यक' सामग्री के रूप में देखे जाने को बंद करना ज़रूरी है और उन्हें समुदाय, पड़ोसियों तथा अपने माता-पिता से अधिक समर्थन मिलना चाहिए।

माता-पिता और समाज द्वारा विवाह को असाधारण महत्त्व दिए जाने तथा किसी भी कीमत पर विवाह के लिए दबाव डालने की मानसिकता का विरोध करने की ज़रूरत है। दहेज प्रथा का स्थायित्व महिलाओं की महत्ता को कम करता है और लड़कियों के पैदा होने को अवांछित बनाता है। अविवाहित रहने के विकल्प को सम्मान और महत्त्व दिया जाना चाहिए। अकेले रहने वाली अविवाहित अथवा पैतृक परिवार के साथ रहने वाली महिला को 'विचलन' के बदले एक 'प्रतिमान' के रूप में प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

19.4.3 वेश्यावृत्ति

वेश्यावृत्ति महिलाओं की मानवीय प्रतिष्ठा का अवमूल्यन करती है और उन्हें समाज में 'पतित' महिला के रूप में चित्रित करती है। महिलाओं की कामुकता का व्यापार महिलाओं के अधीनीकरण से शुरू होता है। एक व्यक्ति के रूप में महिला का व्यक्तित्व उसकी कामुकता के उद्देशीकरण द्वारा कमजोर होता है। शहरी क्षेत्रों के संदर्भ में जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों से अकेले पुरुष का प्रवासन होता है, वहाँ वेश्यावृत्ति बहुत अधिक है। 1986 में वेश्यावृत्ति के अवैध कार्य को रोकने के लिए पहले वाला अनैतिक देह-व्यापर (SITA) निषेध अधिनियम संशोधित किया गया था। तथापि, नये वाले अनैतिक देह व्यापार निवारण अधिनियम (ITPPA) के भी वैसे ही लक्ष्य, उद्देश्य, तर्क और आधारवाक्य हैं।

परंतु परवर्ती (ITPPA) वेश्याओं के प्रति दुराग्रहपूर्ण है। इसमें वेश्याओं को दंड देने संबंधी अनुच्छेदों को रखा गया है। साथ ही, ग्राहक को अपराधी नहीं बताया गया है।

इसके अलावा, कार्यान्वयन प्राधार को सुदृढ़ करने के लिए प्रावधान किए बिना दंड के उपाय करने का औचित्य बहुत कम है। फिर भी पूर्ववर्ती (SITA) की असफलता के निम्नलिखित कारण थे :

क) वेश्यालय प्रबंधन राजनीति अन्तर्संबंध

ख) वेश्याओं को दण्ड दिए जाने के साथ चालबाजों द्वारा हिरासत से बचाव

ग) अधिनियम में सम्मिलित अनुशास्तियों का पुलिस द्वारा वेश्याओं से रिश्वत और जुर्माना ऐंठने के लिए प्रयोग किया जाना

घ) साक्ष्य प्रस्तुत करने में समस्याएँ

ड.) न्यायाधीशों की कामुक अभिवृत्ति

च) सुधार-गृहों की कमी, मूलभूत सुविधाओं की कमी, स्टाफ की अल्प योग्यता और पुनर्वास के प्रति सुधारात्मक उपायों की न्यून गुणवत्ता। ये सभी समस्याएँ अभी भी विद्यमान हैं।

यह मुख्य रूप से परिस्थितिजन्य विवशता है जिससे वेश्याओं तथा वेश्यावृत्ति की समस्या खड़ी होती है। कई परिस्थितिजन्य विवशताओं में दो बातें मुख्य हैं :

i) सामाजिक परित्याग, और

ii) आर्थिक कंगाली–जिनकी वेश्यावृत्ति अपनाने का मुख्य कारण गरीबी है और यह आम बात है।

पहली स्थिति में, बहुत सी ऐसी महिलाएँ हैं जिनका सामाजिक दृष्टि से परित्याग किया गया है, जैसे – विधवाएँ, निराश्रय और परित्यक्त महिलाएँ, धोखे और ठगी की शिकार जिन्हें विवाह का वचन दिया गया था अथवा विवाह किया गया था और जिस व्यक्ति पर विश्वास किया गया था, उसने दलाल या वेश्यालय के मालिक को बेच दिया। सामाजिक परित्यक्तों में भी कई ऐसी महिलाएँ होती हैं जिन्हें उनके परिवार, माता-पिता, पति ने बलात्कार का शिकार होने के बाद छोड़ दिया है। अभी-अभी हाल ही में बम्बई में एक पिता ने अपनी लड़की को उसके साथ बलात्कार होने के बाद वापस लेना अस्वीकार कर दिया। यह बात नहीं थी कि वह गरीब था, बल्कि वह काफी धनी था। अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को आँच आने के भय से वह अपनी लड़की को वापस नहीं लेना चाहता था। अधिकांश बलात्कार के मामलों में ऐसा होता है, उनके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, इसलिए मजबूरी में उन्हें वेश्यालयों की शरण लेनी पड़ती है जबकि इसमें उनका कोई दोष नहीं होता।

वेश्यावृत्ति बहुत गंभीर और जटिल समस्या है जिसे सरलता से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति इसे खिलवाड़ के रूप में नहीं अपनाता है क्योंकि इसमें ऐसा कुछ नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर को क्षत-विक्षत और दूषित करने देना, पूरे साल दिन में कई बार, साल दर साल यह होते रहने देना जब तक कि शरीर बूढ़ा न हो जाए। यह अपमानजनक, घोर व्यथाकारी है। किसी को शारीरिक और मानसिक रूप से इस सीमा तक तोड़ दिया जाता है कि उसके लिए अपना नया जीवन शुरू करना केवल कठिन ही नहीं अपितु दीर्घकालिक भयंकर मानसिक आघात वाला और कठिन होता है।

महिलाओं के खिलाफ हिंसा

अधिनियम के बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों और गरीब परिवारों से अवयस्क लड़कियाँ और महिलाएँ वेश्यावृत्ति के लिए विवश की जाती हैं जिसमें उनकी रहन-सहन और कामकाज की दशाएँ बहुत शोचनीय है। उनका अपने शरीर, अपनी कमाई पर कोई नियंत्रण नहीं

है; उनका स्वास्थ्य गिरता जाता है। उनके बच्चों को शिक्षा और अन्य सेवाएँ प्राप्त करने में कोई सहायता नहीं मिलती है। बम्बई शहर में कुछ गैर-सरकारी संगठन इन बच्चों की देखभाल के लिए शिशुसदन सुविधाएँ और कामकाजी बच्चों के लिए हाई स्कूल चला रहे हैं। वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के लिए कोई सरकारी कार्यक्रम नहीं है।

देह-व्यापार जैसा कि यह जाना जाता है कि यह फलता-फूलता व्यापार है, जहाँ महिलाओं की कीमत पर दलाल, प्राप्तकर्त्ता और पुलिस जैसे लोगों के कई समूह धन अर्जित करते हैं। इनमें से अधिकांश लड़कियाँ यौनजनित रोगों से ग्रस्त होती हैं, यदि वे कोई आवश्यक निरोधक एहतियात नहीं करती हैं तो एड्स (AIDS) की भी शिकार हो सकती हैं। फिर भी, वेश्यालयों में रहने वाली महिलाओं को एड्स के शिकार की अपेक्षा इसके विषाणु के वाहक के रूप में माना गया है।

19.4.4 अश्लील साहित्य और संचार-साधनों में महिलाओं का मिथ्या निरूपण

स्त्री अशिष्ट (प्रतिषेध) अधिनियम, 1986 विज्ञापनों या प्रकाशनों, लेखों, चित्रों, आकृति में या किसी अन्य तरीके में और इससे सम्बद्ध मामलों के लिए अथवा उनके आकस्मिक प्रयोग के लिए स्त्रियों के अशिष्ट रूपण का प्रतिषेध करता है।

फिर भी, अश्लील साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, चित्र, विज्ञापन पट (hoardings) और फिल्में छापी जाती हैं, बनाई जाती हैं जिन्हें 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार' के रूप में देखा जाता है, इससे वास्तव में महिलाओं के सम्मान का उल्लंघन होता है। ऐसी स्थिति में एक ओर तो बलवान, आक्रमणशील और उग्र पुरुषों की पितृसत्तात्मक छवि बनी रहती है और दूसरी ओर सेक्स की वस्तु के रूप में दुर्बल, विनयशील, संवेदनशील महिला की छवि बनती है। इन छवियों का उपयोग सौंदर्य प्रसाधनों, वस्त्रों, घरेलू उपयोग के उपकरणों और कई अन्य वस्तुओं के विज्ञापनों में वाणिज्यिक लाभ के लिए किया जाता है। महिला को कामुक और सम्मोहक के रूप में चित्रित किया जाता है, पुरुष को उग्र और स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में चित्रित किया जाता है। फिल्मों में भी इसी प्रकार के फार्मूले का उपयोग किया जाता है। संचार-माध्यमों में महिलाओं की छवि के अश्लील और गलत चित्रण के विरुद्ध समय-समय पर दबाव पड़ते रहे हैं और विरोध भी होता रहा है।

बोध प्रश्न 3

1) सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाइए।

बलात्कार इसलिए होता है कि :

क) महिलाओं के वस्त्र और उनका चाल-चलन स्वच्छन्द होता है। ( )

ख) पुरुष महिलाओं की रक्षा नहीं करते हैं। ( )

ग) यह कामुकतापूर्ण छेड़छाड़ की अभिव्यक्ति है। ( )

घ) पुरुष विकृतकामी होते हैं। ( )

2) क्या दहेज मौतों की निंदा करना ही काफी है? वे कौन से मूल्य हैं जिन्हें आपको ग्रहण करना है? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) बलात्कार की बढती घटनाओं में सर्वाधिक भयावह और घृणित क्या बात है? लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

19.5 महिलाओं संबंधी मुद्दे : चुनौतियाँ और प्रतिक्रियाएँ

भारत में पिछले दो दशकों में महिलाओं संबंधी मुद्दों को लेकर सरकारी और गैर-सरकारी दोनों स्तरों पर काफी जागरूकता आई है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है– महिलाओं के स्व-जागरूकता आंदोलन का उद्‌भव जिसने हाल ही के वर्षों में महिलाओं संबंधी मुद्दों पर सरकार की योजनाओं और नीतियों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। महिला आन्दोलनों पर हम ई. एस. ओ.– 12 के खंड 7 में चर्चा करेंगे।

i) स्वतंत्रता पूर्व काल महिलाओं से संबंधित मुद्दे

ब्रिटिश काल के दौरान हमारे राष्ट्रीय नेता महिलाओं के अधिकारों के लिए संघर्ष को स्वतंत्रता आंदोलन का एक अभिन्न हिस्सा मानते थे। यह उल्लेखनीय है कि इस काल में राष्ट्रीय आंदोलन और सुधारों के परिणामस्वरूप महिलाओं के काफी संगठन उभरकर सामने आए। भारतीय महिला संघ (1917), भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद् (1926), अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (1926) आदि द्वारा महिलाओं का आंदोलन आगे बढ़ रहा था।

ii) स्वतंत्रताप्राप्ति पश्चात् महिलाओं से संबंधित मुद्दे

हमारे देश का संविधान कराची कांग्रेस के मौलिक अधिकार प्रस्ताव में स्वीकृति महिलाओं की समानता के मूल सिद्धांत का अनुसरण करता है। अनुच्छेद 15 (3) का प्रावधान राज्य को बच्चों व महिलाओं के लिए विशेष प्रावधान बनाने के अधिकार प्रदान करता है। 1950 के दशक में कानूनी सुधारों में हिंदू महिलाओं को विवाह, उत्तराधिकार और अभिभावक के और अधिक अधिकार देने का प्रयास किया गया। महिलाओं की विकास संबंधी नीतियों में मुख्य जोर उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण की व्यवस्था पर था।

iii) महिलाओं संबंधी समकालीन मुद्दे

1970 के दशक में महिलाओं संबंधी मुद्दे प्रखर रूप में उभर कर सामने आए हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा में महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव के निराकरण (1967) की घोषणा और तत्पश्चात् संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अपने सदस्य-राज्यों से अपने-अपने देश में महिलाओं की प्रस्थिति पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने का अनुरोध किया गया। इसके परिणामस्वरूप भारत

में महिलाओं की प्रस्थिति का अध्ययन करने के लिए एक समिति गठित की गई जिसने 1974 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। संयुक्त राष्ट्र कार्रवाई 1975 आह्वान की प्रतिक्रिया और सी.एस.डब्ल्यू.आई. (CSWI) रिपोर्ट के आधार पर भारत सरकार ने महिलाओं के लिए राष्ट्रीय कार्य योजना का प्रारूप तैयार किया। योजना के अंतर्गत विशेष रूप से समाज के कमजोर वर्गों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, कल्याण और रोज़गार के क्षेत्रों में ठोस कार्रवाई करने की ज़रूरत को प्रथम स्थान दिया गया। सी.एस.डब्ल्यू.आई. (CSWI) के अतिरिक्त भारत में महिलाओं की प्रस्थिति को ऊँचा उठाने के लिए ठोस कार्रवाई सुझावों के हेतु भारत सरकार ने कई समितियाँ व आयोग गठित किए। इसमें से कुछ महत्त्वपूर्ण हैं– स्व-रोजगार महिला संबंधी राष्ट्रीय आयोग 1988, राष्ट्रीय महिला परिप्रेक्ष्य योजना 1988-2000, राष्ट्रीय महिला आयोग 1991 आदि। समितियों व आयोगों की सिफारिशों के आधार पर और हाल ही के वर्षों में विभिन्न महिला संगठनों और महिला कल्याण की माँगों को सामने रखते हुए भारत सरकार द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न ठोस कार्रवाई की गई।

iv) **बुनियादी विधान**

क) **विवाह :** भारत सरकार के सभी सरकारी कर्मचारियों के बहु-विवाह करने पर प्रतिबंध है। इस्लाम धर्म के अतिरिक्त सभी धर्मों में एकल-विवाह को स्वीकृति प्रदान है।

ख) **विवाह की आयु :** विशेष विवाह अधिनियम के अंतर्गत विवाह की न्यूनतम आयु लड़के के लिए 21 वर्ष और लड़की के लिए 18 वर्ष निर्धारित की गई है।

ग) **दहेज :** दहेज प्रतिषेध अधिनियम के अंतर्गत अब न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी जानकारी या किसी मान्यताप्राप्त कल्याण संगठन द्वारा दहेज के कारण हुई हत्या की शिकायत पर कार्यवाही कर सकता है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी सुधार किया गया जिसके अंतर्गत सामान्य परिस्थितियों के अतिरिक्त यदि दहेज की माँग की जाती है या विवाह के सात वर्षों के अंदर वधू की मृत्यु हो जाती है तो प्रमाण प्रस्तुत करने का दायित्व पति और उसके परिवार का है। इस मुद्दे से प्रभावशाली ढंग से निपटने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण शहरी केंद्रों में दहेज-विरोधी कक्ष भी बनाए गए हैं।

घ) **सती :** सती (निषेध) अधिनियम आयोग 1987 ने सती प्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया।

ड.) **बलात्कार और महिलाओं का अश्लील चित्रण :** जाँच और मुकदमे के दौरान बलात्कार के शिकार लोगों को प्रचार से सुरक्षा प्रदान करने के लिए दंड कानून अधिनियम में भी सुधार किए गए। सहमति के तत्त्व को हटाने के लिए बलात्कार की परिभाषा में भी परिवर्तन किया गया। इस अपराध के लिए दंड को भी बढ़ा दिया गया।

महिलाओं का अश्लील चित्रण (निषेध) अधिनियम प्रतिबंध लगाता है, महिलाओं की आकृति, रूप, शरीर या शरीर के किसी भाग के ऐसे चित्रण पर जिससे महिलाओं का अश्लील चित्रण हो या उनको कलुषित किया जाता हो या जो समाज की नैतिकता या नैतिक मूल्यों को बिगाड़ता हो, भ्रष्ट और क्षतिग्रस्त करता हो। (एन. पी. पी. डब्ल्यू. 1988)

च) **लिंग-निर्धारण जाँच :** हाल ही के वर्षों में लिंग-निर्धारण जाँच के विरुद्ध काफी आंदोलन हुए। यहाँ यह बताना महत्त्वपूर्ण है कि महाराष्ट्र में प्रसव-पूर्व लिंग-निर्धारण जाँच को अवैध घोषित किया गया है।

छ) **कार्य :** समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1973 के अनुसार समाज या समकक्ष कार्य करने वाले पुरुष व महिलाओं को भुगतान राशि बराबर दी जाती है। अधिनियम में भर्ती के समय या उसके पश्चात् लिंग के आधार पर पक्षपात की भी मनाही है।

कोष्ठक 1

कार्यरत महिलाओं के लिए प्रसूति लाभ

प्रसूति लाभ अधिनियम के अंतर्गत फैक्टारियों, कारखानों, खानों, बागानों, सरकारी और अर्ध-सरकारी संस्थाओं में काम करने वाली गर्भवती महिलाओं को 4½ महीने का प्रसूति अवकाश और गर्भपात के लिए 45 दिन का अवकाश प्रदान किया जाता है। इसमें कामकाजी महिलाओं के बच्चों की देखभाल के लिए शिशु-केंद्रों का भी प्रावधान है।

न्यूनतम वेतन अधिनियम के अंतर्गत मज़दूरी की न्यूनतम दरों को नियत करने संबंधी विधि प्रदान की गई है। इसमें कर्मचारियों की मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

v) महिलाओं के लिए रोज़गार कार्यक्रम

गरीब महिलाओं के लिए आय कमाने के भी विविध कार्यक्रम चलाए गए हैं। एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम ने एक लक्ष्य निर्धारित किया है। इसके अंतर्गत इस कार्यक्रम के कुल लाभार्थियों में 30 प्रतिशत लाभार्थी महिलाएँ होंगी। ग्रामीण क्षेत्रों से महिलाओं और बाल विकास (DWCRA) कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं को रोजगार प्रदान करना है। राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम (NREP) भूमिहीन ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम के अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में मज़दूरी प्रदान की जाती है। स्व-रोज़गार के लिए ग्रामीण युवा प्रशिक्षण कार्यक्रम के अंतर्गत ग्रामीण युवकों को आय प्रदान करने वाले रोज़गार के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है। पहाड़ी व सूखा-प्रवण क्षेत्रों के लिए विशेष कार्यक्रम हैं। (अधिक जानकारी के लिए इस पाठ्यक्रम के खंड 3 की इकाई 8, 9, 10 और 11 देखें।) इन कार्यक्रमों में महिलाओं पर यथोचित ध्यान दिया जाता है। इसके अलावा, राज्य सरकारों ने भी स्वयं-सहायता समूहों आदि के माध्यम से महिलाओं के बीच रोज़गार हेतु अनेक कार्यक्रम चलाए हैं।

बोध प्रश्न 4

सही उत्तर पर टिक (✓) का निशान लगाइए।

1) निम्नलिखित में से भारतीय संविधान का कौन-सा अनुच्छेद सरकार को महिलाओं के लिए विशेष प्रावधान बनाने में अधिकार देता है :

   क) अनुच्छेद 370 ( )

   ख) अनुच्छेद 356 ( )

   ग) अनुच्छेद 10 ( )

   घ) अनुच्छेद 15 ( )

2) प्रसूति लाभ अधिनियम के अधीन गर्भवती महिलाएँ प्रसूति अवकाश ले सकती हैं :

   क) 45 दिन का ( )

   ख) 75 दिन का ( )

   ग) 135 दिन का ( )

   घ) 90 दिन का ( )

3) एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम (IRDP) के अंतर्गत महिला लाभार्थियों को लाभ पहुँचाने के लिए एक लक्ष्य निश्चित किया गया है। यह लक्ष्य है :

क) 50 प्रतिशत ( )

ख) 60 प्रतिशत ( )

ग) 25 प्रतिशत ( )

घ) 30 प्रतिशत ( )

19.6 सारांश

इस इकाई में विभिन्न सूचकों जैसे जनसांख्यिकीय प्रस्थिति, स्वास्थ्य प्रस्थिति, साक्षरता, रोज़गार प्रस्थिति और राजनीतिक प्रस्थिति के माध्यम से भारत में महिलाओं की प्रस्थिति प्रस्तुत की गई है। महिलाओं की आजादी को कम करने वाले जाति प्राधार और उसकी भूमिका, वर्ग प्राधार और महिलाओं के अधीनीकरण एवं उसके स्थायीकरण के बारे में चर्चा की गई है। 'एक संस्था के रूप में' और गौण भूमिका निभाने के लिए एक बेटी के समाजीकरण में परिवार की भूमिका, दहेज और हिंसा के विभिन्न रूप जो महिलाओं की अस्मिता और सम्मान को संकट में डालते हैं, इन मुद्दों का विश्लेषण किया गया है।

19.7 शब्दावली

अनुलोम विवाह (hypergamy) : निचली जाति की महिला और ऊँची जाति के पुरुष के बीच विवाह।

मृत्यु दर (mortality rate) : मौतों की आवृत्ति का माप।

लिंग अनुपात (sex-ratio) : प्रति हजार पुरुषों पर महिलाओं का अनुपात।

श्राद्ध : हिंदुओं में पुण्यतिथि।

19.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) हाँ, महिलाओं के मामले में संवैधानिक गारंटी और वास्तविकता के बीच विरोधाभास है। यद्यपि महिलाओं ने कुछ क्षेत्रों में प्रगति की है परंतु अधिकांश महिलाओं को अभी बहुत अधिक परिश्रम करना है। लिंग अनुपात को संतुलित किया जाना है, सभी आयु वर्गों में महिलाओं की जीवन संभाव्यता में सुधार किया जाना है। महिलाओं को स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक प्रक्रमों और कार्यों में अधिक अधिकार दिए जाने चाहिए।

2) देश की महिलाओं की निम्न प्रस्थिति का प्रभाव विकास की प्रक्रिया पर पड़ता है। क्योंकि 50 प्रतिशत जनसंख्या की उपेक्षा की जा रही है। परिवार में गरीबी के आर्थिक दबाव का प्रभाव महिलाओं तथा लड़कियों पर पड़ता है जिन्हें सख्त मेहनत और अधिक समय तक काम करना पड़ता है, वे कम भोजन करती हैं, सामाजिक सामग्री और सेवाओं तक उनकी पहुँच कम है।

3) ख

बोध प्रश्न 2

1) जाति प्राधार द्वारा महिलाओं की लैंगिकता और समुदाय के आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण महिलाओं को सार्वजनिक क्षेत्र से अलग रखकर, संपत्ति पर अधिकार से

वंचित रख कर और विवाह के नियमों का सख्ती से पालन करके किया जाता है। जाति प्राधार आनुष्ठानिक पवित्रता, जैविक शुद्धता (वैध उत्तराधिकारी के जन्म द्वारा) जातीय श्रेष्ठता और आर्थिक शक्ति बनाए रखता है।

2) वर्ग प्राधार जाति प्राधार द्वारा निर्मित लिंग विभाजन के बारे में इतना सख्त नहीं है। परिवार महिलाओं की उपलब्धियों से प्रस्थिति प्राप्त करता हैं। महिलाएँ परिवार की प्रस्थिति को बनाए रखने और ऊँचा उठाने में योगदान करती हैं। लड़कियों को दी गई शिक्षा की किस्म, गुणवत्ता और स्तर पर नियंत्रण है। रोज़गार की वरीयता का मूल्यांकन किया जाता है और महिलाओं की दोहरी भूमिका बनाए रखी जाती है। जिससे महिलाओं पर पारिवारिक जिम्मेदारियाँ असाधारण रूप से बढ़ जाती हैं। महिलाएँ (संगठित क्षेत्र में) शिक्षक, टाइपिस्ट, नर्स और डॉक्टर का व्यवसाय इसीलिए अपनाती हैं, कि इन व्यवसायों को उनकी पारिवारिक भूमिका का विस्तार माना जाता है।

बोध प्रश्न 3

1) ग

2) महिलाओं को सम्पत्ति के अधिकार और उत्तराधिकार के अधिकार देना महत्त्वपूर्ण है। विवाह के असाधारण महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। यदि महिला अविवाहित रहना चाहती है तो इसे विवाह के वैध विकल्प के रूप में देखा जाना चाहिए। महिलाएँ उत्सर्जनीय अथवा व्यय की जाने वाली वस्तु नहीं है। लड़की के जन्म को भी हर्ष की घटना माना जाना चाहिए। उनके व्यक्तित्व, अस्मिता और सम्मान को सभी स्तरों पर माना जाना चाहिए।

3) बलात्कार की बढ़ती हुई घटनाओं में सबसे भयानक और चिंता का विषय यह है कि बलात्कार के शिकार की सबसे अधिक संख्या 12 वर्ष से कम आयु की बच्चियाँ हैं। यहाँ तक कि दो या तीन वर्ष के शिशु भी नहीं छोड़े जाते हैं और बलात्कारियों द्वारा अपनी काम-पिपासा की पूर्ति की उपयुक्त वस्तु समझे जाते हैं।

बोध प्रश्न 4

1) घ

2) ग

3) घ

इकाई 20 वृद्ध जन

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 वृद्धों की समस्या का स्वरूप

20.2.1 समस्या के आयाम

20.2.2 वृद्ध व्यक्ति विशेष के समक्ष समस्याएँ

20.2.3 जनसांख्यिकीय एवं सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन तथा वृद्ध जन

20.3 वृद्धों की जनसांख्यिकीय विशेषताएँ

20.3.1 वृद्धों की जनसंख्या में वृद्धि

20.3.2 निर्भरता अनुपात

20.3.3 लिंग अनुपात

20.3.4 शहरी-ग्रामीण वितरण

20.3.5 वैवाहिक प्रस्थिति

20.3.6 शैक्षिक पृष्ठभूमि

20.4 वृद्धों की आर्थिक विशेषताएँ

20.4.1 कार्य सहभागिता

20.4.2 आर्थिक प्रस्थिति

20.5 वृद्धों की स्वास्थ्य स्थिति

20.5.1 जीर्ण रोग

20.5.2 अस्थायी रोग

20.6 वृद्धों का सामाजिक समायोजन

20.6.1 अतीत में वृद्धों के रहने की व्यवस्थाएँ

20.6.2 बदलती हुई परिवार-व्यवस्था

20.6.3 पुरुषों और महिलाओं के रहने की व्यवस्थाएँ

20.7 वृद्धों के लिए सार्वजनिक नीतियाँ और कार्यक्रम

20.8 सारांश

20.9 शब्दावली

20.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको सामान्यतः वृद्धों की समस्याओं, विशेषकर भारत में रहने वाले वृद्धों की समस्याओं की जानकारी दी जाएगी। यह भी बताया जाएगा कि यह समस्या कैसे और क्यों बढ़ती जा रही है और अधिकाधिक जटिल होती जा रही है तथा इसके विभिन्न पहलुओं पर भी प्रकाश डाला जाएगा।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके द्वारा संभव होगा :

- यह स्पष्ट करना कि वृद्धों की स्थिति क्यों समस्याएँ उत्पन्न कर रही है;
- समाज में आए परिवर्तनों के कारण ये समस्याएँ किस प्रकार से जटिल और कठिन रूप धारण कर रही हैं, इसकी विवेचना करना;
- वृद्धों की जनसांख्यिकीय, आर्थिक और स्वास्थ्य स्थिति पर चर्चा करना;
- पहले वृद्ध लोग किस प्रकार समाज में आसानी से सामंजस्य स्थापित कर पाते थे और अब वे किस प्रकार कम संतोषप्रद ढंग से समाज में सामंजस्य स्थापित कर रहे हैं, इसकी जाँच करना;
- वृद्ध महिलाओं की स्थिति से वृद्ध पुरुषों की स्थिति की तुलना करना; और
- वृद्धों की सहायता के लिए सार्वजनिक नीतियों और कार्यक्रमों का मूल्यांकन करना।

20.1 प्रस्तावना

सामान्यतः विश्व में और विशेषकर भारत में वृद्धों की स्थिति दुविधा उत्पन्न कर रही है। एक ओर यह देखने में आता है कि जीवन संभाव्यता (life expectancy) में वृद्धि हो रही है और वृद्धों की जनसंख्या बढ़ रही है जिसे आधुनिक सभ्यता की एक महान् उपलब्धि माना जा सकता है। दूसरी ओर यह भी देखने में आता है कि वृद्ध होना एक समस्या समझा जाता है। वृद्ध लोग इन बदलती हुई परिस्थितियों में अपने आपको ढालने में और अधिक कठिनाइयों का अनुभव कर रहे हैं। भारत में वृद्धों से जुड़े सभी मुद्दों पर इस इकाई में चर्चा की जाएगी। इस इकाई का आरंभ वृद्धों की समसया के स्वरूप की चर्चा के साथ किया जाएगा। वृद्धों की किसी भी समस्या को समझने के लिए जनसांख्यिकी की विशिष्ट तालिकाओं की सहायता ली जाएगी जिनके बारे में आगे चर्चा की जाएगी। इसके पश्चात् आर्थिक विशेषताओं, स्वास्थ्य स्थिति और सामाजिक सामंजस्य के संबंध में जाँच-पड़ताल की जाएगी। अंत में वृद्धों के लिए सामाजिक नीतियों और कार्यक्रमों पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा और इनका प्रेक्षण किया जाएगा।

20.2 वृद्धों की समस्या का स्वरूप

वृद्धों के प्रति पूर्वग्रह तथा पक्षपातपूर्ण व्यवहार में वृद्धि को स्पष्ट रूप से देखा गया है। यहाँ तक कि वृद्ध (बूढ़े) लोग शब्द ने अपमानसूचक अर्थ ले लिया है तथा जब वृद्ध लोगों से विनम्रता से पेश आते हैं तो अंग्रेज़ी भाषा में वृद्ध (aged), वयोवृद्ध (aging), बुजुर्ग (elderly), वरिष्ठ नागरिक (senior citizens) जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। हमें शुरू में ही वृद्धों की समस्याओं की जटिलता का सामना करना पड़ता है जब यह प्रश्न उठता है कि वृद्ध कौन है? व्यवहार में उन लोगों को वृद्ध कहा जाता है जो जीवन की एक विशेष आयु को पूरा कर चुके होते हैं। विकसित देशों में जहाँ पर जीवन संभाव्यता अपेक्षाकृत अधिक है वहाँ लोग 65 वर्ष की आयु पार करने के बाद ही वृद्धों की श्रेणी में आते हैं किंतु विकासशील देशों में जैसे कि भारत में जहाँ पर अपेक्षाकृत कम जीवन संभाव्यता है इस अवधि को 60 वर्ष माना गया है। इन दोनों ही मामलों में वृद्ध होने की परिभाषा अस्पष्ट

है। यह तो उसी प्रकार से है जैसे कि आप किसी दिन प्रातः सोकर उठें और अपने आपको एक बूढ़े व्यक्ति के रूप में पाएँ। वृद्ध होना अकस्मात् नहीं होता यह तो बहुत जटिल और क्रमिक प्रक्रिया है।

20.2.1 समस्या के आयाम

वृद्ध होना एक जटिल और क्रमिक प्रक्रिया है जिसमें जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आयाम होते हैं जो एक-दूसरे से न ही मिलते हैं। और न ही ये किसी व्यक्ति की कालक्रमिक आयु (chronological age) के अनुरूप होते हैं। तथापि, यह सत्य है कि कालक्रमिक आयु बढ़ती हुई आयु और विकासात्मक प्रक्रिया का एक सूचक है जो जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आयामों में पूरा होता है। इसलिए अध्ययन के उद्देश्य के लिए कालक्रमिक परिभाषा वृद्ध अवस्था में क्या-क्या होता है, यह जानना लाभप्रद होगा। किंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी निर्धारित आयु-वर्ग, उदाहरण के लिए 60-64 वर्ष पर यह समरूप श्रेणी (homogeneous category) बनती है क्योंकि जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक विकास की गति सभी व्यक्तियों में समान नहीं होती।

वृद्धों की समस्या तो तब उठती है जब वे वृद्धावस्था की तरफ अग्रसर होते हुए अपने जीवन में कुछ विशेष घटनाओं का सामना करते हैं और उन्हें समाज से सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। इस तरह की घटनाओं को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी की घटनाएँ वृद्ध व्यक्तियों के विकास से संबंधित होती हैं जबकि दूसरी श्रेणी में ऐतिहासिक काल की घटनाएँ होती हैं, जब व्यक्ति वृद्ध हो रहा होता है। अतः समाज में वृद्धों की प्रस्थिति को जनसांख्यिकीय संक्रमण, उद्योगीकरण, आधुनिकीकरण आदि प्रक्रियाएँ प्रभावित करती हैं।

20.2.2 वृद्ध व्यक्ति विशेष के समक्ष समस्याएँ

आइए, अब हम पहले उन समस्याओं के संबंध में विचार करें जिनका सामना व्यक्ति जब वृद्ध हो रहा होता है तो वह अपने जीवन के जैव-शारीरिक (bio-physiological), मनोवैज्ञानिक और सामाजिक क्षेत्रों में करता है। जब व्यक्ति बाल्यावस्था से युवावस्था व प्रौढ़ावस्था को पार करके वृद्धावस्था से गुजरता है तो कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं के अनुभवों के कारण उसके दैनिक व्यहार में बहुत परिवर्तन आ जाता है। ये घटनाएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्ट होती हैं :

क) जैव-शारीरिक क्षेत्र में जैसे-जैसे व्यक्ति विकसित होता है तो जीवन में वह प्रजनन क्षमता की प्राप्ति व ह्रास, शारीरिक शक्ति की वृद्धि एवं ह्रास, कोशिकाओं एवं कार्यों का ह्रास अनुभव करने के साथ-साथ शरीर के विभिन्न अंगों में रोग के प्रति बढ़ती हुई आग्राहिता का अनुभव करता है।

ख) मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में व्यक्ति अपनी बोध क्षमताओं के विकास का अनुभव करता है। उसे अपने जीवन-लक्ष्यों और आत्म-पहचान का आभास होता है। इसके साथ-साथ वह वृद्ध होता है तो उसके जीवन लक्ष्य संकुचित हो जाते हैं और उसकी आत्म-छवि और नकारात्मक प्रतीत होने लगती है।

ग) सामाजिक क्षेत्र में अपने जीवन के प्रारंभिक चरण में जब व्यक्ति वयस्क हो जाता है तो उसके परस्पर कार्यकलापों में वृद्धि हो जाती है जैसे कार्य, विवाह, परिवार का पालन-पोषण और सामाजिक संगठनों में सदस्य बन जाना। इन कार्यकलापों में उसके अधेड़ होने तक अनुभवों एवं जिम्मेदारियों में बढ़ोत्तरी होती रहती है और वृद्धावस्था में उसकी भूमिकाएँ या तो समाप्त हो जाती हैं या उसके उत्तरदायित्व और शक्ति में ह्रास हो जाता है। अतः व्यक्ति के वृद्ध होने पर जीवन के सभी क्षेत्रों में उसकी समाज में सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता कम हो जाती है।

तथापि मानव की समाज में तालमेल करने की योग्यता न केवल विद्यमान विशेषताओं और क्षमताओं पर निर्भर करती है बल्कि समाज में वृद्धों के समायोजन के लिए मौजूदा सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों द्वारा भी उनको सहायता प्रदान की जा सकती है चाहे वे अनुकूल हों अथवा न हों। यह सब वृद्धों के जीवन काल के दौरान घटने वाली प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं पर भी निर्भर करता है।

20.2.3 जनसांख्यिकी एवं सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन तथा वृद्ध जन

कई बार इतिहास में युगांतकारी परिवर्तन होते हैं जो समाज में सामंजस्य बनाने के लिए वृद्धों सहित सभी लोगों में बुनियादी परिवर्तन लाते हैं। एक महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई है कि अर्थव्यवस्था का पूर्व-औद्योगिक ढाँचे से औद्योगिक ढाँचे में रूपांतरण हुआ है। यह रूपांतरण सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ हुआ है। इसे आधुनिकीकरण कहते हैं। इस घटना से वृद्धों की स्थिति के दूरगामी परिणाम सामने आए हैं जिसके परिणामस्वरूप जनसंख्या में उनके अनुपात में वृद्धि हुई है और समाज में उनके सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही हैं।

क) जनसांख्यिकीय संक्रमण एवं वृद्ध

जनसंख्या में वृद्धों के अनुपात में वृद्धि सीधे ही जनसांख्यिकीय संक्रमण प्रक्रिया से जुड़ी है जो आर्थिक विकास तथा आधुनिकीकरण के द्वारा लायी गई है। यह विशेष रूप से ध्यान देने वाला तथ्य है कि हमारी जनसंख्या में वृद्धों के अनुपात में हो रही वृद्धि बढ़ती हुई दीर्घ आयु अथवा जीवन संभाव्यता के कारण है जो कि अंशतः सच है। वास्तव में, प्रमुख कारण लोगों की जन्म दर का गिरना है। इसका अभिप्राय है कि समाज में महिलाओं की शिशु जन्म दर की औसत में विशेष कमी आई है। दूसरी ओर जन्म दर में परिवर्तन होना जनसांख्यिकीय संक्रमण का एक पहलू है।

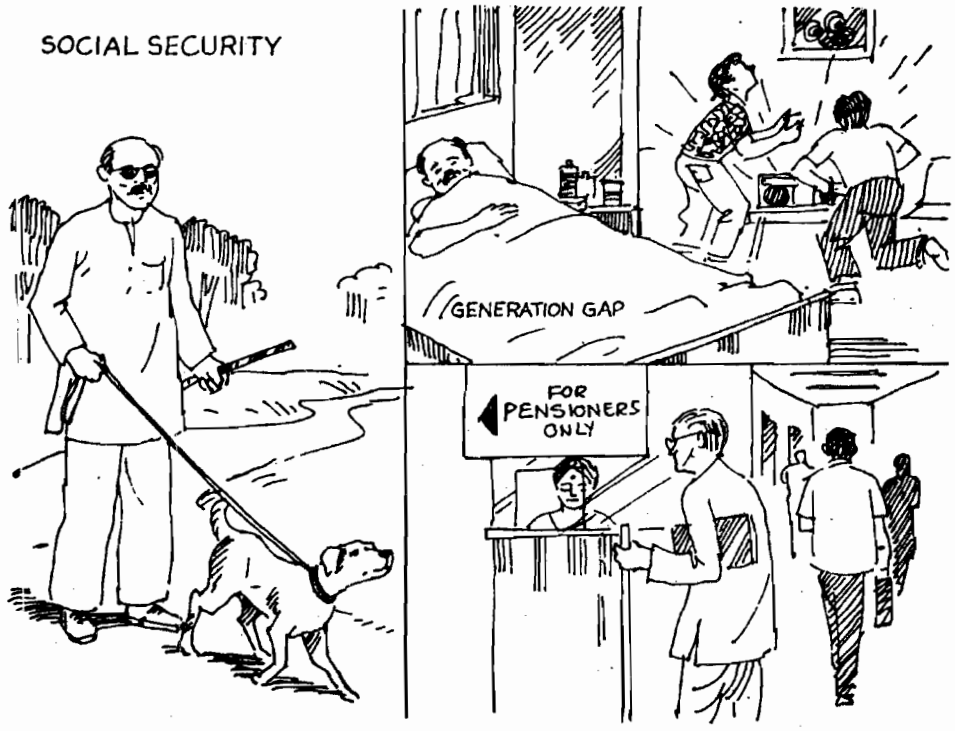

वृद्ध जन और बदलता समाज

जनसांख्यिकीय संक्रमण का तात्पर्य है वह प्रक्रिया जिसके द्वारा कोई देश अथवा समाज अपनी उच्च जन्म दर और मृत्यु दर से किस प्रकार निम्न जन्म दर और निम्न मृत्यु दर की ओर अग्रसर होता है। पहली स्थिति को पूर्व-संक्रमण अवस्था (pre-transitional stage) के नाम से जानते हैं और दूसरी स्थिति को उत्तर-संक्रमण अवस्था (post-transitional stage) के नाम से जानते हैं। इन दोनों अवस्थाओं के बीच की अवधि को संक्रमण अवस्था के नाम से जानते हैं जिसको फिर से प्रारंभिक, मध्य और बाद की अवस्थाओं में विभाजित किया गया है। जब तक धीरे-धीरे संतुलन नहीं हो जाता तब तक संक्रमण अवस्था के दौरान जन्म दर की तुलना में मृत्यु दर में अपेक्षाकृत तेजी से कमी आती है और धीरे-धीरे इनके बीच संतुलन हो जाता है। इससे उत्तर-संक्रमण अवस्था में पर्दापण होता है।

पिछले कुछ दशकों में भारत में ऐसा अनुभव किया गया है कि मृत्यु दरों और जन्म दरों में परिवर्तन में एक विशिष्ट विन्यास होने से जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई है। इसी प्रकार जैसे-जैसे जन्म दर गिरती जा रही है, एक ओर जनसंख्या के आयु परिवृत्य के कारण, बच्चों का अनुपात गिर रहा है और दूसरी और वृद्धों का अनुपात बढ़ रहा है। समाज में जितनी कम प्रजनन दर होगी, उतना ही ज्यादा वृद्धों का अनुपात होगा। इसलिए जो विकसित देश निम्न प्रजनन दरों के कारण अपनी उत्तर-संक्रमण अवस्था में हैं, कुल मिलाकर उनमें भारत जैसे विकासशील देशों के मुकाबले जनसंख्या में वृद्धों का उच्च अनुपात है।

ख) औद्योगिकीकरण, आधुनिकीकरण एवं वृद्धजन

औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण ने जनसांख्यिकीय संक्रमण तो किया ही है, इसके अलावा समाज के संस्थागत ढाँचे में आमूल परिवर्तन भी किए हैं जिससे समाज में वृद्धों के तालमेल की पद्धति भी प्रभावित हुई है। इसको परिवार की संस्था में परिवर्तनों के संदर्भ में और स्पष्ट किया जा सकता है जो कि पूर्व-औद्योगिक समाज में वृद्धों के सामंजस्य को आसान बनाने में एक प्रमुख कारक था। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है कि एक वृद्ध व्यक्ति अपने जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक संसाधनों की कमी के कारण समाज में अपनी सुरक्षा और स्तर में ह्रास का अनुभव करता है और जोखिम उठाता है। वृद्ध के जीवन के जोखिम की भरपाई पूर्व औद्योगिक समाज में उसके परिवार के विशेष स्वरूप के अंतर्गत की जाती है और परिवार में वृद्धों को विशेष स्थान दिया जाता है।

पूर्व-औद्योगिक समाज में परिवार भी उत्पादन की एक इकाई होता था तथा उत्पादनकारी सम्पत्ति का नियंत्रण परिवार के वरिष्ठ सदस्यों के हाथों में होता था जो उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं में कमी आने के बावजूद उनके प्रभाव एवं उनकी स्थिति को कायम रखता था। इसी प्रकार कोई वृद्ध अपने पारिवारिक उद्यम में उस समय तक जब तक कि उसके स्वास्थ्य की स्थिति अच्छी रहे, काम कर सकता है और घटती हुई कार्यक्षमता के अनुरूप ही वह वो कार्य करता है जिस कारण उसकी जीर्णन प्रक्रिया (aging process) धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। दूसरी ओर, आधुनिक औद्योगिक समाज में परिवार अपने उत्पादन प्रकार्य से अलग होने लगता है तथा परिवार के युवा या कनिष्ठ संबंधी अपने-अपने परिवार को और अधिक समृद्ध बनाने के उद्देश्य से अपने वरिष्ठ सदस्यों से आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने के लिए अलग हो जाते हैं। इससे परिवार का ढाँचा बदल जाता है।

औद्योगिक समाज में नए किस्म के पारिवारिक ढाँचे में प्रायः वृद्धों को अपने भरोसे छोड़ दिया जाता है। जबकि सामाजिक सामंजस्य बनाए रखने की उनकी क्षमता भी कम होने लगती है। इसी दौरान, औद्योगिक अर्थव्यवस्था में आर्थिक तर्कसंगति के आधार पर

वृद्धजन अनैच्छिक रूप से लाभकारी रोज़गार से हटा दिए जाते हैं। जबकि उनमें उस समय तक उत्पादनकारी योग्यता मौजूद होती है या मामूली सी कम हो जाती है। इस तरह से उनकी आर्थिक असुरक्षा में और अधिक वृद्धि होती है तथा इससे वृद्ध होने की प्रक्रिया तेज़ हो जाती है।

सामान्यतः वृद्धों की समस्या के संबंधों में पूर्वोलिखित विवरण की पृष्ठभूमि में हम भारत में रहने वाले वृद्धों की समस्याओं के कुछ पहलुओं की आगे चर्चा करेंगे। वृद्धों की कुछ जनसांख्यिकीय, आर्थिक तथा उनकी स्वाथ्य संबंधी स्थिति के बारे में देखी गई प्रवृत्तियों और उनके रहने की व्यवस्था एवं समाज में उनका सामंजस्य तथा उनकी समस्या के समाधान में लोगों की प्रतिक्रिया के संबंध में आगे विवेचना की गई है।

सोचिए और करिए

कुछ वृद्ध लोग अवश्य ही आस-पड़ोस में आपके संपर्क में आते रहते होंगे। अपने अनुभव और बातचीत के आधार पर एक टिप्पणी लिखिए। वे कौन-से कारण हैं जिनसे वृद्धों के लिए गहन समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। यदि संभव हो तो अध्ययन केंद्र के अन्य विद्यार्थियों से अपनी टिप्पणी की तुलना कीजिए।

20.3 वृद्धों की जनसांख्यिकीय विशेषताएँ

भारत सरकार द्वारा प्रत्येक दस वर्ष के बाद की जाने वाली जनगणना से जनसंख्या की औसत आयु (आयु विभाजन) के बारे में सूचना मिलती है जिससे हमको वृद्धों की जनसांख्यिकीय विशेषताओं में व्याप्त प्रवृत्तियों की जानकारी मिलती है। यद्यपि अंतिम जनगणना वर्ष 1991 में की गई थी लेकिन यहाँ (1991 में) आयु से संबंधित जानकारी 1981 की जनगणना के आधार पर दी गई है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि यह बात भी ध्यान में रखनी आवश्यक है कि अनेक दूसरे विकासशील देशों की तरह ही भारत में भी वृद्धों की आयु को परिभाषित करते समय केवल उन लोगों की आयु को ही सम्मिलित किया गया है जो अपने जीवन के 60 वर्ष पूरे कर चुके हैं जबकि विकसित देशों में अंतिम आयु या औसत आयु 65 वर्ष निर्धारित की गई है। इससे विकासशील देशों और विकसित देशों की आयु में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। भारत में रोज़गार के संगठित क्षेत्रों में अधिकांश मामलों में अनिवार्य सेवा-निवृत्ति पहले कर दी जाती है जबकि सरकारी सेवाओं में सेवा-निवृत्ति की आयु 58 वर्ष है और शैक्षिक संस्थाओं तथा निजी निगमों में यह सामान्यतः 60 वर्ष है।

20.3.1 वृद्धों की जनसंख्या में वृद्धि

वृद्धों की जनसंख्या का आकार और विशेषकर उनका कुल जनसंख्या में अनुपात समाज में वृद्धों के सामंजस्य में एक महत्त्वपूर्ण कारक है। वृद्धों की जनसंख्या का आकार और अनुपात जितना कम होगा, उतने ही अच्छे सामंजस्य स्थापित करने के बेहतर अवसर होते हैं। भारत में वृद्धों के अनुपात के बारे में अनुमान लगाने के लिए आपको तालिका 1 में दिखाए गए व्यापक आयु-वर्गों के द्वारा कुल जनसंख्या के प्रतिशत वितरण के बारे में जानकारी प्राप्त हो सकती है।

तालिका 1 : व्यापक आयु-वर्गों द्वारा कुल जनसंख्या का प्रतिशत वितरण, 1901-2000

जनगणना	आयु-वर्ग			
वर्ष	0-14	15-29	60+	सभी आयु
1901	38.60	56.35	5.05	100
1911	38.45	56.40	5.15	100
1921	39.20	55.55	5.25	100
1931	40.00	55.95	4.05	100
1041	38.25	56.85	4.90	100
1951	37.50	56.85	5.65	100
1961	41.00	53.36	5.64	100
1971	42.02	52.01	5.97	100
1981	39.54	53.93	6.52	100
1991	37.3	55.5	6.8	100
2001	-	-	7.6	-

स्रोत : 1901-1971 के लिए ई.एस.सी.ए.पी., 1982 कंट्री मोनोग्राफ सीरीज नं. 10 भारत की जनसंख्या, तालिका सं. 43। 1991 के लिए भारत की जनगणना 1991/2000 के लिए योजना आयोग।

यदि आप कुछ क्षणों के लिए तालिका 1 में दिए गए कालम को ध्यान से देखें जिसमें 60+ वर्ष के समूह से संबंधित वृद्धों का प्रतिशत दिया गया है तो आपको पता चलेगा कि वर्ष 1901 से 2000 तक के लिए यह प्रतिशत 5.05 से 7.6 तक है। इन तथ्यों को ध्यान में रखने से पता चलता है कि कुछ विकसित देशों में 60 वर्ष से अधिक लोगों की संख्या 20 प्रतिशत से अधिक है किंतु भारत में वृद्धों की आयु का प्रतिशत प्रभावपूर्ण नहीं लगता परंतु यह महत्त्वपूर्ण बात है कि 1950 के दशक से भारत में वृद्धों की आयु का प्रतिशत लगातार तेजी से बढ़ा है, वर्ष 2000 में यह 7.6 तक पहुंच गया है। वृद्धों की जनसंख्या के प्रतिशत में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। चूँकि भारत हाल ही के दशक में जनसांख्यिकीय संक्रमण की विश्व प्रक्रिया की संक्रमण अवस्था से गुज़र रहा है और तदनुसार आने वाले दशकों में वृद्धों के प्रतिशत में वृद्धि दर बहुत तेजी से बढ़ेगी।

भारत में वृद्धों की जनसंख्या की एक अन्य आश्चर्यजनक विशेषता इसका प्रभावपूर्ण सुनिश्चित आकार है। वर्ष 1981 में इनकी जनसंख्या 4.3 करोड़ थी, 1991 में यह अनुमानत: 5.5 करोड़ रही और वर्ष 2001 में यह संख्या 7.5 करोड़ की सीमा को छू गई। किसी भी मानक पर ये चुनौती देने वाले आँकड़े हैं यदि हम उनकी स्थिति को ध्यान में रखते हुए वृद्धों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयासों तथा संसाधनों को जुटाते हैं।

20.3.2 निर्भरता अनुपात

विभिन्न आयु-वर्गों में जनसंख्या के वितरण के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए अनेक तरीके हैं। इनमें से एक महत्त्वपूर्ण तरीका यह है कि उस बोझ के आकार को अनदेखा

नहीं किया जा सकता जो (0-14) तथा (60+) आयु के लोगों की जनसंख्या का कामकाजी (15-59) आयु-वर्ग के लोगों की जनसंख्या पर पड़ता है। कनिष्ठ जनसंख्या के द्वारा पड़ने वाले भार को युवा निर्भरता अनुपात कहते हैं तथा जिससे 0-14 आयु-वर्ग में जनसंख्या के प्रतिशत को 15-59 आयु-वर्ग में जनसंख्या के प्रतिशत से विभाजित करके तथा भागफल को 100 की संख्या से गुणा करके निकाला जाता है। इसी तरह से वृद्धों की जनसंख्या से पड़ने वाले भार को वृद्ध निर्भरता अनुपात कहते हैं और जिसे 60+ आयु समूह की जनसंख्या के प्रतिशत को 15-59 वर्ष आयु-वर्ग के प्रतिशत से विभाजित करके और भागफल को 100 से गुणा करके निकाला जाता है। निर्भरता अनुपात की बुनियादी जानकारी तालिका-2 से प्राप्त की जा सकती है तथा अभ्यास के तौर पर विभिन्न वर्षों के लिए ये अनुपात प्राप्त किए जा सकते हैं।

भारत की जनसंख्या की युवा प्रकृति के कारण देश के समक्ष बहुत बड़ी जनसंख्या में युवा निर्भरता अनुपात विद्यमान हैं जो 1971 में सबसे अधिक 80 प्रतिशत से ज्यादा था। दूसरी ओर वृद्ध निर्भरता अनुपात बहुत कम है। यह अनुपात 1951 तक 10 प्रतिशत से ऊपर नहीं गया था। परंतु 1961 से यह अनुपात बढ़ता ही जा रहा है और 1991 में एक समय ऐसा आया जब यह अनुपात 12.26 प्रतिशत तक पहुँच गया था। यह अनुपात पिछले नौ दशकों के दौरान सबसे अधिक था। जैसा कि तालिका 2 में दिखाया गया है वृद्ध निर्भरता अनुपात में वृद्धि होगी।

तालिका 2 : भारत में लिंग-वार वृद्धावस्था पराश्रितता अनुपात

वर्ष	जोड़	पुरुष	महिला
1961	10.93	10.91	10.94
1971	11.47	11.39	11.57
1981	12.04	11.84	12.24
1991	12.26	12.16	12.29
1996	12.00	11.99	12.02
2001	11.88	11.72	12.05
2011	12.84	12.67	13.01
2016	14.12	13.94	14.31

यद्यपि, युवा और वृद्ध निर्भरता अनुपात की प्रवृत्तियाँ विपरीत दिशा की ओर जाती हैं, इससे कामकाजी आयु के लोगों द्वारा वहन की जाने वाली समूची निर्भरता के लिए अधिक परिमाणात्मक अंतर पैदा नहीं होता। लेकिन इसे समाज द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं के लिए गुणात्मक अंतर पैदा होते हैं। जब युवा निर्भरता अनुपात अधिक होता है तो स्वास्थ्य देखभाल तथा बच्चों की स्कूली शिक्षा के लिए सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए हमें और अधिक ध्यान देना पड़ेगा, जबकि वृद्ध निर्भरता भार अधिक होने के कारण वृद्धों के लिए जराचिकित्सा स्वास्थ्य रक्षा (geriatric health care) तथा उनके लिए आवास-व्यवस्था उपलब्ध कराना बहुत महत्त्व रखता है।

20.3.3 लिंग अनुपात

पिछले अनेक दशकों के दौरान महिलाओं का लिंग अनुपात (प्रति 1000 पुरुषों पर महिलाओं की संख्या के रूप में व्यक्त) उनके प्रतिकूल रहा है। पुरुषों की प्रधानता कम होती जा रही है क्योंकि पुरुष उत्तरोत्तर बूढ़े हो रहे हैं, इस बात को छोड़कर यह पूर्वाग्रह वृद्धों के मामले में भी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, 1981 में आम जनसंख्या में प्रति 1000 पुरुषों पर 933 महिलाएँ थीं। परंतु वृद्धों के विभिन्न समूहों में अर्थात् 60-64, 65-69 और 70+ आयु समूहों में प्रति 1000 पुरुषों पर महिलाओं की संख्या क्रमशः 933, 985 और 974 थी।

यह भी ध्यातव्य है कि लिंग के अनुसार महिलाओं में वृद्धों का प्रतिशत पुरुषों में वृद्धों के प्रतिशत से अधिक है।

विकसित देशों में जन्म के समय पुरुषों के मुकाबले महिलाओं की जीवन-प्रत्याशा लगभग 6-8 वर्ष ज्यादा होती है और सामान्य जनसंख्या और वृद्धों में महिलाओं का अनुपात अधिक होता है। जनसांख्यिकीय संक्रमण की प्रगति के साथ-साथ जीवन-प्रत्याशा में लिंग अनुपात और लिंग-संबंधित विभेद के संबंध में भारत में स्थिति विकसित देशों में मौजूद स्थिति की तरह ही हो जाने की संभावना है।

20.3.4 शहरी-ग्रामीण वितरण

पुरुषों और महिलाओं दोनों में वृद्धों का अनुपात शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत अधिक है। 1981 में ग्रामीण क्षेत्रों में पुरुषों में वृद्धों का प्रतिशत 6.83 था और शहरी क्षेत्रों में यह 5.06 था। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं में वृद्ध महिलाएँ 6.85 प्रतिशत थीं और शहरी क्षेत्रों में यह 5.68 प्रतिशत थीं। इस प्रकार की प्रवृत्ति इस इकाई में बनी हमारी धारणा के विपरीत है कि जनसंख्या में वृद्धों का प्रतिशत नकारात्मक रूप से प्रजनन दर से जुड़ा है, क्योंकि प्रजनन दर शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में सामान्यतया ज्यादा है।

शहरी क्षेत्रों में मुकाबले ग्रामीण क्षेत्रों में वृद्धों का अप्रत्याशित रूप से उच्च प्रतिशत दूसरी प्रवृत्ति से जोड़ा जा सकता है अर्थात् ग्रामीण से शहरी प्रवसन। भारत में शहरी जनसंख्या में ग्रामीण प्रवासियों का अनुपात अधिक है, और प्रायः प्रवासी युवा वृद्ध माता-पिता को अपने गृह समुदायों में छोड़ जाते हैं। इसी प्रकार शहरों में जटिल आवास समस्या के कारण कुछ सेवानिवृत्त व्यक्ति विशेषकर निम्न आर्थिक श्रेणियों के वृद्ध बसने के लिए शहरों से ग्रामीण क्षेत्रों में अपने गृह समुदायों के पास वापस चले जाते हैं। मुम्बई से लगे कोंकण क्षेत्र जैसे कुछ क्षेत्र जिनसे बहुत बड़ी संख्या में प्रवासी बड़े शहरों में आते हैं, उनकी जनसंख्या में वृद्धों का अनुपात अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है।

20.3.5 वैवाहिक प्रस्थिति

भारत में यह आम बात है कि हर व्यक्ति का विवाह यथासमय हो जाता है। इसलिए वृद्ध पुरुषों और महिलाओं में बहुत कम लोग ऐसे हैं जो अविवाहित हों। 1981 में वृद्ध जनसंख्या में पुरुषों में लगभग 2 प्रतिशत और महिलाओं में 0.40 प्रतिशत से भी कम लोग ऐसे थे जिन्होंने कभी विवाह नहीं किया था। भारत में वृद्धों की वैवाहिक स्थिति नीचे तालिका 3 में दी गई है।

तालिका 3 : लिंग के अनुसार वृद्धों में विवाहित, विधुरविधवा और तलाकशुदा या परित्यक्त व्यक्तियों का अनुपात, 1991

देश	आयु-वर्ग (वर्षों में)	पुरुष			महिला		
		विवाहित (%)	विधुर (%)	तलाकशुदा/ परित्यक्त (%)	विवाहित (%)	विधवा (%)	तलाकशुदा/ परित्यक्त (%)
भारत	60-69	85.4	12.0	0.3	52.5	46.3	0.4
	70-79	52.5	19.6	0.3	32.7	66.1	0.4
	80+	61.7	25.4	0.5	23.4	69.8	0.3

* जम्मू-कश्मीर के आकड़ें नहीं दिए गए हैं।

वृद्ध महिलाओं में वैधव्य की उच्च दर कुल मिलाकर निराशाजनक है क्योंकि आर्थिक सहायता के लिए महिलाएँ पुरुषों पर बहुत अधिक आश्रित रहती हैं और उनके पति ही उनके कानूनी प्रतिपालक होते हैं। इसलिए हमारे समाज में नियमत: एक विधवा की स्थिति एक विधुर की स्थिति के मुकाबले अधिक दुःखद है।

20.3.6 शैक्षिक पृष्ठभूमि

शिक्षा वृद्धावस्था में समायोजक के लिए एक उपयोगी माध्यम है, विशेषत: जब वृद्ध सेवा, निवृत्त, जीवन-साथी का न होना अथवा शक्ति में गिरावट जैसे कारणों की वजह से नई भूमिकाएँ प्राप्त करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। किंतु भारत में आम जनसंख्या की शैक्षिक पृष्ठभूमि ही संतोषजनक नहीं है, फिर वृद्धों की कैसे ठीक हो सकती है। हाल ही के दशकों में लोगों के शैक्षिक स्तर को उठाने के लिए प्रयास किए गए हैं। आजकल के वृद्ध जिन्हें इन प्रयासों में प्राथमिकता दी गई है, अपनी शैक्षिक उपलब्धि में आम लोगों को बहुत पीछे छोड़ रहे हैं।

हमारे यहाँ वृद्धों में व्यापक निरक्षरता है। 1981 में आम जनसंख्या में 53 प्रतिशत पुरुष और 75 प्रतिशत महिलाएँ निरक्षर थीं और यह प्रतिशत वृद्ध पुरुषों में और महिलाओं में क्रमशः 65 और 92 था। इसी प्रकार के अंतर सभी शैक्षिक स्तरों पर पाए जाते हैं।

तेजी से बदलते हुए समाज में जब वृद्ध महिलाओं को नई भूमिकाएँ ग्रहण करने की ज़रूरत होती है तो कुल मिलाकर वृद्धों की निम्न शैक्षिक पृष्ठभूमि, विशेषकर वृद्ध महिलाओं की पृष्ठभूमि उन्हें बहुत नाजुक स्थिति में पहुँचा देती है।

बोध प्रश्न 1

1) वे दो व्यापक कारण कौन-से हैं जो वृद्धों की समस्याओं को जन्म देते हैं? लगभग छह पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) कुछ समय से जनसंख्या में वृद्धों का प्रतिशत क्यों बढ़ रहा है? स्पष्ट कीजिए। लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) युवा निर्भरता और वृद्ध निर्भरता अनुपात कैसे प्राप्त किया जाता है और भारत में ये अनुपात किस प्रकार बदल रहे हैं? लगभग आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

20.4 वृद्धों की आर्थिक विशेषताएँ

वृद्धों के सामाजिक समायोजन का एक प्रमुख कारक है उनकी आर्थिक स्थिति जिसे उनकी रोज़गार प्रस्थिति और आय में विभाजित किया जा सकता है। वृद्धावस्था में आय का कम होना अथवा आय का बिल्कुल न होना ही एकमात्र संभावना नहीं होती बल्कि यह तथ्य जानना भी ज़रूरी कि वृद्धावस्था में उन्हें अपना काम-धंधा छोड़ देने से, उन पर हानिकारक प्रभाव पड़ते हैं। व्यवसाय व्यक्ति के लिए केवल आय का साधन ही नहीं होता बल्कि इससे वह स्वयं को समाज जोड़ता है। व्यवसाय या रोज़गार व्यक्ति को आत्म, पहचान और सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि वृद्धों के सामाजिक समायोजन पर ऐतिहासिक परिवर्तनों के प्रभाव को आर्थिक समंजन से कहीं भी बेहतर अनुभव नहीं किया जाता। औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण के कारण हाल ही के दशकों में आर्थिक ढांचें में गुणात्मक परिवर्तन होता रहा है जो महत्वपूर्ण तरीके से वृद्धों की आर्थिक भूमिका को प्रभावित कर रहा है। अतीत की असंगठित पूर्व-औद्योगिक अर्थव्यवस्था में वृद्ध जब तक चाहते थे तब तक अपने पारिवारिक उद्यम में कार्य करते थे परंतु संगठित आधुनिक अर्थव्यवस्था में वृद्धों को अनिवार्य सेवा निवृत्त कर दिया जाता है। अनिवार्य कार्यमुक्ति या सेवा, निवृत्ति वृद्धों के लिए कई समस्याएँ उत्पन्न करती है जिनमें आय का समाप्त हो जाना या उसमें कमी आ जाना तो केवल एक समस्या है। इसीलिए श्रमिक बल में वृद्धों की सहभागिता के बारे में जानना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

20.4.1 कार्य सहभागिता

आपके लिए वृद्धों द्वारा श्रमिक में सहभागिता की कुछ प्रवृत्तियाँ जानना और यह देखना कि ये प्रवृत्तियाँ अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों द्वारा किस प्रकार प्रभावित होती है, जरूरी है।

आमतौर पर पुरुषों और महिलाओं की कार्य सहभागिता दर में व्यापक अंतर है। तदनुसार, 1981 में वृद्धों में 63.71 प्रतिशत पुरुष और 10.19 प्रतिशत महिलाएँ श्रमिक बल में थीं। किंतु वृद्धों की कार्य सहभागिता के बदलते हुए विन्यास को जानने के लिए आपके लिए केवल वृद्ध पुरुषों की संबद्ध प्रवृत्तियों पर ध्यान देना ही काफी होगा।

सामान्यतया पुरुष की जब श्रमिक बल में सहभागिता बहुत अधिक हो जाती है तो लगभग 97 प्रतिशत लोग रोज़गार में लगे पाए जाते हैं। इसलिए यह तथ्य कि केवल 63.71 प्रतिशत पुरुष ही 1981 में श्रमिक बल में थे तो इससे अर्थ यह निकलेगा कि लगभग 33 प्रतिशत अथवा एक-तिहाई पुरुष वृद्धावस्था के कारण श्रमबल से हट गए थे। उसी प्रकार भारत में वृद्ध पुरुषों की कार्य सहभागिता दर इस तथ्य को मानते हुए बहुत ऊँची है कि विकसित देशों में यह दर बहुत ही कम है। भारत में वृद्ध पुरुषों की अपेक्षाकृत उच्च कार्य सहभागिता दर इस तथ्य पर आधारित है कि भारतीय अर्थव्यवस्था अभी भी औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण के अत्यंत निम्न स्तर पर है। इसलिए यह दर्शाया जा सकता है कि भारत मे वृद्ध पुरुषों की कार्य सहभागिता दर उद्योगीकरण के स्तर से जुड़ी हुई है। उदाहरण के लिए, कई दशकों से भारतीय अर्थव्यवस्था का उद्योगी करण हो रहा है और यह अधिकाधिक संगठित हो रही है। इसीलिए ग्रामीण अर्थव्यवस्था के मुकाबले शहरी अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक संगठित है। तदनुसार यह पता चलता है कि कई दशकों से वृद्धों की कार्य सहभागिता दरें, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में गिरी हैं, और एक निश्चित कालावधि में शहरी दर ग्रामीण दर से बहुत कम है। आपको इन प्रवृत्तियों की जानकारी तालिका 4 में दी गई जानकारी से मिलेगी। चूंकि महिलाओं की कार्य सहभागिता दरें सामाजिक सांस्कृतिक कारकों द्वारा प्रभावित होती हैं, इसलिए उनके मामले में कोई भी ध्यान देने योग्य प्रवृत्ति नहीं है जिससे आर्थिक परिवर्तन हो सकता हो।

तालिका 4 : लिंग के आधार पर ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में वृद्धों (60+) की कार्य सहभागिता दर (प्रतिशत), 1971, 1981, 1983, 1987 और 1995-96

वर्ष	ग्रामीण		शहरी	
1971	77.5	11.5	53.4	6.5
1981	67.6	11.3	47.5	5.8
1983	64.2	15.6	48.8	11.8
1987	59.4	12.8	41.5	5.9
1995-96	60.3	17.3	35.3	9.2

स्रोत : 1971 और 1981 के लिए जानकारी भारत की जनगणना, 1981 श्रृंखला-1 भारत (5% नमूना), विवरण 53 और 55; 1983 और 1987 तथा 1995-96 के लिए जानकारी राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण क्रमशः 30वें, 42वें और 52वें चक्रों से है।

अतः यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था ज्यादा से ज्यादा संगठित होती जा रही है, वैसे-वैसे भविष्य में वृद्ध पुरुषों की कार्य सहभागिता दरों में और ह्रास होता जा रहा है। जो

वृद्ध अभी भी रोजगार में लगे हैं वे अर्थव्यवस्था के अनौपचारिक क्षेत्र में मुख्य रूप से कार्य कर रहे हैं और वे उन काम-धंधों में लगे हैं जो अपेक्षाकृत कम लाभकारी हैं।

20.4.2 आर्थिक प्रस्थिति

अधिकांश वृद्ध लोगों द्वारा महसूस की गई प्रमुख समस्या वृद्धावस्था के दौरान उनकी आय कम हो जाना है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि एक साथ उनके लाभकारी आर्थिक कार्यकलाप कम हो जाते हैं अथवा पूर्ण रूप से छूट जाते हैं। यह विशेषकर उन वृद्धों के मामले में स्पष्ट है जो संगठित क्षेत्र से जबरन सेवानिवृत्त हो जाते हैं और गरीबों में वे वृद्ध हैं जो अर्थव्यवस्था के अनौपचारिक क्षेत्र से सेवानिवृत्त होते हैं।

यद्यपि कई वृद्ध जो सरकारी सेवा जैसे संगठित क्षेत्र से सेवानिवृत्त होते हैं उन्हे पेंशन अथवा भविष्य निधि लाभ के माध्यम से आंशिक आय की सुरक्षा प्रदान की जाती है। लेकिन उनमें से कुछ ही व्यक्ति वित्तीय समस्याओं से मुक्त होते हैं। यदि पेंशन वाले वृद्धों की आर्थिक दशा काफी खराब होती है तो उनकी सामान्य स्थिति तो और भी ज्यादा खराब हो जाती है। वृद्धों की आर्थिक समस्याओं पर किए गए अध्ययन के व्यापक निष्कर्षों से पता चलता है कि वृद्धों की आय अधिक नहीं है और जिन परिवारों के साथ वे रहते हैं, वे परिवार निम्न आय-समूहों से संबंधित है इसलिए वित्तीय चिंताएँ अधिकांश वृद्धों की दुविधापूर्ण समस्या है।

वृद्धों की आर्थिक स्थिति के बारे में व्यापक जानकारी राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 52वें चक्र से प्राप्त की जा सकती है। 1995-96 में ग्रामीण क्षेत्रों में 60.3 प्रतिशत वृद्ध पुरुष और शहरी क्षेत्रों में 35.3 प्रतिशत वृद्ध पुरुष आर्थिक रूप से स्वतंत्र थे। शेष आंशिक तौर पर या पूरी तरह से दूसरों पर निर्भर थे। वृद्ध महिलाओं में ग्रामीण क्षेत्रों में केवल 17.3 प्रतिशत और शहरी क्षेत्रों में 9.2 प्रतिशत ही आर्थिक रूप से स्वतंत्र थीं। यहाँ तक कि आर्थिक रूप से स्वतत्र पुरुषों और महिलाओं पर परिवार के अन्य सदस्यों की देखभाल करने की जिम्मेदारी का भार होता है। ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में 69 प्रतिशत आर्थिक रूप से स्वतंत्र वृद्ध पुरुषों पर ही परिवार के अन्य सदस्य आश्रित थे।

वृद्धावस्था में जो अपर्याप्त आय के कारण सबसे अधिक कष्ट में हैं वे हैं निर्धन वर्ग के वरिष्ठ सदस्य (बुजुर्ग) जो आमतौर पर अर्थव्यवस्था के अनौपचारिक अथवा असंगठित क्षेत्र में कार्य करते हैं और जिन्हे पेंशन लाभ प्राप्त नहीं होते। उनके पास अपनी बचत राशि भी नहीं होती और उनके कनिष्ठ संबंधी भी, जो अपना निर्वाह ही कर पाते हैं, उनकी सहायता करने में असमर्थ होते हैं। सबसे अधिक दुख की बात यह है कि गरीबों को जो कठिन व शारीरिक श्रम करना पड़ता है वह वृद्धावस्था में नहीं किया जा सकता। फिर भी परिस्थितियों से मजबूर होकर वृद्ध निर्धन व्यक्तियों को तब तक कार्य करते रहना पड़ता है जब तक वे शारीरिक रूप से टूट नहीं जाते और भूख से मर नहीं जाते।

20.5 वृद्धों की स्वास्थ्य स्थिति

भारत में वृद्धों का स्वास्थ्य उनकी समस्याओं का एक सर्वाधिक उपेक्षित पहलू है। न केवल सम्पूर्ण समाज बल्कि चिकित्सा व्यवसाय भी बुढ़ापे की स्वास्थ्य समस्याएँ और रोगों के विशेष स्वरूप पर ध्यान देने में विफल रहा है। वृद्धों और युवाओं की स्वास्थ्य-समस्याओं की एक प्रमुख विशेषता यह है कि जहाँ युवा जन संक्रामक रोगों से ग्रस्त होते हैं वहीं वृद्ध जन जीर्ण बीमारियों से ग्रस्त होते हैं।

वृद्धों की बीमारियों के बारे में अधिकतर उपलब्ध अध्ययन गैर-चिकित्सीय अन्वेषकों ने किए हैं और वे ही हमें वृद्धों के स्वास्थ्य और रुग्णता-दर (morbidity rate) के व्यापक पहलुओं के बारे में कुछ सामान्य जानकारी देते हैं। इनमें से राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण ने **42वें चक्र** में अद्धतन जानकारी प्रदान की है और इसमें **1986-87** के दौरान संपूर्ण देश को शामिल किया गया है।

20.5.1 जीर्ण रोग

इस सर्वेक्षण के निष्कर्षों से पता चलता है कि ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में लगभग 45 प्रतिशत वृद्ध, महिलाएँ और पुरुष किसी न किसी बीमारी से पीड़ित हैं। जीर्ण रोगों में अधिक प्रचलित रोग जोड़ों का दर्द (गठिया), खाँसी या श्वास समस्या और रक्तचाप हैं। अन्य रोग हैं– हृदय रोग, मूत्र समस्या, बवासीर और मधुमेह आदि।

तालिका 5 में दी गई जानकारी से आपको पता चलेगा कि ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में तथा वृद्ध पुरुषों और महिलाओं में जीर्ण रोगों की आवृत्ति दरों (rate of incidence) में महत्त्वपूर्ण अंतर है। श्वास समस्याएँ और जोड़ों के दर्द की समस्याएँ ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत ज्यादा हैं और रक्त-चाप, हृदय रोग और मधुमेह शहरी क्षेत्रों में मौजूद हैं।

तालिका 5 : जीर्ण रोगों से पीड़ित होने वाले वृद्धों में जीर्ण रोगों के विभिन्न प्रकारों का प्रतिशत विवरण, 1995-96

	ग्रामीण		शहरी	
रोग	**पुरुष**	**महिला**	**पुरुष**	**महिला**
खाँसी (श्वास रोग)	25.0	19.5	17.9	14.2
बवासीर	3.3	1.6	3.2	1.8
जोड़ों में दर्द की समस्याएँ	36.3	40.4	28.5	39.3
रक्त चाप	10.8	10.5	20.0	25.1
हृदय रोग	3.4	2.7	6.8	5.3
मूत्र-रोग	3.8	2.3	4.9	2.4
मधुमेह	3.6	2.8	8.5	6.6

स्रोत : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 52वाँ चक्र

इसी प्रकार ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में श्वास-रोग, मूत्र-रोग, बवासीर और मधुमेह पुरुषों में ज्यादा हैं जबकि जोड़ों के दर्द की समस्याएँ महिलाओं में अधिक पाई जाती हैं। इस प्रकार के वितरण से पता चलता है कि स्वास्थ्य समस्याओं का वृद्धों की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की विशिष्टताओं पर प्रभाव होता है। उपर्युक्त सर्वेक्षण के परिणामों और कई अन्य अध्ययनों से पता चलता है कि जिन महिलाओं की जीवन-शैली पुरुषों की तुलना में अधिक सुस्त और घरेलू होती है, जोड़ों के दर्द की ज्यादा शिकायत करती हैं और शहरों में रहने वाले मध्यम वर्गीय लोग अधिक दबाव के कारण उच्च रक्त चाप व हृदय रोग से पीड़ित होते हैं। निर्धन वर्गों के वृद्ध व्यक्ति जो सामान्यतया अधिक कुपोषण के शिकार होते हैं अधिक शारीरिक कमजोरी की शिकायत करते हैं और ग्रामीण क्षेत्रों के वृद्ध जो समय-समय पर आँखों की जाँच नहीं कराते, प्रायः आँखों के रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं।

20.5.2 अस्थायी रोग

जीर्ण बीमारियों के अतिरिक्त वृद्ध अस्थायी बीमारियों से ग्रस्त हो जाते हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 28वें चक्र से पता चला कि वर्ष 1973 में ग्रामीण क्षेत्रों में 29 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रों में 26 प्रतिशत वृद्ध अस्थायी बीमारियों से पीड़ित थे। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 36वें चक्र में वृद्धों में पाई जाने वाली शारीरिक दुर्बलताओं का उल्लेख किया गया था और यह पाया गया था कि 11 प्रतिशत वृद्ध शारीरिक रूप से विकलांग थे जिनमें से डेढ़ प्रतिशत दृष्टि से अपंग थे। अन्य आयु श्रेणियों के लोगों के मुकाबले शारीरिक अपंगता स्वाथ्य समस्याओं और बढ़ती हुई आयु के कारण भी वृद्ध संभवतः शारीरिक रूप् से कम चल पाते हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, **42वें चक्र के अनुसार** ग्रामीण क्षेत्रों में **5.4 प्रतिशत** और शहरी क्षेत्रों में **5.5 प्रतिशत** वृद्ध शारीरिक रूप से चल फिर नहीं सकते हैं। यह गतिहीनता (न चलना-फिरना), पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में अधिक पाई जाती है और जो महिलाएँ और पुरुष 70 वर्ष की आयु पार कर चुके हैं, उनमें यह अधिक पाई जाती है।

ऐसे कई लक्षण हैं जो वृद्धों की स्वास्थ्य समस्याओं के लिए असाधारण हैं और विकसित देशों में जहाँ पर वृद्धों के कल्याण पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जराचिकित्सा (geriatrics) नामक आयुर्विज्ञान की एक विशेष शाखा का सृजन हुआ है जो वृद्धावस्था तथा बूढ़े हो रहे लोगों की समस्याओं और रोगों को देखती है। जरा चिकित्सा ने अभी भारत में प्रगति करनी है क्योंकि भारत में इसकी बहुत आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 2

1) वृद्धों की कार्य सहभागिता दर और आर्थिक स्तर किस प्रकार बदल रहा है। लगभग आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) वृद्धों की स्वास्थ्य स्थिति का संक्षेप में वर्णन कीजिए। लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

20.6 वृद्धों का सामाजिक समायोजन

वृद्धों की जनसांख्यिकीय, आर्थिक और स्वास्थ्य परिस्थितियों के संबंध में आगामी चर्चा से भारत में वृद्धों की कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं के बारे में बतलाया गया है। आपने पढ़ा है जनसंख्या में वृद्धों का अनुपात धीरे-धीरे बढ़ रहा है और साथ ही साथ बहुत तेजी से वृद्धों को आधुनिक और संगठित अर्थव्यवस्था से निष्कासित अथवा अलग किया जा रहा है। जो वृद्ध श्रमिक बल में रहते हैं अर्थात् कार्यरत रहते हैं वे अर्थव्यवस्था के कम लाभकारी अनौपचारिक क्षेत्र तक सीमित रहते हैं। इसलिए वृद्धों की आर्थिक असुरक्षा का उत्तरोत्तर अधिक खतरा होता जा रहा है।

महिलाएँ वृद्धावस्था में विशेषतौर पर असुरक्षित हो जाती हैं। पुरुषों के मुकाबले वृद्ध महिलाओं का शिक्षा स्तर बहुत कम होता है, लाभकारी रोजगार में भागीदारी बहुत कम होती है और उनके पास आर्थिक परिसंपत्ति या तो नाममात्र या होती ही नहीं है। इसलिए वे लगभग पूरी तरह से अपने पुरुष संबंधियों पर निर्भर होती हैं। वे इसलिए भी मजबूर हो जाती हैं कि उनमें से अधिकांश महिलाएँ विधवा होती हैं अर्थात् उनका कानूनी प्रतिपालक नहीं होता। इसलिए वृद्ध महिलाओं द्वारा अनुभव की जाने वाली आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक असुरक्षा बहुत ज्यादा होती है।

जैसा कि पहले बतलाया गया है कि वृद्धों की समस्याएँ उनके जैविक, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय जीर्णन और समाज में दूरगामी ऐतिहासिक परिवर्तनों में मौजूद होती हैं। आइए, अब यह देखें कि वृद्ध अपने आपको इन परिस्थितियों में समाज के साथ कैसे ढाल रहे हैं।

20.6.1 अतीत में वृद्धों के रहने की व्यवस्था

वृद्धावस्था को पहले इसलिए गंभीर सामाजिक समस्या नहीं माना जाता था कि कुल जनसंख्या में वृद्धों का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता था बल्कि उनके परिवारों द्वारा उनकी आवश्यक देखभाल और भरण-पोषण भी किया जाता था। परंतु बदलती हुई परिस्थितियों में वृद्धों की देखभाल करने की परिवार की क्षमता कम होती जा रही है।

परंपरागत भारतीय समाज में वृद्धों की परिवार में एक सम्मानित प्रस्थिति होती थी। उनकी प्रतिष्ठित प्रस्थिति आदर्श परिवार की भाँति विशेष स्वरूप की देन थी जो संयुक्त परिवार कहलाता था। संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सगे-संबंधी होते थे जो एक ही वंश के होते थे और वे पति/पत्नी और बाल-बच्चों के साथ रहते थे। संयुक्त परिवार में कई प्रकार के संबंधी होते थे और निस्संतान, अविवाहित अथवा विधवा/विधुर वृद्ध व्यक्ति परिवारों में रह सकते थे। परंतु संयुक्त परिवार में संबंधियों की नातेदारी के विन्यास नातेदारी प्रथा के सिद्धांतों द्वारा निर्धारित किए जाते थे चाहे वह देश के अधिकांश भागों में अपनाई पितृवंश परंपरा हो अथवा कुछ क्षेत्रों में प्रचलित मातृवंश परंपरा हो। उदाहरण के लिए, पितृवंश नातेदारी प्रथा में वृद्ध अपनी पुत्री तथा दामाद के साथ नहीं रहते।

परंतु वास्तव में संयुक्त परिवार अपने वृद्ध सदस्यों के प्रति कार्य करने के लिए जिस कारण से प्रेरित था वह भी पूर्व-औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था और मध्यकालीन संपत्ति अवधारणाएँ पूर्व-औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था में, जैसे कि कृषि अर्थव्यवस्था में अब भी है, परिवार उत्पादन की एक इकाई था और मध्यकालीन संपत्ति अवधारणाओं ने वृद्ध व्यक्तियों विशेषकर वरिष्ठ पुरुष सदस्य को परिवार की उत्पादक परिसंपत्ति का कर्ता-धर्ता बना दिया था। इस प्रकार के ढाँचे में कनिष्ठ सदस्य वरिष्ठ सदस्यों पर आर्थिक रूप से निर्भर थे। इस प्रकार आर्थिक निर्भरता द्वारा मजबूत किए गए संतान संबंधी प्रेम और कर्त्तव्य ने

कनिष्ठ सगे-संबंधियों को अपने परिवार के वरिष्ठ सदस्यों की बेहतर देखभाल करने के लिए बाध्य कर दिया था।

20.6.2 बदलती हुई परिवार-व्यवस्था

भारत में पारिवारिक स्थिति जिससे वृद्धों का संतोषजनक सामाजिक समायोजन हो जाता था, अब तेजी से बदल रही है। वृद्धों के बढ़ते अनुपात के लिए उत्तरदायी आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण की शक्तियाँ परिवार व्यवस्था में भी परिवर्तन ला रही है। ये परिवर्तन वृद्धों की देखभाल करने में परिवार की क्षमता को कम कर देते हैं। ये शक्तियाँ परिवार को उसके उत्पादन कार्य से वंचित करने का प्रयास कर रही है और ऐसा करके संयुक्त परिवार व्यवस्था के आधार को कमजोर कर रही है।

उभरती अर्थव्यवस्था में, परिवार के कमाऊ सदस्य जो कि एक उत्पादन इकाई नहीं है, परिवार से बाहर रोज़गार पाने के लिए बाध्य हो जाते हैं। ऐसे मामलों में न केवल परिवार के छोटे संबंधी सदस्य बड़े सदस्यों के आर्थिक सत्ता से मुक्त होते हैं बल्कि उनमें से कुछ अपनी अलग गृहस्थी भी बसा लेते हैं और यहाँ तक कि अन्य स्थानों में चले जाते हैं। इन परिस्थितियों में वृद्ध व्यक्ति को अपने निजी संसाधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। यदि किसी वृद्ध की आय पर्याप्त नहीं होती तो वह दूसरों पर आश्रित हो जाता है क्योंकि वृद्धों के बढ़ते हुए अनुपात के कारण ऐसा हो भी रहा है। आप वृद्धों का आर्थिक स्तर से संबंधित भाग में पहले ही देख चुके हैं कि अधिकांश वृद्ध आंशिक तौर पर या पूर्ण तौर पर दूसरों पर निर्भर हैं।

भारत में परिवार व्यवस्था विश्व की अन्य परिवार व्यवस्थाओं की भाँति परिवर्तनीय स्थिति में है। प्राचीन संयुक्त परिवार के ढाँचे से जुड़े परिवार अब तेजी से समाप्त होते जा रहे हैं। इसके स्थान पर परिवार के अधिक सरल ढाँचे बन रहे हैं जो उत्पादन की एक इकाई होते हुए भी परिवार पर निर्भर नहीं होते। परिवार के बनते-उभरते ढाँचों से एकल परिवार (Nuclear Family) विकसित हो रहा है जिसमें इकाई के रूप में पति, पत्नी और बच्चे होते हैं। वृद्ध माता-पिता की उपस्थिति के कारण नाभिक परिवार साधारण वंशगत संयुक्त परिवार का रूप ले सकता है जिसमें वृद्ध माता-पिता में विवाहित पुत्र अथवा पुत्री में से किसी एक के साथ रहते हैं।

जब सभी बच्चों (संतान) का विवाह होता है तो वृद्ध पति पत्नी या तो स्वयं एक साथ रह सकते हैं या वृद्ध व्यक्ति विधुर/विधवा हो जाए तो वह बिल्कुल अकेला भी रह सकता है।

वृद्धों के रहने की व्यवस्थाओं की उपर्युक्त संभावनाओं को भारत में वृद्धों के रहने की व्यवस्थाओं में दर्शाया गया है। यह राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 52वें चक्र से पता चलता है। यथोचित निष्कर्ष तालिका 6 में प्रस्तुत किए गए हैं। आपके लिए तालिका 6 का ध्यान से अवलोकन करना उचित होगा। आपको पता चलेगा कि ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में लगभग 86 प्रतिशत वृद्ध या तो अपने जीवन-साथी अर्थात् पति या पत्नी के साथ या अपनी संतानों के साथ रह रहे हैं। लगभग 6 प्रतिशत वृद्ध ग्रामीण क्षेत्रों में और 4 प्रतिशत वृद्ध शहरी क्षेत्रों में अकेले रहते हैं। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में गैर-संबंधियों और वृद्ध आश्रम (ओल्ड-एज होम) में रहने वाले वृद्धों का प्रतिशत नाममात्र है। अतः अधिकतर वृद्ध अपने सगे-संबंधियों के साथ रहते हैं।

तालिका 6 : लिंग के आधार पर ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में वृद्धों की रहने की व्यवस्था, 1995-96

	ग्रामीण			शहरी		
रहने की व्यवस्था का प्रकार	**पुरुष**	**महिला**	**कुल**	**पुरुष**	**महिला**	**कुल**
अकेले रहना	2.5	6.1	4.3	3.0	6.0	4.5
पति/पत्नी व अन्य सदस्यों के साथ रहना	75.0	39.0	56.9	75.1	35.4	54.9
अपने बच्चों के साथ रहना	17.9	48.1	33.1	17.8	51.2	34.9
अन्य संबंधियों व गैर-संबंधियों के साथ रहना	3.8	5.9	4.8	0.4	0.4	0.4

स्रोत : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, 52वां चक्र

विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों में वृद्धों के संबंध में किए गए विभिन्न अध्ययनों की जानकारी से पता चलता है कि यदि हम पिछले इतिहास को देखें तो अपनी संतान के साथ रहने वाले वृद्धों का प्रतिशत पहले ज्यादा था। अन्य देश जो भारत से बहुत आधुनिक हैं, वहाँ की प्रवृत्तियों को देखने से पता चलता है कि इस श्रेणी की रहने की व्यवस्थाएँ और घटती जा रही हैं और 'अकेले रहना', 'पति या पत्नी के साथ रहना' की श्रेणियाँ बढ़ती जा रही हैं।

इस प्रकार वृद्धों के वर्तमान परिवार का दायरा अधिकाधिक सीमित होता जा रहा है जिससे वृद्धों के लिए नई-नई समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। इस प्रकार की दो महत्त्वपूर्ण समस्याओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। पहली समस्या है वृद्धों के अंतर्वैयक्तिक पारिवारिक संबंध। ये संबंध वृद्धों के अपने पुत्रों के साथ रहने के बावजूद अत्यधिक जटिल होते जा रहे हैं। ऐसा विशेषकर शहरी क्षेत्रों में है। पहले जब परिवार के संसाधनों का नियंत्रण वृद्धों द्वारा किया जाता था तो पुत्र अपने माता-पिता पर आश्रित होते थे। आज स्थिति बिल्कुल उल्टी है। आज अधिक से अधिक माता-पिता आर्थिक रूप से अपने पुत्रों पर निर्भर हैं जिस कारण वृद्धों के आत्म-सम्मान को हानि पहुँच रही है। दूसरी समस्या है परिवार में मौजूद देखभाल करने वाले लोगों की संख्या घटती जा रही है। अब पुत्रों के घरों में वृद्ध अपनी पुत्रवधुओं की सेवाएँ प्राप्त नहीं कर सकते जबकि पहले पुत्रवधुएँ उनकी परंपरागत देखभाल करने वाली होती थीं।

विकसित समाजों में वृद्धों के लिए परिवारों की संरक्षण क्षमता बहुत कमजोर हो गई है और परिवार का स्थान कुछ सीमा तक बड़ी संस्थाओं जैसे वृद्ध आश्रम और वृद्ध देखभाल केंद्रों ने ले लिया है। भारत में ऐसी संस्थाओं के लिए बहुत गुजांइश है परंतु उनका विकास अभी प्रारंभिक अवस्था में है। तालिका 6 में यह देखा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में केवल 0.7 प्रतिशत और शहरी क्षेत्रों में 0.4 प्रतिशत वृद्ध ऐसे आश्रमों में रह रहे हैं। वृद्ध देखभाल केंद्र अभी प्रयोगात्मक चरण में हैं और वो भी केवल बड़े शहरों में हैं।

20.6.3 पुरुषों और महिलाओं के रहने की व्यवस्थाएँ

वृद्ध पुरुषों और महिलाओं के रहने की व्यवस्थाएँ एक दूसरे से इतनी अधिक भिन्न हैं कि आपको यह जानने की जिज्ञासा होगी कि इनके अंतर का क्या कारण है? वृद्ध महिलाओं में से अधिकांश उदाहरणतः ग्रामीण क्षेत्रों में 66 प्रतिशत और शहरी क्षेत्रों में 67 प्रतिशत अपनी संतान के साथ रहती हैं, जबकि इसकी तुलना में वृद्ध पुरुष क्रमशः 37 और 40

प्रतिशत अपनी संतान के साथ रहते हैं। अपने नाती/पोतों और अन्य संबंधियों के साथ रहने वाले वृद्धों की श्रेणियों में महिलाओं का प्रतिशत अपेक्षाकृत अधिक है। दूसरे, महिलाओं की तुलना में पुरुष प्रायः अपनी पत्नियों के साथ अधिक रहते हैं। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में लगभग 45 प्रतिशत पुरुष अपनी पत्नियों के साथ रहते हैं। जबकि शहरी क्षेत्रों में केवल 25 प्रतिशत महिलाएँ और ग्रामीण क्षेत्रों में 22 प्रतिशत महिलाएँ अपने पतियों के साथ रहती हैं। अकेले रहने वाले पुरुषों का प्रतिशत बहुत ज्यादा है। शहरी क्षेत्रों में यह 11.8 प्रतिशित है और ग्रामीण क्षेत्रों में 8.2 प्रतिशत है जबकि महिलाओं में यह प्रतिशत ग्रामीण में 0.7 है और शहरी क्षेत्रों में 0.6 है जो केवल नाम-मात्र है।

वृद्ध पुरूषों और महिलाओं में रहने की व्यवस्था के ढाँचे में महत्त्वपूर्ण अंतर उनकी विशेषताओं में दो बुनियादी विषमताओं के कारण है। पहली, पुरुषों की तुलना में वृद्ध महिलाओं का प्रतिशत बिना पतियों के बहुत अधिक है। इससे स्पष्ट है कि अपने जीवन-साथी के साथ रहने वाली महिलाओं का प्रतिशत क्यों कम है। दूसरे, महिलाओं की दूसरों पर आर्थिक निर्भरता पुरुषों के मुकाबले कहीं ज्यादा है जिससे पता चलता है कि अकेली रहने वाली महिलाओं का प्रतिशत इतना कम क्यों है। ये दोनों कारण महिलाओं को दूसरों पर निर्भर रहने के लिए बहुत ज्यादा विवश करते हैं।

20.7 वृद्धों के लिए सार्वजनिक नीतियाँ और कार्यक्रम

आपको अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि वृद्धों की समस्या आजकल दो मुख्य कारणों से अत्यंत चिंता उत्पन्न कर रही है। जनसंख्या में वृद्धों का प्रतिशत बढ़ रहा है और परिवार द्वारा वृद्धों की देखभाल और भरण-पोषण कम होता जा रहा है। इसलिए अब समाज के लिए वृद्धों के सामाजिक समायोजन की व्यापक जिम्मेदारी स्वीकार करना अत्यावश्यक हो गया है। इसलिए आपको यह जानने की उत्सुकता होगी कि वृद्धों की समस्याएँ दूर करने के लिए समाज के विभिन्न स्कंधों– राज्य सरकार और विभिन्न संस्थाओं द्वारा क्या-क्या नीतियाँ और कार्यक्रम चलाए गए हैं।

विकसित समाजों में जहाँ पर वृद्धों की समस्या बहुत गंभीर हो गई है, वहाँ पर वृद्धों के लिए सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा तैयार की गई सुविकसित सहायता पद्धतियाँ विद्यमान हैं। वृद्धों की वित्तीय, आवसीय और स्वास्थ्य संबंधी देखभाल की आवश्यकताओं पर ध्यान देने के लिए संस्थाओं द्वारा व्यवस्था की जाती है। ये संस्थाएँ परिवार का कार्य करती हैं और परिवार द्वारा भरण-पोषण की निर्भरता को भुला देती हैं। सामाजिक कार्यकलाप की हर शाखा में वृद्धों की विशेष ज़रूरतों को खासतौर पर मान्यता दी जाती है।

भारतीय समाज में भी वृद्धों की देखभाल करने के लिए वृहत् समाज की जिम्मेदारी को मान्यता मिली है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 41 राज्य को वंचित और कमज़ोर वर्गों के लाभ के लिए जिनमें वृद्ध भी शामिल हैं, सार्वजनिक सहायता (भरण-पोषण) का प्रभावकारी प्रावधान बनाने का अधिकार प्रदान करता है। किंतु सरकार ने जिन नीतियों और कार्यक्रमों को अपने हाथ में लिया है, उनमें अभी तक वृद्धों की समस्या के छोर को ही स्पर्श किया है।

वृद्धों के संबंध में सरकार द्वारा उठाए गए तीन कदमों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। पहला, सरकार ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए जिसके पास पर्याप्त साधन है, अपने वृद्ध अथवा अशक्त माता-पिता जो अपना भरण-पोषण नहीं कर सकते, उनके भरण-पोषण और देखभाल करने का कर्तव्य निर्धारित किया है, लेकिन सरकार के इस कदम द्वारा परिवार की परंपरागत भूमिका जिसके द्वारा वृद्धों को सहायता प्रदान की जाती है, उसकी

उपेक्षा ही हुई है। इस कानून का व्यवहारिक प्रयोग नहीं हो पाता क्योंकि कोई भी माता-पिता अपनी संकल्प रहित, संतान से सहायता प्राप्त करने के लिए न्यायालय का दरवाजा नहीं खटखटाना चाहता।

कोष्ठक 1

वृद्धों के लिए सामाजिक सुरक्षा

वृद्धों की जनसंख्या का एक भाग संगठित क्षेत्र से सेवा निवृत हुए व्यक्तियों का है। उन्हें पेशन, भविष्य निधि और उपदान के रूप में नियोक्ताओं द्वारा सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाती है। फिर भी हो सकता है उन्हें परिवारों से यथेष्ट भावनात्मक सहयोग न मिलता हो। उनकी मनोरंजन संबंधी ज़रूरतें भी परिवार द्वारा पूरी न की जाती हों। ऐसी स्थिति में राज्य को ये सुविधाएँ उपलब्ध करवानी पड़ती हैं। इसके अलावा वृद्ध जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग असंगठित क्षेत्र से सेवा निवृत्त होने वालों का है? जिन्हें कोई सामाजिक सुरक्षा लाभ नहीं मिलते हैं। इनमें से वे वृद्ध जिनका परिवार भी नहीं होता है, उनको भी सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाती है। भारत में राज्य द्वारा संचालित वृद्धाश्रम भी है। राज्य व केंद्रीय सरकारें स्वैच्छिक अभिकरणों को वृद्धाश्रम स्थापित करने व नए कार्यक्रम चलाकर वृद्धों को सेवाएँ प्रदान करने के लिए आर्थिक सहायता देती हैं। सभी राज्यों एवं संघ राज्य क्षेत्रों में वृद्धावस्था पेंशन की योजनाएँ भी मौजूद हैं। यद्यपि इसमें अलग-अलग क्षेत्रों में पात्रता मानदंड भिन्न-भिन्न हैं। आमतौर पर 60 वर्ष और उससे अधिक आयु के वृद्धों में निराश्रित, गरीब व अशक्त व्यक्तियों को 30 रुपयों से लेकर 100 रुपयों तक प्रति माह पेंशन प्रदान की जाती है (भारत, 2000)।

सरकार ने जो दूसरा कदम उठाया है वह है– उन वृद्धों के लिए भरण-पोषण की आंशिक जिम्मेदारी निर्धारित करना जिनके पास कमाने वाली संतान नहीं है या संतान है परंतु उनके भरण-पोषण के लिए जिनके पास पर्याप्त साधन नहीं है। सरकार असहाय वृद्धों को वृद्धावस्था पेंशन देती है और जो संस्थाएँ ऐसे वृद्धों की देखभाल करती हैं उन्हें सहायता अनुदान देती है। वृद्धावस्था पेंशन की राशि यद्यपि भरण-पोषण के लिए बहुत कम होती है।

वृद्धों के संबंध में सरकार द्वारा उठाया गया तीसरा कदम अनिवार्य सेवानिवृत्त किए जाने वाले वृद्धों को नियोक्ताओं द्वारा उपदान (gratuity), पेंशन और भविष्य निधि (provident fund) जैसे सेवानिवृत्ति लाभ (retirement benefits) सुरक्षित करवाने के लिए कानून पास करना है। ऐसा कानून बड़े-बड़े उद्यमों पर लागू होता है और इस प्रकार से यह लाभ वृद्धों का एक छोटा भाग ही प्राप्त कर पाता है।

सरकार के अतिरिक्त अनेक गैर-सरकारी संगठन (NGO) भी हैं जो वृद्धों को विभिन्न प्रकार की सेवाएँ प्रदान करते हैं। गैर-सरकारी संगठनों द्वारा दी जाने वाली सेवाओं में शामिल हैं :

क) वृद्धावस्था आश्रम (oldage homes) के रूप में संस्थागत सेवाएँ

ख) रोज़गार सेवाएँ और व्यावसायिक चिकित्सा

ग) गैर-संस्थागत सहायता पद्धतियाँ जैसे– चिकित्सा, मनोचिकित्सा और पुनर्वास सेवाएँ, पोषण संबंधी देखभाल, मनोरंजन, परामर्श, शिक्षा, प्रशिक्षण और जानकारी; एवं

घ) दिवस देखभाल केंद्र।

यद्यपि यह सूची आकर्षक लगती है परंतु ये सेवाएँ देश के कुछ भागों में ही उपलब्ध हैं और वह भी केवल बड़े-बड़े शहरों में।

आपको उपर्युक्त चर्चा से पता चल जाएगा कि अधिकांश वृद्ध सरकार अथवा गैर-सरकारी संगठनों द्वारा प्रदान की गई वृद्धावस्था सहायता की सार्वजनिक व्यवस्था के अंतर्गत नहीं आ पाते।

बोध प्रश्न 3

1) वृद्ध महिलाओं की स्थिति वृद्ध पुरुषों से किस प्रकार भिन्न है? लगभग आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) वृद्धों का पहले सामाजिक समायोजन अधिक संतोषजनक क्यों था? लगभग छह पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) आजकल वृद्धों का सामाजिक समायोजन कम संतोषजनक क्यों है? लगभग आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

20.8 सारांश

इस इकाई में जिन मुख्य मुद्दों की हमने चर्चा की है, आइए उनका उल्लेख अब हम संक्षेप में कर लें। आमतौर पर वृद्धों के समक्ष अनेक समस्याएँ होती हैं। वे वृद्धावस्था में जीवन के जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रतिकूल घटनाओं का अनुभव करते हैं। जीवन की इस कठिन घड़ी में वृद्धों का समायोजन उनके जीवनकाल के दौरान सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक कारकों से या तो सहज हो जाता है अथवा जटिल बन जाता है। ये कारक ऐतिहासिक घटनाओं से प्रभावित होते हैं।

अतीत में सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक कारक वृद्धों के अधिक संतोषजनक सामाजिक समायोजन के लिए अनुकूल थे। जनसंख्या में उनका अनुपात कम था और उनका परिवार उनका आवश्यक भरण-पोषण और देखभाल की पर्याप्त व्यवस्था करता था। सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्था में आधुनिक परिवर्तन होने के कारण आजकल वृद्धों का सामाजिक समायोजन जटिल हो गया है। जनसंख्या में उनका प्रतिशत बढ़ता जा रहा है। सहायता व्यवस्था के तौर पर परिवार कमजोर हो रहा है और वैकल्पिक सार्वजनिक सहायता व्यवस्था पर्याप्त नहीं है।

भारत जैसे विकासशील समाजों में जिनमें अभी आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण हो रहा है, वृद्धों की स्थिति बहुत अधिक बिगड़ रही है। भारत में यद्यपि कुल जनसंख्या में वृद्धों का प्रतिशत विकसित देशों की तुलना में बहुत अधिक नहीं है, परंतु जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है जो कि काफी बड़ी है। इसके साथ-साथ इस बड़ी संख्या के वृद्धों की आर्थिक, स्वास्थ्य देखभाल संबंधी आवश्यकताएँ और सामाजिक आवश्यकताएँ तेजी से बढ़ रही हैं। इन्हीं परिवर्तनों के साथ-साथ परिवार के ढाँचे में भी परिवर्तन हुए हैं और वृद्धों के लिए सहायता व्यवस्था के रूप में परिवार का प्रभाव कम होता जा रहा है।

भारत में वृद्धों की समस्या इसीलिए सामाजिक समस्या बन गई है कि इस समस्या के कारण समाज के लिए वृद्धों के भरण-पोषण की अधिक जिम्मेदारी वहन करना अनिवार्य सा हो गया है। परंतु सार्वजनिक भरण-पोषण व्यवस्था अभी भी अपने प्रारंभिक चरण में है। संक्षेप में, इस इकाई में हमने वृद्धों के संबंध में सार्वजनिक नीतियों और कार्यक्रमों की जाँच-परख करने पर बल देने के साथ-साथ वृद्धों की समस्याओं के स्वरूप, जनसांख्यिकीय विशेषताओं और आर्थिक विशेषताओं, स्वास्थ्य स्थिति और सामाजिक समायोजन की चर्चा की है।

29.9 शब्दावली

जनसांख्यिकीय संक्रमण (demographic transition) : वह सामाजिक प्रक्रिया जिसके द्वारा समाज उच्च प्रजनन क्षमता और उच्च मृत्यु दर से निम्न प्रजनन क्षमता और निम्न मृत्यु दर की ओर अग्रसर होता है।

प्रजनन क्षमता (fertility) : समाज में महिलाओं द्वारा जन्म दिए गए बच्चों (संतान) की औसत संख्या।

जरा चिकित्सा (geriatrics) : चिकित्सा विज्ञान की वह शाखा जो वृद्धावस्था और वृद्ध हो रहे व्यक्तियों की समस्याओं और रोगों से संबंधित है।

जीवन-प्रत्याशा (life expectancy) : जीवन की औसत अवधि जिसमें एक निर्धारित समय पर उत्पन्न बच्चों के जीने की संभावना हो सकती है।

वृद्ध निर्भरता अनुपात (old dependency ratio) : $\frac{\text{60+ आयु-वर्ग की जनसंख्या का प्रतिशत}}{\text{15-59 आयु-वर्ग जनसंख्या का प्रतिशत}} \times 100$

युवा निर्भरता अनुपात (young dependency ratio) : $\frac{\text{0-14 आयु-वर्ग की जनसंख्या का प्रतिशत}}{\text{15-59 आयु-वर्ग जनसंख्या का प्रतिशत}} \times 100$

20.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) जब लोग वृद्ध हो रहे होते हैं तो कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ उनके समक्ष आती हैं। वृद्धों की समस्या तब उत्पन्न होती है जब उन्हें समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करना होता है। इन घटनाओं में वे परिवर्तन भी है जो उनके जीव के जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक क्षेत्र में होते हैं। दूसरे तरह के परिवर्तन हैं– सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन, ये उस ऐतिहासिक चरण के दौर में होते हैं जिसमें वे रह रहे होते हैं।

2) जनसंख्या में वृद्धों का बढ़ता अनुपात गिरती हुई प्रजनन क्षमता और लोगों की बढ़ती हुई जीवन-प्रत्याशा के कारण है। ये जनसांख्यिकीय संक्रमण की विशेषताएँ हैं। यह आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण द्वारा लाया जाता है।

3) युवा निर्भरता अनुपात 0-14 आयु-वर्ग की जनसंख्या के प्रतिशत को 15-59 आयु-वर्ग की जनसंख्या के प्रतिशत से भाग करके और भागफल को 100 से गुणा करके प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार वृद्ध निर्भरता अनुपात 60+ आयु समूह की जनसंख्या के प्रतिशत को 15-59 आयु समूह के जनसंख्या के प्रतिशत से भाग देकर और भागफल को 100 से गुणा करके प्राप्त किया जाता है। हाल ही में युवा निर्भरता अनुपात गिरना आरंभ हो गया है और वृद्ध निर्भरता अनुपात बढ़ना शुरू हो गया है।

बोध प्रश्न 2

1) जब वृद्धों की क्षमता में बहुत ज्यादा ह्रास हो जाता है तो सामान्यतया वे श्रमिक बल से स्वयं हट जाते हैं। परंतु जब अर्थव्यवस्था संगठित हो जाती है तो वृद्धों को बिना उनकी इच्छा के कार्य निवृत्त कर दिया जाता है चाहे वे अपना कार्य करने योग्य ही क्यों न हो। अतः जैसे-जैसे भारतीय अर्थव्यवस्था ज्यादा से ज्यादा मज़बूत होती जा रही है, वैसे-वैसे कार्य से हटने वाले वृद्धों का प्रतिशत लगातार बढ़ता जा रहा है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ज्यादा से ज्यादा वृद्ध दूसरों पर निर्भर होते जा रहे हैं।

2) वृद्ध संक्रामक रोगों की अपेक्षा जीर्ण रोगों से ज्यादा ग्रस्त होते हैं। उनकी शारीरिक रूप से असमर्थ होने की ज्यादा संभावना बनी रहती है। वृद्धों में जीर्ण रोगों का बार-बार होना उनके ग्रामीण-शहरी और लिंग के बीच अंतर के अनुसार बदलता रहता है।

बोध प्रश्न 3

1) वृद्ध महिलाएँ वृद्ध पुरुषों की अपेक्षा कम शिक्षित होती है और श्रमिक बल में कम भाग लेती है तथा आर्थिक रूप से दूसरों पर निर्भर होती है। वृद्ध महिलाएँ जो पति के बिना रहती हैं, उनका प्रतिशत अपेक्षाकृत वृद्ध पुरुषों से काफी अधिक है। वृद्ध पुरुषों और महिलाओं के रहने की व्यवस्थाओं के विन्यास में बहुत अंतर है जबकि पुरुष अपनी पत्नियों के साथ या काफी सीमा तक बिल्कुल अकेले रहते हैं और महिलाएँ प्रायः अपने बाल-बच्चों या अन्य संबंधियों के साथ रहती हैं।

2) सामाजिक समायोजन के संबंध में पहले वृद्ध की सहायता परिवार करते थे। परिवार की विशिष्ट संरचना और प्रकार्य वृद्धों के सामंजस्य के लिए पहले बहुत लाभदायक होते थे। विशेषकर यह तथ्य कि परिवार एक उत्पादन इकाई था और परिवार की उत्पादनकारी संपत्ति पर वृद्धों का नियंत्रण, वृद्धों की प्रस्थिति और सुरक्षा का संरक्षण करता था।

3) आज के समय में अर्थव्यवस्था बहुत अधिक औद्योगीकृत और संगठित हो रही है। इससे परिवार को उत्पादन कार्य से वंचित होना पड़ रहा है। युवा वर्ग जन आर्थिक रूप से वृद्धों पर कम निर्भर है और इसके विपरीत वृद्ध जन अपने कनिष्ठ संबंधियों पर अधिक निर्भर होते जा रहे हैं। बदलती हुई परिस्थितियों में परिवार में वृद्धों को सहायता प्रदान करने वाले सदस्यों की संख्या, योग्यता और देखभाल करने की स्थिति गिरती जा रही है। इसलिए वृद्धों को अपने सामाजिक समायोजन में अधिक कठिनाई हो रही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

बिनस्टॉक्स, आर.एच. एवं एल.के. जार्ज (संपादक), 1990 : *हैंडबुक ऑफ़ एजिंग एंड द सोशल साइंसिज़,* अकेडमिक प्रोसेस इंक., सैन डिगो।

बर्जर, बी., 1963 : ऑन द यूज़फूलनैस ऑफ़ यूथ कलचर, *सोशल रिसर्च,* खण्ड 30, पृष्ठ 310-342.

चानना, के. (संपादक), 1982 : *सोशियलाइजेशन, एजुकेशन एंड वीमन : एक्सप्लोरेशन्स इन जैंडर आइडेंटिटी,* ऑरिएंट लॉन्गमन, नई दिल्ली।

डामले, वाई.बी., 1977 : 'यूथ' एस.सी. दूबे संपादित *इंडिया सिन्स इंडिपेंडेंस* में विकास, नई दिल्ली।

_____, 1983 : 'प्रॉब्लम्स ऑफ़ एशियन यूथ' *सोशल चेंज,* खण्ड 13, नवम्बर 2, पृष्ठ 3-5.

डि मैलो, आर.सी., 1978 : *आइडेंटिटी एंड सोशल लाइफ़ : साइकोलॉजिकल इशूज़,* इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क।

देसाई, एन. एंड एम. कृष्णराज़ (संपादक), 1987 : *वीमन एंड सोसाइटी इन इंडिया,* अजन्ता पब्लिकेशंस, दिल्ली।

गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया, 1974 : *टुवर्डस् इक्वैलिटी : रिपोर्ट ऑफ़ द कॉमिटी ऑन द स्टैटस ऑफ़ वीमन इन इंडिया,* मिनिस्टरी ऑफ़ एजुकेशन एंड सोशल वेल्फेयर, नई दिल्ली।

_____, 1980 : *प्रोफाइल ऑफ़ द चाइल्ड इन इंडिया : पॉलिसीज़ एंड प्रोग्राम,* गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया, नई दिल्ली।

_____, 1990 : *इंडिया 1990,* पब्लिकेशन डिवीज़न, गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया, नई दिल्ली।

किमेल, डी.सी., 1980 : *अडल्टहुड एंड एजिंग,* जॉन विले एंड संस, न्यूयार्क।

कृष्णराज़, एम., 1980 : *वीमन एंड डवेलपमेंट : द इंडियन एक्सपीरियंस,* एस.एन.डी.टी., मुम्बई।

लिडल, जे. एंड जे. जोशी, 1986 : *डाटर्स ऑफ़ इंडिपेंडेंस : जैंडर, कास्ट एंड क्लास इन इंडिया,* काली फॉर वीमन, नई दिल्ली।

मंडल बी.बी., 1990 : *चाइल्ड एंड एक्शन प्लैन फॉर डवेलपमेंट,* उप्पल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

पति, पी.एन. एवं बी. जेना (संपादक), 1989 : *एजेड इन इंडिया : सोशियो डेमोग्रैफिक डाइमेशंस,* आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

सच्चिदानंद, 1988 : *सोशल चेंज इन विलेज इंडिया,* कान्सेप्ट, नई दिल्ली।

शिंगी, पी.एम., 1985 : *यूथ इन साउथ एशिया,* नई दिल्ली।

श्रीनिवास, एम.एन., 1966 : *सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया,* यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रैस, बर्कले एंड लॉस एंजेल्स।

विसारिया, पी., 1985 : *द लैवल, कॉज़िज़ एंड कान्सीक्वैंसिज़ ऑफ़ अनएम्प्लायमेंट अमंग द यूथ* अहमदाबाद में एक राष्ट्रीय अध्ययन गोष्ठी में प्रस्तुत एक समीक्षा पत्र।

_____, 1985: "डैमोग्रफ़ी ऑफ़ इंडियन यूथ" पी. एन. शिंगी (संपादक) कृत यूथ भव *इन साउथ एशिया में,* नई दिल्ली।

इकाई 25 भूमि : सुलभता, नियंत्रण तथा प्रबंधन

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 भारत में भूमि के प्राकृतिक-भौगोलिक अभिलक्षण

25.3 भूमि का उपयोग और उससे संबंधित पारिस्थितिक समस्याएँ

- 25.3.1 चरागाह और पशुपालन पर निर्भर लोगों की समस्याएँ
- 25.3.2 बंजर भूमि और उसका ग्रामीण जनसंख्या पर प्रभाव
- 25.3.3 लोगों के जीवन-निर्वाह का प्रमुख साधन – फसली भूमि

25.4 भूमि की सुलभता और लोगों के द्वारा उसका नियंत्रण एवं प्रबंधन

- 25.4.1 काश्तकारी पर लोगों का असमान अधिकार
- 25.4.2 भूमि सुधार के लिए कानूनी उपाय, किसानों तथा ज़मीन के उचित उपयोग हेतु इन उपायों के निहितार्थ

25.5 भूमि सुधारों के फलस्वरूप कृषि मज़दूरों का उदय व अन्य प्रभाव

25.6 भारत में भूमि और शहरी विकास

25.7 ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में भूमि के नियंत्रण और प्रबंधन में लोगों की भागीदारी

- 25.7.1 कृषक आंदोलन
- 25.7.2 शहरी क्षेत्रों में भूमि के उपयोग से संबंधित समस्याओं के प्रति लोगों की जागरूकता

25.8 सारांश

25.9 शब्दावली

25.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- भारत में भूमि के प्राकृतिक लक्षणों का वर्णन करना;
- फ़सली भूमि, बंजर भूमि तथा चरागाहों से जुड़ी पारिस्थितिकीय समस्याओं और भूमि उपयोग के विन्यास का वर्णन करना;
- भूमि सुधार के लिए किए गए कानूनी उपायों और भूमि सुलभता की प्रकृति को रेखांकित करना;
- कृषि मज़दूरों की संख्या वृद्धि संबंधी व्याख्या करना;
- भारत में नगरीय विकास से भूमि उपयोग को जोड़ना; और
- नगरीय तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि के नियंत्रण तथा प्रबंधन में जनसाधारण की भागीदारी के रूप का विश्लेषण करना।

25.1 प्रस्तावना

पारिस्थितिकी एवं संसाधनों पर खंड 7 की यह पहली इकाई है। जैसा कि खंड परिचय में बताया जा चुका है, हमें समय रहते चेतना है और भूमि जल तथा वन जैसे संसाधनों के क्षय को रोकना है। धरती पर जीवन का अस्तित्व तभी संभव है जब पारिस्थिकीय संतुलन को बनाए रखा जाएगा। इकाई 25 में एवं बुनियादी संसाधन रूप में भूमि पर चर्चा की गई है। किसी भी समाज में भूमि एक अति महत्त्वपूर्ण घटक है और भारत में तो यह लोगों की मानसिकता से एक ख़ास ढंग से जुड़ा है। इस इकाई में दिखाया गया है कि संसाधन की उपलब्धता (availability) और लोगों की इसकी सुलभता में अंतर होता है। इसी प्रकार, संसाधन के नियंत्रण तथा प्रबंधन से जुड़ी समस्याओं की भी चर्चा की गई है। ग्रामीण भूमि के उपयोग की चर्चा अधिक की गई है क्योंकि भारत में अभी भी कृषि पर निर्भर आर्थिकी/अर्थव्यवस्था के सहारे ही अधिकांश जनता अपना भरण-पोषण करती है।

इकाई के पहले भाग में भारत में भूमि के प्राकृतिक भौगोलिक अभिलक्षणों की चर्चा की गई है। इसके बाद चरागाहों, बंजर भूमि और फ़सली भूमि से जुड़ी पारिस्थितिकीय समस्याओं पर लंबी चर्चा की गई है। इस चर्चा से हमें वह संदर्भ मिलता है जिसके अंतर्गत भूमि की सुलभता तथा लोगों द्वारा भूमि के नियंत्रण तथा प्रबंधन का विश्लेषण किया जा सकता है। लोगों द्वारा भूमि की सुलभता को बढ़ाने के लिए किए गए कृषि सुधारों के फलस्वरूप कृषि मज़दूरों के वर्ग की उत्पत्ति हुई (पाठांश 25.5)। इस चर्चा के बाद, इकाई में भारत के नगरीय क्षेत्रों में विकास के परिप्रेक्ष्य में भूमि से जुड़े मुद्दों पर आपका ध्यान आकर्षित किया गया है। अंत में, नगरीय तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि के नियंत्रण तथा प्रबंधन में लोगों की भागीदारी पर चर्चा की गई है।

25.2 भारत में भूमि के प्राकृतिक-भौगोलिक अभिलक्षण

भारतीय उपमहाद्वीप के भू-भाग को हम एक विशाल प्रायद्वीप कह सकते हैं। इसका क्षेत्रफल लगभग 32.8 करोड़ हेक्टेयर है। यह दुनिया का सातवाँ सबसे बड़ा देश है। जिसमें 100.2 करोड़ लोग रहते हैं (ये आँकड़े 2001 के हैं)। इसके प्राकृतिक भौगोलिक अभिलक्षण (देखिए चतुर्वेदी 1985 : 13-19) नीचे दिए गए हैं :

i) भारत के उत्तर में हिमालय के शिखर हैं, जिनकी लंबाई 250 किलोमीटर है और चौड़ाई 200-400 किलोमीटर है। इस देश के समुद्रतट की लंबाई 5700 किलोमीटर है। इस विशाल प्रायद्वीप के उत्तर में गगनचुंबी पर्वत शृंखलाएँ हैं। इसका भूजल वैज्ञानिक-जलवायवी पर्यावरण विलक्षण है।

ii) उत्तरी हिमालय पर्वत की तराई में गंगा के विशाल मैदान हैं। इन मैदानों का निर्माण हिमालय से बहकर आने वाली नदियों से हुआ है। विशाल नदियों की घाटियों में जो सैलाबी मिट्टी (alluvium) है वह कई भूगर्भीय (geological) चरणों में जमा हुई है। इन मैदानों की गहराई हज़ारों मीटर है। यह भारत के पूरे भूभाग का एक-चौथाई है। इन मैदानों का कुल क्षेत्रफल 652.000 वर्ग किलोमीटर है।

iii) मध्यवर्गी उच्च भूभाग में पर्वतों, पहाड़ियों और पठार का खंड है। इस क्षेत्र के बीच-बीच में घाटियाँ हैं जो घने जंगलों से घिरी हैं (ये वन तेज़ी से समाप्त होते जा रहे हैं) यह मध्यवर्ती उच्च भूभाग पूरे भारत के भूक्षेत्र का एक-बटा-छह भाग है।

iv) इस त्रिभुजाकार प्रायद्वीपीय पठार के अंतर्गत भारत के कुल भूभाग का एक-तिहाई से कुछ अधिक भाग आता है। इसकी ऊंचाई 300 से 900 मीटर के बीच है। इसकी सतह कहीं-कहीं विशाल मैदानों के रूप में है। इस क्षेत्र में पश्चिम से पूर्व की ओर कई नदियाँ प्रवाहित होती हैं।

25.3 भूमि का उपयोग और उससे संबंधित पारिस्थितिक समस्याएँ

ऊपर जिस भूमि भाग का विवरण प्राकृतिक लक्षणों के रूप में दिया गया है, उसे भू-उपयोग की दृष्टि से मोटे तौर पर चार हिस्सों में बाँटा जा सकता है। ये भाग हैं :

i) चरागाह

ii) बंजर भूमि

iii) फ़सली भूमि; और

iv) वन क्षेत्र

इनमें से वन क्षेत्र के बारे में इकाई 27 में चर्चा की गई है। प्रस्तुत इकाई में हम चरागाह, बंजर भूमि और फसली भूमि के बारे में चर्चा करेंगे। यहाँ हमारा ध्यान मुख्य रूप से भारत के भूभाग की वर्तमान स्थिति, भूभाग तक लोगों की पहुँच, नियंत्रण और प्रबंधन के कारण उठने वाली समस्याओं पर केंद्रित होगा। इस इकाई में इन तीन प्रकार के भूभागों के संबंध में जो सामग्री दी गई है वह *भारत में पर्यावरण की स्थिति 1984-85, द्वितीय नागरिक रिपोर्ट (1985)* और *कृषि राष्ट्रीय आयोग, 1976 की रिपोर्ट (संस्करण XV)* पर आधारित है। सबसे पहले हम चरागाहों की वर्तमान स्थिति पर विचार करेंगे।

25.3.1 चरागाह और पशुपालन पर निर्भर लोगों की समस्याएँ

भारत के भूभाग के सभी हिस्सों में से चरागाह की भूमि के अस्तित्व के समाप्त होने के आसार दिखाई दे रहे हैं। अब पुराने चरागाह क्षेत्रों के बहुत बड़े भाग पर नियमित रूप से खेती की जाने लगी है। यह प्रश्न उठता है कि भारत में चरागाह क्षेत्र कहाँ स्थित हैं?

भारत के सबसे अच्छे चरागाह उन क्षेत्रों में पाए जाते हैं, जहाँ 1200 मिलीमीटर से अधिक असाधारण वर्षा होती है। वहाँ साल में केवल चार महीने सूखा मौसम रहता है। चरागाह या विशिष्ट घास के मैदानों के वनस्पति समावास हिमालय के नातीशीतोष्ण जलवायु क्षेत्र में पाए जाते हैं। भारत के शेष घासी मैदान या तो स्टैपीज़ (घास के मैदान) हैं या सवाना (उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान) हैं।

जो चरागाह क्षेत्र लगभग 1000 मीटर की ऊँचाई पर स्थित हैं वे सवाना (उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान) में बदल जाते हैं। सवाना या उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान उन खुले विस्तृत घास के मैदानों को कहते हैं जिनमें जहाँ-तहाँ झाड़ियाँ और पेड़ उगे हों। इन उष्ण कटिबंधीय घास के मैदानों में जहाँ पेड़ और ऊँची घास होती है वहाँ घास खाने वाले बड़े-बड़े पशु रहते हैं। स्टैपीज़ उन विस्तृत समतल मैदानों को कहते हैं जिसमें जहाँ पेड़ नहीं होते। ये पश्चिमी राजस्थान के रेतीले और लवणयुक्त मृदा के क्षेत्रों में पाए जाते हैं। यहाँ घास बहुत कम होती है और केवल कहीं-कहीं ही लकड़ी या पौधे होते हैं। स्टैपीज़ क्षेत्रों में पाए जाते हैं। यहाँ घास बहुत कम होती है और केवल कहीं-कहीं ही लकड़ी या पौधे होते हैं। स्टैपीज़ क्षेत्र में दाना या चारा केवल अल्पकालीन वर्षा के मौसम में उपलब्ध होता है।

राजस्थान के मध्यवर्ती और पूर्वी भागों में सवाना (जहाँ-तहाँ झाड़ियों और पेड़ों वाले व्यापक खुले घासीले मैदान में केवल अल्पकालीन बारिश के मौसम में उगने वाली घास के रूप में चारा मिलता है। कुछ चारा बिना बारिश के दिनों में उगने वाली घास से प्राप्त होता है। पशुओं को अत्यधिक चराने के कारण सवाना क्षेत्र में घास का सफाया हो जाता है और सवाना क्रमश: स्टैपीज़-सा लगने लगता है। उदाहरण के लिए, मध्य भारत (the Deccan) के सबसे बड़े सवाना क्षेत्र में केवल झाड़ियाँ ही हैं और यहाँ की पहाड़ियों की ढलान पर नाममात्र को ही मिट्टी बच रही है।

सवाना और स्टैपीज़ दोनों के पारितंत्र का निर्माण जनसंख्याओं के दबाव से होता है। भारत में केवल अगम्य और दूरदर्शी पहाड़ी क्षेत्रों में ही प्राकृतिक रूप से बना सवाना या स्टैपीज़ मिलता है। अधिकांशत: जानवरों और/अथवा मनुष्यों के दबाव से विविध वन पारितंत्र पेड़ों के कट जाने पर सवाना का रूप धारण कर लेते हैं। इसके बाद सवाना या उष्ण कटिबंधी घास के मैदान का सफ़ाया हो जाने पर कृत्रिम घास के मैदान (स्टैपीज़) बन जाते हैं।

सोचिए और करिए 1

भारत के नक्शे पर, पहले ऐसे क्षेत्रों को दिखाइए जहाँ उष्ण कटबंधीय घास के मैदान (सवाना) और घास के मैदान (स्टैपीज़) अपने प्राकृतिक रूप में पाए जाते हैं फिर उन नष्ट हो गए वनों को प्रदर्शित कीजिए जो अब उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान (सवाना) बन गए हैं तथा उन बिगड़ गए सवानाओं को प्रदर्शित कीजिए जो अब कृत्रिम स्टैपीज़ बन गए हैं।

भारत की बहुत-सी चरागाह भूमि में अब खेत की जा रही है। इसमें से केवल लगभग1.3 करोड़ हैक्टेयर क्षेत्र सरकारी खातों में स्थायी चरागाह क्षेत्र के रूप में वर्गीकृत है। यदि आप भारत में पशुओं की आबादी को देखें (देखिए 25.01) तो बड़ी आसानी से समझ में आ जाएगा कि इतनी बड़ी संख्या में पशुधन को कितने अधिक चारे की जरूरत होगी। इस समय जो 1.3 करोड़ हैक्टेयर चरागाह भूमि उपलब्ध है, वह निश्चय ही उतने पशुधन के लिए पर्याप्त नहीं है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि पशु आसपास के क्षेत्र में चारे की तलाश करते हैं। उन्हें परती या अकृष्य भूमियों पर जो कुछ भी खाने को मिलता है। उसे खा लेते हैं। ये पशु उष्ण कटिबंधीय वनों की भूमि पर और अकृष्य बंजर भूमि पर खाने की खोज में भटकते-फिरते हैं। ऐसा माना जाता है (देखिए सी.एस.ई. 1985 : 3) कि देश के, कुल भूभाग के आधे से अधिक भाग की लगभग सारी सुलभ वनस्पति पशु चर जाते हैं। केवल मिज़ोरम के एक जिले में और गुजरात, हरियाणा, महाराष्ट्र और पंजाब के कुछ ज़िलों में ही पर्याप्त हरा चारा उपलब्ध है। देश के बाकी हिस्सों के अधिकांश जानवर फसल की बची-खुची घास, परती भूमियों, पंचायत की बेकार पड़ी ज़मीन, नदी के किनारे की ज़मीन, बंजर भूमि और वनों में उगने वाला चारा खाते हैं। इस तरह के आहार पर जीने वाले इन जानवरों में से अधिकांश (दस में से नौ) फिर भी भूखे ही रहते हैं।

तालिका 25.1: भारत की पशुधन संख्या (लाखों में)

	1951	1961	1972	1977	1982	1991	2001
पशु	155.24	1755.6	1788.7	1800.0	1925.0	2035.0	2196.4
भैंसें	43.40	512.1	579.4	619.6	698.0	827.0	941.3
भेड़	38.96	402.2	399.9	409.1	488.0	497.0	582.0
बकरियाँ	47.00	600.8	675.2	756.2	953.0	1142.0	175.0

स्रोत : 1951 से 1961 तक के आँकड़े कृषि संबंधी राष्ट्रीय आयोग से लिए गए हैं तथा बाकी आँकड़े बारहवीं अखिल भारतीय पशुधन गणना से लिए गए हैं। इन इकाई के लिए यह तालिका अग्रवाल 1985 : 3 के सौजन्य से प्राप्त हुई; 1991, 2001 एफ.ए.ओ. मिलाएँ w.w.w.cifti.com

अत्यधिक चतुराई के कारण भूमि में रेगिस्तान की-सी स्थिति बन जाती है। इससे प्रतिक्रिया की कड़ी शुरू हो जाती है। चरागाह की भूमि के अभाव के कारण पशुओं की उत्पादकता दर में कमी हो जाती है। यह पशुपालन करने वाले लोगों के लिए आर्थिक दृष्टि से हानिप्रद होती है। इस प्रक्रिया के द्वारा पशुचारी खानाबदोश वर्गों को लाचार होकर भूमिहीन मज़दूर बन जाना

पड़ता है। स्पष्ट है कि 'अत्यधिक चराई' ही इस सबके लिए ज़िम्मेदार है, जानवरों की संख्या तो बहुत अधिक है, परंतु उनके खाने के लिए बहुत थोड़ी घास उपलब्ध होती है।

यद्यपि चरागाहों की भूमि का क्षेत्र कम हो गया है, फिर भी सरकारी योजना और नीति निर्माताओं तथा नीति को कार्यान्वित करने वाले अधिकारियों ने वर्तमान चरागाह क्षेत्रों की गुणवत्ता और उनकी वर्तमान मात्रा तक को कायम रखने के लिए कोई विशेष कदम नहीं उठाए हैं। इसके विपरीत, सरकार द्वारा शुरू की गई बहुत-सी सिंचाई योजनाओं से पुराने चरागाह क्षेत्र भी फसल उत्पादक भूमि में परिवर्तित हो गए हैं, लेकिन सरकार ने पशुचारियों के पुर्नवास की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया है। इसके अलावा, चरागाहों पर इतना अधिक दबावों इसलिए भी पड़ा है क्योंकि भारत में चारे के उत्पादन और प्रबंधन के संगठित और दीर्घकालिक कार्यक्रम नहीं बनाए गए हैं।

बोध प्रश्न 1

1) विशाल सिंधु-गंगा मैदान में भारत की कुल भूमि का कितना क्षेत्र आता है?

.....

.....

.....

.....

2) भारत के कुल भूभाग के उस एक-बटा-छह भाग का क्या नाम है जिसमें पर्वतों, पहाड़ों और पठारों का एक खंड है? इसके बीच-बीच में घाटियाँ हैं जिन पर घने वन हैं।

.....

.....

.....

.....

3) भूभाग के उपयोग की दृष्टि से भारत के कुल भूभाग को कितने हिस्सों में बाँटा जा सकता है?

.....

.....

.....

.....

4) सवाना (उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान) और स्टैपीज़ (घास के मैदान) में क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

25.3.2 बंजर भूमि और उसका ग्रामीण जनसंख्या पर प्रभाव

सामान्यत: खेती करने के अयोग्य या उजाड़ भूभाग को बंजर भूमि कहते हैं। यह ऐसी ज़मीन होती है जिसमें खारापन, लवणता और वायु तथा पानी का क्षरण (erosion) पाया जाता है। भारत के कुल भूभाग का लगभग एक-तिहाई हिस्सा बंजर भूभाग है। यह 10 करोड़ हैक्टेयर से भी अधिक है। हमारे इस आकलन में वनों की अवनति (degradation) के कारण बंजर भूमि में परिवर्तित क्षेत्र के आंकड़े शामिल नहीं हैं।

i) लवणता और क्षारीयता

लगभग 71.7 लाख हैक्टेयर बंजर भूमि लवणता और खारेपन से प्रभावित है। सामान्य रूप से इस प्रकार की भूमि को बंजर या खेती के अयोग्य भूमि कहा जाता है।

ii) वायु अपरदन (erosion)

वायु के अपरदन से कुल 1.293 करोड़ हैक्टेयर भूमि प्रभावित है। सही-सही आँकड़ों के अभाव में इसमें 10 से 20 लाख हैक्टेयर समुद्र तटवर्ती भूमि शामिल नहीं है, जिस पर रेत के टीले हैं। रेत के परिवर्तनशील टीलों, तटवर्ती रेत के टीले और अत्यधिक आर्द्रता के प्रतिबल के कारण हवा से भूमि का अपरदन होता है। हवा के अपरदन से राजस्थान के ग्यारह पश्चिमी ज़िले और हरियाणा व गुजरात के तीन ज़िले प्रभावित हैं।

मृदा अपरदन रोकने के लिए वृक्षारोपण

iii) जल अपरदन

पानी से भी भूमि का अपरदन होता है। उदाहरण के लिए विशाल जलराशि द्वारा अपरदन से, बीहड़ की घाटियाँ बनने से, पानी के रूक जाने से, नदी की तटवर्ती ज़मीन से, अपरदन से और झूम खेती के कारण इस प्रकार, भूमि के 7.36 करोड़ हैक्टेयर भाग का अपरदन हो चुका है। जल के द्वारा उपर्युक्त प्रकार का भू-अपरदन मध्य प्रदेश के चंबल नदी के आसपास के क्षेत्र में, उत्तर प्रदेश में यमुना और गुजरात में साबरमती और इनकी सहायक नदियों के निकटवर्ती क्षेत्रों में हुआ है। यहाँ बीहड़ तंग घाटियों के बारे में कुछ चर्चा की जा रही है।

बीहड़ तंग घाटियाँ (ravines) बनने से निकटवर्ती उपजाऊ समतल भूमि भी प्रभावित होती है। चंबल क्षेत्र में बीहड़ तंग घाटियाँ बन जाने से चंबल घाटी के ज़िलों के दस प्रतिशत से अधिक गाँव निर्जन हो गए हैं। इन गाँवों के लोग धीरे-धीरे उन गाँवों के लोग धीरे-धीरे उन गाँवों में चले गए जहाँ चंबल घाटी का प्रभाव नहीं था और जहाँ पहले ही बहुत लोग रहते थे। आपको यह जानने की उत्सुकता होगी कि बीहड़ तंग घाटियाँ कैसे बनती हैं और इनसे अपरदन कैसे होता है। बीहड़ तंग घाटियाँ और इनसे अपरदन के बारे में कोष्ठक 25.1 में कुछ रोचक तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं, इन पर ध्यान दीजिए।

कोष्ठक 25.01

जब किसी क्षेत्र की मिट्टी पर स्थायी वनस्पतियाँ नहीं उगी होतीं तो उस प्रदेश में वर्षा के कारण मिट्टी बह जाती है और उनसे बीहड़ तंग घाटियाँ बनती हैं। वर्षा से गंदला पानी अपने साथ मिट्टी के कणों को बहा ले जाता है। इस जलराशि के बहाव को जलराशीय अपरदन (sheet erosion) कहते हैं। इस प्रकार, वर्षा का पानी मिट्टी में सोखे जाने के बजाय पानी में समा जाता है और छोटी-छोटी धाराओं में बहने लगता है। इन धाराओं में बहने लगता है। इन धाराओं से छोटे-छोटे परनाले (gullies) बन जाते हैं। जब छोटे परनाले बड़े हो जाते हैं तो वे बीहड़ तंग घाटी बन जाते हैं। बीहड़ तंग घाटियों में परनाले बड़े गहरे होते हैं जो एक-दूसरे के समानांतर बहते हैं। इनमें पानी के साथ बहुत-सी मिट्टी बहकर जाती है जो आसपास की पठारी भूमि के बहुत नीचे बहती है और आसपास की नदी में मिल जाती है तथा उसमें सैलाबी मिट्टी जमा हो जाती है। इस प्रकार नदी में पानी के गिरने से नदी तट में गहरे कटाव हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से नई बीहड़ तंग घाटियाँ बन जाती हैं।

ऐसा लगता है कि भारत में प्रतिवर्ष 8000 हैक्टेयर भूमि बीहड़ तंग घाटियों में बदलती जा रही है। इन बीहड़ तंग घाटियों से अपरदन होता है और इसका प्रभाव पठार या ऊँची समतल भूमि के स्थायित्व पर पड़ता है। इस हानि के साथ-साथ चंबल घाटी की ये बीहड़ तंग घाटियाँ डाकुओं के छिपने के स्थान के रूप में भी कुख्यात हैं। उत्तर प्रदेश के इस क्षेत्र में बीहड़ों और डाकुओं के कारण किसी भी प्रकार के उत्पादन की संभावना नहीं रही। इसके कारण मध्य प्रदेश और राजस्थान को प्रति वर्ष लगभग 157 करोड़ हानि हो रही है। बीहड़ तंग घाटियों के कारण इस क्षेत्र का विकास न होने से प्रति वर्ष संभावित 30 लाख टन अनाज तथा फल, लकड़ी, चारा आदि के संभावित उत्पादन की हानि उठानी पड़ रही है। विशेषज्ञों का सुझाव है कि इस क्षेत्र के सुधार के लिए युद्ध-स्तर पर प्रक्रिया शुरू की जानी चाहिए।

iv) खनन

ऊपर जिन प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है, उनके कारण बहुत-सी भूमि बंजर बन जाती है। इसके अलावा, खनन के कारण भी बहुत-सी कृषि-योग्य भूमि बंजर बन जाती है। खनन का प्रभाव जहाँ भूमि पर पड़ता है वहीं इससे पानी, वन और हवा भी प्रभावित होते हैं। यहाँ हमने यह बताने का प्रयास किया है कि खनन से ज़मीन पर क्या प्रभाव पड़ता है। भारत में लगभग 10-15 लाख हैक्टेयर भूभाग में खनन कार्य होता है। इसके अलावा, प्रत्येक खनन उद्योग के लिए सड़क, रेलमार्ग, राजमार्ग, खनिकों, प्रबंधकों के आवास के लिए तथा प्रशासनिक कार्यालयों, स्टॉकयार्ड और आरंभिक संसाधन संबंधी संक्रियाओं के लिए उपनगर स्थापित करने की आवश्यकता होती है। इस कारण खानों के लिए आवंटित पट्टे पर दी गई भूमि से कई गुना अधिक भूमि प्रभावित होती है।

सतही खनन की आरंभिक अवस्था में वनस्पतियों और ऊपरी मिट्टी को हटाना पड़ता है और खनन कार्य पूरा होने के बाद खनन क्षेत्र को छोड़ दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है जिस भूमि पर खनन किया जाता है, वह अनुपजाऊ हो जाती है। इसके अलावा, खान के आसपास की भूमि भी बंजर हो जाती है। खनन क्षेत्र में खनन का मलबा जमा होने के कारण ऐसा होता है। यह मलबा वर्षा जल के साथ बहकर आसपास के खेतों और जलधाराओं में पहुँच जाता है। सूखने पर मलबे का बचा हुआ भाग सख्त हो जाता है। ऐसी ज़मीन पर खेती करना मुश्किल हो जाता है।

v) भूमिगत खनन

भूमिगत अथवा ज़मीन के नीचे खनन के कारण भूमि पर ज्वालामुखी जैसे गड्ढे बन जाते हैं। इन खानों में से अधिक से अधिक कच्ची धातु या खनिज निकालने के बाद इन्हें छोड़ दिया जाता

है। इसके कुछ समय बाद ज़मीन को सरकारी रूप से परित्यक्त भूमि माना जाता है। यह उत्पादनशील प्रयोजनों के लिए अनुपयुक्त होती है।

vi) **खनिजों का खनन**

राजस्थान की शुष्क भूमि में खनिजों के खनन के कारण उस भूमि की पारिस्थितिकीय संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इससे वहाँ रेगिस्तान की-सी स्थिति बन जाती है। वनस्पतियों और ऊपर मिट्टी के हट जाने के कारण सूखी धरती अपरदन-प्रवण हो जाती है और इससे रेगिस्तान बनने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इस प्रकार के अपरदन के कुछ उदाहरणों के लिए कोष्ठक 25.02 देखिए।

कोष्ठक 25.02

जोधपुर, उदयपुर, जयपुर और बाडमेर ज़िलों में खनन के कारण मृदा की लवणता से इन क्षेत्रों में भूमि की उर्वरता कम हो गई है। इन घाटियों में चूने के पत्थर के लिए अनियंत्रित खुली खुदाई से इस क्षेत्र पर वृक्षावरण घटकर 12 प्रतिशत रह गया है। इसके परिणामस्वरूप, चराई की भूमि समाप्त हो गई है और इस क्षेत्र में पशुओं की संख्या में कमी आ गई है।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में वायु के अपरदन से प्रभावित क्षेत्रों के नाम लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) बीहड़ तंग घाटियों से होने वाले अपरदन से लोगों को किस-किस प्रकार की हानि उठानी पड़ती है, उनका उल्लेख कीजिए। चार पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

3) खानों में खनन कार्यों से भूमि बंजर कैसे बन जाती है? चार पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

25.3.3 लोगों के जीवन-निर्वाह का प्रमुख साधन – फसली भूमि

भारत में भूमि-उपयोग के विन्यास की यह विशेषता है कि इसके सकल बुआई-क्षेत्र में निरंतर वृद्धि हो रही है। यह वृद्धि चराई की भूमि और वन भूमि की एवज में हो रही है। उदाहरण के तौर पर, गंगा घाटी की भूमि का बहुत बड़ा क्षेत्र, पहले मुग़ल काल तक वनों से आच्छादित था। उस क्षेत्र में तेज़ी से बढ़ती हुई आबादी की खाद्यान्नों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए फ़सलों की खेती शुरू हो गई। यहाँ का सकल बुआई क्षेत्र देश के कुल क्षेत्र के लगभग आधे

भाग के बराबर है। सन् 1960-61 में सकल बुआई क्षेत्र 13.31 करोड़ हैक्टेयर था। सन् 1972-73 में यह बढ़कर 14.16 करोड़ हैक्टेयर हो गया। तदोपरांत, सन् 1998-99 में यह बढ़कर 19.26 करोड़ हैक्टेयर हो गया (सी.एम.आई.ई. 2004)।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि दो प्रक्रियाएँ परस्पर विरोधी दिशाओं में कार्यरत हैं। इससे पूर्व आपने पढ़ा है कि भारत में भूमि के मुख्य रूप से बंजर और अकृषि-योग्य भूमियों के उद्धार द्वारा संभव हुआ है।

देश में अधिक अन्न उपजाने की स्थायी समस्या है। इसके समाधान के लिए या तो फ़सल-उत्पादन के क्षेत्र में वृद्धि करनी होगी या गहन खेती (अर्थात् एक ही ज़मीन पर अधिक फ़सलें उगाना) करनी होगी। अब चूँकि सकल बुआई क्षेत्र के और अधिक विस्तार की गुंजाइश नहीं है, इसलिए खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रति वर्ष एक से अधिक फ़सलें उगानी होंगी। यदि हम 1986-87 के भूमि के उपयोग के आँकड़ों पर नज़र डालें तो हमें यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। फ़सल उगाने के लिए कुल 17.70 करोड़ हैक्टेयर फ़सल क्षेत्र है। यह क्षेत्र भी तब होता है अगर 3.7 करोड़ हैक्टेयर भूमि पर वर्ष में एक बार से अधिक बुआई की जाए। इस प्रकार, हमारे कुल फ़सली क्षेत्र में प्रति इकाई ज़मीन पर वर्तमान 46 प्रतिशत के ऊपर 12 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

i) भारत में जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए भूमि की क्षमता

यह प्रश्न उठता है कि वास्तव में भारत की भूमि खाद्यान्नों का कितना उत्पादन करने में समर्थ है? अथवा, भारत की ज़मीन कितनी आबादी का भरण-पोषण करने में समर्थ है?

इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है क्योंकि इसके लिए बहुत-से परिस्थिति विज्ञान संबंधी चरों (variables) पर विचार करना होगा तभी यह बताना संभव होगा कि कोई भूखंड कितने लोगों या प्राणियों का भरण-पोषण करने में समर्थ होगा। खाद्य और कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) द्वारा प्रकाशित *पोटेंशल पॉपुलेशन सपोर्टिंग कैपेसिटी ऑफ लैंड इन डेवलपिंग वर्ल्ड* (विकासशील विश्व में भूमि की जनसंख्या के भरण-पोषण की संभावित क्षमता) नामक अध्ययन की अग्रवाल (1985 : 157-162) ने विस्तारपूर्वक चर्चा की है। यह अध्ययन पूरे दस वर्षों के अध्ययन का परिणाम है। इस अध्ययन के अनुसार, सन् 1975 में भारत में उपलब्ध भूमि जितनी आबादी का भरण-पोषण करने में समर्थ थी, उससे 11.90 करोड़ लोग अधिक थे (अग्रवाल 1985 : 158)। इस अध्ययन में यह बताने का प्रयास किया गया है कि कृषि भूमि की जनसंख्या के भरण-पोषण की संभावित क्षमता को समुचित प्रबंधन द्वारा वर्तमान स्तर से साढ़े तीन गुना बढ़ाया जा सकता है।

परन्तु आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस समय भारत में, वास्तव में, कृषि क्षेत्र में ''निरंतर पूँजी निवेश पर कम उत्पादन'' हो रहा है (अग्रवाल के अध्ययन में शाह द्वारा अधिक करना पड़ रहा है। 1970 से 1980 के बीच कृषि के क्षेत्र में 4.2 प्रतिशत वार्षिक की दर से निवेश में वृद्धि हुई। आशा थी कि कृषि-उत्पादन में भी इसी अनुपात में वृद्धि होगी। लेकिन, वास्तविक उत्पादन में केवल 2.3 प्रतिशत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई। आइए, हम देखें कि कृषि उत्पादन में किस प्रकार वृद्धि होती है। वृद्धि दो तरह से होती है : (i) कृषि के क्षेत्र में; और (ii) प्रति हैक्टेयर उत्पादन में वृद्धि।

इस समय चूँकि भारत के आधे भौगोलिक क्षेत्र में पहले ही खेती हो रही है, इसलिए इसमें और अधिक वृद्धि करने की संभावना बहुत ही कम है।

कृषि उत्पादन में विशेष वृद्धि के कोई संकेत नहीं मिले हैं। वास्तव में, कृषि उत्पादन में वर्तमान वृद्धि की दर लगभग उतनी ही है जितनी जनसंख्या में वृद्धि की दर है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं , कि प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन में वृद्धि की दर ज्यों की त्यों है।

तालिका 25.2 : एशिया के कुछ देशों में मरुस्थलीकरण का विस्तार

देश	कुल क्षेत्रफल (लाख हैक्टेयर में)	ह्रास (लाख है.)	%	कुल जनसंख्या (लाख में)	जनसंख्या घनत्व (सं./ वर्ग किमी.) (हैक्टेयर में)	खेतीयोग्य भूमि प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल
चीन	9320	2600	27	11500	123	0.08
भारत	3280	1726	-	10120	324	0.18
कज़ाक़स्तान	2711		60	169	6.2	2.13
मंगोलिया	1560		41	23	1.5	0.16
तुर्कमेनिस्तान	488		66.5	42	8.6	0.35
उज़्बेकिस्तान	447		59.2	217	48.5	0.21
पाकिस्तान	796		52	1316	165	0.16
सीरिया	185		75	143	77.3	0.42
जोर्डन	89		96	42	48	0.1
ईरान इस्लामिक गणतंत्र	1636		43	672	41	0.27

स्रोत : यू.एन.सी.सी.डी., 1998 : *द सोशल एण्ड इकॉन्मिक इम्पैक्ट ऑफ़ डैज़र्टीफ़िकेशन इन सैवरल एशियन कंट्रीज़*

तालिका 25.3 : विश्व, एशिया व भारत में खेतीयोग्य भूमि में ह्रास

खेतीयोग्य भूमि का प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल	1950 - 55	1981	1992	2000	2025	सूचना स्रोत
विश्व	0.32	N.A.	0.25	N.A.	N.A.	कृषि मंत्रालय, भारत सरकार
एशिया	0.48	N.A.	N.A.	0.25	N.A.	सी.सी.डी., बीजिंग 1997
भारत	0.9	0.5	N.A.	0.15	00.8	कृषि मंत्रालय, भारत सरकार, 1997

स्रोत : स्टेटस ऑफ़ ड्राइलैण्ड एण्ड डीफॉरेस्टेशन इन द वर्ल्ड

ii) भारत में कृषि के पारिस्थितिक आधार की उपेक्षा

अग्रवाल (1985-160) के अनुसार भारत की कृषि प्रौद्यागिकी में कृषि के पारिस्थितिक आधार पर ध्यान नहीं दिया गया। आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि हम पारिस्थितिक संसाधनों और प्रतिबंधों को पूरी तरह समझें। उदाहरण के लिए, खाद्यान्न और कृषि संगठन के अध्ययन में बताया गया है कि मृदा की क्षरण (loss) दर और उत्पादकता की दर में कमी के बीच निकट का संबंध है। इस अध्ययन के अनुसार, मृदा संरक्षण कृषि प्रबंधन का एक अविभाज्य अंग है।

भारत में बहुत अधिक शुष्क और अर्ध-शुष्क भूमि तथा ज़्यादा ढलान वाले भूभाग हैं। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि यहाँ मृदा क्षरण (loss) की गंभीर समस्या हो। यदि मृदा के इस क्षरण को न रोका गया तो वर्षा से सिंचित फ़सली भूमि में तेज़ी से कमी आएगी और वर्षा से सिंचित फ़सलों के उत्पादन में भी कमी आएगी। भारत को, वास्तव में, इसी समस्या का सामना करना पड़ रहा है।

भारत के लगभग 70 प्रतिशत किसान सूखी खेती करते हैं। सूखी खेती में मृदा और पानी, दोनों के संरक्षण की आवश्यकता होती है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि भारत का कृषि विकास से संबंधित 70 प्रतिशत से अधिक खर्च सिंचाई की खेती पर निर्भर होता है। कृषि में कम पूँजी निवेश के कारण मृदा संरक्षण के उपायों पर पैसा खर्च करना संभव नहीं होता। इसका स्वाभाविक प्रभाव उत्पादकता में कमी पर पड़ता है। इसका प्रभाव फ़सल के चुनाव पर भी पड़ता है। निवेश में कमी के कारण शुष्क भूमि में संलग्न किसानों को मिली-जुली फ़सल प्राप्त होती है, लेकिन उनका कुल कैलोरी-प्रोटीन उत्पादन पर ध्यान नहीं जाता। केवल जहाँ निवेश न ज़्यादा होता है और न कम (जहाँ मृदा क्षरण की दर केवल 50 प्रतिशत हो) वहाँ उच्च कैलोरी वाली फ़सलों के उगाने की अपेक्षा की जा सकती है। जहाँ काफ़ी अधिक पूँजी-निवेश हो (जहाँ मृदा क्षरण की दर नगण्य हो) वहाँ उच्चतम फ़सल-मिश्रण में न्यूनतम प्रोटीन की मात्रा हमेशा पाई जाती है।

iii) मृदा क्षरण की समस्या

भारत में कृषि के लिए जलवायु संबंधी उपयुक्तता की दृष्टि से पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध है। भारत की 85 प्रतिशत भूमि में फ़सल उगाने के लिए वर्षा और उपयुक्त तापमान संबंधी स्थितियाँ विद्यमान हैं। इस पारिस्थितिक संसाधन के संबंध में बहुत से प्रतिबंध भी हैं जिसके कारण उत्पादकता का स्तर स्थायी आधार पर बनता है।

भारत में कृषि में सबसे महत्त्वपूर्ण बात भूमि के अपक्षीणन (degradation) की है। यह मृदा के क्षरण से होता है। दूसरे शब्दों में, मृदा के संरक्षण से कृषि-उत्पादन को बढ़ावा मिलता है। अभी तक हमने भू-संसाधनों के प्राकृतिक पहलुओं के बारे में ही चर्चा की थी। अब हमें भारत में सामाजिक संगठन और भूमि सुधार की जटिलताओं पर भी ध्यान देना है।

भारत में लोगों के द्वारा भूमि की सुलभता, इसके नियंत्रण और प्रबंधन तब तक हमें पूरी तरह से समझ नहीं आएँगे जब तक पुरानी भूमि नीतियों और भूमि सुधार को नहीं समझा जाएगा। इन विषयों के बारे में पर्याप्त सामग्री भारत के सामाजिक-आर्थिक इतिहासों में लिखी जा चुकी है। अगले भाग में इन ग्रंथों के बहुत से संदर्भ आपको देखने को मिलेंगे। इकाई में हमारा ध्यान मुख्य रूप से पारिस्थितिकी और संसाधनों पर केंद्रित रहा है इसलिए हमने यहाँ भूमि संसाधन का उल्लेख मुख्य रूप से पारिस्थितिक संतुलन की दृष्टि से किया है। पारिस्थितिक संतुलन से ही स्थायी विकास संभव है। अग्रवाल (1985 : 162) ने लिखा है : ''यदि भारत के लोग भूखे रहें तो मैं यह बात पूरे दावे के साथ कह सकता हूँ। इसका कारण उनकी बढ़ती हुई जनसंख्या नहीं है बल्कि देश के प्राकृतिक संसाधनों का कुप्रबंध है।''

बोध प्रश्न 3

1) कृषि में ''निरंतर पूँजी निवेश परंतु कम उत्पादन'' का क्या अर्थ है?

.....

.....

.....

2) भारत जैसे देश में कृषि उत्पादन को बढ़ाने के क्या तरीके हैं?

.....

.....

.....

.....

25.4 भूमि की सुलभता और लोगों के द्वारा उसका नियंत्रण एवं प्रबंधन

भारत के ज़्यादातर लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं और इन क्षेत्रों का बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग कृषि पर आधारित आर्थिक कार्यों में कार्यरत है। इससे स्पष्ट ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत की अर्थव्यवस्था और लोगों के सामाजिक जीवन में कृषि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कृषि मूलतः, भूमि, श्रमिक वर्ग और पूँजी – इन तीन उत्पादन के कारकों पर आधारित है। भारत में भूमि सुधार की दृष्टि से इन तीन कारकों पर चर्चा से लोगों द्वारा भूमि की सुलभता के बारे में हमें अच्छा संकेत मिल सकता है और यह भी पता सकता है कि वे किस प्रकार भूमि का नियंत्रण और प्रबंधन करते हैं।

भूमि के संबंध में चर्चा के दौरान हम पहले ही भूमि के उपयोग के विन्यास, इसकी उत्पादकता के बारे में चर्चा कर चुके हैं। अब हम जोत की भूमि के विन्यास के बारे में विचार करेंगे।

25.4.1 काश्तकारी पर लोगों का असमान अधिकार

प्राचीनकाल से ही भारत में खेती-बाड़ी लोगों का मुख्य व्यवसाय रहा है। यही कारण है कि भूमि की सुलभता लोगों के लिए और खासकर किसानों के लिए विषय है। हमारे ऐच्छिक पाठ्यक्रम **भारत में समाज** (ई.एस.ओ.-02) की इकाई 10 के अंतर्गत भाग 10.3, 10.4, और 10.5 में भारतीय इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं के दौरान ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। यहाँ उन पृष्ठों की विषयवस्तु को दोबारा उद्धृत न करके हमारी सलाह है कि आप एक बार उपर्युक्त सामग्री पढ़ें और भारत के लोगों के लिए ज़मीन का कितना महत्त्व है, इसके बारे में अपने विचार बनाने का प्रयास करें।

तालिका 25.2 दर्शाती है कि अखिल भारतीय स्तर पर भूमि स्वामित्व प्रतिमान कृषिक पदानुक्रम में सबसे नीचे सीमांत किसानों के उच्च संकेन्द्रण के साथ असमानता द्वारा अभिलक्षित रहा है। ग्रामीण घरों में उनका अनुपात 1977-72 में 62.62% से बढ़कर 1992 में लगभग 72% हो गया। इन 72% परिवारों के पास मात्र 17% भूमि है। जबकि इन परिवारों की प्रतिशतता वृद्धि इस काल में 9% की सीमा से ऊपर गई है, भूमि पर उनका नियंत्रण मात्र 7% ही बढ़ा है। दूसरी ओर, बड़े और मध्यम भूस्वामी जो परिवारों का मात्र 5.5% हैं, कुल भूमि के लगभग 40% का मिलाजुला हिस्सा रखते हैं। तथापि, बड़े किसानों में 2.12% से 0.88% की सीधी गिरावट आई है; इन अवधियों में उनका स्वामित्व क्षेत्र भी लगभग 23% से घटकर 14% से भी कम रह गया है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि छोटे व अर्ध-मध्यम श्रेणी के किसान परिवारों के अनुपात में आंशिक गिरावट रही है। तथापि, इन श्रेणियों के पास भूमि के स्वामित्व में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

तालिका 25.4 : 1971-72, 1982 व 1992 में भारत में ग्रामीण क्षेत्र के परिवारों और पारिवारिक श्रेणियों के पास भूमिक्षेत्र का विवरण प्रतिशत

श्रेणियाँ	परिवारों की प्रतिशतता			स्वामित्व में भूमि की प्रतिशतता		
	1971-72	**1982**	**1992**	**1971-72**	**1982**	**1992**
सीमांत	62.62	66.64	71.88	9.76	12.22	16.93
लघु छोटे किसान	15.49	14.70	13.42	14.68	16.49	18.59
अर्ध-मध्यम	11.94	10.78	9.28	21.92	23.38	24.58
मध्यम	7.83	6.45	4.54	30.73	29.83	26.07
बड़े किसान	2.12	1.42	0.88	22.91	18.07	13.83
कुल	100	100	100	100	100	100

स्रोत : एन.एस.एस. 1971-72, 1982 व 1992

i) समाज के उच्च वर्गों के पास बहुत अधिक भूमि का सकेंद्रण

कृषि पर राष्ट्रीय आयोग, 1976, की रिपोर्ट के अनुसार (1977 : 9) 1954 में भारत में जिन परिवारों के पास 5 एकड़ (2.02 हैक्टेयर) भूमि थी उन परिवारों की संख्या कुल परिवारों की संख्या का 24.77 प्रतिशत भूमि थी लेकिन उनके पास कुल जमीन के केवल 16.77 प्रतिशत भूमि थी। दूसरी ओर, जिन परिवारों के पास 25 एकड़ (10.12 हैक्टेयर) या इससे अधिक भूमि थी उन परिवारों की संख्या कुल संख्या का 3.71 प्रतिशत थी और उनके पास कुल भूमिक का 34.27 प्रतिशत भाग था। भारत जैसे असमानता वाले समाज में भूमि पर ग़रीबों के अधिकार को देखने से प्रतीत होता है कि गत चार दशकों में लागू किए गए कानूनों का ग्रामीण निर्धनों पर दशकों में लागू किए गए कानूनों का ग्रामीण निर्धनों पर बहुत कम प्रभाव पड़ा है।

ii) पूर्व ब्रिटिश काल तथा ब्रिटिश काल के दौरान भूमि नीति

औपनिवेशिक काल के दौरान राज्य (जिसे एक तरह से सबसे बड़ा जमींदार कहा जा सकता था) की भूमि नीति का उद्देश्य राजस्व में वृद्धि करना था। भारतीय इतिहास के ब्रिटिश शासन से पूर्व की स्थिति में भू-नीति का उद्देश्य कृषि उत्पादन को बनाए रखना, उसे बढ़ाना और किसी भी भूभाग का स्वामित्व राजनैतिक सत्ता पाकर हासिल करना था। इस नीमि के अंतर्गत काश्तकारों को अपने जोत क्षेत्र के नियंत्रण और प्रबंधन की आजादी थी ब्रिटिश शासन के दौरान पहले से चली आ रही पट्टेदारी को भूमि-कर के माध्यम से अधिकाधिक राजस्व बटोरने का साधन बना लिया गया। ब्रिटिश शासन काल में भारत में विभिन्न भागों में विभिन्न भू-व्यवस्थाओं ने ऐसे हालात पैदा कर दिए जिससे किसान निर्धन हो गए। इस कारण से बार-बार अकाल पड़ने लगा। भूमि के नियंत्रण और प्रबंधन की परंपरागत व्यवस्था को छिन्न-भिन्न होने दिया गया। इस अन्याय के विरुद्ध छोटे-बड़े सामूहिक विद्रोह के द्वारा भारतीय किसानों ने यदा-कदा विरोध प्रदर्शित किए।

भारत के स्वाधीन होने से भी पूर्व सामंती ज़मीदारों की भूमिका के विरोध में सशक्त जनमत तैयार हो गया था। ऐसा अनुभव किया गया कि बड़े बिचौलिए ज़मीदारों का वर्ग देश की कृषि संपदा को अनुत्पादक मार्गों की ओर मोड़कर उसको नष्ट कर रहा है। सन् 1936 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना समिति स्थापित की गई। भू-नीति के

लिए इस समिति की एक उप-समिति भी थी। राष्ट्रीय योजना समिति द्वारा 1940 में प्रस्तुत अंतरित रिपोर्ट के आधार पर, राष्ट्रीय योजना समिति ने कृषकों और राज्य के बीच बिचौलियों को अमान्य घोषित करने का निर्णय किया।

जे.सी. कुमारप्पा की अध्यक्षता में, कांग्रेस कृषि-सुधार समिति ने 1949 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में अनेक सिफारिशें थीं जिनमें से कुछ जोत क्षेत्र के आकार से संबंधित थीं। (इस समिति की रिपोर्ट के विस्तृत विवरण के लिए कृषि संबंधी राष्ट्रीय आयोग, 1976 की रिपोर्ट, खण्ड XVI, पृष्ठ संख्या 21 से 23 तक देखिए)। इस रिपोर्ट ने "आर्थिक जोत" की संकल्पना को लागू किया। आर्थिक जोत की संकल्पना का अभिप्राय यह है कि काश्तकार के रहन-सहन का एक समुचित स्तर बना रहे और सामान्य आकार के उसके परिवार के सदस्यों को पूर्ण रोज़गार और बैलों की कम से कम एक जोड़ी उपलब्ध हो।

उप-भाग को समाप्त करने से पूर्व यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि देहाती ग़रीब लोगों का भूमि सार्वजनिक संपत्ति पर भी थोड़ा ही अधिकार था। जोधा (1990) द्वारा किए गए अध्ययन में सार्वजनिक संपत्ति (सी पी आर) को सार्वजनिक वन, चरागाह/बंजर भूमि, तालाब/जोहड़, नदी-नाले, जल विभाजक, जल निकास/नदी तट और नदी/ तालाब के रूप में निरूपित किया है। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि देहाती ग़रीबों के लिए सार्वजनिक भूमि आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। अन्य अध्ययनों में (देखिए राव, 1992) यह पाया गया है कि सी.पी.आर. पर धनी लोगों की पहुँच अधिक है, केवल ऐसे पिछड़े हुए गाँवों में (जहाँ धनी कृषक हैं ही नहीं) गरीब लोग भी सी.पी.आर का समुचित उपयोग कर सकते हैं। धनी वर्ग द्वारा अपनी कृषि भूमि से वंचित किए जाने के बाद उन्हें सी.पी.आर. के इस्तेमाल के लिए भी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है।

1951 से शुरू होने वाली पाँच पंचवर्षीय योजनाओं में कुछ भूमि सुधार नीति संबंधी सिफ़ारिशें की गईं। इन सिफ़ारिशों में भूमि के उपयोग, भू-स्वामित्व और कृषि संबंधों के बारे में एक नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया गया। इनको लागू करने का उद्देश्य भारत के बहुसंख्यक काश्तकारों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए भूमि संबंधी नीति के नए लक्ष्यों को प्राप्त करना था। इसीलिए अगले उप-भाग में 1974 में भारत की स्वाधीनता के बाद भूमि सुधारों के लिए लागू किए गए कानूनी प्रावधानों का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जा रहा है।

बोध प्रश्न 4

1) प्रति एकड़ के हिसाब से सीमांत और अल्प भूमि जोतों की सीमा बताइए। अपना उत्तर दो पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) भूमि की पट्टेदारी और भूमि पर अधिकारों के संबंध में कानून कौन बना सकता है?

.....

.....

.....

.....

3) ब्रिटिश-शासित भारत में भू-नीति के मुख्य लक्ष्य क्या थे?

.....

.....

.....

.....

4) भारत में किसानों को ग़रीब बनाने की स्थितियाँ कैसे पैदा हुईं, इनकी शुरुआत किसने की?

.....

.....

.....

.....

5) "आर्थिक जोत" की संकल्पना का निरूपण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

25.4.2 भूमि सुधार के लिए कानूनी उपाय, किसानों तथा ज़मीन के उचित उपयोग हेतु इन उपायों के निहितार्थ

1950, 1960 और 1970 के दशकों के दौरान भूमि सुधार के संबंध में बनाए गए कानूनों में निम्नलिखित बातों पर ध्यान केंद्रित किया गया :

i) बिचौलिए पट्टेदारों का उन्मूलन

ii) काश्तकारी अधिकारों की सुरक्षा

iii) जोतों की सीमा का निर्धारण

iv) चकबंदी

कानून बनाने के बाद इसे लागू करने की ओर भी ध्यान दिया जाना था। आइए अब ऊपर दिए गए प्रत्येक कार्यक्रम के इस पहलू पर विचार करें।

i) बिचौलिए पट्टेदारों का उन्मूलन

भूमि सुधार के संदर्भ में बिचौलिए उन भूमि धारकों को कहा गया है जिनका उद्‌भव अंग्रेजों द्वारा स्थापित ज़मींदारी प्रथा से हुआ है। भूमि सुधारों का कार्य राज्य सरकारों का है। इसका मतलब यह है कि भारतीय संघ में प्रत्येक राज्य को इस कानून को लागू करना था। यही कारण है कि प्रत्येक राज्य में बिचौलियों की समाप्ति अलग-अलग ढंग से हुई। यहाँ हमने प्रत्येक राज्य के कानून निर्माण का विवरण नहीं दिया है। परंतु एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा जैसे राज्यों में ज़मींदारी प्रथा की जड़ें मजबूत थीं वहाँ

बिचौलियों को हटाने के कानून को दो कारणों से आलोचना हुई पहला कारण, बिचौलियों को बहुत ऊँची दर पर मुआवजा देना था। इसका कारण यह था कि उन्हें अपनी ज़मीनों के बड़े भाग पर स्वयं कृषि करने वाली जोतों के रूप में, कब्ज़ा बनाए रखने की इज़ाजत मिल गई थी।

ii) काश्तकारी अधिकारों की सुरक्षा

आजादी के बाद सुधार के आरंभिक वर्षों में काश्तकारों को पहले से अधिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए तत्कालीन काश्तकारी कानूनों में संशोधन किया गया। फलस्वरूप ज़मीदारों ने बड़े पैमाने पर काश्तकारों, उप-काश्तकारों और बँटाईदारों को बेदखल कर दिया। उन्होंने ज़्यादा से ज़्यादा ज़मीन पर स्वयं खेती करने के नाम पर उसे अपने अधिकार में रखने के लिए यह बेदखली की। उनका यह अभियान इतना ज़ोरदार था कि बहुत जल्दी काश्तकारी की पुरानी प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई (देखिए खुसरो 1958 : 73-75; और दंडेकर तथा खुदानपुर 1957 : 187)। इस स्थिति का सामना करने के लिए, जिसका प्रसार 1960 के दशक के मध्य तक काफी विस्तृत क्षेत्र में हो गया था, राज्यों ने काश्तकारी के कानूनों में संशोधन किया। काश्तकारी सुधारों का प्रभाव बिचौलियों की कृषि भूमि के काश्तकारों पर, बिचौलियों की कृषि भूमि के काश्तकारी के कानूनों में संशोधन किया। काश्तकारों का प्रभाव बिचौलियों की कृषि भूमि के काश्तकारों पर, बिचौलियों के उप-काश्तकारों पर, रैयतवाड़ी क्षेत्रों में रैयतों से प्राप्त भूमि पर काश्त करने वालों पर और बँटाईदारों पर पड़ा जिन्हें प्राय: काश्तकार नहीं माना जाता था। काश्तकारी कानून का संबंध (क) काश्तकारी की सुरक्षा, (ख) काश्तकारों के लिए उचित लगान का निर्धारण, (ग) ज़मींदारों को स्वयं खेती करने के लिए कुछ थोड़ी-बहुत ज़मीन ही अपने पास रखने का अधिकार; और (घ) जिन क्षेत्रों का पुनर्ग्रहण नहीं किया जाना था, वहाँ ज़मींदार-काश्तकार संबंधों को समाप्त करके उस क्षेत्र के खेतिहर काश्तकारों को उन भूमियों के कृषक स्वामी बनाना।

चूँकि काश्तकार शब्द को ठीक प्रकार से परिभाषित नहीं किया जा सका, इसलिए बँटाईदारों को इसमें शामिल नहीं किया गया और काश्तकारी कानून को प्रभावी ढंग से लागू नहीं किया जा सका। इसके अलावा, ज़मींदार लोग काश्तकारों को कई कारणों से बेदखल करने में सफल हो जाते थे। इस प्रकार वे उनके काश्तकारी आधिकारों के परित्याग के प्रावधान का सहारा लेकर अपने काश्तकारों को स्वेच्छया अपनी काश्त की भूमि का परित्याग करने के लिए बाधित करते थे। इसके अतिरिक्त बहुत से राज्यों (मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, केरल, गुजरात, कर्नाटक और उड़ीसा) में ज़मींदारों को काश्तकारों की भूमि को सीमित अवधि के अंदर पुनर्ग्रहण करने की अनुमति दी गई थी। इस प्रावधान के अंतर्गत बहुत से ज़मींदारों ने अपने काश्तकारों के काश्तकारों को असुरक्षित और प्रभावहीन बना दिया।

जहाँ तक कि लगान निर्धारित करने का प्रश्न है, हमें अभी तक एक-समान उचित लगान लागू करने की बात दिखाई नहीं दी। लगान निर्धारित करने की प्रक्रिया बहुत ही जटिल थी। जो काश्तकार उचित लगान निर्धारित करने की माँग करता उसे ज़मीन से बेदखली की धमकी का सामना करना पड़ता। एक और बात यह भी थी कि कोई काश्तकार तभी कृषक भूस्वामी की हैसियत प्राप्त कर सकता था यदि उस भूमि पर उसका कुछ वर्षों तक कब्ज़ा रहा हो। ज़मींदार लोग रिकार्डों में भी हेराफेरी कर लेते थे और काश्तकारों को एक कृषि भूमि में अदलते-बदलते रहते थे। इसका परिणाम यह होता था कि उनके कब्ज़े की अवधि में व्यवधान पड़ जाता था। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में काश्तकारी अधिकारों के कानून का लाभ उन काश्तकारों को नहीं मिल पाता था।

iii) जोतों की अधिकतम सीमा (ceiling) का निर्धारण

भूमि के पुनर्वितरण के उपायों के रूप में जोतों की उच्चतम सीमा का निर्धारण आवश्यक कदम माना गया। स्वाधीनता के बाद लगभग पन्द्रह वर्ष तक बड़ी जोतों की उच्चतम सीमा निर्धारित

करने के कार्य को महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा लेकिन इसे भूमि सुधार के कार्यक्रमों में गंभीरता से नहीं लिया गया। सन् 1960 तक भी यह एक अस्पष्ट संकल्पना या संभावना मात्र रहा। सन् 1960 और 1972 के बीच जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण के लिए कानून बनाए गए और उन्हें प्रत्येक राज्य में लागू किया गया। जोतों की उच्चतम सीमा निर्धारण के लिए कुछ राज्यों ने व्यक्ति को इकाई माना, जबकि अन्य राज्यों ने परिवार को इकाई के रूप में स्वीकार किया। प्रत्येक राज्य में ऐसे भूमि के प्रकारों की अपनी सूची थी जो जोतों की सीमाबंदी के लिए बनाए गए कानूनों के दायरे में नहीं जाती थी।

बड़े ज़मींदार इन कानूनी उपायों की परवाह नहीं करते थे क्योंकि इनमें कानूनों से बचने के बहुत रास्ते थे। भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारण करने के कानूनों के लागू होने की संभावना को देखकर उन्होंने अपनी ज़मीनों को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँट दिया और उनका ''बेनामी'' अंतरण शुरू कर दिया। आमतौर पर भूमि की उच्चतम सीमा बहुत अधिक रखी गई थी। इस कारण अब भी ज़मीनों पर धनी किसानों का कब्जा बना रहा। भूमि की अधिकतम सीमा से छूट के कारण उच्चतम सीमाबंदी कानून निरर्थक सिद्ध हुए। सन् 1970 में, भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री ने भूमि-सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया। इससे भी भूमि सुधार के कार्यान्वयन की प्रक्रिया को तेज़ करने में कोई मदद नहीं मिली। सन् 1973 में, योजना आयोग की कार्यदल रिपोर्ट, 1973, में भूमि सुधार के कार्यक्रमों की असफलता को स्वीकार किया गया (*रिपोर्ट ऑफ द नेशनल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर,* 1976-79)।

कानून की प्रभावहीनता के निम्नलिखित मुख्य कारण माने गए हैं :

क) कृषि सुधारों के साधन रूप में कानून पर अत्यधिक निर्भरता

ख) राजनीतिक इच्छा-शक्ति का अभाव

ग) भूमि-सुधारों का पूर्ण दायित्व कुछ प्रशासनिक एजेंसियों पर डाल देना

घ) चेतना में कमी और संभावित लाभ पाने वालों में संगठन की कमी

ङ) शक्तिशाली ज़मींदारों द्वारा अपने लाभ के लिए कानूनों और उनके कार्यान्वयन की प्रक्रियाओं का इस्तेमाल करना।

इसका परिणाम यह हुआ कि 1990 के दशक में भारत के प्रधानमंत्री को भूमि का अधिकार पाने वालों पर भूमि-सुधारों के प्रभाव का गंभीरतापूर्वक मूल्यांकन के लिए कहना पड़ा (देखिए द *टाइम्स ऑफ इंडिया,* 10.10.1992, पृष्ठ 1)। राव ने (1992 : ए 50 ए-64) अपने लेख ''भूमि सुधार के अनुभव'' (Land Reform Experiences) में यह दिखाने की कोशिश की कि; भूमि सुधारों के लिए उठाए गए कदमों का अनुपालन कहीं सामान्य तो कहीं निराशाजनक रहा है। आइए, अब हम भूमि सुधारों के अंतिम चरण यानी चकबंदी कानून-निर्माण पर एक नजर डालें।

सोचिए और करिए 2

भूमि सुधारों और कानूनी उपायों को लागू करने के बारे में प्रधानमंत्री के आह्वान की समाचारपत्र में प्रकाशित रिपोर्टिंग (ऊपर उल्लिखित) को पढ़िए। इस बारे में अपने विचारों को प्रकट करने के लिए 250 शब्दों की टिप्पणी लिखिए। यह भी स्पष्ट कीजिए कि क्या आप प्रधानमंत्री की इस बात से सहमत हैं कि भारत में भूमि सुधारों को प्रभावी ढंग से लागू नहीं किया गया। इस बारे में अपनी सहमति या असहमति के कारण भी बताइए।

iii) चकबंदी

एक के बाद एक सभी पंचवर्षीय योजनाओं में उत्पादकता को बढ़ाने के लिए चकबंदी की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। भारत में, उत्तराधिकार के प्रचलित कानूनों के कारण कृषि भूमि का बँटवारा किया जाता था। इसके अलावा, अंतरण और कर्ज़ लेने की परंपरा के कारण, कृषि भूमि छोटे-छोटे खेतों में बँट गई थी और ये खेत एक-दूसरे से बहुत दूर थे। हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों के उत्तराधिकार कानून में इस बात की व्यवस्था है कि अचल संपत्ति का विभाजन सभी वारिसों में किया जाता है। इससे भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में औसत कृषि भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में है। भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े होने की निम्नलिखित हानियाँ हैं :

क) छोटी जोतें खेती करने के लिए अलाभकर होती हैं।

ख) एक खेत से दूसरे खेत में अलग-अलग हल चलाने, बीज बोने, फसल काटने आदि कार्यों में पैसा, समय और श्रम की बरबादी होती है।

ग) खेती के कार्यों की देखरेख सुविधाजनक नहीं होती।

घ) सिंचाई, नालियाँ बनाने और कृषि कार्य पर अधिक खर्च होता है।

ङ) फसल के दिनों में अलग-अलग खेतों में आने-जाने में कठिनाई होती है और इस कारण दूसरे के खेतों में से होकर जाने के कारण झगड़े होते हैं और तनाव पैदा होता है।

च) खेती की भूमि के विभाजन से सीमाओं के अंकन में कृषि भूमि का नुकसान होता है।

कृषि भूमियों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटने से होने वाली समस्याओं को पहचान कर सन् 1905 में ही चकबंदी का विचार पैदा हुआ। पहले मध्य भारत में चकबंदी का काम शुरू किया गया। बाद में, दूसरे प्रांतों ने भी सहकारी समिति अधिनियम के अंतर्गत कृषि भूमि की चकबंदी के उपाय लागू किए। आज़ादी के बाद, लगभग सभी प्रदेशों ने अनिवार्य चकबंदी को लागू करने की बात मान ली। इस क्षेत्र में पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश ने काफ़ी प्रगति की है।

लगभग 13.7 करोड़ हैक्टेयर क्षेत्र की चकबंदी की जानी है। चौथी पंचवर्षीय योजना के अंत तक, इसमें से लगभग 3 करोड़ 93 लाख हैक्टैयर भूमि की चकबंदी की गई। योजना आयोग (1989 की रिपोर्ट के अनुसार) 1989 तक कुल कृषि भूमि के लगभग 40 प्रतिशत की चकबंदी हो चुकी थी।

इस कार्यक्रम को दक्षिणी और पूर्वी राज्यों में विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। इनमें से अधिकांश राज्यों के पास बहुत कम कृषि योग्य भूमि है। कहा जाता है कि इन राज्यों में भूमि के उपयोग की क्षमता, स्थानीय आबादी के वर्गीकरण और उपभोग प्रतिरूप तथा भूमि की स्थलाकृति के कारण चकबंदी में कुछ समस्याएँ सामने आती हैं। इसीलिए हमें यह आशा हो सकती है कि देश के इस भाग में भी समय आने पर चकबंदी कार्यक्रम को लागू किया जा सकेगा। आइए अब हम इस कार्यक्रम के महत्त्वपूर्ण पहलू पर विचार करें। यह चकबंदी पर होने वाले व्यय से संबंधित है।

यह उस क्षेत्र की स्थलाकृति, उस क्षेत्र में कृषि भूमि का विभाजन, कृषि प्रौद्योगिकी का स्तर और लाभ पाने वालों की भागीदारी जैसे कारकों पर निर्भर करता है। इसमें संदेह नहीं कि पहाड़ी क्षेत्रों में चकबंदी की लागत मैदानी भागों की अपेक्षा अधिक होगी हर क्षेत्र में चकबंदी की लागत उस क्षेत्र के विभिन्न जटिल मुद्दों से जुड़ी होगी। इसलिए पूरे भारत के लिए लागत के एक से आँकड़े देना संभव नहीं है। देश में कई भागों में चकबंदी पर आने वाले खर्च का कुछ भाग

उससे लाभ उठाने वाले किसान वहन करते हैं। इससे राज्य पर चकबंदी की प्रक्रिया में होने वाले किसान वहन करते हैं। इससे राज्य पर चकबंदी की प्रक्रिया में होने वाले व्यय में कमी हो जाती है। साथ ही, यह भी अपेक्षा की जाती है कि राज्य सरकारें लघु और सीमांत कृषकों पर चकबंदी की लागत का भार नहीं डालेंगी।

इस बात को ध्यान में रखना होगा कि यदि खेतों के टुकड़े होने की प्रक्रिया को निरुत्साहित न किया गया तो चकबंदी के लाभ समाप्त हो जाएँगे। चकबंदी पर किया जाने वाला खर्च तभी न्यायसंगत होगा यदि विक्रय, उपहार या बंधक के रूप में खेतों के टुकड़ों में बँटने पर प्रतिबंध लगाया जा सके।

बोध प्रश्न 5

1) भारत में ज़मींदारी प्रथा किसने शुरू की?

.....

.....

.....

.....

2) आज़ादी के बाद, ज़मींदारों ने बड़े पैमाने पर अपने काश्तकारों, उप-काश्तकारों और बँटाईदारों को क्यों भूमि से बेदखल किया? अपना उत्तर तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

3) कोई काश्तकार किस प्रकार कृषक भूस्वामी का दर्जा पा सकता है? अपना उत्तर दो पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

4) क्या केवल कानून के द्वारा कृषि भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने जैसे कृषि सुधारों को प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है? अपने उत्तर के पक्ष में कारण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

5) कृषि सुधारों की चकबंदी के कारण लिखिए।

.....

.....

.....

.....

25.5 भूमि सुधारों के फलस्वरूप कृषि मज़दूरों का उदय व अन्य प्रभाव

भूमि सुधारों के कार्यान्वयन के बारे में हमने ऊपर जो चर्चा की उससे छोटी जोत वाले काश्तकारों के कल्याण की बहुत आशाएँ नहीं बँधती। कृषि-सुधारों के लिए विस्तृत कानून बनाने तथा भारत के कुछ भागों में तथाकथित हरित क्रांति होने के बावजूद उनकी समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सका। इसके कारण एक वर्ग को जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई जिन्हें कृषि मज़दूर कहा गया। यह ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विघटन करने पर मजबूर होना पड़ा। इन्हें बहुत कम मज़दूरी पर काम करना पड़ता और ''हरित क्रांति'' वाले क्षेत्रों में इन्हें विविध प्रकार से शोषण का शिकार होना पड़ता।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में, भूमि मात्र एक स्थल नहीं – यह उत्पादन का प्रमुख साधन है। जैसे कि यह भूमि मालिक, उसके सेवकों, ग्राम शिल्पकारों आदि का भरण-पोषण करती है। उपज को खरीदने वाला व्यापारी दूसरों को सहारा देने वाला होता है। जब कृषि-चक्र भंग हो जाता है तो ये सभी गतिविधियाँ ठप हो जाती हैं और सभी भूमिहीनों की आजीविका ख़तरे में पड़ जाती है। (एन.सी.एच.एस.ई. 1986 : ii)।

तथापि, वे लोग जिसके पास अपनी ज़मीन नहीं है, बल्कि मसलन उस पर निर्भर करते हैं, उन पर ध्यान बहुत ही कम दिया जाता है। उदाहरण के लिए, सन् 1960-61 से 1969-70 के दशक में कृषि मज़दूरी की दर में परिवर्तनों से संबंधित विवरण से पता चलता है कि प्रत्येक राज्य में नकद मज़दूरी-दर में वृद्धि हुई है लेकिन वास्तव में, अधिकांश राज्यों में मज़दूरी की दर में कमी हुई है। इसका मतलब यह है कि उन कृषि मज़दूरों को जो मज़दूरी मिलती है उससे पहले जितना सामान नहीं खरीदा जा सकता क्योंकि उसकी क्रय शक्ति कम कम हो गई है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि मज़दूरी में उतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी भरण-पोषण के लिए जरूरी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हुई है। अब चाहे नकद मज़दूरी बढ़ी हो लेकिन इससे मज़दूरों को लाभ नहीं हुआ जिन्हें खाने का सामान और दूसरी चीज़ें खरीदने के लिए पहले से अधिक पैसा देना पड़ता है। पैसे और वास्तविक कमाई में परिवर्तन की दर प्राय: कृषि संबंधी विकास के स्तर, कृषि मज़दूरों की उपलब्धता तथा कृषि मज़दूरों की संगठन शक्ति से प्रभावित होती है। उदाहरण के तौर पर, पंजाब में कृषि का तेज़ी से विकास है। इसी प्रकार, केरल में कृषि श्रमिकों की प्रभावी यूनियनबाज़ी से कृषि मज़दूरों को अधिक मज़दूरी पाने में सफलता मिली।

कृषि श्रमिकों से संबंधित मज़दूरी के कुछ एक पहलू का संबंध पुरुष और स्त्री श्रमिकों की मज़दूरी की दर में अंतर से है। स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम मज़दूरी दी जाती है। दूसरे, आपको यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि सत्रह राज्यों में से बारह राज्यों में औसतन एक पुरुष कृषि मज़दूर छोटे कृषक श्रमजीवी से अधिक कमाता है। यह बात सीमांत किसानों की बुरी दशा को बताने के लिए पर्याप्त है जिनमें से ज़्यादातर लोगों को लाचार होकर भूमिहीन की मज़दूरी कृषि मज़दूर बन जाना पड़ता है। इसके अलावा, यह भी देखा गया है कि दिहाड़ी वाले मज़दूरों की मज़दूरी सबसे अधिक होती है, उससे कम मज़दूरी कृषि में सबसे ज़्यादा काम वाले मौसम में काम करने वाले और स्थायी रूप से काम करने वाले मज़दूरों की होती है (देखिए जौहरी और पांडे, 1972)।

यदि हम कृषि क्षेत्र और औद्योगिक क्षेत्र की तुलना करें तो हमें पता लगता है कि औद्योगिक क्षेत्र की तुलना में कृषि क्षेत्र की मज़दूरी में नकद कम मिलता है। हालाँकि ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में नकद पैसा दिखाई देता है, फिर भी भारत के कई हिस्सों में मज़दूरी का भुगतान अनाज आदि वस्तुओं के रूप में किया जाता है। यह बात प्राय: फसल काटने के समय में होती है।

मज़दूरी कमाने वालों की पारिवारिक आय प्राय: मज़दूरी के स्तर, रोज़गार की अवधि और परिवार में कमाने वालों की संख्या पर निर्भर करती है इस कारण से इस विषय में कोई सामान्य सिद्धांत निर्धारित करना आसान नहीं है।

कृषि क्षेत्र में न्यूनतम मज़दूरी की नीति में यह आवश्यक है कि इसमें बढ़ोतरी की जाए। इसके लिए किसी ऐसी व्यवस्था की भी ज़रूरत है जिसके द्वारा न्यूनतम मज़दूरी से संबंधित कानून का पालन न करने वालों के विरुद्ध शिकायतों की जाँच की जा सके।

नीति बनाने वाले यह मानकर चले थे कि मज़दूरों की संख्या माँग से अधिक है। यह अनुभव किया गया कि यदि न्यूनतम मज़दूरी के कोई नियम न हो तो मज़दूरों को मुश्किल से मात्र गुजारे-भर के लिए मज़दूरी मिलेगी। भारत में कृषि मज़दूरों की न्यूनतम मज़दूरी का निर्णय करने के रास्ते में कई कारक आते हैं जिनका संबंध विभिन्न प्रकार के श्रमिकों, उनके नियोक्ता मालिकों और क्षेत्रीय विशिष्टताओं से होता है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें वे परिस्थितियाँ भी शामिल हैं जिनके कारण ज़मींदार मालिक मज़दूरों का शोषण करते हैं। स्पष्ट रूप से, कृषि के क्षेत्र में मज़दूरी को बढ़ाने की नीति में इस समस्या के दोनों पहलुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में अतिरिक्त श्रमिक वर्ग की गतिशीलता बढ़ाने के कार्यक्रमों पर पहले ही कार्यक्रम बनाए गए हैं। इस श्रमिक वर्ग का उपयोग कृषि संबंधी कार्यों तथा सड़कों, कुओं, छोटे बाँधों आदि को बनाने के लिए किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कल्याण कार्यक्रमों का उद्देश्य पेय जल की आपूर्ति, सफ़ाई, स्वास्थ्य और आवास को बेहतर बनाना है। बेकार भूमि के सुधार के लिए पुनर्वास, कार्यक्रम संचालित होते हैं। वे कृषि मज़दूरों को कृषि क्षेत्र से बाहर निकालकर ग्राम उद्योगों का प्रशिक्षण देकर उनमें लगाते हैं। लोगों में जाति और सांस्कृतिक पूर्वाग्रह को हटाने के लिए साक्षरता के प्रसार के लिए कुछ विशिष्ट पुनर्वास कार्यक्रम चलाए जाते हैं। यहाँ उन कार्यक्रमों का नामोल्लेख मात्र किया गया है। इस विषय में विस्तृत सूचना के लिए आप इस पाठ्यक्रम के खण्ड 3 व 4 देख सकते हैं।

कृषि मज़दूरों पर इस भाग के बाद आइए अब हम अगले भाग में शहरी क्षेत्रों की भूमि की समस्याओं के बारे में संक्षेप में विचार करें।

बोध प्रश्न 6

1) अर्थिक हैसियत के आधार पर सीमांत कृषक और कृषि मज़दूर में किसे ऊपर रखा जाएगा?

.....

.....

.....

.....

2) नकद मज़दूरी की दर और वास्तविक मज़दूरी दर में अंतर को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

25.6 भारत में भूमि और शहरी विकास

भारत में जिस रफ़्तार से शहरी क्षेत्र का विकास हो रहा है उसको देखते हुए हमें भूमि हथियाने, भू-अतिक्रमण, सरकारी और ग़ैर-सरकारी ज़मीन पर अनधिकृत निर्माण, झुग्गी-झोपड़ी बस्तियाँ तथा आग और दूसरे खतरों से बचाव के लिए आवश्यक सावधानियाँ बरते बिना बहुमंज़िली इमारतें बनाने आदि प्रवृत्तियों से संबंधित समस्याओं पर ध्यान देने की आवश्यकता होगी। यह तो एक पूरी इकाई का विषय हो सकता है, परन्तु यहाँ हमने इस विषय पर केवल इस दृष्टि से ध्यान दिया है कि आप ज़मीन की सुलभता तथा इसके नियंत्रण और प्रबंधन के संदर्भ में आने वाली इन समस्याओं से परिचित हो सकें। शहरी क्षेत्रों में भूमि के उपयोग से हमें शहरीकरण के स्थानिक आयामों का पता चलता है। किसी शहर या नगर में मानव द्वारा भूमि के उपयोग या भूमि पर मानवीय गतिविधियाँ नगरवासियों की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं की जटिलताओं की ओर संकेत करती हैं। भारत में अधिकांश शहरी क्षेत्र भूमि के उपयोग के ऐसे विन्यास को दर्शाते हैं जो उनके प्राचीन इतिहास से जुड़ा है। इन क्षेत्रों का आगे विकास आज की आवश्यकताओं के दबावों से निर्धारित होता है। भारत के आज के शहरों में भूमि के उपयोग के जटिल रूपों का विकास हो रहा है।

शहरी क्षेत्रों में बढ़िया किस्म की ज़मीन के बहुत बड़े भाग पर राज्य/केंद्र सरकार का अधिकार होता है। इसमें वह ज़मीन भी शामिल है जहाँ सेना या रक्षा विभाग के कार्यालय हैं। बची हुई ज़मीन पर तेज़ी से विकसित होने वाले वाणिज्य, व्यापार औद्योगिक विनिर्माण, परिवहन आदि के प्रतिष्ठान होते हैं। ये संगठन भूमि के फैले विस्तार में तथा ऊपर की ओर फैले बहुमंज़िलें भवनों के रूप में विकसित हो रहे हैं। बहुत से निकाय शहर के बाहरी इलाके में अपने कार्यालय, गोदाम आदि स्थापित करते हैं। इससे शहरों की सीमाओं का और अधिक विस्तार हो जाता है। कुछ ऐसे भी संगठन हैं जो बहुमंज़िली इमारतों में स्थित हैं। इसके अलावा, शहरों में विभिन्न शैक्षिक, मनोरंजन संबंधी तथा अन्य सेवाएँ भी होती हैं जिन्हें अनुकूल वातावरण में कार्य करने के लिए स्थान की आवश्यकता होती है। शहरीकरण के साथ हमें इन सभी प्रयोजनों के लिए भूमि उपलब्ध करानी होती है।

अब चूँकि शहरी आबादी तेज़ी से बढ़ रही है। इससे शहरों में आवास के लिए भवनों और जन-सुविधाओं की कमी के कारण बहुत-सी समस्याएँ पैदा हो गई हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ग़रीबों के आवास के लिए जहाँ-तहाँ गंदी बस्तियाँ बन गई हैं। उधर, शहरी समाज के अपेक्षतया अमीर और अधिक सम्पन्न लोग ज़मीन को हथियाने की मुहिम छेड़ देते हैं। इससे शहरी सम्पत्ति की कीमतें बहुत अधिक बढ़ गई हैं। इनमें से कुछ समस्याओं पर इस पाठ्यक्रम के खंड 2 की इकाई 6 में संक्षेप में चर्चा की गई है।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि शहरी सम्पत्तितियों की उच्चतम सीमा से संबंधित कानून को ज़्यादा सख्ती से लागू करना ज़रूरी है और साथ ही गंदी बस्तियों या झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाले उन लोगों को भी सामाजिक न्याय मिलना चाहिए जिनका भारत में शहरी क्षेत्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। कृषि भूमियों की उच्चतम सीमा लागू करने के कानून के अनुरूप शहरी सम्पत्ति पर उच्चतम सीमा लागू करने के लिए तदनुरूप एक कानून बनाने के लिए 1969 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा एक संकल्प पारित किया गया था। इसके एक दशक से भी अधिक समय बाद 17 फरवरी, 1976 में शहरी भूमि (उच्चतम सीमा और विनियमन) अधिनियम, 1976 लागू किया गया। शहरों और उपनगरों का वर्गीकरण चार वर्गों में किया गया है जो इस अधिनियम के दायरे में आते हैं। इस अधिनियम के आलोचकों की नज़र में यह अधिनियम 1969 में पेश किए गए प्रस्ताव का हल्का रूप है। इस अधिनियम का प्रयोजन मात्र इतना लगता है कि भू-संसाधनों का बेहतर उपयोग हो सके। इस समय शहरी क्षेत्रों

में बहुमंज़िली इमारतों के निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ रही है इसलिए अब शहरी सम्पत्ति की उच्चतम सीमा के लिए एक-दूसरे ही प्रकार के कानून की आवश्यकता है। भूमि से अधिक अब हमें शहरी क्षेत्रों में बहुमंज़िली इमारतों के निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ रही है इसलिए अब शहरी सम्पत्ति की उच्चतम सीमा के लिए एक-दूसरे ही प्रकार के कानून की आवश्यकता है। भूमि से अधिक अब हमें शहरी क्षेत्रों में भूमि का उपयोग करने वालों को ध्यान में लाने की आवश्यकता है।

सोचिए और करिए 3

कल्पना कीजिए की आप शहरी क्षेत्र में भूमि के उपयोग के प्रभारी हैं। आपके उस क्षेत्र में पारिस्थितिक दृष्टि से संतुलित भूमि के उपयोग के लिए कौन-कौन से तीन कदम होंगे? अपनी योजना के बारे में 250 शब्दों की टिप्पणी लिखिए।

25.7 ग्रामीण और शहरी क्षेत्रें में भूमि के नियंत्रण और प्रबंधन में लोगों की भागीदारी

आपको स्मरण होगा कि इस इकाई के उप-भाग 25.4.2 में उल्लेख किया गया था कि भूमि सुधारों के कानूनों की प्रभावहीनता के मुख्य कारणों में से एक कारण निम्न स्तर की चेतना तथा संभावित लाभ पाने वालों में संगठन का अभाव है। मूर (1976) और स्टोक्स (1978) जैसे पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि भारतीय किसानों में विरोध आंदोलनों का प्राय: अभाव पाया जाता है। गफ़ (1974), देसाई (1979), धनागरे (1983) और गुहा (1983) जैसे अन्य विद्वानों के विचार में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के दौरान भारत के प्रत्येक भाग में किसान विद्रोह आम बात थी। यह बात काफी हद तक सही है कि गरीब किसानों और भूमिहीन मज़दूरों ने अपने शोषणकर्ता ज़मींदारों के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष किया। एक और बात भी बिल्कुल स्पष्ट है कि चीनी और यूरोपीय किसानों के संगठित आंदोलनों ने वहाँ के समाजों में आधारभूत परिवर्तन किए, लेकिन भारत में किसान आंदोलनों का कोई अखिल भारतीय स्वरूप नहीं था। उन्होंने अब तक भारतीय समाज में किसी प्रकार का उल्लेखनीय और आधारभूत परिवर्तन नहीं किया। इसी तरह, शहरी क्षेत्रों में भी, अब कुछ जन-आंदोलन दिखाई देने लगे हैं। इन आंदोलनों का अभी तक कोई प्रभाव भूमि के नियंत्रण और प्रबंधन की दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन लाने पर नहीं पड़ा। निम्नलिखित दो उप-भागों में हम आपको संक्षेप में भू-संसाधनों से संबंधित किसान आंदोलनों और शहरी क्षेत्रों में जन आंदोलनों के बारे में बताएँगे।

25.7.1 कृषक आंदोलन

शहरी भूमि से संबंधित भाग 25.6 की तरह यहाँ भी हमने जिस विषय पर विचार किया है, उस पर चर्चा के लिए यदि पूरा खंड नहीं हो तो कम से कम एक इकाई की तो आवश्यकता होगी ही। इस इकाई में उस उप-भाग को शामिल करके इशारा उद्देश्य आपका ध्यान उन वर्तमान आंदोलनों की ओर दिलाना है जो भारत के विभिन्न भागों में बड़ी संख्या में पाए गए हैं।

लोगों द्वारा ज़मीन की प्राप्यता और कृषि के कार्यकलापों पर नियंत्रण या प्रबंध करने की भावना की दृष्टि से उन कृषक आंदोलनों को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है जो आंदोलन ज़मींदारों और काश्तकारों के बीच कृषि संबंधी संघर्षों को दिखाते हैं। धनागरे (1983), पांखर (1979) और नंबूरदिरिपाद (1943) के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में केरल के मालाबार क्षेत्र में मोपला विद्रोह मुख्य रूप में कृषक वर्ग की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति के कारण हुए थे। इसी तरह बंगाल के 1930 के दशक के बहाबी और फ़राजी आंदोलनों का कारण भी अंशत: मुस्लिम कृषकों में व्याप्त कृषि संबंधी असंतोष ही था।

केवल आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि, संगठनात्मक और सैद्धांतिक कारणों ने किसान आंदोलनों को उभारने और उनके जारी रहने का काम नहीं किया बल्कि इसके कुछ अन्य कारण भी थे (हेनिंघम, 1982)। आंध्र प्रदेश में और खासकर तेलंगाना क्षेत्र में 1946 और 1951 में तथा समय-समय पर किसान आंदोलन हुए। ये आंदोलन राजनैतिक पार्टियों के हस्तक्षेप के द्वारा संगठित किए गए थे।

किसानों के कई आंदोलनों का आधार बेगारी प्रथा था जिसमें किसानों को ज़मींदारों के यहाँ बलात् श्रम (बेगार, बेच या वेथी आदि विभिन्न नामों से प्रसिद्ध) करना पड़ता था। उदाहरण के लिए, राजस्थान में 1897 और 1941 के बीच, आंध्र प्रदेश में 1922-23 के बीच और अवध में 1921-22 के किसान आंदोलन मूलत: बेगार प्रथा के विरोध में हुए (सुराणा, 1979)। इसके अलावा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश में विद्यमान किसान आंदोलनों के कुछ कारण निम्नलिखित थे : ज़मींदारों द्वारा किसानों का प्रकार के करों द्वारा नियंत्रण, लगान में वृद्धि और आसामियों की काश्तकारी से बेदखली (देखिए सिद्दीकी, 1978; सुराण, 1983 और सरस्वती, 1979)।

बहुत-से किसान आंदोलनों का मुख्य कारण सभी काश्तकारों द्वारा कृषि भूमि के समान वितरण की माँग था। ये आंदोलन थे- बंगाल का 1946-47 का तेभागा आंदोलन (धनागरे, 1979), भूमि हथियाने का आंदोलन (प्रसाद, 1986), और नक्सलवादी आंदोलन (बनर्जी, एस., 1980; बनर्जी टी., 1980)। सन् 1950 में विनोबा भावे द्वारा आरंभ किए गए भूदान आंदोलन का भी यही उद्देश्य था। कृषि संबंधी कार्य-प्रणाली में और प्रबंध-व्यवस्था में परिवर्तन के कारण भी कई किसान विद्रोह हुए। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक फसलों से वाणिज्यिक फसलों में बदलाव के से कृषि की परंपरा में और उसके द्वारा परंपरागत कृषि संबंधों में परिवर्तन आया। इससे कृषि मज़दूरों ने पहले अधिक मज़दूरी की माँग शुरू कर दी। इस मुद्दे को लेकर पश्चिम बंगाल, बिहार और आंध्र प्रदेश में (मुखर्जी, 1979; बाल गोपाल, 1988) नक्सलवादी आंदोलनों ने कई किसान संघर्ष शुरू किए।

अधिकतर किसान आंदोलनों ने छोटे काश्तकारों, ग़रीब आसामियों, बँटाईदारों और भूमिहीन मज़दूरों के मामलों को लेकर संघर्ष किया। इन आंदोलनों में जिन लोगों ने सक्रिय रूप से भाग लिया उनमें विभिन्न प्रकार के कृषकों ने मुख्य भूमिका अदा की और वे इसके सक्रिय सदस्य थे। उदाहरण के तौर पर, सिद्दीकी (1978) के अनुसार उत्तर प्रदेश के एक्का आंदोलन में सम्पन्न कृषकों ने मुख्य रूप से भाग लिया। यही बात उत्तरी बिहार की थी जहाँ 1917 और 1942 में किसान आंदोलनों का नेतृत्व सम्पन्न किसानों ने किया। दूसरी ओर, 1962 में केरल में मोपला विद्रोह पर अपने अध्ययन में हार्डग्रेव (1977) ने लिखा है कि इस विद्रोह में केरल के सबसे ग़रीब वर्ग के आसामी काश्तकारों ने भाग लिया।

हार्डीमैन (1981) ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि खेड़ा सत्याग्रह को मुख्य रूप से मध्यम वर्ग के उन किसानों ने समर्थन दिया जिनके पास तीन से पाँच एकड़ तक ज़मीन थी। इसलिए हमारे पास यह कहने का कोई स्पष्ट कारण नहीं है कि इन आंदोलनों में किसी एक या अन्य वर्ग के लोगों ने विशिष्ट भूमिका का निर्वाह किया। हमारे पास इस बात के भी कोई दस्तावेज़ी प्रमाण नहीं है कि इन आंदोलनों में स्त्रियों ने कहाँ तक योगदान किया। फिर भी हमें इस बात की जानकारी है कि कुछ मामलों में उन्होंने वीरतापूर्ण और उल्लेखनीय कार्य किए। उदाहरण के तौर पर, सिंहरॉय (1991) के अनुसार पश्चिम बंगाल के कुछ भागों में तेभागा किसान आंदोलन में स्त्रियों ने इस आंदोलन को जीवित रखने में अहम् भूमिका अदा की।

इस प्रकार, यहाँ किसान, आंदोलनों पर चर्चा के बाद शहरी भूमि उपयोग के आंदोलनों पर विचार किया जाएगा।

25.7.2 शहरी क्षेत्रें में भूमि के उपयोग से संबंधित समस्याओं के प्रति लोगों की जागरूकता

भगवान या प्रकृति के बजाए मनुष्य स्वयं अपने कार्यों से अपने आवासीय भूभागों को विभिन्न प्रकार की आपदाओं के प्रति प्रवण बना लेता है। इसके फलस्वरूप बहुत बड़ी संख्या में लोग इन मानव निर्मित आपदाओं से प्रभावित होते हैं। शहरी क्षेत्रों में योजना के अभाव में सरकारी भूमि पर गंदी बस्तियाँ बन जाती हैं। उदाहरण के लिए, रेलवे लाइन के दोनों ओर, अविकसित खड्डे वाली ज़मीनों, बड़े भवनों के निर्माण स्थल के पास, नदी के किनारे की ज़मीन पर काम-धंधे की तलाश में आने वाले ग़रीब लोगों द्वारा सामान्यत: अवैध रूप से कब्ज़ा कर लिया जाता है। इन स्थानों पर उनके बच्चों को खुला मैदान मिल जाता है और अपने नित्य-कर्म शौचादि से निपटने का स्थान उपलब्ध हो जाता है।

इन बस्तियों में जीवन के लिए आवश्यक पानी, जल-विकास के लिए नालियों, सफ़ाई, शौचादि और परिवहन आदि सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। इससे पर्यावरण प्रदूषित हो जाता है। यह प्रदूषण शहरों की हवा, शोर, औद्योगिक धूलि, सीसा आदि से और अधिक बढ़ जाता है। अभी भारत में हमारे पास घरों, नगरपालिका और औद्योगिक क्रियाकलापों से उत्पन्न ठोस कूड़े-कचरे से होने वाले भूमि के प्रदूषण के विश्वसनीय आँकड़े नहीं हैं। अवशिष्ट द्रव को फिर से शुद्ध करने की पृथ्वी में अंतर्निहित क्षमता है। हमारी चिंता का विषय ठोस कूड़ा-कचरा है क्योंकि उसको फिर से उपयोग में लाने के लिए हमें पैसा, समय और ऊर्जा आदि संसाधनों को खर्च करना पड़ता है। कूड़े-कचरे का किसी स्थान पर ढेर लगाना एक सस्ता तरीका है लेकिन यह समस्या का कोई अंतिम समाधान नहीं है। कुछ शहरी क्षेत्रों में लोग इस समस्या के प्रति सजग हो रहे हैं। पश्चिमी देशों में विद्यार्थी और अन्य युवा लोग कूड़े-कचरे को इकट्ठा करने, उसे अलग-अलग करने और उसे संसाधित करने की ज़िम्मेदारी उठा रहे हैं। भारत में हमें अभी इन समस्याओं के प्रति सजग होना है।

शहरी क्षेत्रों में कुछ स्वैच्छिक संस्थाएँ गंदी बस्तियों के पर्यावरण के सुधार में लगी हैं, उदाहरण के तौर पर कुछ स्थानों पर गंदी बस्तियों में रहने वालों के लिए चलते-फिरते शौचालयों की व्यवस्था की गई है।

शहरी क्षेत्रों में गंदी बस्तियों के पर्यावरण के सुधार के लिए चलाई गई योजनाएँ ज़्यादा नहीं हो सकी हैं। निर्माण और आवास मंत्रालय की रिपोर्ट में बीस सूत्री कार्यक्रम (19.7.1984) की समीक्षा की गई जिसमें इसके असफल होने के निम्नलिखित कारण बताए गए हैं:

क) स्थानीय निकायों के पास पैसे और जन-शक्ति की कमी के कारण बंदी बस्तियों में शुरू किए गए सुधार कार्यों को जारी नहीं रखा जाता।

ख) सुधार कार्यों को लागू करने के लिए राज्य सरकार द्वारा समय पर धन नहीं दिया जाता।

ग) कुछ राज्यों ने तो अभी तक अपने राज्यों के नगरों और उपनगरों में गंदी बस्ती क्षेत्रों के निर्धारण के लिए सर्वेक्षण तक नहीं किया है।

प्राय: यह अपेक्षा की जाती है कि इन कार्यों के लिए स्वैच्छिक संस्थाएँ आगे आकर इन सुधार कार्यों को अपने हाथ में लेंगी। जिन लोगों को इन सुधारों से लाभ होने वाला है वे भी ऐसी योजनाओं में भाग नहीं लेते इसलिए स्वैच्छिक संस्थाएँ भी सिलसिलेवार इन सुधार कार्यक्रमों को जारी नहीं रख पातीं। कई शहरों में बेहतर पर्यावरण उपलब्ध कराने के लिए इस प्रकार की व्यापक विकास योजना (सी.डी.पी.) तैयार की गई है (देखिए गौडा और श्रीधर, 1987)। ये योजनाएँ सामान्य रूप से स्थानीय/ या राज्य अधिकारों द्वारा शुरू की जाती हैं जो धीरे-धीरे बंद हो जाती हैं और उनसे कोई लाभ नहीं होता। इनमें लोगों की भागीदारी भी संभव नहीं

है। नीति और योजना बनाने वाले भी प्राय: लोगों की भागीदारी पाने का प्रयास नहीं करते। लोग स्वयं शहरी पर्यावरण के सुधार का काम अपने हाथ में नहीं ले सकते क्योंकि इसके लिए बहुत अधिक धन, अवसंरचनात्मक (infrastructural) आधार और लोगों तथा प्रशासन की सतत रुचि की भी आवश्यकता होती है।

मैसूर शहर में 1986 में शहरी वानिकी की योजना शुरू की गई थी (देखिए गौडा और श्रीधर, 1987 : 178-179)। इसका अभी आठ साल बाद मूल्यांकन किया जाना है। शहरी वानिकी से अभिप्राय शहरी क्षेत्र में वनों को लगाने और उनकी देखभाल से है। शहरी वानिकी कार्यक्रम वन विभाग के ही एक प्रभाग द्वारा चलाया जाता है। 1986-87 में मैसूर शहर में वानिकी पौध-शालाओं में तैयार किए 50,000 से अधिक पौधे वितरित किए गए थे। इस कार्यक्रम की सफलता लोगों के समर्थन और उनकी सजगता पर निर्भर करती है। कुछ शहरी क्षेत्रों में हमने विज्ञान आंदोलन की बात सुनी है। इसमें भी पर्यावरण संबंधी शिक्षा को विकसित करने की काफी संभावना है।

बोध प्रश्न 7

1) भारत में जो किसान आंदोलन हुए, क्या उनके संगठन और सिद्धांत एक ही थे? अपना उत्तर तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) नीचे स्तंभ (क) में दिए अंशों को स्तंभ (ख) में दिए अंशों से मिलाइए :

क		ख	
क)	भूमि का समान वितरण	1)	पर्यावरण में प्रदूषण
ख)	किसानों की दीनहीन दशा	2)	चीनी और यूरोपीय किसान आंदोलन
ग)	समाज में आधारभूत परिवर्तन	3)	तिभागा आंदोलन
घ)	न्यूनतम सुविधाओं का अभाव	4)	मोपला विद्रोह

3) शहरी वानिकी किसे कहते हैं? अपना उत्तर दो पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

25.8 सारांश

इस इकाई में पाठांश 25.2 में हमने सामान्य दृष्टि से भारत में भूमि के प्राकृतिक-भौगोलिक अभिलक्षणों की निरूपण किया। इसके बाद भूमि के उपयोग और उससे संबंधित पारिस्थितिक समस्याओं की चर्चा की गई है। यह बहुत बड़ा भाग है। इस भाग के तीन उपभाग हैं जिनमें चरागाह, बंजर भूमि और फ़सली भूमि के बारे में विवरण दिया गया है। इनमें से हर उपभाग आगे उपभागों में बाँटा गया है। इनमें उन विशिष्ट पारिस्थितिक समस्याओं पर ध्यान केंद्रित किया गया है जो लोगों को प्रभावित करती हैं। भारत चूँकि मुख्य रूप से कृषकों का देश है। यहाँ हमने विस्तार से लोगों द्वारा भूमि की सुलभता की प्रकृति तथा समाज के उच्च वर्गों द्वारा भूमि नियंत्रण तथा प्रबंधन के बारे में विचार किया है। हमने भूमि सुधार के लिए किए गए कानूनी उपायों और भूमि सुधार के परिणामों का विवरण भी दिया है।

एक छोटे से भाग में हमने शहरी क्षेत्रों में भूमि के इस्तेमाल के विन्यास की चर्चा की। अंत में, हमने ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में भूमि के नियंत्रण तथा प्रबंधन में लोगों की भागीदारी की बात की। इस इकाई के आधार पर भारत में संसाधनों के उपयोग को देखने के लिए आपको अपना दृष्टिकोण बनाना होगा। अगली दो इकाइयों में हम पानी और वन संसाधनों के बारे में विचार करेंगे।

25.9 शब्दावली

अकृष्य (Unculturable) : खेती योग्य नहीं; और न ही विकासक्षम।

क्षारीय (Alkaline) : संयंत्रों की राख से प्राप्त विलेप लवणों का मिश्रण जिसमें पोटेशियम अथवा सोडियम कार्बोनेट होता है। ये लवण कृषि के लिए हानिकारक मात्रा में अनुर्वर क्षेत्रों की मिट्टी की ऊपरी परत में पाये जाते हैं।

खड्ड (Gully) : एक गहरी कृत्रिम कुल्या, परनाला, नाली/ पानी के बहाव से बनी मोरी/ गर्त/ दर्रा।

जलविज्ञान (Hydrology) : पानी के गुण धर्म और नियमों से संबंधित विज्ञान।

तंगघाटी या बीहड़ (Ravine) : गहरी तंग घाटी।

पारितंत्र/पारिस्थितिकी तंत्र (Ecosystem) : प्राणिजात के स्वभाव, रहन-सहन का ढंग और अपने आसपास के वातावरण के साथ संबंधों का सम्मिश्र रूप।

प्रायद्वीप (Peninsula) : भूमि का वह भाग जो तीन ओर या लगभग चारों ओर से पानी से घिरा हो या जो समुद्र में बहुत आगे बढ़ा हुआ हो।

भौतिक-भौगोलिक (Physiographic): प्रकृति के विवरण से संबंधित अथवा प्राकृतिक दृश्यघटना।

लवणता (Salinity) : लवण या लवणों से संसिक्त/ सिक्त/ संतृप्त होने की गुणवत्ता।

सवाना (Savanna) : उष्ण कटिबंधीय और उपोष्ण कटिबंधीय वन क्षेत्र में घास वाला मैदान जिसमें जहाँ-तहाँ पेड़ हों।

सुलभता (Access) : किसी संसाधन विशेष को पाने अथवा प्रयोग करने हेतु स्वतंत्रता या सामर्थ्य।

सैलाबी मिट्टी (Alluvium) : बाढ़ के बाद छूटी हुई मिट्टी, रेत आदि।

स्टैपी (Steppe) : ऐसा समतल घास का मैदान जहाँ वन न हों।

25.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) गंगा-सिंध क्षेत्र भारत के कुल भूभाग का एक-चौथाई है। इस भूभाग का क्षेत्रफल 65,200 वर्ग किलोमीटर है।

2) जिस क्षेत्र में पर्वत, पहाड़ और पठारों का एक खंड है और बीच-बीच में घाटियाँ हैं उसे मध्य भारत का पठार कहते हैं। यह भारत के कुल भूभाग के क्षेत्रफल का एक बटा छह भाग है।

3) भूमि के उपयोग की दृष्टि से भारत के भूभाग को चार हिस्सों में बाँट सकते हैं। ये हैं – चरागाह क्षेत्र, बंजर या बेकार भूमि फसली भूमि और जंगल।

4) सवाना विस्तृत खुले घास वाले उन मैदानों के चरागाह को कहते हैं जिन पर यत्र-तत्र झाड़ियाँ और पेड़ उगे होते हैं, जबकि स्टैपीज़ उस विस्तृत समतल मैदान को कहते हैं जिस पर पेड़ नहीं होते। कभी-कभी पशुओं को बहुत ज़्यादा चराने से सवाना अविस्तरित होकर स्टैपीज़ जैसे लगने लगते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) राजस्थान के ग्यारह पश्चिमी जिले, गुजरात के तीन जिले और हरियाणा में तीन जिले वायु के अपरदन से प्रभावित क्षेत्र हैं। भारत में कुल 129.30 लाख हैक्टेयर क्षेत्र वायु के अपरदन से प्रभावित है।

2) बीहड़ों से अपरदन का प्रभाव उपजाऊ पठार क्षेत्र पर होता है। इन भूभागों पर खेती करने वालों और वहाँ रहने वालों को उस क्षेत्र से दूर जाना पड़ता है। दूसरे, ये बीहड़ डाकुओं के गिरोहों के शरण-स्थल बन जाते हैं। इससे इस क्षेत्र के निकटवर्ती गाँवों के लोगों में असुरक्षा की भावना पैदा हो जाती है।

3) खानों में खुदाई के काम के बाद उस क्षेत्र में खेती करना संभव नहीं होता क्योंकि खनन की आरंभिक अवस्था में भूमि के ऊपर की सतह से वनस्पतियाँ और उपजाऊ मिट्टी हटा दी जाती है। भूगर्म में खनन में खान से खनिज निकालने के बाद खान को छोड़ दिया जाता है। फलत: खान की भूमि बैठ जाती है और रहने, खेती करने या पशुओं को चराने के लिए असुरक्षित हो जाती है। खानों से खनिज निकलने के बाद उसमें उसकी जैविक सामर्थ्य खत्म हो जाती है। इससे उस क्षेत्र के मरुस्थल में परिवर्तित होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

बोध प्रश्न 3

1) इसका मतलब यह है कि कृषि में उत्पादन की दर के अनुपात में पूँजी निवेश किया जा रहा है।

2) भारत में कृषि के उत्पादन में दो प्रकार से वृद्धि की जा सकती है – एक तो वर्तमान कृषि क्षेत्र का विस्तार करके, दूसरे प्रति एकड़ क्षेत्र में ज़्यादा उत्पादन करके।

बोध प्रश्न 4

1) सीमांत जोतें 1 हैक्टेयर से कम क्षेत्र की जाती हैं और छोटी जोतें 1 से 2 हैक्टेयर क्षेत्र नियंत्रित होते हैं।

2) पट्टेदारी और भूमि अधिकार दोनों केंद्रीय तथा प्रांतीय प्रशासन व्यवस्था द्वारा नियंत्रित होते हैं।

3) ब्रिटिश शासित भारत में भूमि नीति का उद्देश्य भू-कर से अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त करना था।

4) ब्रिटिश शासन काल में भारत के विभिन्न भागों में विविध प्रकार के बंदोबस्त या भूमि व्यवस्थाओं ने काश्तकारों या किसानों के लिए ग़रीबी की स्थिति पैदा कर दी।

5) आर्थिक जोत की संकल्पना का अभिप्राय यह है कि काश्तकार के रहन-सहन का एक मानक स्तर बना रहे और उसके सामान्य आकार के परिवार के सदस्यों को पूर्ण रोज़गार तथा कम से कम एक जोड़ी बैल उपलब्ध हों।

बोध प्रश्न 5

1) भारत में ज़मींदारी प्रथा अंग्रेज़ों ने आरंभ कीं।

2) आज़ादी के बार भूमि सुधार के आरंभिक वर्षों में काश्तकारों को तथा भूमिहीन लेकिन भूमि पर आश्रित अन्य वर्गों को पहले से अधिक सुरक्षा देने के लिए उस समय प्रचलित काश्तकारी के कानूनों में संशोधन किया गया। ज़मींदारों को इस बात का डर था कि कहीं उनका भूमि पर से स्वामित्व समाप्त न हो जाए।

3) कोई काश्तकार तभी कृषक भूस्वामी की हैसियत प्राप्त कर सकता था यदि उसने कुछ निर्धारित अवधि तक कृषि भूमि पर अधिकार बनाए रखा हो।

4) केवल कानून बनाकर भूमि सुधारों को प्रभावशाली ढंग से लागू करना संभव नहीं क्योंकि कानून बनने के बाद उसे लागू करने की ज़िम्मेदारी प्रशासन की होती है। कानूनों को लागू करने के लिए राजनैतिक इच्छा, सक्षम प्रशासन तंत्र और पर्याप्त संसाधनों का होना आवश्यक है। इसके अलावा, यह भी ज़रूरी है कि भूमि सुधार से लाभ पाने वाले लोग संगठित हों और अपने कानूनी अधिकारों की माँग करें तभी कानून को प्रभावी ढंग से लागू किया जा सकता है।

5) कृषि भूमि क्षेत्रों की चकबंदी के निम्नलिखित कारण हैं :

   क) छोटी जोतें खेती के लिए अलाभकर होती हैं।

   ख) एक खेत से दूसरे खेत में कृषि संबंधी कार्यों को करने में अधिक धन, अधिक समय तथा अधिक श्रम व्यर्थ खर्च होता है।

   ग) खेती के कामों की देख-रेख में असुविधा होती है।

   घ) सिंचाई और नाली व्यवस्था पर अधिक व्यय होता है।

   ङ) फसल के समय एक खेत से दूसरे खेत में जाने में कठिनाई होती है तथा दूसरे के खेतों में से होकर जाने के कारण झगड़े होते हैं और तनाव पैदा होता है।

   च) कृषि भूमि के विभाजन से सीमांकन में कृषि भूमि का नुकसान होता है।

बोध प्रश्न 6

1) कृषि मज़दूर की हैसियत दूसरों से ऊँची होती है क्योंकि उसे जो दैनिक मज़दूरी मिलती है वह कभी-कभी सीमांत कृषकों की अपनी भूमि से होने वाली आय से अधिक होती है।

2) मोटे तौर पर नकद मज़दूरी दर का मतलब मज़दूरी के तौर पर प्राप्त नकद पैसे से है, जबकि वास्तविक मज़दूरी दर का अभिप्राय पैसे की बाज़ार से सामान खरीदने की (क्रय) शक्ति से है।

बोध प्रश्न 7

1) भारत में कृषक आंदोलन स्थानीय आधार पर अलग-अलग उद्देश्यों और लक्ष्यों को लेकर संगठित किए जाते हैं। वे सब अपनी माँगें एक ही मंच से नहीं उठाते।

2) क) 3

ख) 4

ग) 2

घ) 1

3) शहरी वानिकी का मतलब शहरी क्षेत्रों के रोपण और उसकी देखभाल से है। यह कार्य वन विभाग के एक प्रभाग द्वारा किया जाता है।

इकाई 26 जल : सुलभता, नियंत्रण तथा प्रबंधन

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.0 प्रस्तावना

26.2 जल सुलभता की वर्तमान स्थिति

26.2.1 पानी की प्रचुरता

26.2.2 घटी सुलभता

26.3 ब्रिटिश पूर्व भारत में जल-प्रबंध प्रणालियाँ

26.3.1 विभिन्न जल-प्रबंध प्रणालियाँ

26.3.2 पानी : सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में

26.3.3 सीमित सुलभता

26.3.4 वितरण में सहभागिता

26.3.5 अनुरक्षण में सहभागिता

26.4 औपनिवेशिक और समकालीन भारत में जल नीति

26.4.1 ब्रिटिश जल नीति

26.4.2 स्वाधीनता के बाद जल नीति

26.4.3 बहुसंख्यक लोगों को जल की कम सुलभता

26.4.4 विस्थापन : कौन प्रभावित होता है?

26.5 राष्ट्रीय जल नीति, 1987 : क्या इससे जल सुलभता बढ़ी है?

26.5.1 प्राथमिकताओं का निर्धारण

26.5.2 समर्थ वर्गों के लिए कार्यनीति

26.5.3 संभावित विकल्प

26.6 सारांश

26.7 शब्दावली

26.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

26.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- ग़रीब वर्ग, विशेष रूप से महिलाओं, के लिए पानी की सुलभता की वर्तमान स्थिति का वर्णन करना;
- भारत में जल-प्रबंध और जल-वितरण प्रणालिओं के बारे में बताना;
- उन जल प्रणालियों का विश्लेषण करना, जिनके कारण जल-संसाधनों पर समाज के सशक्त वर्गों का एकाधिकार हो गया है;

- इस स्थिति के कारण समाज के ग़रीब वर्गों, विशेष रूप से महिलाओं, पर पड़ने वाले प्रभाव को समझना; और
- इस स्थिति से उत्पन्न समस्या के समुचित समाधान की व्याख्या करना।

26.1 प्रस्तावना

इकाई 25 में हमने भूसंपदा के महत्त्वपूर्ण संसाधन की प्राप्यता तथा उसके नियंत्रण और प्रबंधन के बारे में विचार किया था। जल मनुष्य के जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण संसाधन है, जल के बिना जीवित रहना संभव नहीं है। प्रस्तुत इकाई 26 में हम भारत में उन सामाजिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करेंगे जो जल संसाधनों के एकाधिकारिक नियंत्रण और तथाकथित **वैज्ञानिक प्रबंध** के कारण पैदा होती हैं।

पानी की सुलभता मानवमात्र का मूलभूत अधिकार है क्योंकि इसके बिना जीवित रहना असंभव है। समाज के विभिन्न वर्गों को जिस तरह पानी उपलब्ध होता है उस विषय पर चर्चा शुरू करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम परंपरागत जल-प्रबंध और उसकी वितरण व्यवस्था का विश्लेषण करें तथा उसकी ब्रिटिश शासन के दौरान एवं आज़ादी के बाद की जल-प्रबंध नीतियों से तुलना करें। इससे हमारा ध्यान कुछ प्रश्नों की ओर जाता है। जैसे, इस व्यवस्था से किन वर्गों को अधिक जल उपलब्ध हो रहा है और किन वर्गों को पानी के अभाव का सामना करना पड़ रहा है? आज हमारी जल विकास नीतियों का प्रभाव किन वर्गों पर पड़ रहा है? स्पष्ट है कि कुछ वर्गों ने अन्य वर्गों की आवश्यकताओं को नज़रअंदाज करके जल संसाधन पर एकाधिकार कर लिया है। राष्ट्रीय जल नीति को बनाने वालों को इस समस्या का हल ढूँढ़ना होगा। इसीलिए इस इकाई के अंत में हम राष्ट्रीय जल नीति, 1987, पर चर्चा करेंगे। साथ ही, इस बात की जाँच भी करेंगे कि यह नीति कहाँ तक इस समस्या का समाधान करने में सक्षम है।

26.2 जल सुलभता की वर्तमान स्थिति

आज भारत में पानी की सुलभता और प्रबंध व्यवस्था में कुछ परस्पर विरोध दिखाई देता है। एक ओर तो देश में पानी की बहुतायत है, पिछले चालीस-पचास सालों में बाँधों की संख्या में तो बहुत अधिक वृद्धि हुई है लेकिन दूसरी ओर बहुसंख्यक लोगों को पहले से भी कम पानी मिल रहा है, इसलिए कई क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। इस खंड में हम पहले प्रचुर मात्रा में पानी की उपलब्धता के बारे में चर्चा करेंगे, फिर उसके बाद पानी का उपयोग करने वालों को पानी की सुलभता में कमी की स्थिति की समीक्षा करेंगे।

26.2.1 पानी की प्रचुरता

नाग और कथपालिया (1975) द्वारा तैयार किए गए जल अनुक्रम चार्ट के अनुसार, भारत में वर्षा तथा पर्वतों की बर्फ़ में पिघलने आदि से कुल 39.4 करोड़ हैक्टेयर मीटर (है.मी.) औसत वार्षिक पानी उपलब्ध होता है। इसमें यदि धरती पर हिमपात के आंकड़ों (जो उपलब्ध नहीं हैं) को भी जोड़ दें तो कुल 40 करोड़ है.मी. जल होता है। इस 40 करोड़ है.मी. में उन नदियों के 2 करोड़ है.मी. जल को भी जोड़ा जो सकता जो हिमालय के जलाशय वाले (watershed) क्षेत्र में स्थित पड़ोसी देशों की नदियों से बहकर आता है। आइए, अब हम देखें कि देश में उपलब्ध इस 40 करोड़ है.मी. (या 42 करोड़ है.मी.) जल संसाधन का किस प्रकार उपयोग होता है।

इस 40 करोड़ है.मी. पानी में से 4 करोड़ है.मी. पानी भाप बनकर वायुमंडल में खो जाता है। इसके बाद 33 करोड़ है.मी. पानी बचा रहता है। इसमें से 21.5 करोड़ है.मी. पानी ज़मीन में रिस जाता है। रिसने वाले पानी में से केवल लगभग 4.5 करोड़ है.मी. जमीन पर बहता है। अब बच रहा 11.5 करोड़ है.मी. पानी। यह वह पानी है जो ज़मीन पर वर्षा के रूप में

गिरता है। यह पानी जलधाराओं और अन्य स्रोतों में प्रवाहित होता है। इसमें यदि नेपाल और तिब्बत से बहकर आने वाली नदियों से 2 करोड़ है.मी. पानी को भी जोड़ लें तो भारत में भू-सतह पर प्रवाहित होने वाले जल की मात्रा 18 करोड़ है.मी. है।

इस 18 करोड़ है.मी. जल प्रवाह का लगभग 15 करोड़ है.मी. या तो बहकर समुद्र में चला चाता है या कुछ पड़ोसी देशों में चला जाता है। शेष रहता है – 3 करोड़ है.मी. जल प्रवाह का लगभग 15 करोड़ है.मी. या तो बहकर समुद्र में चला जाता है या कुछ पड़ोसी देशों में चला जाता है। शेष रहता है – 3 करोड़ है.मी. पानी। इसमें से लगभग 1.5 करोड़ है.मी. पानी जलाशयों और तालाबों से संचित होता है जिसका लगभग 50 लाख है.मी. पानी भाप बनकर उड़ जाता है। नदियों के पानी में से लगभग 1.5 करोड़ है.मी. पानी का नहर आदि या सीधे पंपों द्वारा उपयोग किया जाता है। स्पष्ट है कि भू-सतह पर उपलब्ध 18 करोड़ है.मी. में से हमें केवल 2.5 करोड़ है.मी. पानी मिलता है। ऐसा अनुमान है कि यदि पानी को संचित कर और सीधे पंपों द्वारा तथा नहर आदि निकालकर पानी का पूरा इस्तेमाल करें तो भी 10.5 करोड़ है.मी. पानी लगातार समुद्र में या पड़ोसी देशों में बहकर चला जाएगा।

ज़मीन के अंदर रिसकर जाने वाले 21.5 करोड़ है.मी. पानी में से 16.5 करोड़ है.मी. पानी मिट्टी में नमी के रूप में सुरक्षित रहता है। केवल 5 करोड़ है.मी. पानी ज़मीन के तल में बहने वाला जल बन जाता है। चतुर्वेदी और रॉजर्स (1985 : 29) जैसे वैज्ञानिकों के अनुसार ज़मीन के अंदर बहने वाले पानी (भू-जल) के उपयोग को काफ़ी बढ़ाया जा सकता है। ऐसा अनुमान है कि इस समय 6.7 करोड़ है.मी. भौम जल में से केवल 1.3 करोड़ है.मी. पानी का ही उपयोग होता है, जबकि 4.5 करोड़ है.मी. पानी नदी में बह जाता है और बाकी 90 करोड़ है.मी. पानी जलस्तर को ऊपर उठाता है तथा भाप बनकर उड़ता है और प्राणियों तथा पेड़-पौधों में से निकलने वाली भाप के रूप में निकल जाता है।

इनमें से भाप बनने और मिट्टी में जल रिसने की जैसी जलीय चक्र की प्रक्रियाओं पर हमारा कोई बस नहीं है। हाँ, 18 करोड़ है.मी. सतही प्रवाह के रूप में मिलने वाले जल की प्राप्यता, उसके नियंत्रण और विकास का विश्लेषण किया जा सकता है।

इस विश्लेषण को हाथ में लेने से पहले आइए हम भारत में बाढ़ और सूखे की स्थितियों के बारे में भी संक्षेप में विचार कर लें। हर वर्षा ऋतु में हमें अखबारों में देश के विभिन्न भागों में विनाशकारी बाढ़ और सूखे के बारे में विवरण मिलते हैं। उनमें देश के विभिन्न भागों में विनाशकारी बाढ़ और सूखे के बारे में विवरण मिलते हैं। उनमें देश के विद्यमान जल संसाधनों की मौसमी और स्थानिक विभिन्नताओं की ओर संकेत होता है। बाढ़ से खड़ी फ़सल, घर, संपत्ति को नुकसान होता है और उससे मानव तथा पशुओं की आबादी पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। भीषण बाढ़ से रेलमार्ग, सड़कें, संचार व्यवस्था और जन-सुविधाएँ नष्ट हो जाती है। इस प्रकार, इससे देश की आर्थिक क्रियाशीलता में अस्थिरता आती है। साथ ही, सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संबंधों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

इसी प्रकार, सूखे का भी देश की आबादी पर भयंकर प्रभाव पड़ता है। इनका प्रभाव कितना अधिक पड़ेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि लोगों का अपनी परिस्थितियों के प्रति अनुकूलन (adaptation) कितना है। भारत में लगभग कुल क्षेत्र का 16 प्रतिशत भाग सूखा-प्रवण है और देश की जनसंख्या का लगभग 11 प्रतिशत भाग सूखे के हालात से सीधे प्रभावित होता है (देखिए सेंट 1988 : 129-137 और मुरीश्वर व फर्नांडिस 1988 : 162-178)।

इसके अलावा, पानी के प्रदूषण की समस्या भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। मूल स्रोत से पानी लेकर उसका घरेलू, औद्योगिक और कृषि संबंधी कामों में इस्तेमाल करने के बाद इस इस्तेमाल किए

हुए पानी को फिर से पानी के मूल स्रोत में मिला दिया जाता है। इससे जल प्रदूषण की बड़ी समस्या उठ खड़ी होती है। खेती और उद्योगों में जल संसाधन के व्यापक उपयोग से और देश की बढ़ती आबादी तथा विकासात्मक क्रियाकलापों के कारण हमें युगों से चली आ रही बाढ़ और सूखे की समस्याओं के साथ अब जल प्रदूषण की समस्या का भी सामना करना पड़ेगा।

आइए, अब हम फिर पुराने विषय पर ध्यान केंद्रित करें और इस बात की परीक्षा करें कि किस प्रकार 18 करोड़ है.मी. अतिरिक्त जल का उपयोग सामान्यत: मनुष्यों और प्राणियों की उत्तरजीविता के लिए और विशेष रूप से भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था को बनाए रखने के लिया जाता है। संक्षेप में, हमें यह मालूम करना होगा कि क्या उपलब्धता का यह अर्थ है कि उतनी ही मात्रा में पानी की सुलभता भी है।

सोचिए और करिए 1

भारत के नक्शे में देखें और पहचानें कि कौन-कौन सी नदियाँ हिमालय के जलाशय वाले (watershed) क्षेत्र में स्थित पड़ोसी देशों से निकलकर भारत में आती हैं। ये नदियाँ कहाँ-कहाँ से गुजरती हैं – इस पर 250 शब्दों की एक टिप्पणी लिखिए।

26.2.2 घटी सुलभता

छठी पंचवर्षीय योजना (180-85) के प्रलेख (1981) के अनुसार, गाँवों की केवल 10 प्रतिशत आबादी को स्वच्छ पेय जल उपलब्ध था और देश की केवल 30 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध थी। कुल 12.3 करोड़ हैक्टेयर फ़सल क्षेत्र में से 70 प्रतिशत भाग आज भी वर्षा द्वारा होने वाली सिंचाई पर निर्भर है। विशेषज्ञों के अनुमान के अनुसार, सिंचाई के क्षेत्र में और अधिक विकास के बावजूद भारत का 50 प्रतिशत फसली क्षेत्र वर्षा पर आश्रित कृषि व्यवस्था वाले सभी किसानों को कृषि करने के लिए अतिरिक्त जल उपलब्ध हो। वास्तव में, नीचे दिए गए कारणों से, बहुसंख्यक लोगों की जल संसाधनों तक पहुँच वर्तमान समय में बहुत कम हो गई है :

क) भू-जल (groundwater) के स्तर में कमी आने के कारण छोटे किसानों को खुले कुओं और गाँवों के तालाबों के पानी पर निर्भर रहना पड़ता है। भू-जल स्तर में किसी भी प्रकार की कमी से उन्हें सिंचाई की सुविधा से वंचित होना पड़ता है।

ख) कुछ दशक पूर्व तक गाँवों में जन-सामान्य के इस्तेमाल के जल संसाधनों को भली-भाँति सुरक्षित रखने की व्यवस्था थी लेकिन अब इसकी कोई परवाह नहीं करता। इसके फलस्वरूप छोटे किसानों को न तो साल में होने वाली अपनी एक मात्र फसल के लिए पर्याप्त पानी मिलता है और न ही उनके परिवार को घरेलू उपयोग के लिए पानी उपलब्ध होता है। इसके अलावा, ऐसा अनुमान है कि भारत की नदियों का 70 प्रतिशत जल, जिसका पीने के लिए इस्तेमाल होता है, प्रदूषित है। दूसरी ओर, हर साल हज़ारों की संख्या में जल स्रोत सूखते जा रहे हैं।

ग) पर्यावरण के विनाश के कारण देश का जल-संतुलन बिगड़ गया है। अब सूखे और बाढ़ का प्रकोप बार-बार तथा और अधिक तीव्रता से होने लगा है। दूसरे शब्दों में, यह अवश्य संभव है कि बड़े किसानों के लिए सिंचाई जल की उपलब्धता बढ़ी हो, परंतु जहाँ तक अधिकांश लोगों का सवाल है, स्थिति में कोई खास फ़र्क नहीं आया है। अधिकांश अन्य संसाधनों की तरह, इस संसाधन पर भी थोड़े से लोगों का नियंत्रण है और अब लगातार इस पर मध्यम वर्ग और बड़े किसानों का अधिकाधिक एकाधिकार होता जा रहा है।

इस इकाई में हमें उस प्रक्रिया को देखना है जिसके कारण आज यह स्थिति बनी है और इसका बहुसंख्यक समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसी संदर्भ में हम **राष्ट्रीय जल नीति, 1987** को

समझने की कोशिश करेंगे कि किस सीमा तक यह नीति इस स्थिति से निपटने की कोशिश कर रही है। दोनों बातों को समझने के लिए पहले हम ब्रिटिश शासन से पूर्व के भारत की जल-प्रबंध प्रणालियों का अध्ययन करेंगे और उसके बाद ब्रिटिश शासन के दौरान और आज़ादी के बाद के भारत में जल नीति पर चर्चा करेंगे जल प्रबंध प्रणालियों पर विचार करने से पहले आप क्यों न बोध प्रश्न के उत्तर लिखें।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित वाक्यों के आगे सही या ग़लत पर निशान लगाइए :

   क) बाँधों की संख्या में वृद्धि के कारण भारत के प्रत्येक नागरिक को समान रूप से पानी सुलभ होने लगा है। (सही/गलत)

   ख) भू-जल स्तर में गिरावट आने के कारण छोटे किसानों को जल की उपलब्धता में कमी आई है। (सही/गलत)

   ग) देश के सभी गाँवों में पानी सुलभ है। (सही/गलत)

   घ) गाँवों में तालाबों की देखभाल ठीक से नही की जा रहीं है। (सही/गलत)

2) भारत में बाढ़ या सूखा इतनी जल्दी-जल्दी क्यों होते हैं? एक पंक्ति में उत्तर दीजिए।

   .....

   .....

26.3 ब्रिटिश-पूर्व भारत में जल-प्रबंध प्रणालियाँ

इस भाग में पहले हम भारत में विभिन्न प्रकार की जल-प्रबंध प्रणालियों पर चर्चा करेंगे। उसके बाद प्राचीन भारत में ''जल को सार्वजनिक संपत्ति समझा जाता था'' इस संभावना की छान-बीन करेंगे। इस चर्चा के बाद जन-साधारण के लिए जल की सीमित सुलभता के बारे में विचार करेंगे। अंत में, जल संसाधन की वितरण प्रणाली और उसके अनुरक्षण में लोगों की सहभागिता की प्रकृति को देखेंगे।

26.3.1 विभिन्न जल-प्रबंध प्रणालियाँ

भारत में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जल-प्रबंध प्रणालियों में अंतर दिखाई देता है। इसके कारण पूर्व से पश्चिम तक वर्षा की मात्रा में अंतर होना है। पूर्वी भारत में बहुत अधिक वर्षा होती है। उत्तर-पूर्वी भारत के कुछ हिस्सों में प्रति वर्ष 4000 मि.मी. तक वर्षा होती है। जैसे-जैसे हम पश्चिम की ओर बढ़ें, वर्षा की मात्रा क्रमश: कम होती जाती है और फिर राजस्थान तक पहुँचते-पहुँचते मालूम होता है कि वहाँ वर्षभर में केवल लगभग 800 मि.मी. वर्षा होती है। भारत के अधिकांश भागों में प्रति वर्ष औसतन 1000 मि.मी. या उससे कम वर्षा होती है। पूरे भारत में प्रति वर्ष औसत वर्षा 1150 मि.मी. है।

वर्षभर की अधिकांश वर्षा मानसून के कुछ ही महीनों में हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाकी आठ महीनों में ही जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाकी आठ महीनों में भारत के अधिकांश भागों में लोगों को तालाबों, जोहड़ों, कुँओं, बाँधों और नदियों में संचित जल पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों के उत्तर जीवन के लिए इन स्रोतों की देखभाल और पानी का न्यायसंगत वितरण और भी आवश्यक हो जाता है।

अधिकांश भारत की स्थिति उन देशों से भिन्न है जो विषुवत क्षेत्र के निकट स्थित हैं, उदाहरण के तौर पर– फिलिपीन्स में पूरे देश में लगभग समान वर्षा होती है और हर मास थोड़ी-बहुत

वर्षा ज़रूर हो जाती है। इसके कारण छोटे नदी-नालों में भी वर्षभर पानी भरा रहता है। इसलिए फिलिपीन्स में केवल वितरण के लिए ही सहयोग की अपेक्षा होती है तथा वितरण प्रणाली यानी नहरों की देखभाल की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, भारत में सहयोग की शुरुआत टैंकों, बांधों, तालाबों और कुँओं आदि में पानी को जमा करने होती है क्योंकि वर्षा-रहित महीनों में ये ही पानी के मुख्य स्रोत होते हैं। यहाँ इस प्रकार नियमित रूप से पानी उपलब्ध नहीं हो वहाँ प्रकृति ने वनों के माध्यम से वैकल्पिक व्यवस्था भी कर दी है। वन मानसून के पानी को रोक रखते हैं, और उसे धीरे-धीरे नदियों, चश्मों और भू-जल व्यवस्था को देते रहते हैं। लोगों ने पानी को इकट्ठा करके रखने के लिए कुओं, तालाबों और टैंकों की व्यवस्था कर ली है। इसलिए जल-प्रबंधन की परंपराएँ केवल पानी के वितरण के इर्द-गिर्द नहीं घूमतीं अपितु उसका संबध पानी की भंडारण सुविधाओं की देख-रेख से भी है। यही बात है कि भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा जल की सुलभता का एक विशिष्ट विन्यास बन गया है। आइए, हम इसकी विशिष्टताओं पर एक नज़र डालें। यहाँ विशिष्टता यह है कि अन्य संसाधनों की तरह पानी मनुष्य के जीवन के लिए एक आवश्यक तत्त्व है इसलिए इसकी सभी के लिए पाना आवश्यक है। यही कारण है कि हमें विभिन्न प्रकार की ऐसी व्यवस्थाएँ दिखाई देती हैं जिनसे यह बात पक्की हो सके कि ग़रीब से ग़रीब और समाज के कमज़ोर वर्गों तक सबको पानी मिल सके।

26.3.2 पानी: सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में

पुरातत्त्वीय साक्ष्य और ऐतिहासिक अभिलेखों से मालूम होता है कि भारत में पेयजल उपलब्ध कराने और सिंचाई आदि के लिए कई जल परियोजनाएँ थीं। उनके अलग-अलग आकार थे, छोटे कुँओं, टैंकों से बड़ी नहरों तक। भारत में, मिट्टी के बाँधों की सहायता से छोटे जलाशय बनाने की प्रौद्योगिकी पर्याप्त पुरातन काल से चली आ रही है। देश के उत्तरी और दक्षिणी भागों में टैंकों द्वारा सिंचाई की व्यवस्था भी काफ़ी प्राचीन काल से प्रचलित है।

अनुमानत: यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में पानी को सार्वजनिक संपत्ति समझा जाता था। या यों कहें कि उपलब्ध पानी पर पूरे समुदाय का स्वामित्व होता था और सभी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसका इस्तेमाल करते थे। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि प्राचीन काल में प्रत्येक व्यक्ति को जल संसाधन का न्यायसंगत भाग प्राप्त था और ब्रिटिश शासन से पूर्व जल प्रबंध में भागीदारी की कोई परंपरा रही थी। हमारे सामने इस आदर्श स्थिति का कोई साक्ष्य नहीं है। यह तर्क ज़रूर दिया जा सकता है कि संसाधन सार्वजनिक संपत्ति होते हैं या होने चाहिए तथा पानी जीवन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। अत: इसे पाने के लिए पानी के साथ पुण्य का भाव जोड़ा गया है। पानी देने में पुण्य होता है – यह अवधारणा किसी एक धर्म की विशेषता नहीं। यह बात लगभग सभी धर्मों में पाई जाती है। यहूदी और मुसलमान इसे नए जीवन का प्रतीक के रूप में करते हैं। हिन्दूओं में गंगा जल के पावन होने की परंपरा से लोग भली-भाँति परिचित हैं। अधिकांश जनजातीय कबीले पानी में दिव्य अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इन बातों से पता चलता है कि पानी को पुण्य-पावन का स्वरूप प्रदान करके सर्वसामान्य के लिए पानी की सुलभता को पक्का करने का प्रयास किया गया है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि चूँकि जल प्रत्येक व्यक्ति को स्वभाविक रूप से प्राप्त नहीं होता था, परंतु जल मानव के जीवन धारण के लिए महत्त्वपूर्ण घटक है इसलिए किसी न किसी तरह इसे सबको सुलभ कराना आवश्यक है। इसलिए पानी को पुण्य-पावन की भावना से जोड़ दिया गया। हमारे समाज में यह एक तरह से धार्मिक विश्वास का अंश है कि किसी प्यासे को पानी पिलाना पवित्र और पुण्य कार्य होता है।

इसके अलावा, पानी को सार्वजनिक संपत्ति मानने की अवधारणा का, निश्चय ही, यह अभिप्राय नहीं है कि यह सर्वसुलभ संसाधन है। अधिकांश जनजातीय कबीलों में वन के उत्पाद जैसे संसाधनों को उनके वर्ग की सामूहिक संपत्ति माना जाता है और उस वर्ग के सदस्य उसका खुले

रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं। परंतु यहाँ भी ज़रूरी नहीं कि दुनिया भर के सारे जनजातीय कबीले इस बात का पालन करते हैं। भारत में भी बहुत-से जनजातीय समूह उच्च और निम्न वर्गों और उप-वर्गों में बँटे हुए हैं और उसी के अनुसार उनमें विभिन्न संसाधनों की सुलभता भी समान वितरण पर आधारित न होकर वर्ग के आधार पर है। अगले उपभाग में विभिन्न जातीय-समुदायों में जल संसाधन की सुलभता को देखा जा रहा है।

26.3.3 सीमित सुलभता

अधिकांश जातीय समुदायों में शक्तिशाली लोगों को ही विभिन्न संसाधन सुलभ हैं लेकिन कमज़ोर वर्गों को इनसे वंचित रहना पड़ता है। परंपरागत रूप से जल संसाधनों का नियंत्रण और प्रबंध मुख्य रूप से ज़मींदार या भूस्वामी वर्ग तक सीमित था क्योंकि ये ही गाँवों में अधिक शक्तिशाली लोग थे। निम्न जाति के लोगों को और अन्य भूमिहीन वर्गों के लोगों को जल प्रबंध से वंचित रखा जाता था। गाँवों के ज़मींदार परिवारों के दायरे में निश्चय ही वितरण की न्यायसंगत व्यवस्था थी। लेकिन जिनके पास गाँव में ज़मीन या दूसरी संपत्ति नहीं होती थी उनके हाथ में किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता था। उन्हें निर्णय करने और जल प्रबंध की व्यवस्था से अलग रखा जाता था। इसलिए उन्हें विभिन्न संसाधनों की न्यायसंगत सुलभता से भी परे रखा जाता था। इसलिए उन्हें विभिन्न संसाधनों की न्यायसंगत सुलभता से भी परे रखा जाता था। इसलिए उन्हें निर्णय करने और जल प्रबंध की व्यवस्था से अलग रखा जाता था। इसलिए उन्हें विभिन्न संसाधनों की न्यायसंगत सुलभता से भी परे रखा जाता था। दूसरे, सामान्यत: पानी के एक ही स्रोत का उपयोग पेयजल के रूप में और सिंचाई के लिए किया जाता था। घरेलू उपयोग के लिए जल की नियमित आपूर्ति का दायित्व गृहिणी का होता था और आदमी मुख्य रूप से कृषि व्यवस्था के कार्य में व्यस्त रहते थे। इसलिए वे केवल खेतों की सिंचाई के लिए पानी की चिंता करते थे। जल प्रबंध और दूसरे कार्यों से संबंधित सामाजिक संगठनों पर भी पुरुषों का नियंत्रण होता था। इस तरह, सिंचाई के लिए जल प्रबंध व्यवस्था में अधिकाधिक भागीदारी बनाए रखी जाती थी लेकिन घरेलू उपयोग के जल के बारे में संगठन व्यवस्था की बहुत कम ज़रूरत समझी जाती थी। (सेन गुप्त 1991 : 119-120)

संक्षेप में, उपर्युक्त व्यवस्था को जनजातियों के बीच पाई जाने वाली न्यायसंगत व्यवस्था की तरह सर्वसामान्य की संपत्ति नहीं कहा जा सकता है। भारत में जातीय आबादी वाले गाँव असमान अधिकार वाले समुदायों के संगठन हैं। इन गाँवों में अधिक शक्तिशाली जातीय वर्गों के पास संपत्ति होती है और अधिकांश मामलों में निर्णय करने का अधिकार भी उन्हें ही होता है। इसलिए वे इस बात को सुनिश्चित कर लेते हैं कि उनकी अपनी जाति के लोगों में न्यायसंगत वितरण हो – चाहे दूसरे लोग उससे वंचित ही रहें। इसके अलावा, भारत के अधिकांश सामाजिक वर्गों में पुरुषों का प्रभुत्व है तथा महिलाओं के नज़रिए को ख़ास महत्त्व नहीं दिया जाता। इस दृष्टि से, परंपरागत उच्च जाति वाले पुरुष प्रधान भारत के गाँवों में महिलाओं के लिए पूरे गाँव की सामूहिक संपत्ति नहीं थी। यह तो केवल शक्तिशाली जातियों या उच्च वर्ग की संपत्ति थी।

यदा-कदा इन उच्च वर्गों के कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों ने संसाधनों पर एकमात्र अपना नियंत्रण करने की कोशिश की। सामंतों और राजाओं ने अपने उपयोग के लिए तालाबों तथा सिंचाई के संसाधनों का निर्माण कराया। कुछ व्यक्तियों द्वारा एकाधिकार की प्रवृत्ति केवल पानी के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। इन लोगों ने कुछ जंगलों और दूसरी संपत्तियों पर भी निजी उपयोग के लिए कब्ज़ा कर लिया।

26.3.4 वितरण में सहभागिता

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि आम तौर पर एक ही स्रोत से उपलब्ध पानी का उपयोग घरेलू कामों और सिंचाई के लिए किया जाता था। इन दोनों ही मामलों में न्यायसंगत वितरण

के लिए समाज से मान्य तरीकों की ज़रूरत थी। पीने के पानी की न्यायसंगत सुलभता के लिए समाज से मान्य तरीका क्या था, इसकी पर्याप्त जानकारी नहीं है।

जहाँ तक सिंचाई व्यवस्था का संबंध है, मुग़ल काल में लगभग 20 बड़े बाँधों का निर्माण कराया गया था। उनका आज भी इस्तेमाल हो रहा है (सी.डब्ल्यू.एस. 1990)। ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व सबसे अधिक जानी-मानी सिंचाई प्रणाली कावेरी पर बना बांध है जो **ग्रांड एनिकट** के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिंचाई व्यवस्था का उपयोग आज भी किया जा रहा है। अपने स्वर्ण युग में इससे लगभग 2,40,000 हैक्टेयर भूमि की सिंचाई की जाती थी। उत्तर प्रदेश में भी नहरों की अच्छी व्यवस्था है जिनका निर्माण मुग़ल काल में हुआ था। इन बाँधों और नहरों का निर्माण राज्य की सहायता से किया गया था। इन बाँधों और नहरों का निर्माण राज्य की सहायता से किया गया था तथा पानी के वितरण के लिए समुचित वितरण व्यवस्था थी। लेकिन, अधिकांशत: इस वितरण के विस्तृत स्वरूप की जानकारी नहीं है।

हमें केवल इतनी ही जानकारी है कि अधिकांश सिंचाई तालाबों, बाँधों, टैंकों और कुँओं से और कहीं-कहीं नदी के जल के जल से की जाती थी। 1880 के दशक में तैयार की गई एक सूची से पता चलता है कि उस समय मद्रास प्रेसिडेंसी के **रैयतवाड़ी** क्षेत्र में कम से कम 32,000 तालाब थे। इसके अलावा, इसके **ज़मींदारी** क्षेत्र में और भी बहुत से तालाब थे। इसी तरह देश में अन्य भागों में भी तालाब थे। इसी तरह देश के अन्य भागों में भी तालाब थे। इन तालाबों और बहुत-सी नहरों की व्यवस्था ''ग्राम सिंचाई समुदाय'' यानी उपभोक्ता संगठन के द्वारा की जाती थी। इन भागीदारी प्रबंध व्यवस्था में उपभोक्ताओं के लिए जल की सुलभता को सुनिश्चित किया गया था। ऐसा अनुमान है कि ब्रिटिश शासन से पूर्व तालाबों और नहरों से आज के 4 करोड़ हैक्टेयर की तुलना में लगभग 70 लाख हैक्टेयर कृषि-योग्य भूमि की सिंचाई की जाती थी।

देश के विभिन्न भागों में निर्मित तालाबों (टैंकों) के प्रकारों में अंतर है। मोटे तौर पर, पश्चिमी भारत में विशेष रूप से गुजरात के समुद्र तट से दूर वाले और अन्य क्षेत्रों में छोटे-छोटे टैंक थे और इनका उपयोग केवल पाँच-छह परिवार करते थे। इन परिवारों द्वारा इसके उपयोग के लिए ग्राम पंचायत द्वारा स्वीकृत कुछ नियम थे। इनमें से अधिकांश टैंकों में इनके अपने जल स्रोतों से पानी भरा जाता था। इसलिए स्थानीय विनियमों में इस बात की व्यवस्था थी कि प्रत्येक परिवार के द्वारा पानी का इस्तेमाल करने के बाद इसे कई घंटों तक भरने के लिए खुला छोड़ दिया जाए।

भारत के अधिकांश दूसरे हिस्सों में, इनसे कहीं बड़े टैंकों के द्वारा 100 हैक्टेयर और कहीं-कहीं तो दो या तीन हजार हैक्टेयर से भी अधिक भूमि की सिंचाई की जा सकती है। इसलिए ऐसे एक-एक टैंक से 100 से भी अधिक परिवार सिंचाई कर सकते हैं और कहीं-कहीं तो इसका उपयोग कई-कई गाँवों द्वारा किया जा सकता है। पानी के न्यायसंगत वितरण के लिए सभी के द्वारा वितरण के नियमों का पालन और पारस्परिक सहयोग नितांत आवश्यक है। हाल ही में पारस्परिक सहयोग के अभाव के कुछ मामले प्रकाश में आए हैं। इनमें कुछ किसानों ने धान की संकर किस्म की ज्यादा खेती शुरू कर दी या वाणिज्य फसल बोनी शुरू कर दी जिसे पहले से ज्यादा पानी की ज़रूरत होती है। कुछ ऐसे मामले भी देखने में आए हैं जिनमें कुछ बड़े किसान उनके लिए निर्धारित पानी से ज़्यादा पानी का उपयोग करते हैं। यहाँ दो गाँवों के झगड़े भी देखने में आए हैं। इसका कारण यह है कि कुछ टैंक एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं – यदि एक गाँव के लोग इसकी देखभाल में लापरवाही बरतते हैं या निर्धारित हिस्से से अधिक पानी का उपयोग करते हैं तो इसका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है।

न्यायसंगत ढंग से पानी के वितरण की परंपरागत पद्धति अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग थी। लगभग संपूर्ण तमिलनाडु में एक अधिकारी होता था जिसे कहीं **नीरपैची** और कहीं

मदैकुडुम्बन कहते थे। इसका काम पानी की मात्रा के नियतन और वितरण का पर्यवेक्षण करना होता था। सामान्यत: नीरपैची निम्न जाति का होता था जिसकी अपनी कोई ज़मीन नहीं होती थी, इसलिए उसकी ज़्यादा पानी लेने में कोई रुचि नहीं होती थी। वह, वास्तव में, गाँव का एक कर्मचारी या नौकर होता था। उसकी जिम्मेदारी या देखने की होती थी कि समिति द्वारा तैयार की गई योजना के अनुसार सबको पानी उपलब्ध हो। चूंकि उसे सभी परिवारों से पैसा मिलता था, इसलिए उसे यह देखना होता था कि सभी को पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार पानी की मात्रा उपलब्ध हो। आंध्र प्रदेश के कुछ भागों में **नीरपैची** को **नीरू कट्टुदर** कहा जाता था। उसके कार्य का पर्यवेक्षण **तेन्नाडेड्डा** द्वारा किया जाता था **नीरूकट्टुदुर** गाँव का कर्मचारी होता था और उसे किसानों द्वारा अनाज आदि ज़रूरी सामान दिया जाता था। जल के समुचित वितरण को देखने के लिए किसानों के प्रतिनिधि के रूप में तेन्नाडेड्डा की नियुक्ति की जाती थी (सेनगुप्त 1991 : 97-120)।

तमिलनाडु ओर आंध्र प्रदेश जैसे कम पानी वाले क्षेत्रों में ऐसा नियंत्रण आवश्यक था। दूसरी ओर, उत्तरी बिहार के ''गया'' जैसे क्षेत्र में जहाँ बहुत अधिक पानी उपलब्ध है, ऐसे गहन पर्यवेक्षण की ज़रूरत नहीं थी। यहाँ किसानों को सिंचाई-तंत्र के लिए पानी की व्यवस्था की देखभाल करनी पड़ती थी क्योंकि पानी के वितरण की कोई समस्या नहीं थी।

सोचिए और करिए 2

अपने क्षेत्र में या ऐसे आपके परिचित क्षेत्र में परंपरागत जल वितरण और अनुरक्षण की आज भी विद्यमान प्रणाली के विषय में जानकारी इकट्ठी कीजिए। अगर आपको किसी भी ऐसी प्रणाली की जानकारी नहीं है तो आप किसी बड़ी उम्र के व्यक्ति से जिसकी आयु 60 से अधिक हो, साक्षात्कार कीजिए। शायद वह आपको ऐसी किसी व्यवस्था के बारे में बता सके। ऊपर दिए किसी भी स्रोत से प्राप्त सूचना के आधार पर ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व के भारत में परंपरागत जल वितरण और देखभाल की व्यवस्था के बारे में 250 शब्दों की एक टिप्पणी लिखिए।

26.3.5 अनुरक्षण में सहभागिता

जल वितरण को अधिक सार्थक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि टैंकों की ठीक देखभाल हो और वर्षा के मौसम में उन्हें फिर से भर दिया जाए। टैंकों की देखभाल के लिए मुख्य काम हर साल उसमें गाद निकालने का होता है। कहीं-कहीं यह जरूरी होता है कि उसके पुश्तों को फिर से मज़बूत किया जाए ताकि वह आने वाली वर्षा ऋतु में पानी को जमा कर सके। प्रत्येक क्षेत्र में यह काम तालाब से निकलने वाली गाद में वहाँ के लोगों की रुचि पैदा करके किया जाता है। ये तालाब में से अपनी कई दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी गाद निकालते थे।

आरंभ में, अधिकांश समुदायों में तालाब से गाद निकालने में समय से पहले साल में एक बार उत्सव दिन मनाया जाता था। उस दिन सब गाँव वाले एक-साथ आकर तालाब में मछली पकड़ते थे। इसके बाद गाद निकालने का मौसम शुरू होता था। देश के हर भाग में तालाब से निकलने वाली गाद का कुछ न कुछ उपयोग होता है। दक्षिण भारत के अधिकांश क्षेत्रों में इस गाद का इस्तेमाल खेतों में खाद के रूप में किया जाता था। भीतरी कर्नाटक के बहुत से हिस्सों में, नारियल के पेड़ों में हर साल तालाब से निकलने वाली गाड़ी भर गाद की एकमात्र खाद डाली जाती है। इन क्षेत्रों में लोगों की आय का मुख्य साधन नारियल है। इसलिए, सभी गाँव वालों की रुचि तालाब से गाद निकाल कर नारियल की खेती में उपयोग करने में होती थी, क्योंकि इस पर उनकी रोज़ी-रोटी निर्भर होती थी। बंगाल और अधिकांश पूर्वी भारत में गाद निकालने के समय मे ही लोग घरों की मरम्मत और घर बनाने का काम करते हैं और इसके बाद विवाहों का समय भी आ जाता है। इस प्रकार गाद का उपयोग गाँव के पुराने मकानों की मरम्मत के

लिए और जिन युगलों का विवाह होने वाला होता था, उनके आवास के लिए नए मकानों के निर्माण के लिए किया जाता है (सी.एस.ई. 1987)।

यहाँ यह भी बता देना उपयुक्त होगा कि गाद निकालने से मिलने वाला लाभ और काम का अनुपात न्यायसंगत नहीं थे। गाद निकालने का ज़्यादातर काम भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों द्वारा किया जाता था। उन्हें इसके बदले में पेयजल के अलावा कोई लाभ नहीं मिलता था। इनमें अछूत कहे जाने वाले वर्ग को इस लाभ से भी वंचित होना पड़ता था। उन्हें उच्च जातियों के लिए सुरक्षित तालाब से पीने के लिए पानी भी नहीं निकालने दिया जाता था। उन्हें अपने लिए गाँव की तलैया से ही पानी लाना पड़ता था। इस तलैया में गाँव के समृद्ध और शक्तिशाली वर्ग की कोई दिलचस्पी नहीं होती थी इसलिए उनकी देखभाल भी ठीक से नहीं होती थी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जल संसाधन के वितरण और उसकी प्रबंध व्यवस्था में भागीदारी तो थी परंतु यह केवल गाँव के शक्तिसंपन्न वर्ग तक सीमित थी। जो लोग उतने अधिकारसंपन्न नहीं थे, इनमे उच्च वर्ग की महिलाएँ भी शामिल हैं और ऐसे भूमिहीन लोग जो अधिकांशत: नीची जातियों के थे, उनके लिए पानी की प्राप्यता सीमित थी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि जब तक पानी पूरे समुदाय का संसाधन था तो किसी न किसी रूप में उसका लाभ प्रत्येक को मिलता ही होगा, चाहे उसका वितरण सभी समुदायों के लिए पूर्णतया न्यायसंगत न हो। इस असंतोषजनक स्थिति में भी परिवर्तन हुए, जिन्हें समझने के लिए हमें ब्रिटिश शासनकाल की और आज़ादी के बाद के समय की जल नीति की समीक्षा करनी होगी। अगले भाग यानी 26.4 में हम इसी विषय पर ध्यान केंद्रित करेंगे।

बोध प्रश्न 2

1) नीचे दिए वाक्य सही हैं या गलत, उपयुक्त पर निशान लगाइए :

   क) अंग्रेजों के भारत में आने के साथ सिंचाई-व्यवस्था आरंभ हुई। (सही/गलत)

   ख) अंग्रेजों के आने से पूर्व सिंचाई के मुख्य साधन टैंक (तालाब) थे। (सही/गलत)

2) नीचे दिए गए प्रत्येक विवरण के लिए नीचे दिए विकल्पों में से सही उत्तर चुनिए :

   क) अंग्रेजों के आगमन से पहले अधिकांश सिंचाई-तंत्र की प्रबंध व्यवस्था

      i) राज्य द्वारा की जाती थी।

      ii) गाँव के भूपतियों के द्वारा की जाती थी।

      iii) उपभोक्ता-समितियों के द्वारा की जाती थी।

   ख) सिंचाई के साधनों से एक ऐसी प्रबंध व्यवस्था विकसित हुई जो

      i) केवल सिंचाई के जल के वितरण का ध्यान रखती थी।

      ii) पेयजल और सिंचाई का ध्यान रखती थी।

      iii) केवल पेयजल का ध्यान रखती थी।

   ग) ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व की सिंचाई व्यवस्था में निम्नलिखित के लिए समान रूप से पानी मिलता था

      i) पुरुषों और स्त्रियों को

      ii) सभी गाँव वालों को

      iii) केवल ज़मींदार (भूस्वामी) जातियों को

3) भारत में परंपरागत जल वितरण और देखभाल की व्यवस्था का वर्णन सात पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

26.4 औपनिवेशिक और समकालीन भारत में जल नीति

जहाँ तक बहुसंख्यक समाज के लिए पानी की सुलभता का प्रश्न है, ऐसा लगता है कि भारत की जल नीति का लाभ शक्तिशाली और धनी लोगों को ही मिला है। ब्रिटिश शासन के दौरान जल नीति साम्राज्य के लाभ के लिए थी। बाद में स्वतंत्रता मिलने के बाद, संसाधन की उत्पादकता बढ़ाने के लिए कार्यनीतियाँ तैयार की गईं। इनमें भी विकास के मुख्य लाभ धनी एवं समृद्ध लोगों को ही मिले।

26.4.1 ब्रिटिश जल नीति

ब्रिटिश सरकार की जल नीति का ध्यान केवल सिंचाई पर था। यह बात नहीं कही जा सकती कि उनकी पेयजल के बारे में कोई नीति थी। उनक सिंचाई की नीति ब्रिटिश भूमि व्यवस्था (बंदोबस्त) से संबंधित थी। इसका प्रयोजन उपज़ (देखिए इकाई 25) के बजाय राजस्व अर्जित करना था। अधिकांश पूर्वी भारत में 1793 की स्थायी भूमि व्यवस्था का प्रयोजन भी ब्रिटिश शासकों के लिए स्थायी राजस्व को सुनिश्चित करना था। इसलिए उन्होंने स्थायी रूप से भू-राजस्व नियत कर दिया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सरकारी की सिंचाई को बढ़ावा देने में कोई दिलचस्पी नहीं रही। सिंचाई को उन्होंने ज़मींदारों के भरोसे छोड़ दिया। अब ज़मींदार व्यावहारिक स्तर पर केवल कर इकट्ठा करने वाला बन गया। उसे अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाली ज़मीन को विकसित करने में कोई रुचि नहीं रही। काश्तकार भी उनकी ज़मीन की उपज कितनी भी क्यों न हो। काश्तकार को उपज का 50 से 65 प्रतिशत ज़मींदार को देना पड़ता था। अब उसके पास ज़मीन के विकास के लिए पैसा लगाने की गुंजाइश ही कहाँ रहती थी। लेकिन जब उत्तर भारत उसके अधिकार में आ गया तो ब्रिटिश शासकों को कई चालू सिंचाई प्रबंध मिल गए। इसके अलावा, बंगाल की स्थायी भूमि व्यवस्था के अनुभव के आधार पर उन्होंने यहाँ स्थायी तौर पर राजस्व की राशि नियत नहीं की। इसलिए उस क्षेत्र में नहरों की देखभाल और कहीं-कहीं उनका विस्तार करना भी संभव हुआ। दक्षिण और पश्चिम भारत में अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे छोटे-छोटे इलाकों पर कब्ज़ा किया और उन्हें फिर मद्रास और बंबई की प्रेसिडेंसियों के साथ छोड़ दिया। इन क्षेत्रों में भूमि व्यवस्था पूर्वी और उत्तरी क्षेत्रों को दी जाती थी जो सबसे ऊँची बोली बोलता था, और वह उसे शिकमी पट्टे पर काश्तकार को दे सकता था। ये कृषक सीधे सरकार व्यक्तिगत स्तर पर कृषकों (रैयत) को ठेके पर ज़मीन देती थी। ये कृषक सीधे सरकार को लगान देते थे। इसे रैयतवाड़ी पद्धति कहते थे। सरकार द्वारा टैंकों और नहरों जैसे सामान्य संसाधनों की देखभाल की ज़िम्मेदारी केवल थोड़े से व्यक्तियों को नहीं सौंपी जा सकती थी। इसके अलावा, पहले से उपयोग में आने वाले ग्रैंड

एनिकट तथा अन्य सिंचाई-प्रबंधों के अनुरक्षण की भी व्यवस्था करनी थी। केवल मद्रास प्रेसिडेंसी में 50,000 कि.मी. से अधिक लंबे पुश्तों की देखभाल की जाती थी।

इस व्यवस्था के लिए ब्रिटिश शासकों ने सिंचाई विभाग की स्थापना की क्योंकि वे परंपरागत सिंचाई समुदायों को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। लेकिन ग्रेंड एनिकट की देखभाल के लिए ब्रिटिश इंजीनियरों को देसी प्रौद्योगिकी को सीखना पड़ा क्योंकि उनका इंजीनियरिंग का मॉडल यहाँ उपयोगी नहीं था। इसके अलावा, सिंचाई व्यवस्था की कम कीमत पर देखभाल सुनिश्चित करने और देसी प्रौद्योगिकी को सीखने के लिए उन्हें स्थानीय लोगों की मदद लेनी पड़ी। इसलिए, दक्षिण भारत में लोगों की सहभागिता से एक नए मॉडल के उभरकर सामने आने की संभावना दिखाई दे रही थी।

लेकिन 1860 और 1921 के बीच सिंचाई व्यवस्था को (राज्य या प्रांत के अधिकार से मुक्त करके) केंद्र के अधीन कर दिया गया। इसी समय के दौरान ब्रिटिश इंजीनियरों ने उत्तर भारत की सिंचाई व्यवस्था को अपने हाथ में ले लिया। उनके अनुसार सिंचाई व्यवस्था की देखभाल लोगों की सहायता की ज़रूरत नहीं। इन वर्षों के दौरान इस मॉडल को पूरे देश पर लागू कर दिया गया। इसके साथ ही सिंचाई व्यवस्था के लिए तथाकथित वैज्ञानिक प्रबंध की शुरुआत हुई और इस क्षेत्र में बहुसंख्यक लोगों की पहुँच कम हो गई। इसके साथ लोगों की सहभागिता भी कम हो गई और टैंकों की देखभाल पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। (फिर भी कुछ न कुछ देखभाल होती रही क्योंकि लोगों को इन टैंकों की ज़रूरत थी।) प्रति वर्ष 30,000 से भी अधिक टैंकों में से कुछ टैंकों पर इसका बुरा असर पड़ा। धीरे-धीरे इसका प्रभाव बढ़ता गया और छोटे किसानों की पानी के अपने स्रोत पर पहुँच कम होने लगी।

26.4.2 स्वाधीनता के बाद जल नीति

देश की आबादी के साथ योजनाबद्ध विकास के युग का श्रीगणेश हुआ। उसी के अनुसार औद्योगिक, भूमि, वन और जल संबंधी नीतियों को भी परिवर्तित करना पड़ा। इन नीतियों का आधार ज़्यादा से ज़्यादा उत्पादन करने का सिद्धांत था। पंचवर्षीय योजनाओं में बार-बार कहा गया कि उत्पादकता और वितरणकारी न्याय को राष्ट्रीय विकास से जोड़ना होगा। इस प्रकार पेयजल की सुलभता, सूखा प्रवण क्षेत्रों का विकास और छोटे किसानों का विकास-जल प्रबंध की दोहरी व्यवस्था के हिस्से बन गए।

दूसरे संसाधनों की तरह, जल संसाधन की नीति के निर्माण में भी विभिन्न क्षेत्रों का प्रभाव अभिलक्षण होता है। जब कभी परस्पर विरोधी बलों का दबाव पड़ता है तो प्राय: सबसे अधिक शक्तिशाली को चुनने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यही बात वन नीति (देखिए इकाई 27), भू-प्रबंध (देखिए इकाई 25) के संबंध में हुई और जल प्रबंध में वही साफ़-साफ़ दिखती है। उत्पादन को ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ाना आवश्यक था। देश के केवल 9 प्रतिशत कृष्य क्षेत्र में सिंचाई की व्यवस्था थी इसलिए सिंचाई के क्षेत्र में वृद्धि करना बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया। यह काम बहुत तेज़ी से किया जाना था और इस काम के लिए जिस पद्धति को अपनाया गया वह थी बड़े-बड़े बाँधों का निर्माण। इसके अलावा विद्युत जैसे ऊर्जा के दूसरे महत्त्वपूर्ण स्रोतों की भी आवश्यकता थी। इस प्रयोजन से भी जल के दोहन और उपयोग की आवश्यकता अनुभव की गई।

तेज़ी से विकास की इस यात्रा में यह मान लिया गया कि हमारे लिए केवल पाश्चात्य मॉडल ही उपयुक्त है। इसलिए पाश्चात्य प्रौद्योगिकी का आयात किया गया और प्राकृतिक संसाधनों को यथासंभव अधिक से अधिक उत्पादक बनाने के लिए बड़े-बड़े बाँधों का निर्माण किया गया। अपनी देसी व्यवस्थाओं को हटाने के बजाय उनका अध्ययन करने और उन्हें आज के लिए उपयोगी बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया (देखें गुप्ता 1999 : 140-145)।

धीरे-धीरे लेकिन ठोस रूप से सारा ध्यान बड़े किसानों की ओर चला गया क्योंकि विकास का मुख्य मुद्दा था – खेतों में उपज बढ़ाना। यह कार्य संकर बीजों, उर्वरकों, सिंचाई और मशीनीकरण के द्वारा किया गया। चूँकि बाँधों का पानी हर किसी को सुलभ कराना संभव नहीं था, इसलिए किसानों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें अपनी सिंचाई-व्यवस्था विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। फलस्वरूप, सम्पन्न किसानों के लिए नलकूप (tube well) आम बात हो गई। भारत में भूजल की संभावना 4.23 करोड़ हैक्टेयर मीटर है और इसमें से केवल 23.73 प्रतिशत का ही उपयोग हो पाता है। लेकिन हाल ही के दशक में गहरे नलकूपों के द्वारा भूजल के गहरे स्रोतों का अत्यधिक दोहन किया गया जबकि उथले स्रोतों को नज़रअंदाज किया जाता रहा। 1950 के दशक में देश में 5000 नलकूपों की वार्षिक संख्या आज बढ़कर 2,00,000 प्रति वर्ष हो गई है। इस कारण भारत के बहुत से हिस्सों में भौमजल स्तर बहुत नीचा हो गया है और खुले कुएँ सूख गए हैं। केंद्रीय जल बोर्ड ने ऐसे 645 ब्लॉकों की पहचान की है जहाँ स्थिति काफी चिंताजनक हो गई है।

इसके साथ ही इकाई 27 में आपको मालूम होगा कि औद्योगिक प्रयोजनों से जंगलों को काटने से व्यापक स्तर पर वनों का विनाश हुआ है। इसके ही परिणाम हैं – मृदा अपरदन (मिट्टी का खिसकना), सूखा और बाढ़। उत्तर पश्चिमी भारत की शिवालिक शृंखलाओं से बहने वाली सदानीरा जलधाराएँ अब केवल बरसात के मौसम में पानी वाली नदियाँ बनकर रह गई हैं (सी. एस.ई. 1987)।

26.4.3 बहुसंख्यक लोगों को जल की कम सुलभता

स्पष्ट है कि पानी और वनों के अत्यधिक उपयोग के कारण ग़रीबों और स्त्रियों के लिए पानी की सुलभता में कमी हुई है। आजकल भौम जल-स्तर को ध्यान में रखते हुए जितने नलकूप खोदे जाने चाहिए उससे कहीं अधिक खोदे जा रहे हैं। इसलिए भूजल स्तर काफी गिर गया है और फलत: कुएँ और तालाब सूखते जा रहे हैं। साथ ही, पहले दिन गाँव के ताल-तलैयों की देखभाल ग्राम पंचायतों द्वारा की जाती थी, अब उनकी उपेक्षा हो रही है। ज़्यादातर पंचायत-सदस्य बड़े-बड़े किसान हैं जो अपने-अपने नलकूप लगवा सकते हैं। परिणामत: उनकी स्थानीय पेयजल व्यवस्था और सिंचाई व्यवस्था की देखभाल में दिलचस्पी नहीं रही। इस कारण में ग़रीबों को सिंचाई के लिए पानी सुलभ नहीं है। इनमें से बहुत से लोग ऐसे भी हैं जिन्हें पेयजल तक सुलभ नहीं है।

नीति बनाने वालों की यह धारणा थी कि अधिक उत्पादन और उसके न्यायसंगत वितरण को जोड़ा जा सकता है। वास्तव में, उत्पादकता को बढ़ाने के लिए बनी सरकारी नीतियाँ बड़े किसानों के पक्ष में रहीं। यद्यपि दो-तिहाई भारतीय किसान सूखी खेती कर रहे हैं, लेकिन कृषि विकास संबंधी बजट का दो-तिहाई भारतीय किसान सूखी खेती कर रहे हैं, लेकन कृषि विकास संबंधी बजट का दो-तिहाई हिस्सा सिंचाई और सिंचाई पर आधारित कृषि पर खर्च किया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि भले ही सिंचाई वाले क्षेत्र में उत्पादन बढ़ा, परंतु कुल मिलाकर कृषि उत्पादकता में कमी आई क्योंकि सूखी खेती करने वाले कृषकों की स्थिति पहले से भी अधिक खराब हुई है।

26.4.4 विस्थापन : कौन प्रभावित होता है?

बड़े किसानों और समृद्ध लोगों को पानी की सुलभता में वृद्धि हुई, इस प्रक्रिया में छोटे किसानों, निर्धन लोगों और गृहिणियों को पानी की सुलभता से वंचित होना पड़ा है। बड़े बाँधों का ग़रीब ग्रामवासियों, विशेष रूप से जनजाति के लोगों, अनुसूचित जातियों और दूसरे भूमिहीन वर्गों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इनकी कीमत उन्हें अपने मूल स्थान से द्वारा उन्हें बहुत कम मुआवज़ा दिया गया है। इन बाँधों आदि के निर्माण के कारण कितने लोगों को विस्थापित होना पड़ा, इसके

पूरे आँकड़ें हमें उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन प्रारंभिक आँकड़ों के अनुसार 1951 और 1990 के बीच बने बाँधों के कारण लगभग एक करोड़ चालीस लाख लोगों को विस्थापित होना पड़ा।

विस्थापित लोगों को इन योजनाओं का लाभ शायद ही मिला हो। इन योजनाओं से विस्थापित लोगों में से 40 प्रतिशत से अधिक जनजातीय लोग हैं। देश की जनसंख्या में इनका प्रतिशत 7.85 प्रतिशत है। इसके अलावा, अन्य 40 प्रतिशत अनुसूचित जातियों, और भूमिहीन वर्गों से हैं। जिन बाँधों और दूसरी विकास योजनाओं के कारण उन्हें विस्थापित होना पड़ा उसका लाभ उन्हें नहीं मिला (देखिए फर्नांडिस और ठुकराल 1989)।

उन्हें न केवल इन योजनाओं का कोई लाभ नहीं मिलता बल्कि इसके कारण उनकी स्थिति और भी अधिक बिगड़ जाती है। इस विषय में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि इन योजनाओं के कारण विस्थापित हुए लोगों में से 30 प्रतिशत से भी कम लोगों को 30 साल से भी अधिक अवधि में पुन: बसाया जा सका है। इनमें से कुछ लोग पर्यावरण का विनाश करने वाले कार्यों में लग गए। ये लोग जंगल में लकड़ी काट कर जलाने और बेचने का काम करने लगे। बहुत से दूसरे लोग शहरों में जाकर झुग्गी-झोंपड़ियाँ बनाकर रहने लगे, जहाँ उनका और भी शोषण होता है। इनमें से बहुत बड़ी संख्या में लोग मज़बूर होकर बंधुआ मज़दूर में से एक-चौथाई संख्या इन बंधुआ मज़दूरों की है (फर्नांडिस 1986 : 269)। इस प्रकार, विकास से प्रभावित होने वाले लोगों को न केवल पानी की सुलभता से वंचित होना पड़ता है बल्कि उन्हें अपनी स्वतंत्रता और मनुष्य के रूप में जीने के अधिकार को भी खोना पड़ता है।

बोध प्रश्न 3

1) ''बहुसंख्यक लोगों को जल संसाधन की कम सुलभता के लिए केवल ब्रिटिश जल नीति ही ज़िम्मेदार है''। क्या यह कथन सही है? अपना उत्तर छह पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) कारण को प्रभाव के साथ जोड़िए :

कारण	**प्रभाव**
क) बटाईदारी	1) प्रबंध में लोगों की भागीदारी को निरुत्साहित किया गया।
ख) अधिक संख्या में नलकूप होना	2) भू-जल स्तर कम हो जाता है।
ग) ग्रैंड एनिकट की देखभाल	3) मुख्य रूप से भूमिहीन लोगों का विस्थापन।
घ) अधिक उत्पादन और न्यायसंगत वितरण में प्रतिस्पर्धा	4) देसी प्रौद्योगिकी को सीखने की आवश्यकता।
ङ) प्रमुख बाँध	5) सिंचाई विभाग को संगठित किया गया।

च) सब पर वैज्ञानिक प्रबंध लागू किया गया

छ) टैंकों और नहरों की देखभाल होनी है

6) नीति बड़े किसानों के पक्ष में है ज़्यादा पैदावार दे सकते हैं।

7) सिंचाई पर निवेश (पैसा लगाने) के लिए प्रोत्साहन का अभाव।

26.5 राष्ट्रीय जल नीति, 1987 : क्या इससे जल सुलभता बढ़ी है?

आशा है आपको याद होगा कि हमने राष्ट्रीय जल नीति, 1987, के बारे में विचार करने की बात की थी। इस विषय में विचार करने का कारण संसाधनों पर एकाधिकार करने की प्रवृत्ति है। यहाँ हमने पहले यह देखा है कि राष्ट्रीय नीति का क्या लक्ष्य है और फिर देखा है कि वास्तव में उसे कार्यान्वित करते समय क्या होता है। अंत में, हमने कुछ संभावित विकल्प प्रस्तुत किए हैं। हमें आशा है कि इससे बहुसंख्यक जनसंख्या को जल की अपेक्षाकृत कम सुलभता की समस्या का यथासंभव उचित समाधान मिल सकेगा।

26.5.1 प्राथमिकताओं का निर्धारण

जो लोग पहले ही साधनसम्पन्न हैं और उन्हें अधिक जल प्राप्त है, उनकी स्थिति और कमज़ोर हो गई है – इस संदर्भ में हमने राष्ट्रीय जल नीति, 1987 पर विचार किया है। इस नीति में निर्धारित प्राथमिकताएँ निम्नलिखित क्रम में दी गई हैं :

- पेयजल
- सिंचाई जल
- जल विद्युत
- जल का औद्योगिक उपयोग

परंतु आगे चलकर जल नीति के प्रलेख में इस बात का उल्लेख है कि किसी विशिष्ट क्षेत्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इन प्राथमिकताओं के क्रम में परिवर्तन भी किया जा सकता है। नीति के लक्ष्य हैं :

- देश की पूरी आबादी को 1991 तक पर्याप्त पेयजल उपलब्ध कराया जाए।
- सिंचाई परियोजनाओं को कार्यान्वित करने के कारण विस्थापित होने वाले लोगों का पुनर्वास किया जाएगा।
- जल प्रबंध करते समय अनुसूचित जातियों और जनजातियों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाएगा। (देखिए फर्नांडिस 1988 : 92-93)।

26.5.2 समर्थ वर्गों के लिए कार्यनीति

कार्यनीति के आयोजन के बारे में सोचते ही हमारा ध्यान मुख्य रूप से सिंचाई और जल विद्युत योजना पर जाता है। इसे ब्रिटिश शासक जल का "वैज्ञानिक प्रबंध" कहते थे और इसके लाभ केवल समर्थ और साधन सम्पन्न वर्गों को मिलते थे। नीति प्रलेख में नदियों के जल के पारस्परिक विनिमय का उल्लेख किया गया है ताकि हम वर्तमान उपलब्ध संसाधनों का अधिक से अधिक उपयोग कर सकें। इस दस्तावेज़ में महिलाओं का कहीं उल्लेख नहीं है, हालाँकि देश के वर्तमान श्रम विभाजन में परिवार को जल की नियमित आपूर्ति कराने में महिलाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

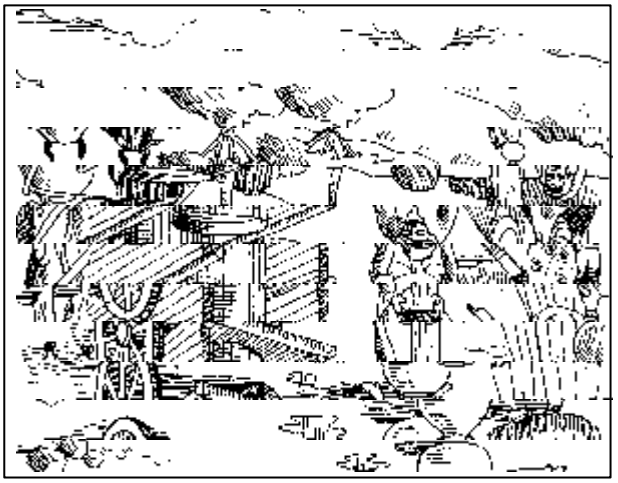

पानी मिलना आज दूभर हो गया है

इसी तरह, योजना बनाने वालों का ध्यान मुख्य रूप से सिंचाई बाँधों पर है। इनमें से ज़्यादातर बाँध वन क्षेत्रों में होते हैं, जहाँ जनजातियों के लोग रहते हैं। इस प्रलेख में जनजातियों के विकास को प्राथमिकता देने की आवश्यकता का सरसरी तौर पर उल्लेख हुआ है लेकिन इस प्रलेख में या अन्यत्र कहीं भी विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के लिए कोई स्पष्ट नीति निर्धारित नहीं की गई है। अंतत: नीति संबंधी विवरण/प्रलेख में सूखे और जल-विहीन क्षेत्रों को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। इस प्रकार पानी के उपयोग की सुविधा केवल उन वर्गों के लिए है जिनके पास सिंचाई-योग्य भूमि हो।

26.5.3 संभावित विकल्प

सीमांतीकरण (marginalisation) की इस स्थिति के विकल्प संभव हैं। भारत में विकास की कार्यनीतियों की योजना बनाने में परिष्कृत प्रौद्योगिकी और इंजीनियरी के चमत्कारपूर्ण प्राश्चात्य मॉडल को ही अब तक आधार माना जाता रहा है। इस दृष्टि से योजनाकारों की जल प्राप्ति के लिए बाँध ही एकमात्र संभावित स्रोत दिखाई दिए। फलस्वरूप, किसानों को, विशेष रूप से तटवर्ती क्षेत्रों के किसानों को, खेतों की सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध कराने के लिए और शहरों में उद्योगों तथा घरेलू उपयोग के लिए पानी मुहैया कराने के लिए, जनजातीय और अन्य निर्धन लोगों को विस्थापित होना पड़ता है।

i) खारे पानी को मीठा पानी बनाना

इस संबंध में एक सुझाव है कि भारत का तटवर्ती क्षेत्र 6000 कि.मी. लंबा है, इसलिए यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि तटवर्ती क्षेत्रों और यहाँ तक कि उनके निकटवर्ती भीतरी क्षेत्रों के उपयोग के लिए खारे पानी को मीठा बनाने की संभावना पर विचार किया जाना चाहिए। वर्तमान विलवणीकरण (खारे पानी को मीठा बनाना) प्रौद्योगिकी बहुत अधिक महँगी है क्योंकि यह 1950 के दशक की है। हमें विलवणीकरण की नई और सस्ती प्रौद्योगिकी के विकास के लिए अनुसंधान करना चाहिए। इसके द्वारा हमें अधिकांश तटवर्ती क्षेत्र तथा भीतरी क्षेत्र के कई भागों की जल संबंधी समस्या का हल मिल सकता है।

ii) सौर ऊर्जा का अधिकाधिक उपयोग

एक और सुझाव भी विचारणीय है कि भारत के अधिकांश क्षेत्रों में साल में 308 दिन सूर्य निकलता है और धूप रहती है। आज भारत की ऊर्जा नीति में सौर ऊर्जा को बहुत कम महत्त्व दिया गया है। बाँधों और तापीय संयंत्रों (thermal plant) से प्राप्त होने वाली बिजली के कारण लोगों को विस्थापित होना पड़ता है। दूसरी ओर, अभी तक विकसित सौर प्रौद्योगिकी बहुत महँगी है। वास्तव में, एक मेगावाट सौर ऊर्जा पैदा करने के लिए 4 करोड़ रुपये खर्च करने पड़ते हैं, जबकि तापीय (थर्मल) संयंत्र से प्राप्त इतनी ही ऊर्जा पर 3 करोड़ और जल विद्युत से प्राप्त

ऊर्जा पर 2 करोड़ रुपये खर्च होते हैं। लेकिन नई सदी के लिए और प्रौद्योगिकी के लिए बहुत कम अनुसंधान कार्य हो रहा है। आज हमारे पास जो कुछ है, वह 1970 और 1980 के दशकों का है। आज श्रेयस्कर होगा कि हम और अधिक लोगों को विस्थापित करने और निर्धन वर्ग को पानी की या उनके रोज़गार से वंचित करने के बजाय और शक्ति के द्वारा ऊर्जा के बचाव के उपायों पर पैसा खर्च करें।

iii) प्रदूषित जल का खाद के रूप में प्रयोग

पानी को प्रदूषण से बचाने के भी उपाय किए जा सकते हैं। आज औद्योगिक अपशेष और मानव मलमूत्र एवं कूड़े-कचरे आदि को नदियों और समुद्र में प्रवाहित कर दिया जाता है, इससे वह पूरा जल प्रदूषित हो जाता है जिसकी मनुष्य मात्र को अपने अस्तित्व के लिए आवश्यकता है। इस कूड़े-कचरे का उपयोग खाद के रूप में करके एक ओर विदेशी मुद्रा की बचत हो सकती है और दूसरी ओर पानी को प्रदूषित होने से बचाया जा सकता है। आज हमारे देश में खाद या उसके लिए कच्चे माल आयात पर काफी विदेशी मुद्रा बरबाद हो रही है।

iv) पानी के दुरुपयोग पर निषेध

जिस पानी को निर्धन लोगों को आसानी से सुलभ कराया जा सकता है, उसको शहरी क्षेत्र के बाग-बगीचों को सींचकर और मध्य वर्ग के घरों की सफाई करके बरबाद किया जाता है विद्युत शक्ति को सड़कों और गली-कूचों में रोशनी करके बरबाद किया जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम बाग-बगीचों को पानी से सींचने, घरों की सफ़ाई करने या गलियों में रोशनी करने के खिलाफ हैं। ये सभी काम भी ज़रूरी हैं और इनको करना भी आवश्यक है। हमें इस बात का कोई कारण नहीं नज़र आता कि क्यों जलमल-उपचार संयंत्रों को लगाने की व्यवस्था न की जाए और इन संयंत्रों से उपलब्ध होने वाली बायो गैस का उपयोग सड़कों पर रोशनी करने के लिए किया जाए तथा इससे मिलने वाली बायो गैस का उपयोग सड़कों पर रोशनी करने के लिए किया जाए तथा इससे मिलने साफ़ पानी का उपयोग घरों की सफ़ाई के लिए किया जाए। इस प्रक्रिया में जो कूड़ा-कचरा बचे, उसे बाग़-बग़ीचों और खेतों में उपयोग के लिए खाद में परिवर्तित किया जाए। प्रदूषण-विरोधी कानूनों को कड़ाई से लागू करके औद्योगिक प्रदूषण को रोका जा सकता है।

आपके लिए यह जानकारी रोचक होगी कि 'इग्नू' के आवासीय परिसर में 'मलजल उपचार संयंत्र' लगा है। यहाँ सारा प्रयुक्त जल उपचारित किया जाता है और इसके बाद उसे एक व्यापक स्तर पर बाग़वानी और उद्यान कार्यों के लिए प्रयोग किया जाता है।

v) जल संग्रहण का प्रबंध

जल की उपलब्धता को बढ़ाने के लिए जल संग्रहण क्षेत्र के विकास और प्रबंध के रूप में वनरोपण योजना का विशेष महत्त्व है। जहाँ वनरोपण किया गया है, वहाँ भौम जल के स्तर में वृद्धि हुई है। इसका उदाहरण कर्नाटक का जी.आर. हल्ली क्षेत्र है जहाँ 314 हैक्टेयर जल संग्रहण क्षेत्र के 199 हैक्टेयर में वनरोपण किया गया। यहाँ भू-जल के स्तर में पर्याप्त वृद्धि हुई और सिंचाई क्षेत्र में भी 50 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई। एक अनुमान के अनुसार मृदा के संरक्षण से और उस क्षेत्र में बने तालाबों में प्रति वर्ष 500 मि.मी. से अधिक वर्षा से मिले पानी को जमा करे 900 लाख है.मी. पानी जमा हो सकता है। चंडीगढ़ के निकट सुखोमजरी के अनुभव और हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों में किए गए परीक्षणों से यह परिणाम निकला कि इन तालाबों या टैंकों का निर्माण प्रति हैक्टेयर सिंचाई क्षेत्र के लिए 5000 रुपये की लागत से किया जा सकता है, जबकि बड़े-बड़े बाँधों में प्रति हैक्टेयर सिंचाई क्षेत्र का लागत मूल्य 15,000/- रुपये से 25,000/- रुपये तक आता है (अग्रवाल, डी. मोण्टे तथा समर्थ 1987)।

vi) छोटे-छोटे बाँधों का निर्माण

यह भी पाया गया है कि ज़्यादातर बड़े बाँधों की क्षमता के केवल 30 प्रतिशत का ही उपयोग हो जाता है। इसके अलावा बाँधों का जीवनकाल, उसके जलाशयों में गाद भर जाने के कारण,

आधा रह जाता है। अच्छा होगा कि लोगों को विस्थापित करने वाले और पर्यावरण का विनाश करने वाले और अधिक बड़े-बड़े बाँधों का निर्माण करने के बजाय वर्तमान बाँधों से जमा गाद को हटाकर और जल-ग्रहण क्षेत्रों में वनरोपण करके हम इनकी उपयोग-क्षमता को दुगुना करें। इसका एक और विकल्प कम विनाशकारी छोटे बाँधों का निर्माण हो सकता है। इन बाँधों के निर्माण में देशी प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल हो सकता है क्योंकि हमारे स्थानीय कारीगर काफ़ी समय से ऐसे बाँधों का निर्माण करते रहे हैं। इन उपायों से उस क्षेत्र में नए रोज़गार के अवसर पैदा होंगे तथा लाखों लोगों को विस्थापित भी नहीं होना पड़ेगा और पुनर्वास की समस्या भी नहीं पैदा होगी।

सोचिए और करिए 3

यदि हमारी जल नीति से बहसंख्यक जनता को जल प्राप्ति नहीं होती, तो आप प्राथमिकता के आधार पर जल सुलभ कराने के दूसरे विकल्पों के दूसरे विकल्पों की सूची बनाइए। आप एक ऐसे विकल्प को चुनिए जो आपके क्षेत्र के लिए उपयुक्त हो। आप कल्पना कीजिए, कि आप उस समिति के सदस्य हैं जिसका दायित्व भारत में जल नीति को क्रियान्वित करना है। आप 300 शब्दों की एक टिप्पणी लिखिए जिसमें बताया गया हो कि आपने जिस विकल्प को चुना है उसके द्वारा कैसे आपके क्षेत्र में जल संसाधन को अधिकाधिक लोगों को सुलभ कराया जा सकेगा।

vii) पानी एक सामुदायिक संसाधन के रूप में

अन्य अनेक विकल्पों पर भी विचार किया जा सकता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम पहले अपनी प्राथमिकताएँ निर्धारित करे और पहले से ही जो साधनसम्पन्न वर्ग है उन्हें और अधिक सशक्त न बनाएँ। हम पानी को व्यक्तिगत सम्पत्ति के बजाय समुदाय के संसाधन के रूप में देखना होगा। हमें कुछ साधन सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा बहुसंख्यक समाज को हानि पहुँचाकर इस संसाधन के अत्यधिक दोहन पर प्रतिबंध लगाना होगा। बड़े किसानों और भवन-निर्माण से संबंधित ठेकेदारों के निहित स्वार्थ इन विकल्पों के मार्ग में बड़ी रुकावट हैं। कुछ गिने-चुने लोगों द्वारा पानी के अति दोहन को नियंत्रित करने के प्रयास आम तौर पर विफल हुए हैं। उदाहरणार्थ, 1975 में गुजरात विधानसभा में एक बिल पेश किया गया था जिसमें पानी को सर्वसामान्य के लिए प्राप्य संसाधन की तरह स्वीकार किया गया था और कहा गया था कि व्यक्तियों के लिए इसके उपयोग को सर्वसामान्य हित को ध्यान में रखकर ही नियमित किया जाना चाहिए। इस बिल को पारित होकर कानून नहीं बनने दिया गया। इसके बाद इस बिल को दुबारा पेश करने का न तो गुजरात विधानसभा में और न ही किसी अन्य राज्य की विधानसभा में प्रयास किया गया (भाटिया 1988 : 156)। सर्वसामान्य के लिए संसाधनों को प्राप्त कराने के संबंध में इस निर्णय का विशेष महत्त्व हैं महात्मा गाँधी के मानदंड के अनुसार कोई भी निर्णय करते समय ''ऐसे ग़रीब से ग़रीब और सबसे असहाय, दीन-हीनव्यक्ति के चेहरे को ध्यान में लाइए जिसे कभी आपने देखा हो और अपने आप से पूछिए कि आप जो कदम उठाने जा रहे हैं उसका उस व्यक्ति को भी कोई लाभ होगा?''

बोध प्रश्न 4

1) राष्ट्रीय जल नीति, 1987 के कारण बहुसंख्यक जनता के लिए जल की सुलभता में वृद्धि क्यों नहीं हुई? अपना उत्तर दो पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

2) क्या राष्ट्रीय जल नीति के प्रलेख में पेयजल की आपूर्ति के संदर्भ में श्रम-विभाजन में महिलाओं की भूमिका का उल्लेख किया गया है? अपना उत्तर तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

26.6 सारांश

इस इकाई में पहले हमने भारत में पानी के प्रबंध के बारे में वर्तमान स्थिति की चर्चा की और देखा कि जल संसाधन की सुलभता साधनसम्पन्न और शक्तिशाली वर्गों की अपेक्षा निर्धन और कमज़ोर वर्गों के लिए बहुत कम है। ऐसी स्थिति क्यों है, इसे समझने के लिए हमने ब्रिटिश शासनकाल में जल प्रबंध प्रणालियों के बारे में विचार किया और ब्रिटिश काल की और आज़ादी के बाद की जल नीतियों का अध्ययन किया। हमने देखा कि ब्रिटिश शासकों द्वारा पानी के संबंध में राजस्व पर आधारित नीति का विकास करने से पहले जल को किसी सीमा तक सामान्य सम्पत्ति के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन अंग्रेज़ों के शासन के पूर्व भी वन जैसे अन्य संसाधनों के विपरीत सिंचाई के स्रोत के रूप में पानी की सुलभता केवल शक्तिशाली ज़मींदारों तक ही सीमित थी। जल-वितरण प्रणाली और उसका अनुरक्षण सामूहिक भागीदारी पर आधारित था। लेकिन यह बात केवल सम्पत्तिधारी वर्ग तक ही सीमित थी। सम्पत्तिहीन और कमज़ोर वर्गों को इसका लाभ नहीं मिलता था। बाद में अंग्रेज़ों की राजस्व पर आधारित सिंचाई नीति के लागू होने के बाद इस भागीदारी में कमी आ गई।

आज़ादी के बाद पंचवर्षीय योजनाओं पर आधारित विकास के युग में इस प्रवृत्ति में और अधिक वृद्धि हुई। इसमें ध्यान इस बात पर रहा कि किस प्रकार प्राकृतिक संसाधनों से उत्पादकता को अधिक से अधिक बढ़ाया जाए। बिजली के उत्पादन और सिंचाई की ज़मीन को बढ़ाने के लिए मुख्य रूप से बड़े बाँधों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके कारण लोगों को, विशेषत: कमज़ोर वर्ग के लोगों को, विस्थापित होना पड़ा। नीति का लाभ हमेशा पहले से ही शक्तिशाली एवं साधनसम्पन्न लोगों को मिला।

26.7 शब्दावली

अवक्षेपण (Precipitation) : जलवृष्टि, ओलावृष्टि हिमपात अथवा पानी के अन्य रूप।

जल संग्रहशाला (Watershed) : यह एक प्राकृतिक भौगोलिक इकाई है। इसके जलग्रहण क्षेत्र में पानी की धारा बहती है। छोटे आकार वाली किसी छोटी जलसंग्रहशाला का माप 100 हैक्टेयर से 500 हैक्टेयर तक होता है। इस क्षेत्र में 100 से 300 तक परिवार बसे होते हैं।

ज़मींदार (Zamindar) : ज़मीन की सबसे ऊँची बोली लगाने वाली भूस्वामी जिसे पूरा क्षेत्र स्थायी भूस्वामित्व के अंतर्गत दे दिया जाता था। वह काश्तकारों और बटाईदारों का पट्टे पर ज़मीन दे देता था।

प्रस्वेदन (Transpiration) : पौधों जैसे जीवधारियों से भाप के रूप में जल-उत्सर्जन की प्रक्रिया।

बटाईदार (Share Cropper) : काश्तकार जिन्हें स्थायी बंदोबस्त क्षेत्र में ज़मीदार लोग किसी निर्धारित लगान पर नहीं बल्कि उपज के हिस्से के रूप में अपनी ज़मीन देते हैं। यह भाग फसल के 50 प्रतिशत से 75 प्रतिशत तक होता है।

बंधिका (Weir) : नदी के बहाव को रोकने के लिए नदी के आर-पार बनी हुई दीवार या अवरोध। बहते पानी को रोकने के लिए टूटी हुई शाखाओं से

बनी हुई बाड़ बना दी जाती है जो मछलियों को पकड़ने के लिए जाल का काम करती है। इस पानी से सिंचाई भी होती है।

रैयत (Ryot) : वह कृषक (रैयत) जिसका सरकार के साथ सीधा करार होता था। वह ज़मींदार के अधीन काश्तकार न होकर स्वयं राज्य को सीधे कर देता था। यह प्रणाली मुख्य रूप से भारत के दक्षिणी क्षेत्र में प्रचलित थी।

रैयतवाड़ी (Ryotwari) : रैयतवाड़ी ऐसी प्रथा या क्षेत्र को कहते हैं जिसमें रैयत सरकार के साथ सीधे करार करते हैं।

वाष्पोत्सर्जन (Evapotranspiration) : पौधों द्वारा प्रस्वेदन के माध्यम से जल का वाष्पीकरण।

स्थायी भूमि व्यवस्था या इस्तमरारी बंदोबस्त (Permanet Settlement) : 1793 में बंगाल प्रेसिडेंसी में ब्रिटिश शासकों द्वारा लागू की गई भूस्वामित्व व्यवस्था। इस प्रणाली में कई गाँव या काफी बड़ा क्षेत्र नीलाम कर दिया जाता था और सबसे ऊँची बोली लगाने वाले (ज़मींदार) को वह क्षेत्र दे दिया जाता था। ज़मींदार सरकार को प्रति वर्ष राजस्व की एक नियत राशि देता था। इस राजस्व की या कर की वसूली वह काश्तकारों को अपनी ज़मीन पट्टे पर देकर करता था।

सार्वजनिक सम्पत्ति संसाधन (Common Property Resources) : कोई ऐसी सम्पत्ति जिस पर सारे समुदाय का अधिकार हो। पूरा समुदाय जिसका उपभोग, वितरण के कुछ ऐसे निश्चित नियमों के अनुसार करे जिससे प्रत्येक उपभोक्ता को अपना उचित हिस्सा मिले।

हैक्टेयर मीटर (Hectare Metre) : 10,000 घन मीटर।

26.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सही या ग़लत पर निशान :
   - क) गलत
   - ख) सही
   - ग) गलत
   - घ) सही

बोध प्रश्न 2

1) क – गलत
   ख – सही
2) क – 2
   ख – 1
3) पुराने ज़माने में सिंचाई के लिए तथा घरों में काम में लाने के लिए पानी का एक ही स्रोत होता था। पानी के न्यायसंगत वितरण के लिए ज़रूरी था कि कुछ सामाजिक तरीके हों

जिससे सभी को जरूरत भर पानी अवश्य मिले। पेयजल की प्राप्यता की व्यवस्था के बारे में कुछ विशेष जानकारी नहीं है। परंतु कुछ ऐतिहासिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि मुग़लकाल में सिंचाई के लिए बड़े-बड़े बाँध बनाए गए थे। हमें पुराने तालाब, बाँध, टैंक तथा कुएँ मिलते हैं जिसमें से कुछ आज भी काम में आ रहे हैं। प्राय: ग्राम-पंचायतें तय करती थीं कि पानी के न्यायसंगत वितरण के लिए क्या नियम बनाए जाएँ तथा सिंचाई से जुड़ी व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए नाना प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी।

बोध प्रश्न 3

1) ब्रिटिश सरकार की जल नीति बहुसंख्यक लोगों को जल सुलभ न कराने के लिए अंशत: ही जिम्मेदार है। यह बात स्पष्ट है कि भारत में आज़ादी के बाद ही जल नीति से भी बहुसंख्यक लोगों की जल की प्राप्यता में कमी ही आयी है। आज भी, साधनसम्पन्न और शक्तिसम्पन्न वर्ग के लोगों की लगभग सभी संसाधनों पर, जिनमें जल संसाधन भी शामिल है, पहुँच अपेक्षाकृत अधिक है जबकि समाज के निर्धन और कमज़ोर वर्ग के लोगों को अत्यावश्यक संसाधन पानी की न्यूनतम सुलभता से भी वंचित रहना पड़ रहा है।

2) क – 7; ख – 2; ग – 4; घ – 6; ङ – 3; च – 1; छ – 5;

क) बटाईदारी	सिंचाई पर निवेश के लिए प्रोत्साहन का अभाव।
ख) बहुत अधिक नलकूपों का होना	भू-जल स्तर कम हो जाता है।
ग) उच्च उत्पादकता और वितरण न्याय में प्रतियोगिता	नीति बड़े किसानों के पक्ष में है जो ज़्यादा पैदावार दे सकते हैं।
घ) ग्रैंड एनिकट की देखभाल	देसी प्रौद्योगिकी को सीखने की आवश्यकता।
ङ) प्रमुख बाँध	मुख्य रूप से भूमिहीन लोगों का विस्थापन।
च) सब पर वैज्ञानिक प्रबंध लागू किया गया	जल प्रबंधन में लोगों का भागीदारी को निरुत्साहित किया गया।
छ) टैंकों और नहरों की देखभाल की जाती है	सिंचाई विभाग को संगठित किया गया।

बोध प्रश्न 4

1) राष्ट्रीय जल नीति, 1987 में सिद्धांतत: बहुसंख्यक लोगों को पानी प्राप्त कराने की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है। इस नीति के कार्यान्वयन के स्तर पर आज भी अधिकांश जल प्रबंध सिंचाई और जल विद्युत की व्यवस्था के क्षेत्रों में हुआ है। इन दोनों का लाभ उन लोगों को मिल रहा है जो पहले से शक्तिसम्पन्न और धनी हैं।

2) ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में, आम तौर पर, घरेलू कामकाज की ज़िम्मेदारी महिलाओं पर होती है। घरेलू उपयोग के लिए पानी की बहुत आवश्यकता होती है। इसलिए, महिलाओं का सीधा संबंध पानी उपलब्ध कराने वाले साधनों और उपायों से होता है। इसलिए यह अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि राष्ट्रीय जल नीति में जल के उपयोग के क्षेत्र में महिलाओं की विशिष्ट भूमिका को स्वीकार किया जाए और उसका उल्लेख किया जाए। इसके अलावा, इस नीति में इस बात का स्पष्ट सुझाव दिया जाए कि किस प्रकार महिलाओं को आसानी से पानी प्राप्त हो सकेगा और उन्हें अपने आवास से दूर स्थित जल स्रोतों से पानी सिर पर उठाकर लाने के लिए विवश नहीं होना पड़ेगा।

इकाई 27 वन : सुलभता, नियंत्रण तथा प्रबंधन

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 वनों की वर्तमान स्थिति

27.3 परंपरागत वन-प्रबंध व्यवस्था

27.3.1 वनों पर निर्भरता की व्यापकता

27.3.2 परंपरागत प्रबंध व्यवस्था में पारिस्थितिक तंत्र का संरक्षण

27.4 वन नीति, राजकीय नियंत्रण और वनों में प्रवेश पर रोक

27.4.1 वन नीति और राजकीय स्वामित्व

27.4.2 राज्य और जनता के बीच संघर्ष

27.4.3 स्वाधीनता के बाद की राष्ट्रीय वन नीति

27.5 पर्यावरणी परिणाम

27.5.1 वृक्षारोपण में कमी

27.5.2 बाढ़ और सूखा

27.5.3 निर्वनीकरण (वनों की कटाई) और वर्षा

27.6 जन-सामान्य पर परिणाम

27.6.1 प्रवसन और शोषण

27.6.2 कुपोषण और बुरा स्वास्थ्य तथा समुदाय का विघटन

27.6.3 वन अधिकारियों से तनाव की स्थिति

27.6.4 महिलाओं का अपेक्षाकृत अधिक सीमांतीकरण

27.7 संभावित समाधान

27.7.1 कानूनी समाधान

27.7.2 वन संरक्षण अधिनियम और वन नीति

27.7.3 वृक्षारोपण के विभिन्न प्रकार और जन-सामान्य की सहभागिता

27.8 सारांश

27.9 शब्दावली

27.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम देश में वनों की मौजूदा स्थिति के बारे में चर्चा करेंगे और इसे समझने के लिए हमने इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक नज़र डालेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- वनों की वर्तमान स्थिति का वर्णन करना;
- पहली वन नीति के निर्धारण से पूर्व जनजातियों और वनों के बीच परंपरागत संबंध की रूपरेखा को प्रस्तुत करना;
- सन् 1854 से 1988 तक के वन कानून की मुख्य बातों को समझकर उनका वर्णन करना;
- आज वन संसाधन की कमी में उद्योग, राजस्व और वनवासियों की भूमिका का विवरण देना;
- वनों की कटाई के कारण होने वाले पर्यावरणी प्रभाव के बारे में बताना
- वनों की कटाई होने से जन-जीवन पर प्रभाव को बताना; और
- वनों की कटाई और वनवासियों के अन्यभाव की समस्या के समुचित समाधान के बारे में चर्चा करना।

27.1 प्रस्तावना

इस खंड की इससे पहले की दो इकाइयों में हमने क्रमश: भू-संसाधन (इकाई 25) और जल संसाधन के बारे में विचार किया था। इन दोनों ही संसाधनों का देश में वनों की स्थिति से गहरा संबंध है। इसीलिए इस खंड की तीसरी इकाई में हमने वन जैसे महत्त्वपूर्ण संसाधन के बारे में चर्चा की है। जब तक हमारे पास वन सम्पदा की बहुतायत होती है, हमें उसके महत्त्व का एहसास नहीं होता है। लेकिन जब वनों की कटाई के कारण वृक्ष संपदा में कमी होती है और उसका प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है तभी हमारा ध्यान वनाच्छादन के खत्म होने से पैदा होने वाले कारणों और परिणामों पर जाता है।

पिछले दो दशकों के दौरान हमारे देश के अधिकाधिक लोग सजग होते जा रहे हैं। भारत में व्यापक स्तर पर की जाने वाली वनों की कटाई के कारण पर्यावरण और लोगों को, विशेष रूप से जनजातियों के लोगों को, होने वाले भयंकर नुकसान के प्रति उनका ध्यान जाने लगा है। इस इकाई के पहले भाग (भाग 27.2) में भारत में भारत में वनों की मौजूदा स्थिति के बारे में हमने आपका ध्यान खींचा है। इस समस्या की शुरुआत 19वीं शताब्दी में उस समय हुई जब लोगों के वनों के साथ परंपरागत सकारात्मक संबंध (27.3) टूटने लगे और नई वन नीति लागू की गई। इस नीति के अंतर्गत उठाए गए प्रत्येक नए कदम ने वनवासियों को जीने के पारंपरिक सम्बलों से और अधिक दूर कर दिया। यहाँ तक कि उन्हें वनों का शत्रु घोषित कर दिया गया (भाग 27.4)। धीरे-धीरे, जिन लोगों ने अब तक वनों को सुरक्षा प्रदान की थी, वे भी अब उसे बरबाद करने लगे। इस तरह वनों का विनाश होने लगा और इसके दुष्परिणाम हमें मिट्टी खिसकने, बाढ़, सूखा आदि के रूप में दिखाई देते हैं (भाग 27.5)। इसके अलावा, वनों की क्षति का लोगों पर विशेष रूप से जनजातियों पर, एक प्रमुख नकारात्मक प्रभाव भी पड़ा। जनजातियों के लिए वन परंपरागत रूप से जीवन निर्वाह के आधार थे और इन लोगों ने वनों से सकारात्मक संबंध स्थापित किए थे (भाग 27.6)। वनों के क्षय से ये संबंध भी नष्ट हे गए। अंत में, हमने वनों की कटाई (भाग 27.7) के संदर्भ में उपरोक्त समस्याओं के विभिन्न समाधानों की चर्चा की है।

27.2 वनों की वर्तमान स्थिति

सन् 1952 और 1988 की राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार देश के 33 प्रतिशत भूभाग पर वृक्षों का आवरण होना चाहिए। इसमें से 60 प्रतिशत पहाड़ी क्षेत्रों पर और 20 प्रतिशत मैदानी क्षेत्रों पर होना चाहिए। परंतु, वास्तव में, देश के 770 लाख हैक्टेयर भूभाग में से केवल 22 प्रतिशत

भूभाग पर राज्यों के वन विभागों को नियंत्रण है। इसमें से आधे से भी कम हिस्से पर पेड़ लगे हैं। बाकी हिस्से केवल नाममात्र के लिए वन क्षेत्र कहलाते हैं, परंतु वहाँ पेड़ नहीं है। सबसे दु:ख की बात यह है कि देश में प्रति वर्ष 13 लाख हैक्टेयर वन क्षेत्र कम हो रहा है और इसमें से केवल 5 लाख हैक्टेयर क्षेत्र पर दुबारा पेड़ लगाए जाते हैं। इस रफ़्तार से अगले बीस वर्षों में देश के वन क्षेत्रों में अधिकांश वृक्षारोपण समाप्त हो जाएगा यानी सभी पेड़ कट जाएँगे।

इस इकाई में हम इस स्थिति के दूरगामी प्रभावों को समझने का प्रयास करेंगे। वनों के विस्तार में होने वाली इस कमी के निम्नलिखित कारण हैं :

- वनवासियों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि।
- झूम खेती (यानी आंशिक रूप से जंगल साफ़ करके खेती करता तथा फिर उस ज़मीन को बहुत समय तक छोड़कर अन्य जगह खेती करना ताकि पहली जगह में पुन: जंगल उग आएँ)।
- जलाऊ लकड़ी की खपत हर साल लगभग 10 करोड़ टन लकड़ी जलाने के काम आती है।
- वन नीति का उद्योगोन्मुख होना।

यहाँ सबसे पहले देखा जाएगा कि वनों में रहने वाली जनजातियाँ परंपरागत रूप से कैसे वनों की देख-रेख करती हैं। उसके बाद यह विचार किया जाएगा। इसका लाभ यह होगा कि आपके लिए संभव होगा

i) वनों के नियंत्रण और प्रबंध के क्षेत्र में वर्तमान संकट की गंभीरता को समझना।

ii) भारत की वन नीति के रूप में अधिक कारगर विकल्पों की खोज की आवश्यकता को समझना।

भारत वानिकी आँकड़े 2000 : क्षेत्रफल

भौगोलिक क्षेत्र और वास्तविक वन आवरण वितरण

राज्य/संघ-राज्य	भौगोलिक क्षेत्रफल (वर्ग कि.मी.)	वास्तविक वन आवरण (वर्ग कि.मी.)	वास्तविक वन आवरण : भौगोलिक क्षेत्रफल के % रूप में
1	2	3	4
आंध्र प्रदेश	275068	43290	15.74
अरुणाचल प्रदेश	83743	68602	81.92
असम	78438	23824	30.37
बिहार	173877	26524	15.25
गोआ, दमन व दीव	3814	1255	32.91
गुजरात	196024	12578	6.42
हरियाणा	44212	604	1.37
हिमाचल प्रदेश	55673	12521	22.49

जम्मू-कश्मीर	222235	20440	9.20
कर्नाटक	191791	32403	16.89
केरल	38863	10334	26.59
मध्य प्रदेश	443446	131195	29.59
महाराष्ट्र	307690	46143	15.00
मणिपुर	22327	17418	78.01
मेघालय	22429	15657	69.81
मिजोरम	21081	18775	89.06
नागालैंड	16579	14221	85.78
उड़ीसा	155707	46941	30.15
पंजाब	50362	1387	2.75
राजस्थान	342239	13353	3.90
सिक्किम	7096	3129	44.10
तमिलनाडु	130058	17064	13.12
त्रिपुरा	10486	5546	52.89
उत्तर प्रदेश	294411	33994	11.55
पश्चिम बंगाल	88752	8349	9.41
अंडमान व निकोबार द्वीप समूह	8249	7613	92.29
चण्डीगढ़	114	7	6.14
दादरा व नागर हवेली	491	204	41.55
दिल्ली	1483	26	1.75
लक्षद्वीप	32	-	-
पांडिचेरी	493	-	-
सम्पूर्ण भारत	3287263	633397	19.27

स्रोत : पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, भारत सरकार, 2000

27.3 परंपरागत वन-प्रबंध व्यवस्था

सन् 1984 में राष्ट्रीय सुदूर संवेदी अभिकरण (National Remote Sensing Agency) ने यह बताया कि भारत में हर साल 13 लाख हैक्टेयर वन क्षेत्र कम होता जा रहा है। उसके अनुमान के अनुसार सन् 1985 के अंत तक भारत का लगभग 34 प्रतिशत वन क्षेत्र क्षय हो चुका था। क्या इसका मतलब यह है कि भारत में अपने वन क्षेत्र को नष्ट करने की प्रबल परंपरा रही है? इसके विपरीत, सच तो यह है कि आज से 150 वर्ष पूर्व भारत के भूभाग का बड़ा हिस्सा

बहुत हरा-भरा था और यहाँ पेड़ों का आवरण इतना अधिक था कि यह पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखने और उद्योग तथा लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम था। आइए, अब हम वनों और लोगों के बीच परंपरागतसंबंध की परीक्षा करें।

27.3.1 वनों पर निर्भरता की व्यापकता

इतने व्यापक स्तर पर वनों का विनाश कभी भी भारत की परंपरा नहीं रही है। ऐसा अनुमान है कि 1854 में ब्रिटिश शासनकाल में जब पहली वन नीति लागू की गई, तब पूरे उपमहाद्वीप में, जिसमें उस समय पाकिस्तान और बांग्लादेश का क्षेत्र भी शामिल था, पूरे क्षेत्र का 40 प्रतिशत भाग वृक्षों से आच्छादित था। इसके नौ साल बाद जब 1952 में आज़ादी के बाद पहली वन नीति लागू की गई तब तक वृक्षारोपण घटकर 22 प्रतिशत रह गया था। दूसरे शब्दों में, एक शताब्दी के दौरान देश के लगभग 18 प्रतिशत भाग से वृक्षारोपण समाप्त हो गया यानी प्रतिवर्ष 0.18 प्रतिशत पेड़ों के आवरण में कमी हुई। छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के दौरान देश पर वृक्षावरण लगभग 10 प्रतिशत था, जो संभवत: अब लगभग 9 प्रतिशत ही है। अर्थात् योजनाबद्ध विकास के प्रथम 30 वर्षों के दौरान वृक्षावरण में यह कमी 12 प्रतिशत रही। प्रति वर्ष देश के भूभाग का 0.4 प्रतिशत वृक्ष-विहीन होता रहा। यह नहीं कहा जा सकता है कि वृक्षावरण में यह कमी केवल जनसंख्या में वृद्धि के कारण हुई है। इसके अलावा, संभवत: इसके कुछ अन्य इससे भी महत्त्वपूर्ण कारण है, जिनका समुचित रीति से उल्लेख किया जाना चाहिए।

यदि हम भारत में वनों के इतिहास पर एक नज़र डालें तो हमें पता चलता है कि 1854 में भारत में पहली वन नीति के निर्माण से पूर्व सामान्य रूप से ग्रामीण भारत के वनवासियों ने, और विशेष रूप से जनजातीय लोगों ने, वनों और लोगों के बीच सहजीविता का संबंध विकसित कर लिया था। सहजीवी संबंध का मतलब है दो असमान जीवों का, निकट संपर्क में, साथ-साथ रहना। इस मामले में वन और जीव एक-दूसरे पर व्यापक रूप से निर्भर थे। इसी निर्भरता के कारण भारत की अधिकांश ग्रामीण जनता ने ऐसे रीति-रिवाज़ों को विकसित कर लिया जिनके माध्यम से वनों और दूसरे प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण होता रहता था। परंपरागत धारणा यह थी कि वन, भूभाग और जल जैसे संसाधन किसी व्यक्ति विशेष के बजाए पूरे समुदाय की सम्पत्ति होते हैं। प्रत्येक परिवार को अपनी आवश्यकता के अनुसार इन संसाधनों के उपयोग की इजाज़त थी। इन संसाधनों का आगामी पीढ़ी के उपयोग के लिए परिरक्षण उनका दायित्व था।

27.3.2 परंपरागत प्रबंध व्यवस्था में पारिस्थितिक तंत्र का संरक्षण

इस बात को पक्का करने के लिए वनों को समुदाय संसाधन समझा जाए, सामान्यत: सभी ग्रामीण और वनवासी समुदाय, विशेषत: जनजातीय समुदाय वनों के संरक्षण के लिए निम्नलिखित चार उपायों का अनुसरण करते थे :

i) पवित्र उपवनों का संरक्षण

अधिकांश जनजातीय और ग्रामीण समुदाय वन भूमि के कुछ हिस्सों को विशेष महत्त्व देते हैं और उनका संरक्षण करते हैं। कुछ जगहों को विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण समझा जाता था और उनकी सभी प्रकार के विनाश से रक्षा की जाती थी। भारत के पश्चिमी तट के किनारे बसे समुदायों के पास ऐसे वन थे। उन्हें महाराष्ट्र में 'देवारण्य' (देवकुञ्ज), कर्नाटक में 'नागारण्य' (सर्पकुञ्ज) और केरल में 'सर्पक्काडु' (जंगल में साँप है) कहा जाता था। इन्हें पवित्र समझा जाता था। इस कारण से उन्हें काटने की सख़्त मनाही थी और उन पर दरांती या कुल्हाड़ी से प्रहार नहीं किया जा सकता था। केवल उनके हाथ से तोड़े जा सकने वाले फलों, सूखी टहनियों या सूखे पत्तों आदि का उपयोग किया जा सकता था।

छोटानागपुर के जनजातीय लोग सरना, सासन और अखाड़ा तथा अन्य छेत्रों में कई अन्य कामों से विदित ऐसे इन तीन स्थलों का परिरक्षण करते थे (गुप्ता, बनर्जी तथा गुलेरिया 1981 : 89)। सरना उस स्थल को कहते हैं जहाँ युवकों को वयस्कता का प्रशिक्षण देने के लिए भेजा जाता था। प्रशिक्षण के महीनों में उन्हें जंगल में रहना पड़ता था और अपने हाथ से काटी हुई लकड़ियों और अपने आप किए हुए शिकार पर निर्भर रहना पड़ता था। इन युवकों को उस जनजाति के भावी योद्धाओं के रूप में देखा जाता था और इस तरह उन पर अपनी जनजाति की सुरक्षा का भार था। जंगल में स्थित श्मशान भूमि या कब्रिस्तान को सासन कहते हैं। इन्हीं जगहों में उनके पुरखे दफ़नाए गए थे। सासन जनजाति विशेष द्वारा काफ़ी समय से उस जगह रहने का प्रतीक था। बिहार के छोटानागपुर जैसे बहुत-से स्थानों में पुरखों की कब्र या समाधि का पत्थर ही एकमात्र ऐसा 'दस्तावेज' होता था जिसके द्वारा परिवार के सदस्य यह सिद्ध करते थे कि उन्हें गाँव की ज़मीन पर कृषि करने का अधिकार है। वन के उस ख़ाली स्थान को 'अखाड़ा' कहते थे जहाँ युवा लड़के-लड़कियाँ मिलते थे। इसे नृत्यस्थली भी कहते थे। पश्चिमी उड़ीसा के कांड लोग अखाड़े में डोंगरा-डोंगरी नामक वार्षिक उत्सव मनाते हैं (दूसरे प्रदेशों में इन्हें अन्य नामों से जाना जाता है) इस अवसर पर वे अपने जीवन-साथी चुनते थे। इस प्रकार, इस स्थान पर भावी युगलों का चुनाव होता था। इसके द्वारा भावी संतति के माध्यम से उस जनजाति की निरंतरता बनी रहती थी (फर्नांडिस, मेनन तथा वीगा 1988 : 161-63)। इस प्रकार जनजातियों के लोग अपने पर्यावरण में स्थल विशेष को जनजाति की निरंतरता से जोड़कर और उसे अपने देवताओं का घर मानकर उस पारितंत्र (ecosystem) का परिरक्षण करते थे। ये रीति-रिवाज वास्तव में अधिकांश जनजातियों में उनके टोटमिक विश्वासों से जुड़े हैं। टोटम क्या होता है? अथवा टोटमिक विश्वास क्या है? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर पाने के लिए आपको सलाह दी जाती है कि आप ई.एस.ओ.-03 का खंड 3 तथा ई.एस.ओ.-05 का खंड 1 पढ़ें। साथ में ई.एस.ओ.-05 के खंड 1 से सम्बद्ध दृश्य कार्यक्रम **धार्मिक प्रतीक** भी देखें। यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि लगभग विश्वभर में अनेक जनजातियों में वनस्पति, पशु, पक्षी प्राकृतिक स्थल जैसे शिलाखंड, झरने, उपवनों इत्यादि की जाति-विशेष के माध्यम से सामाजिक संरचना को व्यक्त किया जाता है। इन वस्तु या स्थान विशेषों को पूजा भी जाता है। पूजनीय होने के नाते इनका परिरक्षण भी किया जाता है।

सोचिए और करिए 1

वनों से संबंधित पुराण कथाएँ प्रत्येक क्षेत्रीय लोककथा का भाग होती हैं। अपने क्षेत्र की वनों से संबंधित दो कहानियाँ एकत्र कीजिए और बताइए कि वे किस प्रकार वनों और लोगों के बीच निकट संपर्क को प्रकट करती हैं।

ii) महत्त्वपूर्ण वनस्पति और पशु-पक्षियों का संरक्षण

दूसरी पद्धति में कुछ आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पेड़ों को पवित्र घोषित कर दिया जाता था और उनके काटने पर रोक लगा दी जाती थी। इसी तरह कुछ ऐसे प्राणियों को पवित्र घोषित कर दिया जाता था जिन्हें जनजाति के अस्तित्व के लिए महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। भारत के सभी भागों में रहने वाले वनवासी और ग्रामीण लोग पीपल (जो महत्त्वपूर्ण औषध गुणों वाला पेड़ है), तुलसी, बरगद आदि को पवित्र मानते हैं और उनको परिरक्षित करते हैं। जनजातीय लोगों ने साल, महुआ, सलप आदि बहुत से आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पेड़ों को इस सूची में शामिल किया है। इसके अलावा, उन्होंने आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पेड़ों का अपनी जनजाति के उद्‌भव से जोड़ते हुए कुछ पुराण कथाएँ भी गढ़ ली हैं। उड़ीसा के कालाहांडी क्षेत्र के कोंड जनजाति के लोगों का विश्वास है जब संपूर्ण संसार जल निमग्न था और सब लोग मर गए थे, उस समय पहाड़ पर केवल दो बच्चे से कोंड जनजाति का उद्‌भव हुआ। इसी कारण से सलप का संबंध सभी जनजाति के लोगों के उद्‌भव से है। कोरापुट के गोंडों के अनुसार उनके पुरखों का जन्म

गाय के पैर (या देवता) से हुआ था। इसी से इस जनजाति का नाम गोंड पड़ा। गंजाम के गोंडों की मान्यता है कि उनके आदि पूर्वजों का जन्म बेल के फल; सरई के पेड़, करेला आदि से हुआ था। इसलिए इन सभी को पवित्र घोषित कर दिया गया क्योंकि उनका संबंध जनजाति के उद्भव से था। इस कारण से जनजातियों के लोगों में यह मान्यता है कि अगर उन्होंने उन पवित्र पेड़ों को काटने दिया तो उनकी जनजाति ही समाप्त हो जाएगी। यहाँ आदिम लोगों में धर्म के उद्भव से संबंधित सिद्धांतों का उल्लेख करना असंगत न होगा। इस संदर्भ में संभवत: आप ई.एस.ओ.-03 का खंड 3 ओर ई.एस.ओ.-05 का खंड 1 पढ़ना चाहें, जहाँ दर्खाइम द्वारा विकसित टोटेमवाद के सिद्धांत के अंतर्गत मनुष्यों और वनस्पतियों तथा अन्य प्राणियों के बीच संबंध के माध्यम से धर्म की उत्पत्ति को समझाया गया है।

iii) वन उपज का न्याय-संगत वितरण

वनों और दूसरे संसाधनों को परिरक्षित करने का तीसरा तरीका है न्यायसंगत नियमों के अनुसार संसाधनों के वितरण करना। उदाहरण के तौर पर, जलाऊ लकड़ी के उपयोग के बारे में कुछ निश्चित नियम बनाना तथा उनका पालन करना। उड़ीसा के धेनकनाल क्षेत्र की जनजातियों में प्रत्येक परिवार को सप्ताह में सिर पर एक फेरा जलाऊ लकड़ी ले जाने की अनुमति थी। इसी तरह पूर्वी मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में प्रत्येक परिवार को महीने में एक गाड़ीभर जलाऊ लकड़ी ले जाने की छूट थी। ऐसे ही नियम भारत के अन्य भागों में भी थे। वन उत्पाद के वितरण को सुनिश्चित करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र का अपना एक ऐसा तरीका था जिससे एक तो सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, दूसरे कुछ व्यक्ति अपने अंश से अधिक लेने की कोशिश में उपलब्ध संसाधनों को बरबाद न करें। महात्मा गाँधी ने इसी बात को निम्नलिखित शब्दों में कहा, "दुनिया में हर व्यक्ति की जरूरत के लिए पर्याप्त संसाधन हैं, लेकिन ये संसाधन व्यक्तियों के लालच की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं।"

जनजातीय समुदायों में वनों तथा अन्य संसाधनों के उपयोग और उनके परिरक्षण में महिलाओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। वे पारिवारिक अर्थव्यवस्था, झूम खेती से संबंधित कार्यों और अन्य संसाधनों को नियंत्रित करती हैं। अतएव आपको यह कहने का पूरा अधिकार है कि पुरुषों की अपेक्षा इन संसाधनों के परिरक्षण में महिलाओं को अधिक रुचि है। यही बात है कि परिवार के मामलों में निर्णय करने का अधिकार भी ज़्यादातर उनका ही होता है। इससे कुछ जनजातीय समाजों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की उच्च प्रस्थिति का संकेत भी मिलता है (फर्नांडिस तथा मेनन 1987 : 72-80)।

iv) उपयुक्त प्रौद्योगिकी

अंतत: वनवासी लोगों ने समुचित प्रौद्योगिकी के द्वारा वनों का भी परिरक्षण किया। उदाहरण के तौर पर इसे झूम खेती में देखा जा सकता है। इसे 20 डिग्री तक की ढलानों पर की जा सकने वाली खेती की सर्वोत्तम किस्म रह सकते हैं। ऐसे क्षेत्रों में आम प्रकार से खेती या सीढ़ीदार खेती नहीं की जा सकती। जनजातीय लोग वर्षा से पहले सबसे ऊपरी ढलान पर इस तरह खेती करते थे कि वहाँ जड़ें उग आएँ। इससे वर्षा के समय वहाँ की मिट्टी परिरक्षित रहती थी अर्थात् खिसकती नहीं थी। उसके बाद वे दूसरे फसलें इस तरह बोते थे कि झूम खेती से उन्हें अक्तूबर से मार्च तक प्रतिमास कुछ न कुछ खाद्य सामग्री मिल सके। इस विधि से उन्हें संतुलित भोजन मिलता रहता था। वे एक क्षेत्र में तीन साल तक खेती करते थे और उसके बाद उसे 18-20 साल तक परती पर छोड़ देते थे ताकि वहाँ फिर से वन उग आएँ इसी प्रकार की उपयुक्त प्रौद्योगिकी पेड़ों और बाँसों के काटने में भी दिखाई देती है जिसे वे कुछ इस प्रकार काटते थे कि आसपास के वातावरण को हानि न पहुँचे। साथ ही, पुराने अंकुरों से नए अंकुर भी निकल आएँ।

1) सन् 1854 में जब ब्रिटिश शासकों ने पहली वन नीति लागू की उस समय भारत में कितना क्षेत्र वृक्षों से आच्छादित था? अपना उत्तर चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) **सहजीवी संबंध** किसे कहते हैं? दो पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

3) **सरना** क्या है? एक पंक्ति में उत्तर लिखिए।

.....

.....

4) छोटानागपुर की जनजातियों में सासन का क्या उपयोग होता था? एक पंक्ति में उत्तर लिखिए।

.....

.....

27.4 वन नीति, राजकीय नियंत्रण और वनों में प्रवेश पर रोक

सन् 1854 में अंग्रेज़ों द्वारा शासित भारत की पहली वन नीति की घोषणा के साथ वनों के सामुदायिक संसाधन के रूप में उपयोग के प्रति मान्यता में परिवर्तन आया। यह प्रवृत्ति स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी बनी रही और अब यह प्रवृत्ति इस हद तक प्रबल होती जा रही है जिन लोगों ने शताब्दियों तक वनों को सामुदायिक संसाधन के रूप में स्वीकार किया उन्हें अब वनों का शत्रु समझा जाने लगा है। ऐसा क्यों हुआ? इसी बात को हम इकाई के इस भाग में समझने का प्रयास करेंगे।

27.4.1 वन नीति और राजकीय स्वामित्व

ब्रिटिश वन नीति, 1854 और उसके बाद की 1988 तक की सभी वन नीतियों का पहला लक्षण है। वनों पर राज्य का स्वामित्व। ऐसी नीतियों के चलते वन संसाधन उन समुदायों के लिए पराए हो गए जिन्होंने इसे एक सामुदायिक संसाधन के रूप में परिरक्षित करके रखा था। आरंभ में, 1854 की ब्रिटिश वन नीति का उद्देश्य वनों से इमारती लकड़ी प्राप्त करना था जिसका उपयोग उन्होंने एक तो मुख्य रूप से राजस्व अर्जित करने के लिए किया। दूसरे, उन्हें देशों में औपनिवेशिक युद्धों के लिए जहाज़ बनाने के लिए लकड़ी की ज़रूरत थी। बाद में रेलवे स्लीपरों के लिए भी इनकी आवश्यकता हुई। वे ब्रिटेन तथा दक्षिण अफ्रीका के अपने अन्य उपनिवेशों के वनों को पहले ही समाप्त कर चुके थे और उन्हें अब भारत से और अधिक इमारती लकड़ी की ज़रूरत थी। इसके फलस्वरूप वन नीति के अंतर्गत वनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित कर दिया गया। अब वे वन जनजातीय लोगों और दूसरे वनवासियों के लिए जीवन के सहायक तंत्र नहीं रहे।

इस नीति के अंतर्गत तथाकथित "वनों की वैज्ञानिक प्रबंध व्यवस्था'' को लागू करने का प्रयास किया गया। इसका सीधा मतलब वनों से अधिक से अधिक राजस्व अर्जित करना था। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर उन्होंने लोगों के जीवन संबल के लिए उपयोगी वृक्ष जातियों के बजाय ऐसी वृक्षों की जातियों को लगाया गया जिनसे ज़्यादा राजस्व मिले। "वैज्ञानिक प्रबंध व्यवस्था'' को सुनिश्चित करने के लिए डाइट्रिक ब्रैंडिस नामक जर्मन को प्रथम महावननिरीक्षक नियुक्त किया गया। लोगों के उपभोग के लिए कुछ ग्राम वन क्षेत्र अलग छोड़ दिए गए बाकी वनों को आरक्षित वन घोषित कर दिया गया जिन पर सरकार का नियंत्रण था। इस विभाजन को लागू करने से पूर्व लोगों की आवश्यकताओं के बारे में कोई सर्वेक्षण नहीं किया गया। अधिकांश मामलों में जितना वन क्षेत्र लोगों के लिए छोड़ा गया था वह उनकी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं था। इसके अलावा, लोगों को जंगल से फूल, फल और व्यक्तिगत उपयोग के लिए जलाऊ लकड़ी इकट्ठा करने के कुछ अधिकार दिए गए (गाडगिल 1983 : 166-69)।

27.4.2 राज्य और जनता के बीच संघर्ष

राजकीय स्वामित्व की इस प्रवृत्ति के साथ एक ओर तो राज्य और लोगों के बीच संघर्ष की शुरुआत हुई, दूसरी ओर लोगों की वनों से दूरी बढ़ गई। जैसे-जैसे पेड़ों की कटाई से वृक्षारोपण कम हुआ और ब्रिटिश शासकों की वनों से राजस्व की आवश्यकता में वृद्धि हुई, इस संघर्ष में भी तेजी आई। यह बात सन् 1897 की वन नीति से स्पष्ट हो गई। इस वन नीति के दस्तावेज में पहले जिसे लोगों का अधिकार कहा गया था जिन्हें बदलकर "अधिकार और विशेषाधिकार'' कर दिया गया। धीरे-धीरे लोगों के अधिकारों को कम महत्त्व दिया जाने लगा और उनकी आवश्यकताओं को विशेषाधिकार के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। उनके इस नज़रिए को सन् 1927 के भारतीय वन अधिनियम (Indian Forest Act, 1927) में कानूनी रूप प्रदान कर दिया गया। पिछले दस्तावेज़ों की अपेक्षा इस दस्तावेज़ में कहीं अधिक स्पष्ट रूप से वनवासियों को सरकारी सम्पत्ति में अनधिकृत रूप से प्रवेश करने वालों के रूप में वर्णित किया गया।

27.4.3 स्वाधीनता के बाद की राष्ट्रीय वन नीति

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ऐसी आशा की जा सकती थी कि जब भारत की अपनी सरकार स्थापित हो गई है तो इस नीति में बदलाव आएगा। वास्तव में, आज़ादी के बाद इस प्रवृत्ति ने और अधिक ज़ोर पकड़ा। स्वाधीनता के बाद पहली वन नीति में, जिसे राष्ट्रीय वन नीति, 1952, कहा गया, "अधिकार और विशेषाधिकार'' को बदलकर "अधिकार और रियायतें'' कर दिया गया। इसमें संदेह नहीं कि इस वन नीति में लोगों के हितों की सुरक्षा, पर्यावरण संबंधी आवश्यकताओं तथा औद्योगिक और राजस्व संबंधी आवश्यकताओं के बारे में उल्लेख किया गया। परंतु इसमें भी अधिकारों के बजाय "रियायतों'' को महत्त्व दिया गया। इन अधिकारों की सूची मंडल वन अधिकारी (डी.एफ.ओ.) के पास रहती थी जिसके बारे में जनता को कभी-कभी ही बताया जाता था। वनवासियों की आवश्यकताओं को वन की मालिक, सरकार से मिली रियायतें माना गया। दूसरी ओर, राष्ट्रीय वन नीति उद्योगों के हितों के अनुकूल बनी रही और वनों का प्रबंध उद्योगों के हितों को ध्यान में रखकर किया जाता रहा (फर्नांडिस 1988 : 88-91)। इसके परिणाम इस प्रकार रहे :

i) उद्योग और वन प्रबंध

वन नीति की यह प्रवृत्ति समझ में आने वाली बात है। राजस्व अर्जित करने के स्रोत के साथ-साथ, हमारे देश में राष्ट्रीय विकास में औद्योगीकरण का विशेष महत्त्व रहा है। इसमें वन और जल जैसे प्राकृतिक संसाधनों को कच्चे माल के रूप में लिया जाता है। इसलिए इनकी उत्पादकता को अधिक से अधिक बढ़ावा देना ज़रूरी समझा जाता है। औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए, वह भी विशेष रूप से, पिछड़े क्षेत्रों के (वन क्षेत्र पिछड़े क्षेत्र ही समझे जाते हैं)

औद्योगीकरण को महत्त्व देने के लिए औद्योगिक कच्चे माल पर बहुत अधिक आर्थिक रियायतें दी गई थीं। उदाहरण के तौर पर, 1970 के दशकमध्य में कर्नाटक में एक औद्योगिक उपयोग के लिए बाँस की कीमत कागज़-मिलों के लिए 15/- रुपये प्रति कल्पित (notional) टन यानी बाँसों की 2400 मीटर तक की लंबाई) थी जबकि बाज़ार में उसकी कीमत 1200/- रुपये प्रति टन थी। 1981-82 में भी मध्य प्रदेश की कागज़ मिलों को चार मीटर बाँस 54 पैसे में मिलता था जबकि उसका बाज़ार भाव 2/- रुपये से भी अधिक था (फर्नांडिस, मेनन तथा वीगा 1988 : 204-207)।

इसका परिणाम हय हुआ कि उद्योगपतियों को कच्चा माल इतना सस्ता मिला कि वनों की कटाई के बाद उनका फिर से वन लगाने में कोई स्वार्थ नहीं उपजा। इसके अलावा, उन्होंने पुराने अंकुरों से नए अंकुरों के निकलने (coppicing) की प्रौद्योगिकी को अधिकांशत: का उपयोग कम खर्च और अधिकाधिक लाभ पाने के लिए किया। इसलिए उन्होंने प्राय: वनों का पूर्ण रूप से सफ़ाया करने की पद्धति का सहारा लिया। यानी उन्होंने पूरे भूभाग से सभी पेड़ों और बाँसों को काट डाला। इसके अतिरिक्त उद्योगपतियों ने इन पेड़ों को काटना शुरू किया जो गाँव के सबसे नज़दीक थे क्योंकि बाँस उठाने के लिए वहाँ तक उद्योगपतियों के वाहन सरलता से जा सकते थे। किसी ने भी इस बात का ध्यान नहीं रखा कि इन पेड़ों से गाँव के लोग अपनी आवश्यकता की सामग्री प्राप्त कर लेते थे। जब गाँव के आसपास के पेड़ समाप्त हो जाने पर दूसरे क्षेत्र के पेड़ों और बाँसों को काटा गया। भारत की 175 कागज़ मिलों में 50 प्रतिशत वन संसाधनों का इस्तेमाल होता है। दूसरी ओर, स्थानीय लोग अपनी आवश्यकता के वन संसाधनों से वंचित रह जाते हैं। देश की 45 लाख हैक्टेयर वन भूमि का उपयोग बाँधों, खानों और उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक ढाँचे को विकसित करने में हुआ है।

ii) औद्योगिक निर्वृक्षीकरण और लोगों का दारिद्रीकरण

अपने गाँवों के पास के जंगलों के पेड़ों की पूर्ण रूप से कटाई से धीरे-धीरे गाँव के लोग अपने आहार और रोज़मर्रा की आवश्यकताओं से वंचित हो चुके हैं। इसके कारण से ग़रीब होते चले गए हैं। इससे दुष्चक्र शुरू हुआ है जिससे वन और लोगों के बीच चले जा रहे **सहजीवी संबंध** टूट गए हैं। ग़रीबी के कारण वनवासी लोग साहूकारों के चंगुल में पड़ गए। यह लगभग तभी से हुआ जब से उद्योगपतियों ने वन संसाधन का उपयोग शुरू किया। जैसे-जैसे वन क्षेत्र जनजातीय लोगों की पहुँच से बाहर होते गए, वैसे-वैसे उनकी ग़रीबी और ऋणग्रस्तता बढ़ती गई। धीरे-धीरे उनकी ज़मीन पर साहूकारों का कब्ज़ा हो गया। फलत: वे झूम खेती पर अधिकाधिक निर्भर हो गए तथा उन्होंने वन की ज़मीन का ज़रूरत से ज़्यादा दोहन शुरू कर दिया। जनसंख्या में वृद्धि के कारण उनकी समस्या और भी निकट हो गई। उन बातों के सम्मिलित प्रभाव के कारण 30 वर्ष पूर्व झूम खेती का जो चक्र 18-20 वर्षों के बीच था, वह घटकर उड़ीसा में छह साल, उत्तर-पूर्व में 12 साल और पश्चिमी भारत के बहुत से हिस्सों में केवल 3 वर्ष रह गया है। अब जनजातियों के बहुत से लोग अपनी रोज़ी-रोटी के लिए जलाऊ लकड़ी बेचने का धंधा करते हैं या लकड़ी के ठेकेदारों या तस्करों के पास दिहाड़ी पर मज़दूरी करने लग गए हैं।

अब वह देखा जा सकता है कि वनवासी लोग, खासकर जनजातीय लोग, पहले अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए वन संसाधन का उपयोग करते समय उसके परिरक्षण का पूरा ध्यान रखते थे। आज वे अपनी आजीविका के लिए उस संसाधन को नष्ट कर रहे हैं। पहले वे वनों पर सकारात्मक रूप से निर्भर थे। आज उद्योगपतियों द्वारा शुरू किए गए ग़रीबी और ऋणग्रस्तता के दुष्चक्र के कारण जनजातीय लोग वन उत्पादों से वंचित हो गए हैं। अब उन्हें लाचार होकर जीवन-निर्वाह के लिए वनों को नष्ट करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, हम कहें कि वे जीने के लिए वनों का अतिदोहन या विनाश करते हैं। उद्योग की ओर से वनों के इस

प्रबंध और नियंत्रण के कारण लोगों पर पड़ने वाले प्रभाव पर विचार करने से पहले आइए हम इसके पर्यावरण संबंधी परिणामों पर भी एक दृष्टि डालें।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में वनों के संबंध में कौन से मुख्य ब्रिटिशकालीन कानून बने और उनका अधिनियमन क्यों किया गया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) राष्ट्रीय वन नीति के फलस्वरूप जनजातीय संस्कृति में परिवर्तन होने से कैसा दुष्चक्र बन गया? स्वाधीनताप्राप्ति के बाद के किन कारणों से यह दुष्चक्र शुरू हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

27.5 पर्यावरणी परिणाम

देश के वनों की उपर्युक्त दशा के कारण निम्नलिखित पर्यावरण संबंधी विकृतियाँ पैदा हुईं :

27.5.1 वृक्षारोपण में कमी

इस दुष्चक्र का पहला परिणाम वृक्षारोपण में कमी आना था, जो इस समय भारत में लगभग 9 प्रतिशत है। इसके कारण मिट्टी का बड़े पैमाने पर कटाव हुआ है। बड़े पत्तों वाले पेड़ों से मिट्टी को हवा, धूप और वर्षा से संरक्षण मिलता है। पेड़ों से जलस्तर को ठीक बनाए रखने के लिए ज़मीन में आवश्यक नमी भी बनी रहती है। रूस में किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि वृक्षों के आवरण में अगर 10 प्रतिशत की कमी हो तो वर्षा में 4 प्रतिशत की कमी हो जाती है। वन क्षेत्र से 100 मीटर की दूरी पर स्थित भूभाग में मिट्टी के कटाव (soil erosion) की दर प्रति हैक्टेयर 2.1 टन होती है। 300 मीटर की दूरी पर कटाव की दर 14.6 टन और 600 मीटर की दूरी पर यही दूरी 38.4 टन प्रति हैक्टेयर होती है। चंडीगढ़ के पास के पहाड़ों पर पेड़ों की कटाई के बाद मिट्टी में कटाव की वार्षिक दर 900 टन पाई गई थी (सी.एस.ई. 1987)।

बंगलौर के माधव गाडगिल के अध्ययनों से पता चलता है कि भारत में हर साल लगभग 600 करोड़ टन मिट्टी बहकर चली जाती है। इसमें से 10 प्रतिशत मिट्टी समुद्र में चली जाती है। 69 प्रतिशत मिट्टी नदियों और बड़े बाँधों के जलाशयों में जमा हो जाती है। उदाहरणार्थ,

ऐसा सोचा गया था कि बिहार के मैथॉन बाँध के प्रति 100 वर्ग मीटर क्षेत्र से 1.62 हैक्टेयर मीटर गाद (silt) निकलेगी। लेकिन बाद के पर्यवेक्षण से मालूम हुआ कि गाद (silt) की यह मात्रा 13.10 हैक्टेयर मीटर है। ऐसी ही मान्यता थी कि निज़ाम सागर बाँध में 0.29 हैक्टेयर मीटर गाद निकलेगी, लेकिन वास्तव में यहाँ से 6.55 हैक्टेयर मीटर गाद निकली। सभी प्रमुख बाँधों के इसी तरह के आँकड़े प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि उनका जीवनकाल घटकर आधे से भी कम रह जाता है। पानी वाले क्षेत्र में वनों की कटाई ओर मिट्टी के कटाव से नदियों में गाद के जमा होने को भी इसमें जोड़ा जा सकता है। पिछले बीस वर्षों में ब्रह्मपुत्र का जलस्तर 1.98 मीटर और गंगा का स्तर 5 मीटर से भी अधिक ऊपर उठ गया है।

27.5.2 बाढ़ और सूखा

मिट्टी में पानी को सोखने की क्षमता न होने, नदियों के तल के ऊपर उठने और बाँधों में गाद जमा होने के कारण नदियों में बाढ़ आती है। राष्ट्रीय बाढ़ आयोग के अनुसार, देश में बाढ़ प्रवण क्षेत्र 1960 में 190 लाख हैक्टेयर था, जो 1984 तक बढ़कर 590 लाख हैक्टेयर हो गया। 1960 में बाढ़ से प्रभावित लोगों की संख्या 52 लाख थी, जो 1970 में बढ़कर 154 लाख हो गई। सन् 1978 में 700 लाख योग बाढ़ से प्रभावित हुए। वर्ष 2002 में बाढ़ से प्रभावित होने वालों की 10 करोड़ संख्या रही। इसमें हमें बाढ़ द्वारा संचार व्यवस्था के भंग होने और उत्पादन न होने के कारण होने वाली हानि को भी जोड़ना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाढ़ के साथ-साथ देश में सूखे में भी वृद्धि हो रही है। गत बीस वर्षों के दौरान देश में एक दशक में तीन या चार सूखे वाले साल रहे, जबकि 1920 से 1960 तक के चार दशकों में केवल चार सूखे वाले साल थे। विज्ञान और पर्यावरण केंद्र (सी.एस.ई. 1987) और भारतीय सामाजिक संस्थान् (फर्नांडिस 1987), नई दिल्ली जैसी संस्थाओं के अध्ययनों से पता चलता है कि जनजातीय क्षेत्रों में स्थित और भी ख़राब है, जहाँ कुछ वर्ष पूर्व घने जंगल थे। दक्षिणी राजस्थान, सौराष्ट्र और गुजरात के कच्छ क्षेत्र में तथा उड़ीसा के कालाहांडी ज़िले में, उत्तरी कर्नाटक के उत्तरी भागों और दक्षिणी तमिलनाडु में लगातार 6 से 8 वर्ष तक सूखे की स्थिति रही।

बाढ़ और सूखे की राहत पर होने वाले ख़र्च में भी निरंतर वृद्धि हो रही है। पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान देश ने प्रति वर्ष औसतन 5.64 करोड़ रुपये बाढ़-सूखा राहत पर खर्च किए। 1980 के दशक के अंतिम वर्षों में यह राशि बढ़कर प्रति वर्ष लगभग 1200 करोड़ रुपये हो गई। इसमें वह राशि भी जोड़ी जा सकती है जो संचार प्रणाली और अन्य जन-सुविधाओं को बाढ़ से हुई क्षति को ठीक करने पर व्यय होती है। इस प्रकार, कुल व्यय होने वाली राशि बहुत अधिक हो जाती है। अन्यथा इसी राशि का उपयोग लोगों के विकास पर किया जा सकता है।

सोचिए और करिए 2

आपकी राय में वन के दुरुपयोग के सबसे महत्त्वपूर्ण पर्यावरण संबंधी परिणाम क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वनों में वृक्षावरण के कम होने के विभिन्न परिणामों का पर्यवेक्षण कीजिए। इसके बारे में पुराने समाचार-पत्रों की कतरनों को पढ़िए और दूसरे स्रोतों से जानकारी इकट्ठी कीजिए। इस विषय पर आप अपने मित्रों से भी चर्चा करें और इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के परामर्शदाता से परामर्श लें। फिर इस विषय पर आप 250 शब्दों की एक टिप्पणी लिखिए।

27.5.3 निर्वनीकरण (वनों की कटाई) और वर्षा

अंडमान और निकोबार द्वीप समूह में बी.सी. विश्वास (1980) असम में एस. कालिता (1988)

और एस.के. शर्मा (1981), मध्य प्रदेश में पी.सी. अग्रवाल (1976) और दक्षिण में वी.एम. मेहर होमजी (1988) के अध्ययनों से पता चलता है कि निर्वनीकरण और वर्षा में कमी के कारण में गहरा संबंध है। इस विषय में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने से पहले और अधिक अध्ययनों की आवश्यकता है। हम में से अधिकांश लोगों को पेड़ों और वर्षा के बीच संबंध के बारे में सामान्य ज्ञान है। तकनीकी शब्दावली में इसे "जलीय चक्र" कहते हैं। वन मिट्टी को संरक्षित और दृढ़ करते हैं। वन क्षेत्र में वर्षा का जल स्वच्छ होता है ओर यह अपने साथ केवल 5 प्रतिशत तलछट ले जाता है, लेकिन जिन क्षेत्रों में वन काट दिए जाते हैं वहाँ वर्षा का पानी गंदला होता है और अपने साथ 60 प्रतिशत बहाकर ले जाता है।

27.6 जन-सामान्य पर परिणाम

इससे पूर्व हमने लोगों के व्यवहार या संस्कृति में परिवर्तन के बारे में उल्लेख किया था। जिन लोगों ने वनों को पुनर्नवीकरण करने योग्य संसाधन माना और भावी पीढ़ी के लिए परिरक्षित करने के लिए उनका संतुलित ढंग से उपयोग किया, उन्होंने ही आज अपनी जीवन रक्षा के लिए उनको बरबाद करना शुरू कर दिया है। उनकी ग़रीबी और ऋणग्रस्तता ने उन्हें इस दुष्चक्र में ढकेल दिया है। उदाहरण के तौर पर, उड़ीसा में किए गए एक अध्ययन (फर्नांडिस, 1988) से पता चलता है कि लगभग 20 प्रतिशत जनजातीय लोगों ने निर्वनीकरण के कारण ग़रीबी की हालत में कर्ज लेकर न लौटा पाने की स्थिति में अपनी ज़मीन साहूकारों के नाम कर दी। आज उनका जीवन वनों के विनाश पर टिका है। संक्षेप में, हम कहें कि लोगों की ग़रीबी इसका महत्त्वपूर्ण परिणाम है। उनमें से बहुत से लोग झूम खेती में अपनी ज़मीन का अत्यधिक दोहन करते हैं। उन्हें जलाऊ लकड़ी को बेचकर, दिहाड़ी मज़दूरी पर पेड़ों को काटकर वनों को नष्ट करना पड़ रहा है। अगले उप-भागों में हम वनों की वर्तमान स्थिति से लोगों पर होने वालों कुछ अन्य परिणामों के बारे में चर्चा करेंगे।

27.6.1 प्रवसन और शोषण

उड़ीसा और मध्य प्रदेश की जनजातियों के पूर्व उद्धृत अध्ययन में हमने देखा कि ग़रीबी और ऋणग्रस्तता के कारण बंधुआ मज़दूरों की संख्या में बेशुमार वृद्धि हुई है। इनमें से बहुत संख्या में लोग दूसरे राज्यों में बागान मज़दूर, निर्माण कार्य मज़दूर और सड़क मज़दूर के तौर पर काम करने के लिए प्रवसन (migration) करते हैं। प्राय: इन मज़दूरों को अपने परिवार के पास लौटकर जाने नहीं दिया जाता या वे ग़रीबी के कारण जा नहीं पाते हैं। यही बात मणिपुर के प्रवासी मज़दूरों, दिल्ली में 1982 के एशियाई खेलों के निर्माण कार्य में लगे मज़दूरों और अन्यत्र कार्यरत मज़दूरों के संबंध में किए गए अध्ययनों में पाई गई है। दिल्ली में हाल ही में किए गए अध्ययन से पता चलता है कि गत दो दशकों में निर्वनीकरण और विकास परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए जनजातीय लोग और दूसरे वनवासी लोग बहुत बड़ी संख्या में शहरों की गंदी बस्तियों में आकर बस गए हैं। ये लोग केवल अकुशल मज़दूर के रूप में काम कर सकते हैं, जहाँ इनका और भी अधिक शोषण होता है (फर्नांडिस 1990)।

27.6.2 कुपोषण और बुरा स्वास्थ्य तथा समुदाय का विघटन

जनजातीय लोगों की शारीरिक दशा में गिरावट इसका एक अन्य परिणाम है। उड़ीसा के अलमास अली (1980) जैसे लोगों ने आकलन करके देखा कि हमें प्रतिदिन कम से कम औसतन 2400 कैलोरी की आवश्यकता होती है। इसकी तुलना में कोंड जैसी जनजाति के लोगों की खाने की औसतन दैनिक खपत लगभग 1700 कैलोरी होती है। यह कमी दूध, मांस, फलों और गिरी आदि चीज़ों की कमी में सबसे केंद्रित है। निर्वनीकरण से पहले ये चीज़ें वहाँ बहुतायत से पाई जाती थीं। इसके अभाव के कारण उनकी शारीरिक दशा बिगड़ जाती है। इसके अतिरिक्त,

पारिस्थितिक अस्थिरीकरण के कारण उन्हें नई बीमारियाँ आ घेरती हैं तो दूषित वर्यावरण के प्रभाव से फैलती हैं। शताब्दियों से वे इलाज के लिए वनों में उगने वाली जड़ी-बूटियों पर निर्भर रहे हैं। निर्वनीकरण के कारण वे इन जड़ी-बूटियों से भी वंचित हो गए हैं। सामान्य इलाज के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र भी वहाँ से 10-15 किलोमीटर दूर शहरों में स्थित हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे तब तक इन स्वास्थ्य केंद्रों में नहीं जाते हैं, जब तक बीमारी गंभीर रूप न धारण कर ले (अग्रवाल तथा नारायण 1985)।

संसाधनों के अभाव के कारण उन संसाधनों को प्राप्त करने के लिए होड़ लग जाती है। फलस्वरूप समुदाय में फूट पड़ती है और उसका विघटन होने लगता है। फलतः वनों से प्राप्त होने वाले उत्पादों के "न्यायसंगत" वितरण की व्यवस्था को लागू किया जाता है। इस तथाकथित "न्यायसंगत" वितरण व्यवस्था में बाहरी लोगों के अलावा जनजातीय एवं वनवासी लोगों में से ही कुछ अधिक सम्पन्न लोग अपने हिस्से से अधिक संसाधनों को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। इससे जिन ग़रीब लोगों को थोड़े-बहुत संसाधन उपलब्ध थे, उन्हें उन संसाधनों से भी वंचित रहना पड़ता है (फर्नांडिस, मेनन तथा वीगा 1988 : 226-27)।

27.6.3 वन अधिकारियों से तनाव की स्थिति

संसाधनों की कमी के कारण ग़रीब लोगों को पेट भरने के लिए जलाऊ लकड़ी बेचकर गुज़ारा करना पड़ता है। इस कारण वन अधिकारियों और इन लोगों के बीच जो संबंध पहले ही ख़राब थे, वे और भी बिगड़ जाते हैं। फलतः वन अधिकारियों द्वारा ग़रीब लोगों के शोषण की प्रक्रिया शुरू होती है। वनवासियों के शोषण के बारे में जोशी (1983) ने लिखा है :

> वनवासियों पर वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा कई तरह के प्रतिबंध लगा दिए जाते हैं जो उन्हें वन विभाग के निम्न स्तर के कर्मचारियों के सामने दया का पात्र बना देते हैं। निरक्षरता और आर्थिक स्थिति ख़राब होने के कारण उनकी स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। वन विभाग के अधिकारियों के उपेक्षा भाव का लाभ उठाकर वनरक्षक जैसे निम्न स्तर के कर्मचारी वन उत्पाद के समाहरण में स्थानीय लोगों का शोषण करते हैं। उदाहरणार्थ, आंध्र प्रदेश के कुछ हिस्सों में वनरक्षक गौण वन उत्पादों पर एक रुपये पर छह पैसा लेते हैं और कुछ अन्य क्षेत्रों में जनजातीय लोगों को बेगार करनी पड़ती है। हालाँकि सारे खंड (ब्लॉक) में विश्रामगृहों का जाल बिछा हुआ है, फिर भी वन राजिक और उच्च स्तर के अधिकारियों को अपने क्षेत्र का निरीक्षण करने के लिए भी समय नहीं मिलता। यह स्थिति किसी एक क्षेत्र की नहीं है, सभी जगह यही हाल है।

27.6.4 महिलाओं का अपेक्षाकृत अधिक सीमांतीकरण

यद्यपि सभी वनवासी लोगों को परेशानी उठानी पड़ती है, लेकिन उनकी स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से भी कहीं बदतर हो जाती है (देखिए फर्नांडिस तथा मेनन 1987)। भोजन, चारे, पानी, जड़ी-बूटियों और खाद की आपूर्ति को सुनिश्चित करने की पारंपरिक भूमिका का दायित्व महिलाओं का रहा है। लेकिन धीरे-धीरे वनों और गाँव के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है। पूर्वी मध्य प्रदेश और उड़ीसा में 1950 के दशक के आरंभ में गाँव से वनों की दूरी लगभग एक किलोमीटर थी। सन् 1980 के दशक के आरंभ में यह दूरी बढ़कर लगभग 7 किलोमीटर हो गई। गढ़वाल के हिमालय के क्षेत्र में यह दूरी 10 किलोमीटर से भी अधिक है। इसके कारण महिलाओं के काम की मात्रा में भी वृद्धि हुई है। जब वन गाँव के पास था तब बच्चे और बूढ़ी औरतें भी गृहिणी को वन ने फल, फूल, पत्ते और दूसरे वन-उत्पादों को एकत्र करने में मदद करते थे। गाँव से वन की दूरी बढ़ने के कारण बच्चे और बूढ़ी औरतें ऐसे किसी भी काम में उसकी सहायता करने में असमर्थ हैं। इसलिए गृहिणी को प्रतिदिन वन-उत्पादों को एकत्र करने

के लिए 5-10 किलोमीटर अतिरिक्त चलना पड़ता है। अन्य अधिक कामों के कारण यह अपेक्षाकृत कम वन उत्पाद इकट्ठा कर सकती है।

इसका स्वाभाविक परिणाम खाद्य सामग्री या खाने की कमी होता है। अधिकांश जनजातीय समूहों में सारा परिवार एक साथ बैठकर भोजन करता है। लेकिन खाने की उपलब्धता में कमी होने के कारण बहुत से जनजातीय समुदायों ने एक प्रकार की जातिगत प्रथा शुरू कर दी है, जिसके अनुसार स्त्रियाँ अपने पुरुष सदस्यों, लड़कों और लड़कियों को इसी क्रम से खिलाने के बाद अंत में स्वयं भोजन करती हैं। इसके परिणामस्वरूप प्राय: स्त्रियों को बहुत कम (या कभी-कभी बिना) खाने से गुजारा करना पड़ता है क्योंकि उसके लिए अधिक खाना प्राय: बचता ही नहीं है।

सोचिए और करिए 3

अपने सांस्कृतिक क्षेत्र में ध्यान से देखिए कि महिलाएँ कौन-कौन से क्रियाकलाप करती हैं और उनमें से कौन-कौन से क्रियाकलाप वन-उत्पाद से संबंधित हैं। उन सबका विवरण तैयार कीजिए। एक 250 शब्दों की संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए जिसमें महिलाओं की वन-उत्पादों तक पहुँच और उनके द्वारा इन संसाधनों के नियंत्रण और प्रबंध का विश्लेषण किया गया हो।

सूखे और अकाल के समय में स्थिति और भी खराब हो जाती है। पहले के वर्षों में कंद और मूल की मदद से समय निकल जाता था क्योंकि वन में कंद-मूल बहुतायत में मिल जाते थे। निर्वनीकरण के साथ सूखे वाले वर्षों की संख्या में वृद्धि हो गई और कंद-मूल आदि जो कि अकाल के दिनों का आहार थे, वे समाप्त हो गए। इसके कारण परस्पर एक-दूसरे की सहायता देने वाले समुदाय कमज़ोर हो गए। इसलिए कमी या अभाव के समय में गृहिणी को दूसरों से किसी तरह की सहायता भी नहीं मिलती (फर्नांडिस 1987 : 433-35)।

27.7 संभावित समाधान

वनवासी या जनजातीय लोगों का जीवन वनों पर निर्भर है। वन संसाधन अब इन ग़रीब लोगों की पहुँच से बाहर हो गए हैं। हमें वन प्रबंध को इस दृष्टि से देखना होगा कि हम इन लोगों के हित में कुछ समाधान खोज सकें। आज इसके कानूनी समाधान खोजने के प्रयास हो रहे हैं। इस भाग में हमने पहले कानूनी समाधानों और वन संरक्षण अधिनियम तथा नई वन नीति की चर्चा की है। इसके बाद हमने विभिन्न प्रकार के वनरोपणों और उनमें लोगों की भागीदारी के बारे में विचार किया है।

27.7.1 कानूनी समाधान

वन क्षेत्र में निरंतर घटते हुए वृक्षारोपण की समस्या से निपटने के लिए कानूनी समाधान के बारे में विचार किया गया है। वनों के कम होने के साथ विभिन्न क्षेत्रों में प्रतियोगिता बढ़ रही है और राज्यों पर इस बात का दबाव डाला जा रहा है कि वे इस संसाधन पर से सबसे क्रमज़ोर वर्गों की पहुँच को समाप्त कर दें। इस दबाव का पहला संकेत राष्ट्रीय कृषि आयोग की रिपोर्ट में मिला। इस आयोग का गठन 1971 में हुआ था और इसने अपनी रिपोर्ट 1976 में पेश की। इस रिपोर्ट का खंड-9 वनों से संबंधित है। इसमें आयोग ने निरंतर घटते हुए वृक्षारोपण का उल्लेख करते हुए कहा है कि, "हमें मौजूदा वनों के संरक्षण के लिए प्रभावी उपाय करने होंगे। आयोग की दृष्टि में वनवासी लोग ही इसके लिए जिम्मेदार हैं। ग्रामीण लोगों को वन उत्पाद की मुफ्त आपूर्ति और उनके अधिकारों तथा विशेषाधिकारों के कारण ही वनों का विनाश हुआ है इसलिए इस प्रक्रिया को उलटना होगा" (एन.सी.ए. 1976 : 354-355)। इस विषय में आयोग की सिफारिश थी कि 7 करोड़ हैक्टेयर वन क्षेत्र में से 4.8 करोड़ हैक्टेयर वन क्षेत्र को औद्योगिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अलग रख देना चाहिए। आयोग ने यह भी

सिफारिश की कि स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राजकीय भंडार स्थापित किए जाएँ तथा वन क्षेत्र में रहने वालों की वन उत्पादों तक सीधी पहुँच को रोका जाए। इस चरण के अनुसरण के लिए विभिन्न समितियाँ गठित की गईं। आइए, हम इनके बारे में और अधिक विस्तार से चर्चा करें :

i) इस रिपोर्ट के आधार पर 1980 में एक नए वन विधेयक का मसौदा तैयार किया गया। इसने निम्न उपायों द्वारा वन संरक्षण का प्रयास किया :

- वन उत्पादों को फिर से परिभाषित करके एम.ए.पी. (गौण वन उत्पाद) श्रेणी में वन-उत्पादों में कई और उत्पाद भी शामिल करना
- वन अधिकारियों को वन अधिनियम का उल्लंघन करने वाले वास्तविक या संदिग्ध अपराधियों को पकड़ने और सज़ा देने की अतिरिक्त शक्तियाँ प्रदान करना
- इन अपराधों के लिए सज़ा में वृद्धि करना।

इस विधेयक को संसद में पेश करने का जनता ने विरोध किया और इसे दुबारा संसद में पेश नहीं किया गया। वनों और जनजातीय लोगों के बीच संबंधों के अध्ययन के लिए कई समितियाँ बनाई गईं। पहली समिति के अध्यक्ष बी.के. रॉय बर्मन थे। इस समिति का गठन 1981 में गृह मंत्रालय द्वारा किया गया था (उस समय गृह मंत्रालय ही जनजाति विकास के काम को देख रहा था)। इस समिति ने निर्वनीकरण के विस्तार को समझने के बाद जनजातीय जीवन में वनों के महत्त्व पर बल दिया और इस समझ के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन वन संबंधी कानून का पुनरीक्षण किया। समिति ने इस विषय में निम्नलिखित सिफारिशें कीं :

- वन नीति और वनों की व्यवस्था की पद्धति को इस प्रकार निर्देशित किया जाए कि वह वनों को पुनर्नवीकरण योग्य संसाधन में बदल दे।
- जनजातीय व्यक्ति, स्थानीय जनजातीय समुदाय और राष्ट्रीय हित हमारी वन नीति के तीन सिरे होने चाहिए।
- यह नीति पारिस्थितिक सुरक्षा की आवश्यकताओं, ग्रामीण जनता की आहार, ईंधन, चारे, रेशों और दूसरी घरेलू आवश्यकताओं तथा कुटीर उद्योग, लघु उद्योग, मध्यम एवं भारी उद्योगों की आवश्यकताओं और रक्षा तथा संचार के क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूरा करे।

वनों के संरक्षण और पुनर्प्रजनन में लोगों की भागीदारी का सुझाव दिया और कहा कि अकेले वन विभाग इस संसाधन का पुनर्नवीकरण नहीं कर सकता।

ii) योजना आयोग ने 1980 में **राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग विकास समिति** गठित की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट जून, 1981 में प्रस्तुत की। समिति ने जनजातीय समुदायों और ग्रामीण आबादी को पर्याप्त आहार प्रदान करने में वन-उत्पाद के महत्त्व को स्वीकार किया। इस समिति ने बिचौलियों की शोषणपूर्ण भूमिका को और राज्य की राजस्वोन्मुखता को भी पहचाना, जो स्थानीय लोगों के हितों के विरुद्ध हैं। इसमें यह भी कहा गया कि वन उत्पाद के वाणिज्यीकरण का उद्देश्य जनजातीय और अन्य वनवासी लोगों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाना होना चाहिए। समिति ने यह अनुभव किया कि यदि जनजातीय लोगों में ऐसा निहित स्वार्थ पैदा कर दिया जाए तो वे वनों के संरक्षण में सहायक होंगे। लेकिन समिति ने जनजातीय समुदाय को वन संरक्षण के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया बल्कि उसने केवल कुछ व्यक्ति-विशेषों के साथ संपर्क स्थापित करने का सुझाव दिया। व्यावहारिक अर्थ में तो समुदाय की उपेक्षा कर केवल कुछ व्यक्तियों से संपर्क करने से तो केवल समुदाय का विघटन ही होगा और वह विघटन वन संरक्षण के वास्तविक स्रोत को ही खत्म कर देगा। इसके कारण उनमें जो कमज़ोर वर्ग के लोग हैं, वे वन-उत्पाद से वंचित रह जाएँगे। इसका प्रमुख दृष्टिकोण भी वही था जो राष्ट्रीय कृषि आयोग का था। आयोग के अनुसार, ये

लोग स्वयं ही वनों के विनाशकर्ता हैं। इसलिए उसने यह सिफारिश की कि वन भूभाग और वन-उत्पाद पर जनजातीय समुदायों के अधिकारों को पर्याप्त रूप से सीमित कर दिया जाए।

iii) अंततः, अक्टूबर 1981 में कृषि मंत्रालय ने भारत के **वन क्षेत्रों में अधिकारों और रियायतों के पुनरीक्षण के लिए एक समिति** गठित की। मध्य प्रदेश सरकार के भूतपूर्व मुख्य सचिव श्री एम.एस. चौधरी इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 1984 में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आरंभ में यह कहा गया था कि यद्यपि 1952 की राष्ट्रीय वन नीति में यह सिफारिश की गई थी कि जनजातीय समुदायों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की अपेक्षा राष्ट्रीय हितों को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए, "लेकिन इस नीति को पूरी तरह से कार्यान्वित नहीं किया गया"। समिति ने निर्वनीकरण का विश्लेषण करते हुए औद्योगिक कच्चे माल के लिए बड़े पैमाने पर वनों का सफ़ाया करने का कोई उल्लेख नहीं किया। उसने केवल वनवासी लोगों पर और अधिक प्रतिबंध लगाने का सुझाव दिया। इसमें आगे कहा गया कि वह वनवासियों का दायित्व है कि वे वनों का संरक्षण करें और उनकी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति 4.8 करोड़ हैक्टेयर घटिया सामाजिक वन क्षेत्रों से की जाए। इसके साथ ही, यह भी सिफारिश की गई कि सामाजिक वानिकी के लिए निर्धारित निधियों का कुछ अंश उत्पादन वानिकी में लगा दिया जाए (जो कि औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए हो)।

27.7.2 वन संरक्षण अधिनियम और वन नीति

सन् 1980 में **वन संरक्षण अधिनियम** बनाया गया ताकि वन भूमि को ग़ैर वन संबंधी उपयोग हेतु बदला न जा सके। सन् 1988 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया, जिसके अनुसार भारत सरकार से अनुमति लिए बिना किसी भी वन भूमि को किसी अन्य प्रयोजन के लिए उपयोग करने को संज्ञेय अपराध (cognisable offence) घोषित किया गया। इस प्रकार, यदि कोई वन अधिकारी भी वन भूमि को किसी अन्य प्रयोजन के लिए उपयोग करेगा तो उसे 15 दिन की कारागार की सज़ा हो सकती है। दूसरे, फलों तथा औषधि के लिए काम में आने वाली वनस्पतियों और अन्य वाणिज्यिक वृक्षों को वन-उत्पाद की कोटि से अलग रखा गया। इसका प्रयोजन उद्योग और वाणिज्य को वन संवर्धन कार्यक्रम के नाम पर वन भूभाग में वाणिज्यिक रोपण को रोकना था। लेकिन इतनी सदाशयता से इस कानून को बनाते समय नीति निर्माता वन-सामान्य की संस्कृति से पूरी तरह परिचित नहीं थे। स्थानीय जनता को अपने भरण-पोषण के लिए मुख्य रूप से फलों, चारे, जलाऊ लकड़ी और जड़ी-बूटियों की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार, वन भूमि पर इन किस्मों के रोपण को रोकने से अधिनियम के द्वारा न केवल वाणिज्यिक हितों द्वारा वन उत्पादों के नियंत्रण पर रोक लगी, बल्कि स्थानीय वनवासी समुदायों के लोग भी वन उत्पादों से वंचित हो गए।

दिसंबर 1988 में एक नई वन नीति की घोषणा की गई। इसके दस्तावेज़ के आरंभ में पर्यावरण संबंधी, औद्योगिक और जन-सामान्य की आवश्यकताओं में संतुलन रखने पर बल दिया गया। इसमें यह भी कहा गया कि लोगों और वनों के बीच सहजीवी संबंध रहा है और वनों का संरक्षण लोगों की भागीदारी के बिना संभव नहीं है।

भारत में ईंधन की लकड़ी व चारे का उत्पादन सुनिश्चित करने और रेलमार्गों, उद्योगों व संचार के लिए इमारती लकड़ी की अधिकतम समर्थित उपज प्राप्त करने के लिए अनेक योजनाएँ चलाई गईं। वन जिनका विश्वयुद्धों के दौरान अति दोहन किया गया था, फिर से बसाए गए। द्वितीय व तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में लुगदीवाली लकड़ी के लिए वाणिज्यिक संयंत्र लगाए गए। अभयारण्यों व राष्ट्रीय पार्कों की संख्या अगले दो दशकों तक बढ़ा दी गई।

1988 की भारतीय राष्ट्रीय वन नीति ने परिरक्षण अभिविन्यास और वानिकी को एक मानवीय रूप प्रदान किया। इस नीति ने पारिस्थितिक संतुलन और पर्यावरणीय स्थिरता कायम रखने में वनों की रक्षात्मक भूमिका पर ज़ोर दिया। राष्ट्रीय वन नीति को नियंत्रित करने वाले मूल उद्देश्य इस प्रकार सूचीबद्ध किए गए :

- संरक्षण और, जहाँ आवश्यक हो, उस पारिस्थितिक संतुलन को फिर कायम करके पर्यावरणीय स्थिरता कायम रखना जो देश के वनों के गंभीर नि:शेषीकरण द्वारा प्रतिकूलत: प्रभावित हुए हैं।
- प्राणि व वनस्पति जगत् की विशाल विविधता वाले शेष बचे प्राकृतिक वनों की रक्षा करके देश की प्राकृतिक विरासत का परिरक्षण, ये दोनों जगत् ही देश की उल्लेखनीय जैव विविधता और जननिक संसाधनों का प्रतिनिधित्व करते हैं।
- मृदा व जल परिरक्षण के हित में नदियों, झीलों व जलाशयों के स्रवण क्षेत्रों में मृदा अपरदन व नग्नीकरण पर नियंत्रण रखना।
- राजस्थान के रेगिस्तानी क्षेत्र में व तटीय इलाकों के साथ-साथ रेत के टीलों के विस्तार पर नियंत्रण रखना।
- व्यापक वनीकरण व सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों, खासकर सभी नग्नीकृत, अपघर्षित व अनुत्पादन ज़मीनों पर, के माध्यम से देश में वन/वृक्ष आवरण को वास्तविक रूप में बढ़ाना।
- ग्रामीण व जनजातीय जनजातीय लोगों की ईंधन की लकड़ी, छोटे-छोटे वन उत्पाद व छोटी इमारती लकड़ी हेतु आवश्यकताएँ पूरी करना।
- अनिवार्य राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वनों की उत्पादकता को बढ़ाना।
- वन उपज के फलोत्पादक उपयोगिता को बढ़ावा देना और लकड़ी के विकल्पों को बढ़ाना।
- इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए महिलाओं की भागीदारी के साथ एक व्यापक जन-आंदोलन का निर्माण करना और विद्यमान वनों पर दबाव कम करना।

(बाला जी, 2001 : 3-4)

तथापि, प्रस्तुत दस्तावेज़ में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिन्हें हम राष्ट्रीय आवश्यकताएँ कहते हैं उन्हें लोगों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं से अधिक मान्यता दी जानी चाहिए। पिछले कई दशकों की परंपरा में राष्ट्रीय आवश्यकताओं और औद्योगिक आवश्यकताओं में कोई अंतर नहीं रहा है। इस प्रकार, एक ओर तो यह कहा गया है कि प्रत्येक निर्णय पर्यावरण के परिरक्षण को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए और दूसरी और इसमें लोगों की आवश्यकताओं से राष्ट्रीय आवश्यकताओं को प्राथमिकता दी गई है। इस प्रकार, इसमें जनता की आवश्यकताओं को सबसे कम महत्त्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त, उक्त दस्तावेज़ वनों पर लोगों की वास्तविक भागीदारी के बजाय सरकारी नियंत्रण के पक्ष में है। उदाहरण के तौर पर, राष्ट्रीय कृषि आयोग, 1976 की सिफारिशों के अनुसार लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य द्वारा संचालित भंडार (डिपो) स्थापित किये जाएँ। इस प्रकार इस दस्तावेज़ में सभी वर्गों की आवश्यकताओं को समान स्तर पर रखने का प्रयास हुआ है और वस्तुत: इससे पूर्ववर्ती दस्तावेज़ों की अपेक्षा इसमें लोगों की आवश्यकताओं को पहले से बहुत निचले स्तर पर रखा गया है।

27.7.3 वृक्षारोपण के विभिन्न प्रकार और जन-सामान्य की सहभागिता

कानूनी समाधानों के अतिरिक्त वनों से सम्बद्ध समस्याओं का एक और समाधान वृक्षारोपण के रूप में है। राष्ट्रीय कृषि आयोग, 1976 की सिफारिशों के आधार पर वन विभाग विभिन्न

प्रकार के वनरोपण कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करता रहा है। इसमें भी विशेष ध्यान उत्पादन वानिकी पर रहा है जिसके द्वारा औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। सामाजिक वानिकी, मृदा संरक्षण, वायु संरक्षण आदि के लिए भी उपयोगी है। इनमें से कुछ विषयों पर नीचे चर्चा की जा रही है।

i) सामाजिक वानिकी

सामाजिक वानिकी का संबंध लोगों की आवश्यकताओं से है। सामाजिक वानिकी को अधिक व्यवहारमूलक समस्या सुलझाने के साथ लोगों के विभिन्न समुदायों में विघटन की समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करना चाहिए। हमारे पास जो भी जानकारी उपलब्ध है उससे पता चलता है कि आज सामाजिक वानिकी ही वस्तुत: वाणिज्यिक और उत्पादन वानिकी बन गई है। वैसे भी, कुल क्षेत्र के दो-तिहाई से अधिक क्षेत्र में उत्पादन वानिकी के अंतर्गत रोपण कार्य होता है। बाकी क्षेत्र में आर्थिक रोपण, शीघ्र बढ़ने वाली किस्मों के रोपण, उजड़े वनों के अनुसार और सामाजिक वानिकी की जाती है। इन वनरोपणों को मुख्य उद्देश्य लोगों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके शेष बचे क्षेत्र के 80 प्रतिशत क्षेत्र पर वाणिज्यिक किस्में रोपित की गई हैं। नई दिल्ली में, मई 1983 में इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित सेमिनार में बोलते हुए तत्कालीन वनमहानिरीक्षक, भारत सरकार ने इस बात को स्वीकार किया। इन योजनाओं के तहत लगाई गई किस्मों में से 80 प्रतिशत वाणिज्यिक किस्में थीं और ये 80 प्रतिशत किस्में 20 प्रतिशत बड़े कृषकों को वितरित कर दी गईं (रॉय 1983)। दूसरे शब्दों में, न तो लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हुई और न ही असमानता में किसी प्रकार की कमी हुई।

यहाँ आपको यह जानकारी उपयुक्त लगेगी कि सामाजिक वानिकी का एक प्रकार है खेतों में वन लगाना। गुजरात में कृषि भूमि पर फार्म वानिकी के संदर्भ में किए गए अध्ययन के निष्कर्ष में जैन (1988 : 4) ने बताया कि

> यह बात स्पष्ट है कि सामान्यत: भारत में और विशेष रूप से गुजरात में ग्रामीण विकास में पूँजीवादी कृषि की प्रवृत्ति प्रमुख है। इस तथ्य से बचा नहीं जा सकता कि वन में वृक्षों की खेती अनिवार्य रूप से लाभ की दृष्टि से की जाती है। स्पष्टतया "पोलवुड" की खपत औद्योगिक और/ अथवा वाणिज्यिक उद्यमों से जुड़ी है। यही कारण है कि बड़े कृषक जिनके पास काफ़ी पूँजी हो और जिनकी इमारती लकड़ी के बाज़ार में अच्छी पहुँच हो वह फार्म वानिकी को अपने खेत में सफलतापूर्वक अपना सकते हैं। दूसरी ओर, पूँजीगत संसाधनों और बाज़ार के बारे में आवश्यक जानकारी के अभाव में छोटे किसानों को वन में वृक्षों को उगाने और उनको बेचने में समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

इस परिप्रेक्ष्य में फार्म वानिकी के ग़ैर-नकदी लाभ और पारिस्थितिक लाभ किसानों के लिए गौण हो जाते हैं। दूसरी ओर, वृक्षारोपण के वाणिज्यिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को एक बहाना मिल जाता है।

ii) सामाजिक वानिकी में जन-सामान्य की भागीदारी

सामाजिक वानिकी और इसके घटकों की योजना में गत कई वर्षों के दौरान वन विभाग या अन्य सरकारी एजेंसियों द्वारा लिए गए सभी निर्णयों में लोगों की भागीदारी बहुत सीमित रही है। प्राय: स्थानीय वनवासियों को दिहाड़ी मज़दूरों की तरह इस्तेमाल किया जाता है। उनका निर्णय की प्रक्रिया में कोई योगदान नहीं होता। इसके अलावा, अधिकांश मामलों में वन-उत्पाद का लाभ भी नहीं पाते। यह बात इस कथन के विरुद्ध है इन कार्यक्रमों को जन-आंदोलन में बदल देना चाहिए। वस्तुत: इसी कथन के आधार पर 1 जून 1990 को भारत सरकार के वन और पर्यावरण मंत्रालय के सचिव ने सभी राज्यों के वन विभागों को एक परिपत्र भेजा था। उस परिपत्र में उनसे कहा गया था कि वे इस बात का ध्यान रखें कि वनरोपण और

पुनर्वनीकरण के संबंध में निर्णय लेने की प्रक्रिया में स्थानीय लोगों को भी शामिल किया जाए। उसमें यह भी कहा गया था कि लोगों को वन ज़मीन पट्टे पर या किसी दूसरे तरीके से न दी जाए, लेकिन पूरी योजना वन विभाग और लोगों के बीच साझेदारी पर आधारित हो। इसमें कहा गया कि लोगों को किस्मों के चयन, कार्य व्यवस्था को सम्पन्न कराने और इनसे मिलने वाले लाभों के संबंध में निर्णय लेने में सम्मिलित किया जाए। इसके आधार पर बिहार, उड़ीसा और राजस्थान की सरकारों ने वनरोपण योजनाओं के संबंध में नए नियम बनाए हैं। कुछ अन्य राज्य भी इसी प्रकार के नियम बना रहे हैं। शिक्षा संस्थाओं के लिए भी ज़रूरी है कि वे वृक्षों की देखभाल तथा वृक्षारोपण को बढ़ावा दें। आगे दिए चित्र में जो छोटी-छोटी बातें दी गई हैं उन्हें सीखना कठिन नहीं है।

शायद आप सोचें कि वन विभाग की ओर से साझेदारी की भावना का होना अति आवश्यक है। ऐसी योजना में वन विभाग और स्थानीय लोगों के बीच साझेदारी आवश्यक है, परंतु विभाग के अधिकारियों तथा जन-सामान्य के बीच निकट सहयोग का अभाव रहा है। वन अधिकारी/कर्मचारी अपने अधिकारों में किसी तरह की कमी को सहन करना नहीं चाहते और उनकी दृष्टि में जनता तो वनों की दुश्मन है। इसके विपरीत, वनवासियों को वन अधिकारियों पर विश्वास नहीं है और वे उन्हें शोषणकर्ता समझते है। इसके अलावा, जैसा कि हमने ऊपर बताया है, लोगों में वनों पर सकारात्मक निर्भरता धीरे-धीरे नकारात्मक निर्भरता में बदल चुकी है। इसने लोगों और वन अधिकारियों के बीच तनाव की स्थिति को और भी बढ़ाया है।

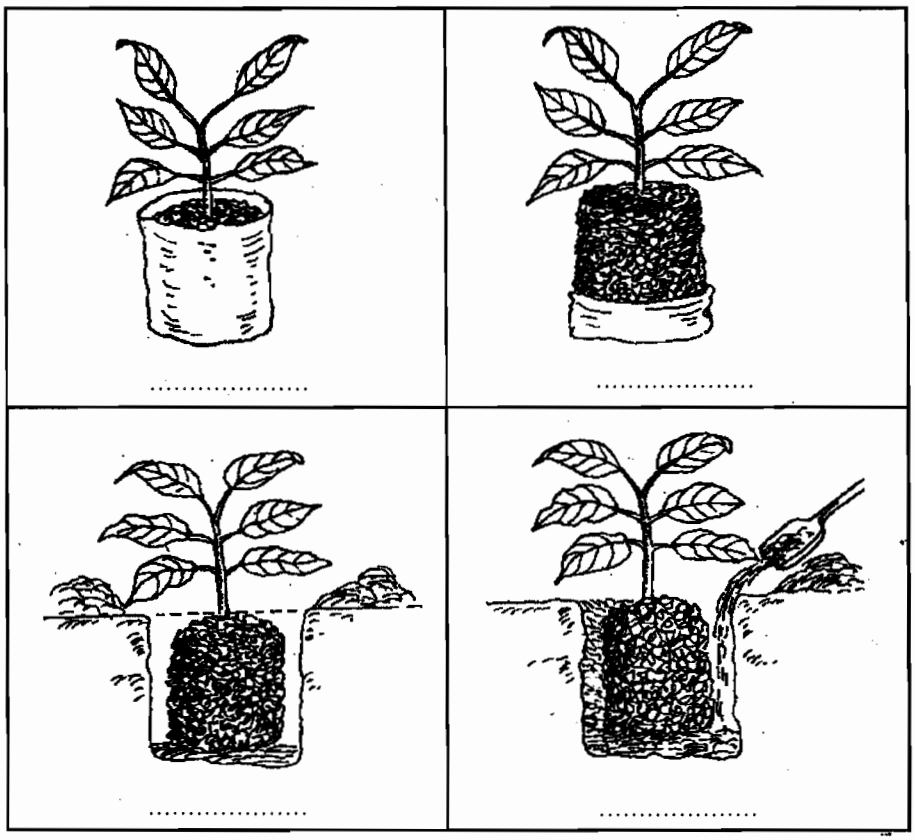

वन वृक्षों को लगाने के विभिन्न चरण

ii) स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका

हमें ऐसी मनोवृत्ति को बदलकर वनों के प्रति रचनात्मक मनोवृत्ति को फिर से पैदा करना होगा। इसके लिए वनरोपण योजनाओं में लोगों की भागीदारी को सुनिश्चित करना होगा। इस समय वन विभाग की अधिकांश योजनाएँ वाणिज्यिक प्रकार की हैं। लोगों को न तो इनसे खाद्य सामग्री मिलती है और न ही कोई आय ही होती है। इस कार्य में स्वैच्छिक संगठन उत्प्रेरक के रूप में

काम कर सकते हैं। ऐसा करके वे लोगों में वनों के पुनरुत्पादन के प्रति निहित स्वार्थ पैदा करने में सहायक हो सकते हैं और वन विभाग उन्हें आवश्यक तकनीकी समर्थन प्रदान कर सकता है। जहाँ तक पेड़ों की सही किस्मों को लगाने का प्रश्न है, ये संगठन लोगों की वास्तविक ज़रूरतों से अपने आपको जोड़ सकते हैं। यह बात उड़ीसा के कोरापुट जिले की "बनभारती" में, गुजरात में रंगपुरा के हरिवल्लभ पारिख के आश्रम में, उत्तर प्रदेश के उत्तराखंड क्षेत्र के कई वर्गों में तथा अन्यत्र भी संगठनों की सफल योजनाओं में देखने को मिली है। ये संगठन ऐसी योजनाएँ चलाने का प्रयास कर रहे हैं जिनमें संपूर्ण पर्यावरणी पुनरुत्पादन के साथ लोगों की भागीदारी सम्मिलित हो। ऐसी योजनाओं को मुख्य रूप से कर्नाटक और महाराष्ट्र मे चलाने का प्रयास किया जा रहा है। इनमें से अधिकांश योजनाएँ सरकारी विभागों की तकनीकी सहायता से स्वैच्छिक संगठनों और लोगों द्वारा गठित समितियों द्वारा संचालित की जा रही हैं। राजस्थान में कई संगठन कुछ क्षेत्रों को सूखे के प्रभाव से मुक्त रखने के लिए पर्यावरण संबंधी पुन:प्रजनन की योजनाएँ चलाने का प्रयास कर रहे हैं।

iii) महिलाओं की सहभागिता

इन योजनाओं की एक आवश्यक बात इनमें महिलाओं का शामिल होना है। यह अनुभव चिपको तथा अन्यत्र ऐसे संगठनों द्वारा चलाई गई योजनाओं में दिखाई दिया (देखिए जैन 1984)। परंतु, इन लोगों के और स्वैच्छिक संगठनों के कार्यक्रम में सबसे बड़ी कमी यह पाई जाती है कि वे आसानी से महिलाओं की भूमिका को समाज के अनिवार्य अंग के रूप में नहीं समझ पाते। प्राय: समाज में सभी निर्णय केवल पुरुषों के द्वारा लिए जाते हैं या कभी-कभी स्वैच्छिक अभिकरणों द्वारा अपने निर्णय लोगों पर लाद दिए जाते हैं। फिर भी, पुरुषों के बजाय महिलाएँ शताब्दियों से पर्यावरण के परिरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान देती रही है और पर्यावरण के खराब होने का प्रभाव भी पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं पर अधिक पड़ता है। इसलिए जिस समुदाय का विनाश हो चुका है उस समुदाय के पुनर्निर्माण के लिए और वास्तविक दीर्घकालीन पर्यावरणी संतुलन को कायम करने के लिए महिलाओं की भागीदारी अनिवार्य है।

सोचिए और करिए 4

अपने क्षेत्र में वृक्षावरण की स्थिति का पता लगाइए और इसको सुधारने के लिए संभव उपायों के बारे में जानकारी दीजिए जिनमें आपकी भागीदारी हो सकती है।

संक्षेप में, हमारा यह निष्कर्ष है कि पर्यावरण के सुधार के किसी भी कार्यक्रम में लोगों की ज़रूरतों, औद्योगिक अपेक्षाओं और पारिस्थितिक संतुलन को ध्यान में रखना होगा। यह कार्य व्यक्तिगत रूप में नहीं, सामुदायिक रूप में करना होगा और टूटे हुए समुदायों को फिर से जोड़ना होगा। इस प्रक्रिया में हमें कमज़ोर वर्गों पर विशेष ध्यान देना होगा। यह बात ऐसे समुदायों के संबंध में है जिन्हें सबसे अधिक कष्ट उठाना पड़ा है। यहाँ उदाहरण के तौर पर जनजातियों और अन्य वनवासियों को लिया जा सकता है। उनमें भी महिलाओं की भूमिका को विशेष महत्त्व देना होगा।

बोध प्रश्न 3

1) वनों के संबंध में हाल ही के कानूनी उपायों का वर्णन लगभग सात पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) 1980 के दशक में तैयार किए गए वन विधेयक की कौन-सी बात महत्त्वपूर्ण थी? चार पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

27.8 सारांश

इस इकाई में पहले हमने भारत में वनों की वर्तमान स्थिति की चर्चा की। इसके बाद हमने मोटे रूप से पिछले 150 वर्षों की वन नीतियों और विशेष रूप से चालीस वर्षों के योजनाबद्ध विकास के संदर्भ में भारत में वृक्षावरण में होने वाली कमी के बारे में विचार किया। ब्रिटिश शासकों के आगमन से पूर्व के वनों के इतिहास को देखने पर हमने पाया कि कुछ दशकों पूर्व तक लोगों और वनों के बीच सहजीवी संबंध था। इसी पारस्परिक निर्भरता के कारण वनवासी लोगों ने ऐसी संस्कृति और परंपरा विकसित कर ली थी जो मानवीय और पर्यावरण संबंधी आवश्यकताओं के बीच संतुलन बनाए रखती थी।

ब्रिटिश शासकों ने जब वनों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया तो आपसी निर्भरता समाप्त हो गई और उन्होंने वनों को उन समुदायों के सहयोग के बिना वनों की रक्षा करना संभव नहीं है। इसलिए ऐसा समाधान ढूँढने को प्रयास किया जा रहा है जिसमें स्थानीय लोग प्रमुख हिस्सेदार हों। लेकिन कई परस्पर विरोधी हितों के बीच टकराव के कारण वनों के लिए जो नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं वे स्थानीय लोगों की विरोधी होती हैं। इसलिए, यह आवश्यक है कि हम ऐसे नए समाधानों की खोज करें जो विभिन्न हितों को एक साथ पूरा कर सकें।

27.9 शब्दावली

उत्पादन वानिकी (Production Forcstry) : ऐसी वानिकी जिसमें उद्योग और वाणिज्य के लिए ज़रूरी इमारती लकड़ी की किस्मों का उत्पादन हो।

झूम खेती (Shifting Cultivation) : यह एक प्रकार की ढलान पर की जाने वाली खेती है। इसमें किसी भाग पर उगे हुए पेड़ों (अधिकांशत: केवल शाखाएँ) को खाद के लिए जला दिया जाता है। इस ज़मीन पर दो-तीन साल खेती की जाती है। इसके बाद इसे 18-20 साल के परती छोड़ दिया जाता है ताकि वहाँ फिर से वन उग सकें। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में झूम खेती कहते हैं। दक्षिणी उड़ीसा और ज़्यादातर दक्षिण भारत में उसे पोडू

कहते हैं। भारत की जनजातियों के लगभग 25 प्रतिशत लोग ऐसी खेती करते हैं।

नकारात्मक निर्भरता (Destructive Dependence) : किसी संसाधन पर ऐसी निर्भरता जो किसी संसाधन की कमी से या लाभ के उद्देश्य से हुई हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपभोक्ता संसाधन को नष्ट करता है (जैसे वन का उपयोग जलाऊ लकड़ी या औद्योगिक कच्चे माल के लिए किया जाता है)। ऐसा करते समय उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता कि वह संसाधन दुबारा फल-फूल सके।

निर्वृक्षीकरण (Clearfeling) : एक बार में पूरे के पूरे भूखण्ड पर उगे वृक्षों अथवा बाँस के लट्ठों को काट गिराना।

पर्यावरण (Environment) : वन, वन्य जीवन, वायु, जल, भूमि आदि वातावरण के ऐसे तत्त्व जिन पर मानव निर्भर है।

पारितंत्र या पारिस्थितिक तंत्र (Ecosystem) : फसली भूमियों, वन-भूमियों, चरागाहों और परती भूमियों का एक ऐसा समेकित तंत्र जिसमें भूमि के उपयोग का हर घटक आपस में एक-दूसरे के साथ इस प्रकार अन्योन्यक्रिया करे कि जब किसी एक घटक पर कोई विपरीत प्रभाव पड़े तो इसका प्रभाव अन्य सभी घटकों पर भी पड़े।

पुनर्वनरोपण (Reforestation) : ऐसे क्षेत्र में वनरोपण करना (या वन लगाना) जहाँ पहले कभी वन थे, लेकिन अब वे समाप्त हो गए हैं।

वनरोपण (Afforestation) : ऐसे क्षेत्र में वृक्षारोपण करके वन तैयार करना जहाँ पहले वन नहीं था।

सकारात्मक निर्भरता (Constructive Dependence) : किसी संसाधन पर खेती निर्भरता जिसके कारण उस संसाधन के उपभोक्ता ऐसा संतुलन बनाए रखें और यह ध्यान रखें कि एक ओर जहाँ मनुष्यों की आवश्यकताएँ पूरी हों, वहीं दूसरी ओर वन का विनाश भी न हो।

सहजीवी (Symbiotic) : दो असमान या विषम प्रकार के जीवों में अत्यधिक निकटता और आपसी निर्भरता का संबंध जैसे कि माँ और उसके गर्भस्थ शिशु का।

27.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सन् 1854 के दौरान, भारत का (इसमें आज का पाकिस्तान और बांग्लादेश भी शामिल है) वृक्षारोपण इसके कुल भूभाग का 40 प्रतिशत था।

2) सहजीवी संबंध का मतलब दो असमान जीवों का निकट साहचर्य में साथ-साथ रहना।

3) सरना : छोटानागपुर के जनजातीय गाँवों में किसी पवित्र बिंदु या स्थल को कहते हैं। जनजाति के युवा लोगों को इस पवित्र स्थल पर वयस्कता में प्रवेश के प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता था।

4) सासन : छोटानागपुर के जनजातीय लोगों के कब्रिस्तान या दफनाने के स्थान को कहते हैं। सासन का उपयोग पूर्वज का दफनाने के लिए किया जाता है। इसलिए किसी विशिष्ट क्षेत्र में जनजाति की निरंतरता के चिह्न के रूप में इसका प्रयोग होता है।

बोध प्रश्न 2

1) ब्रिटिश वन नीति का एक प्रमुख उपाय वनों के संबंध में सरकारी स्वामित्व को लागू करना था। दूसरा उपाय वन संसाधनों के "वैज्ञानिक प्रबंध" को लागू करना था। तीसरा उपाय वनों में लोगों के अधिकार की संकल्पना था। उन उपायों को लागू करने का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश सरकार को राजस्व के स्रोत के रूप में दूसरे देशों में होने वाले औपनिवेशिक युद्धों में प्रयोग हेतु जहाज निर्माण के लिए और बाद में रेलवे की स्लीपर उपलब्ध कराने के लिए इमारती लकड़ी उपलब्ध कराना था।

2) भारत की स्वतंत्रता के बाद वन नीति ने औद्योगीकरण के लिए वनों के उपयोग को बढ़ावा देने की नीति को जारी रखा। साथ ही इसमें वन उत्पादों के जनसामान्य द्वारा प्रयोग को कम महत्त्व दिया गया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जो लोग पहले अपनी आवश्यकताओं के लिए वन-उत्पादों पर निर्भर थे, वे ग़रीब हो गए। इसके परिणामस्वरूप वे साहूकारों के चंगुल में फँसकर कभी न समाप्त होने वाले ऋणों के दुष्चक्र में पड़ गए।

बोध प्रश्न 3

1) वनों के संबंध में हाल ही में किए गए कानूनी उपाय निम्नलिखित हैं :

   क) किसी भी वन भूमि को ग़ैर-वन उपयोग के लिए परिवर्तित करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

   ख) भारत सरकार की अनुमति के बिना किसी भी वन भूमि को किसी और प्रयोजन के लिए उपयोग करने को संज्ञेय अपराध घोषित कर दिया गया।

   ग) वनरोपण कार्यक्रम जन-आंदोलन बन जाना चाहिए।

   घ) लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामाजिक वानिकी को लागू किया जाएगा।

2) सन् 1980 में बनाए गए नए वन विधेयक ने वन उत्पादों को फिर से परिभाषित करके कई अन्य चीजों को वन उत्पादों की सूची में शामिल करके वनों के संरक्षण की कोशिश की। इस विधेयक ने वन अधिकारियों को वन अधिनियम का उल्लंघन करने वाले वास्तविक या संदिग्ध अपराधियों को पकड़ने और सज़ा देने के अतिरिक्त अधिकार दे दिए। इसमें इन अपराधों के लिए सजा में वृद्धि भी की गई।

इकाई 28 राज्य तथा अन्य संस्थाओं की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 संस्था के रूप में राज्य

28.3 राज्य की भूमिका

28.4 ग़ैर-राज्यीय संस्थाएँ

28.4.1 स्वैच्छिक संगठनों के अभिलक्षण

28.4.2 स्वैच्छिक संगठनों और ग़ैर-सरकारी संगठनों में अंतर

28.5 स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका

28.5.1 स्वैच्छिक संगठन और पारिस्थितिकी

28.5.2 अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका

28.6 स्वैच्छिक संगठनों के सामने आने वाली समस्याएँ

28.7 स्वैच्छिक प्रयासों को बढ़ावा देने के लिए सुझाव

28.8 सारांश

28.9 शब्दावली

28.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए संभव होगा :

- संस्था के रूप में राज्य की संकल्पना के बारे में विचार करना;
- राज्य की भूमिका का वर्णन करना;
- राज्य और ग़ैर-राज्य संगतियों तथा स्वैच्छिक संगठनों और ग़ैर-सरकारी संगठनों के बीच अंतर करना;
- विकास में स्वैच्छिक संगठनों की भूमि की चर्चा करना;
- स्वैच्छिक संगठनों के सामने आने वाली समस्याओं को पहचानना; और
- स्वैच्छिक प्रयासों को बढ़ावा देने के तरीकों के बारे में सुझाव देना।

28.1 प्रस्तावना

इस खंड की पहली तीन इकाइयों में हमने भूमि, जल और वन संसाधनों के बारे में बात की थी और उन संसाधनों तक लोगों की पहुँच, उनके नियंत्रण और प्रबंध के बारे में चर्चा की थी। इन तीनों इकाइयों में हमने इन संसाधनों के नियंत्रण और प्रबंध में राज्य और अन्य संस्थाओं (associations) की भूमिका की समीक्षा की थी। इस इकाई में हमने राज्य और अन्य संगतियों

की भूमिका के बारे में और अधिक विस्तार से विचार किया है ताकि पारिस्थितिक असंतुलन से संबंधित समस्याओं के समाधान के लिए उपलब्ध विकल्पों से हमारा परिचय हो सके। (पारिस्थितिकी और पारिस्थितिक असंतुलन की संकल्पना के बारे में जानकारी के लिए आप ई.एस.ओ.-02 के खंड 8 की इकाई 37 पढ़िए।) इस परिप्रेक्ष्य में भारत की सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए हमारे अंदर सजगता पैदा होगी। इकाई 28 इस पाठ्यक्रम (ई.एस.ओ.-16) और खंड 7 (पारिस्थितिकी और संसाधन) दोनों की अंतिम इकाई है इसलिए इसमें सामान्य रूप से पाठ्यक्रम और विशेष रूप से खंड से संबंधित मुद्दों पर चर्चा की गई है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस इकाई में सामान्यत: सामाजिक समस्याओं के बारे में और विशेष रूप से पारिस्थितिक समस्याओं के बारे में विचार किया गया है। पारिस्थितिक और सामाजिक-आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं से मिलकर ही संस्थाओं की अधिकांश गतिविधियों का संदर्भ सामने आता है। राज्य और अन्य संगतियों की इन प्रक्रियाओं में भागीदारी से व्यक्ति और व्यापक समाज के बीच एकता के सूत्र बनते हैं। यह सब कैसे होता है, इसको समझना बड़ा दिलचस्प है। प्रस्तुत इकाई 28 में इस प्रक्रिया को समझाया गया है।

इस इकाई की शुरुआत संक्षिप्त चर्चा से होती है जिसमें राज्य को संस्था के रूप में देखा गया है और इस संदर्भ में राज्य की भूमिका पर विचार किया गया है। इसके बाद हमने अन्य संस्थाओं की अवधारणा की व्याख्या की है। ये संस्थाएँ भी विकास की प्रक्रिया में समान रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा करती हैं। इसके पश्चात् स्वैच्छिक संगठनों के सामने आने वाली समस्याओं को पहचानने का प्रयास किया गया है तथा स्वैच्छिक प्रयासों को बढ़ावा देने के लिए सुझाव दिए गए हैं।

28.2 संस्था के रूप में राज्य

राज्य की भूमिका के बारे में चर्चा करने से पहले यह उचित होगा कि हम यह जान लें कि राज्य से क्या अभिप्राय है? इसकी प्रारंभिक परिभाषा यह हो सकती है कि यह एक संस्था (association) है। अब यह प्रश्न उठता है कि संस्था किसे कहते हैं? इसका उत्तर होगा संस्था का मतलब व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो किसी सामान्य ध्येय के लिए सहयोग करते और संगठित होते हैं। इस दृष्टि से परिवार या राजनैतिक दल या व्यापारिक फर्म की तरह राज्य एक संस्था या संघ है। इस संस्था के सदस्यों के वर्ग खास तरीके से किन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों के लिए संगठित होते हैं। दूसरा प्रश्न उठता है कि राज्य एक संस्था या संघ के रूप में किसी संस्थान् (institution) या समाज (society) अथवा समुदाय (community) से किस प्रकार भिन्न है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए देखिए कोष्ठक 28.01।

कोष्ठक 28.01

राज्य समाज के भीतर अवस्थित होता है। परन्तु राज्य कोई समाज का रूप नहीं है। राज्य व्यवस्था और नियंत्रण की एक प्रणाली है तथा इसके कार्यव्यापार में आता है – मानवीय क्षमताओं व आर्थिक संसाधनों का परिरक्षण और विकास। समाज, दूसरी ओर, एक युक्तिपरक संकल्पना है जहाँ तक कि उसको सामाजिक संबंधों की एक शृंखला के रूप में देखा जाता है। यह कोई ठोस संकल्पना नहीं है और न ही वह किसी ठोस वास्तविकता की ओर इशारा करती है, वह तो सामाजिक संबंधों की ओर संकेत करती है।

संस्था और संस्थान् में भेद स्पष्ट करने के लिए यहाँ यह कहना यथेष्ट होगा कि संस्था ऐसे लोगों के एक समूह की ओर संकेत करती है जो किसी सामान्य लक्ष्य के लिए इच्छा-ऐक्य में संघबद्ध और संगठित होते हैं। संस्थान् शब्द लोगों का संकेत नहीं करता। वह तो उस रूप का संकेत करता है जिससे वे व्यक्ति तथा उनकी गतिविधियाँ जुड़ी होती हैं।

अन्ततः, चलिए संस्था और समुदाय के बीच भेद पर नज़र डालते हैं। व्यक्ति किसी संस्था में रहकर अपने जीवन का केवल एक हिस्सा मात्र गुज़ारता है। परन्तु व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन उसके समुदाय में ही गुज़रता है। राज्य का संगठन बिल्कुल भी सामाजिक संगठन नहीं हैं, हम कह सकते हैं कि राज्य एक आंशिक संगठन है और इस अर्थ में वह एक संस्था है। समुदाय, देश, शहर ग्राम, राष्ट्र जनजाति के रूप में एकीकृत संगठन होते हैं।

राज्य और दूसरी संस्थाओं के बीच केवल एक ही बात समान है कि दोनों में सदस्यों के वर्ग होते हैं जो किसी समान ध्येय के लिए संगठित होते हैं। अपने विशिष्ट अभिलक्षणों के कारण राज्य दूसरी संस्थाओं से भिन्न हैं। यह एक अपने ही ढंग की संस्था है। अन्य संस्थाओं या ग़ैर-राज्य संस्थाओं में राज्य के समान विशिष्ट अभिलक्षण नहीं पाए जाते हैं। राज्य के विशिष्ट अभिलक्षण उसे अपने ढंग की एक विशिष्ट संस्था बना देते हैं जो अपने आप में ही एक प्रकार (type) की संस्था है। अन्य अथवा ग़ैर-राज्यीय संघ राज्य के साथ उन विशेष अभिलक्षणों में भागीदारी नहीं निभाते जो उसे एक स्वयं एक श्रेणी बना लेते हैं।

राज्य के ये अभिलक्षण नीचे दिए गए हैं :

i) इसकी एक विशेषता यह है कि वे सभी लोग जो राज्य के अधिकारक्षेत्र में रहते हैं, इसके नियंत्रण में होते हैं चाहे लोग स्वेच्छा से इसके सदस्य हों या नहीं, राज्य का उन पर नियंत्रण होता है। अपने इस अधिकारक्षेत्र में राज्य सामाजिक कानून एवं व्यवस्था बनाए रखता है।

ii) राज्य का दूसरा अभिलक्षण इसकी प्रभुसत्ता (sovereignty) है जो जुड़ने के लिए सबकी समान मान्यता दर्शाती है। प्रभुसत्ता का आयाम राज्य को बल-प्रयोग का निर्णयात्मक अधिकार देता है।

iii) राज्य के पास राजनैतिक कानून का बल प्रयोगकारी ढाँचा होता है, इसीलिए, राज्य में स्थायित्व एवं चिरंतनता के गुण पाए जाते हैं।

ये विशेषताएँ केवल राज्य पर लागू होती हैं, दूसरी संस्थाओं पर नहीं। अब चूँकि राज्य एक अपने ही ढंग की संस्था है इसलिए सामाजिक समस्याओं के संबंध में इसकी भूमिका दूसरी संस्थाओं के समान नहीं है। इस अंतर के कारण ही हमने इस इकाई में पहले राज्य की भूमिका पर विचार किया, उसके बाद अन्य संस्थाओं की भूमिकाओं का उल्लेख किया है। लेकिन इस बात का ध्यान रहे कि आधुनिक राज्य और अन्य ग़ैर-राज्य संस्थाओं दोनों समाज के विनियमन और प्रबंध में समान रूप से महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) क्या राज्य दूसरी संस्थाओं के समान नहीं है?

.....

.....

.....

.....

2) राज्य और समाज में अंतर कीजिए।

.....

.....

.....

.....

28.3 राज्य की भूमिका

मोटे तौर पर, राज्य सामाजिक मानकों की रक्षा करता है और शोषण तथा अन्याय को रोकता है। यह सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिए कार्य करता है और अपने सदस्यों की आम खुशहाली को बढ़ाने का प्रयास करता है। राज्य की कोई नियत भूमिका नहीं होती, बल्कि यह परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। लेनिन जैसे मार्क्सवादियों का कहना था कि राज्य केवल निजी सम्पत्ति के मालिकों का प्रतिनिधित्व करता है और इसके द्वारा वह समाज के प्रभावशाली वर्गों के हितों को प्रोत्साहित करने का साधन बन जाता है। आप चाहे इस बात से सहमत हों या न हों, लेकिन आपको मार्क्सवादियों की यह बात तो सही लगेगी कि आधुनिक समाजों में राज्य की व्यापक भूमिका है। आप शायद यह बात भी कहें कि यदि राज्य की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण है तो इसका मतलब यह हुआ कि अन्य संस्थाओं को संभवत: इस क्षेत्र में आने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। क्या ऐसा है कि राज्य अपनी भूमिका को पूरा करने में समर्थ नहीं है, इसलिए अन्य संस्थाएँ इस दायित्व के निर्वाह के लिए आ पहुँचती हैं?

भांबरी (1987 : 396) जैसे विद्वानों का मत है कि विकसित देशों में ग़ैर-राज्य संगतियों का अस्तित्व यह दर्शाता है कि आधुनिक राज्य-प्रणाली को आज अस्वीकार किया जा रहा है क्योंकि वह कालांतर में दमनात्मक और अमानवीय हो गई है। विकासशील देशों में राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पिछड़ेपन के बोझ को हटाने में सक्रिय भूमिका अदा करेगा। ऐसा समझा जाता है कि केवल राज्य ही इस भूमिका का निर्वाह कर सकता है भांबरी (1987 : 397) के अनुसार भारत की योजना-निर्माण प्रक्रिया ने देश की कुंद अर्थव्यवस्था के मूल तत्त्वों पर कुठाराघात कर दिया है। भारत ने अपने असमर्थ और वंचित वर्ग को एक "सामाजिक स्थान" दिलाया है। भांबरी (1987 : 397) का यह भी मत है कि समाज के ग़रीब से ग़रीब वर्ग के लोगों को जो भी थोड़ी-बहुत सफलताएँ मिली हैं उनमें राज्य की भूमिका स्पष्ट दिखाई देती है। भांबरी की दृष्टि में भारत के विकास में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका बहुत ही गौण है। भारत के विकास की समस्याओं में सरकार के कम हस्तक्षेप की जगह अधिकाधिक हस्तक्षेप की अपेक्षा है। हमने इकाई 25, 26 और 27 में भूमि, जल और वन संबंधी सरकारी नीतियों के बारे में विस्तार से चर्चा की और समय-समय पर इन संसाधनों के नियंत्रण तथा प्रबंध से संबंधित मामलों के बारे में सरकार द्वारा किए गए वैधानिक उपायों पर विचार किया था। जहाँ तक भारत का संबंध है, स्पष्टत: राज्य की भूमिका वही है जो भांबरी ने बताई है। लेकिन भारत के विकास में अन्य संस्थाओं की भूमिका को गौण ठहराने पर हमें शंका है। यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि इन दोनों में किसकी भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमें इस संबंध में संतुलित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और दोनों के सापेक्षिक महत्त्व को समझना चाहिए। सामाजिक कल्याण में सरकारी और ग़ैर-सरकारी दोनों संस्थाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके अलावा, सरकारी और ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ परिस्थितियों, मौजूदा ज़रूरतों और उनकी अपनी क्षमता की दृष्टि से अलग-अलग प्रकार की होती हैं। इस बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि राज्य लोगों के सामान्य कल्याण हेतु काम करता है जबकि ग़ैर-सरकारी संस्था प्राय: विशेष या क्षेत्रीय हितों पर ध्यान देती है। ये दोनों उद्देश्य एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। केवल कुछ ख़ास हालात में जब स्वैच्छिक संगठन विध्वंसकारी कार्यों में संलग्न होते हैं तो इनका रवैया राज्य-विरोधी हो जाता है। इसी प्रकार, जब राज्य का रवैया दमनपूर्ण और अमानवीय हो जाता है तो ग़ैर-सरकारी संगठन उसका कार्य संभालने लगते हैं। इन संभावनाओं के होते हुए भी हमें विशेष रूप से भारतीय समाज के संदर्भ में इन दोनों की भूमिकाओं के महत्त्व को स्वीकार करना चाहिए। भारत में, वर्तमान सामाजिक शक्ति के ढाँचे को बदलने में राज्य की प्रमुख भूमिका है जबकि अन्य संगठनों का कार्य देश में शोषण और अन्याय के विरुद्ध प्रशासनिक व्यवस्था को कारगर बनाने के लिए सरकार पर दबाव डालना है।

राज्य की प्रमुख भूमिकाओं में से हम यहाँ स्वास्थ्य, आवास, व्यवसाय और मनोरंजन से संबंधित भौतिक परिस्थितियों के प्रोत्साहन और विनियमन पर विचार करेंगे। ये भूमिकाएँ प्राकृतिक संसाधनों के परिरक्षण और उपयोग से जुड़ी हैं। शहरी और ग्रामीण योजनाएँ बनाने तथा उनके सामान्य नियंत्रण के संदर्भ में हमने इस खंड की पिछली इकाइयों में राज्य की स्पष्ट भूमिका देखी। राज्य का संसाधनों पर अधिकार है। राज्य तात्कालिक लाभ के लिए इन संसाधनों को बरबाद करने वाले स्वार्थी तत्त्वों पर अंकुश रखता है। राज्य व्यापक स्तर पर निर्माण कार्य शुरू कर सकता है जिसके लाभ सभी लोग लंबे अरसे तक उठा सकते हैं। राज्य को उन प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण का प्राधिकार है जिन्हें बढ़ते हुए उद्योगवाद से ख़तरा है। यह बात अलग है कि कोई राज्य को न्यायसंगत ढंग से, पारिस्थितिक दृष्टि से सजग तरीके से प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और प्राकृतिक संसाधनों को वैधानिक रूप से सुरक्षित रखने से रोक सके।

राज्य मानवीय क्षमताओं के साथ-साथ आर्थिक संसाधनों के संरक्षण और विकास के लिए शिक्षा तथा सांस्कृतिक जीवन को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार राज्य की भूमिका का और भी वर्णन किया जा सकता है क्योंकि एक सामाजिक विकास करने वाली संस्था के रूप में इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस क्षेत्र की सीमा को केवल इसके अधिकार में जो संसाधन है उनसे ही निर्धारित किया जा सकता है। हर व्यवस्थित समाज की एक शर्त यह होती है कि इसकी सुरक्षा के लिए ऐसी शक्ति हो जो समाज द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन करने वालों को दंड दे सके। राज्य को जब इस प्रकार शक्ति का उपयोग करना पड़ता है तो इसे राज्य की नकारात्मक भूमिका कहा जा सकता है। राज्य के पास निहित शक्ति से राज्य में रहने वाला समुदाय, राज्य के कानून और व्यवस्था स्थापित करने के दायित्व को उसे सौंपना सीखता है। इसका मतलब यह है कि राज्य की भूमिका यह भी है कि वह शक्ति का उपयोग करके अपने कार्य में व्यवधान को रोके। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्य को सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की भूमिकाओं को निभाना पड़ता है।

समय-समय पर राज्य के व्यापक ढाँचे के अंदर अस्थायी समग्रताएँ दिखाई देती हैं। ये समग्रताएँ संस्थाओं के रूप में अलग और स्वतंत्र अस्तित्व वाली होती हैं। ये उन कार्यों को पूरा करती है जिन्हें राज्य न तो पूरा करता है और न ही कर सकता है। अब हमें इन संस्थाओं की भूमिका पर विचार करेंगे।

सोचिए और करिए 1

300 शब्दों की एक टिप्पणी में निरक्षता, देश में जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि, स्वास्थ्य का निम्न स्तर, चिकित्सा सुविधाओं की बुरी दशा और पारिस्थितिक मामलों में उपेक्षा-भाव जैसी समस्याओं के समाधान में भारत सरकार की भूमिका का वर्णन कीजिए। अपनी टिप्पणी तैयार करने के लिए दैनिक समाचार-पत्र और साप्ताहिक पत्रिकाएँ पढ़िए। इसके साथ ही अपने क्षेत्र के राजनैतिक दृष्टि से सक्रिय नेताओं का साक्षात्कार भी कीजिए।

28.4 ग़ैर-राज्यीय संस्थाएँ

अपने स्तर पर न तो राज्य के छोटे-छोटे भागों और न ही मात्र इसके लोगों अथवा ग़ैर-राज्य या अन्य संस्थाओं का कोई अस्तित्व है। कुछ मामलों में राज्य और अन्य संस्थाओं की भूमिकाएँ एक-दूसरे के क्षेत्र में मिल जाती हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा के क्षेत्र में, राज्य सार्वभौम शिक्षा पर बल देता है और प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करता है। साथ ही, हमें दिखता है कि कुछ स्वतंत्र स्वैच्छिक संस्थाएँ विविध पद्धतियों के प्रारंभिक शिक्षा प्रदान कर रही हैं। इसके अलावा, कुछ क्षेत्रों में जहाँ कई अन्य संस्थाएँ परंपरागत रूप से कार्य करती रही हैं, उन्हें राज्य को सौंप दिया गया है। उदाहरण के लिए, पहले मज़दूर संघ अपने बेरोज़गार सदस्यों को सहारा देते थे, अब कई जगह राज्य ने इस दायित्व को संभाल लिया है।

ऐसा कहा जा सकता है कि राज्य ग़रीबों के हितों की रक्षा करने के साथ सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने के लिए ज़बरदस्त भूमिका अदा करता है। इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि अन्य संगतियों की भूमिका का महत्त्व एकदम समाप्त हो गया है। सामाजिक समस्याओं के अधिकांश क्षेत्रों में अन्य संस्थाओं के प्रयासों का महत्त्व वस्तुत: घटने के बजाय और अधिक बढ़ गया है। आइए, अब हम अन्य संस्थाओं के स्वरूप के बारे में चर्चा करें।

i) अन्य संस्थाओं का स्वरूप

राज्य के इतर संस्थाओं की पहचान उनके स्वैच्छिक स्वरूप से होती है। राजनैतिक दलों, मज़दूर संघों, व्यावसायिक निकायों जैसी स्वैच्छिक संस्थाओं की गतिविधियों में भाग लेने को समाज के सीमांत (marginalised) वर्गों और समाज की मुख्यधारा के बीच संपर्क साधने की एक कड़ी माना जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में स्वैच्छिक संगठनों को ''भागीदारी वाले लोकतंत्र'' (participatory democracy) का महत्त्वपूर्ण घटक माना जाता है। इनसे व्यक्ति या परिवार और व्यापक समाज के बीच संबंध स्थापित होता है। किसी संस्था की स्वैच्छिक प्रकृति से हमारा अभिप्राय यह होता है कि उस संस्था के सदस्य इसकी गतिविधियों में स्वैच्छा से भाग लेते हैं। लेकिन यह स्वैच्छिकता और सामाजिक-आर्थिक विकास/परिवर्तन में लोगों की भागीदारी एक ही बात नहीं है।

ii) स्वैच्छिक प्रयास और लोगों की भागीदारी के बीच अंतर

प्राय: संस्थाएँ लोगों को अपनी समस्याओं के समाधान के लिए उनमें निहित सामर्थ्य को खोजने की प्रेरणा देती हैं। लेकिन, लोगों की भागीदारी और स्वैच्छिक प्रयास एक ही बात नहीं है। आपको ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं जो किसी ख़ास कार्यक्रम को पूरा करने के लिए संस्थाओं का निर्माण करते हैं। वह संस्था उस कार्यक्रम को पूरा करने के लिए अपनी योजनाएँ या कार्यनीतियाँ बना सकती है। इसे स्वैच्छिक प्रयास कहा जाएगा। लेकिन, जब इसके साथ-साथ कोई संस्था इसमें समुदाय के सदस्यों की पूर्ण रूप से भागीदारी की अपेक्षा करे तो कुछ व्यक्तियों के इस स्वैच्छिक प्रयास को सही अर्थों में लोगों की भागीदारी से होने वाला प्रयास ही कहा जाएगा। आवश्यक नहीं है कि हर स्वैच्छिक प्रयास लोगों को पूरी भागीदारी की अपेक्षा करे। पूरी भागीदारी की अपेक्षा किए बग़ैर किया जाने वाला प्रयास केवल स्वैच्छिक प्रयास की श्रेणी में रहेगा। इस महत्त्वपूर्ण अंतर को समझने के बाद हमें आशा है कि इन शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के लिए नहीं किया जाएगा। आइए, अब हम स्वैच्छिक निकायों की प्रमुख विशेषताओं के बारे में विचार करें।

28.4.1 स्वैच्छिक संगठनों के अभिलक्षण

निजी संस्थाओं का निर्माण स्वैच्छिक प्रयासों के आधार पर होता है, उन्हें सामान्यत: स्वैच्छिक संगठन कहा जाता है। संयुक्त राष्ट्र की शब्दावली में इन संगठनों को ग़ैर-सरकारी संगठनों के नाम से जाना है। संभव है कि प्राय: हममें से बहुत लोग इन दो शब्दों का प्रयोग एक-दूसरे के लिए करते रहने के आदी हैं। यह बात सही है कि स्वैच्छिक संगठन और ग़ैर-सरकारी संगठनों के बीच भिन्नताओं की चर्चा करेंगे। ये दोनों चर्चाएँ इस विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम – आर.डी.डी. 3, ग्रामीण विकास योजना और प्रबंध के खंड 3 की इकाई 1 में दी गई सामग्री पर आधारित हैं। इस विषय पर और अधिक जानकारी के लिए आप आर.डी.डी. 3 के खंड 3 में दी गई सामग्री को देखें। स्वैच्छिक संगठनों के विशिष्ट अभिलक्षण नीचे दिए गए हैं :

- स्वैच्छिक सदस्यता
- उसका उद्देश्य लाभ कमाना न हो

- इन संगठनों का निर्माण ऐसे लोगों की पहल से होता है, जो समाज के पिछड़े/दलित/निर्धन वर्ग के कल्याण के लिए सामाजिक चेतना की भावना से प्रेरित होते हैं।
- इन संगठनों के अपने नियम और विनियम होते हैं और ये सरकार के प्रशासनिक नियंत्रण से बाहर होते हैं।
- पंजीकृत स्वैच्छिक संगठन सरकारी अनुदान प्राप्त करने के हकदार होते हैं। इन्हें सरकारी अनुदान की व्यवस्थाओं के अंतर्गत निर्धारित शर्तों को भी स्वीकार करना पड़ सकता है।

प्राय: यह माना जाता है कि अधिकांश स्वैच्छिक संगठन आधारभूत सामाजिक समस्याओं से परिचित हैं, इसलिए वे लोगों के ज़्यादा नज़दीक हैं। इसके अलावा यह भी माना जाता है कि वे सरकार की नौकरशाली व्यवस्था की अपेक्षा उत्साही और समर्पित हैं। इस कारण से, यह भी समझा जाता है कि स्वैच्छिक संगठन नौकरशाही निकायों से अधिक मितव्ययी होंगे। अब आपको स्वयं यह देखना होगा कि कौन-सा स्वैच्छिक संगठन कहाँ तक इन स्वीकृत भूमिकाओं को पूरा करने के उपयुक्त है। *आइए, अब हम इस बात की परीक्षा करें कि स्वैच्छिक संगठन किन बातों में ग़ैर-सरकारी संगठनों से भिन्न हैं।*

28.4.2 स्वैच्छिक संगठनों और ग़ैर-सरकारी संगठनों में अंतर

क) स्वैच्छिक संगठनों का निर्माण व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूह द्वारा किसी विशिष्ट वर्ग के लोगों के कल्याण और विकास के विशिष्ट उद्देश्य से किया जाता है। स्वैच्छिक संगठन अपने नियम और विनियम बनाते हैं। ये संगठन पंजीकृत या ग़ैर-पंजीकृत हो सकते हैं।

ग़ैर-सरकारी संगठनों का निर्माण सरकार द्वारा किसी विशिष्ट विकास संबंधी उद्देश्य से किया जाता है। ये स्वायत्त संस्थाएँ होती हैं और एक अधिनियम के अंतर्गत पंजीकृत होती हैं। ग़ैर-सरकारी संगठन सरकारी निदेशों के आधार पर बनाए गए नियमों से नियंत्रित होते हैं।

ख) स्वैच्छिक संगठनों के लिए निधियाँ दानदाताओं से प्राप्त होती हैं। ये दानदाता ग़ैर-सरकारी संगठन में से कोई संगठन भी हो सकता है। ग़ैर-सरकारी संगठनों को सरकार से धन प्राप्त होता है और वे उन्हें स्वैच्छिक संगठनों को कुछ परियोजनाओं को पूरा करने के लिए देते हैं।

ग) स्वैच्छिक संगठनों की कार्यनीतियों और नीतियों का निर्माण उनके अपने सदस्यों के द्वारा किया जाता है।

ग़ैर-सरकारी संगठन अपनी कार्यनीतियाँ और नीतियाँ सरकारी निदेशों के आधार पर बनाते हैं। उनके नीति-संबंधी मामलों को प्राय: सरकार द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है। प्राय: ग़ैर-सरकारी संगठनों को अपने नीति-निर्धारण करने वाले निकायों में एक सरकारी प्रतिनिधि को शामिल करना पड़ता है।

घ) अपने आकार और क्रियाकलापों के अनुसार स्वैच्छिक संगठनों की संरचना प्राय: औपचारिक होती है।

ग़ैर-सरकारी संगठनों की संरचना आम तौर पर बड़े आकार वाली और जटिल होती है। उनमें कार्य करने के सुनिर्धारित नियम और प्रक्रियाएँ होती हैं।

ङ) स्वैच्छिक संगठनों को सामाजिक सेवा कार्यों से संबंधित आदर्शों से प्रेरणा मिलती है। उनके नेताओं में सामाजिक कार्यों के प्रति उच्च कोटि की प्रतिबद्धता का होना आवश्यक है।

ग़ैर-सरकारी संगठन अपने कार्यक्रमों के संचालन के लिए व्यावसायिक कार्मिकों को नियुक्त करते हैं। ग़ैर-सरकारी संगठनों में विशिष्ट आदर्शों के प्रति समर्पण के बजाय व्यावसायिकता का विशेष महत्त्व होता है।

च) स्वैच्छिक संगठन राजनैतिक दृष्टि से प्रेरित भी हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते हैं। ग़ैर-सरकारी संगठन प्राय: अराजनैतिक होते हैं।

छ) स्वैच्छिक संगठन कभी-कभी समाज के सामाजिक-आर्थिक ढाँचे को बदलने या चुनौती देने के लिए उग्रवादी आंदोलनों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ग़ैर-सरकारी संगठन प्राय: वर्तमान सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर कार्य करते हैं और वे पूर्व-निर्धारित प्रतिमानों के माध्यम से परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं।

आइए, अब हम भारत में सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका के बारे में विचार करें।

बोध प्रश्न 2

1) स्वैच्छिक संगठन किन बातों में राज्य या सरकार से भिन्न होते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) स्वैच्छिक संगठनों और ग़ैर-सरकारी संगठनों के पाँच उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

28.5 स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका

हमने ऊपर उल्लेख किया था कि स्वैच्छिक संगठन अराजनैतिक या राजनीति से प्रेरित दोनों प्रकार के हो सकते हैं। इस उपभाग में हमने मुख्य रूप से उन स्वैच्छिक संगठनों के बारे में चर्चा की है जिनका किसी दल या राज्य से संबंध नहीं है। भारत की आज़ादी से पूर्व स्वैच्छिक कार्यों के लिए किए जाने वाले प्रयास राजनैतिक दृष्टि से प्रेरित कार्य होते थे। खादी और ग्रामीण उद्योग जैसे बहुत-से अर्ध-सरकारी अभिकरण हैं जो सरकारी मार्गदर्शन के अंतर्गत कार्य करते हैं। आज भारत में बहुत बड़े स्तर पर स्वैच्छिक संगठन कार्य कर रहे हैं। इनमें से कुछ तो प्रत्यक्ष रूप सें राजनैतिक समूह हैं, जबकि कुछ अन्य संगठन सरकारी निदेशों के अंतर्गत कार्य कर रहे हैं। बाकी संगठन ग़ैर-राजनैतिक की कोटि में आते हैं।

कोठारी ने (1987 : 441) पहले दो समूहों को "अभिकरण (agency) वाले समूह" वाले समूह कहा है और अंतिम समूह को ऐसा छोटा समूह कहा जो जन-स्तर पर काम करता है। यहाँ हमने उन्हीं ग़ैर-राजनैतिक छोटे समूहों के कार्यकलापों पर अपना ध्यान केंद्रित किया है जो जन-स्तर (grassroots) पर कार्य में संलग्न हैं। सरकार विकास की प्रक्रिया में स्वैच्छिक संगठनों को शामिल करना चाहती है। यह सरकार की कार्यनीति (strategy) है कि ये संगठन राज्य के विकास कार्यक्रमों में लोगों की भागीदारी को प्रेरित करें। इस संदर्भ में, विकास और सामाजिक कार्यांतरण में स्वैच्छिक कार्य ने कई भूमिकाएँ ग्रहण कर ली हैं। आइए हम अब स्वैच्छिक संगठनों की कुछ भूमिकाओं के बारे में विचार करें।

28.5.1 स्वैच्छिक संगठन और पारिस्थितिकी

हमने इकाई 25, 26 और 27 में पढ़ा कि उद्योगवाद के विकास की कार्यनीति के फलस्वरूप प्रकृति और मानवों के बीच संबंधों में बदलाव आ गया है। इस परिवर्तन ने प्रकृति की प्रणालियों के अस्तित्व को ख़तरे में डाल दिया है। वनों की सुरक्षा के नाम पर जनजातीय लोग अपने परंपरागत प्राकृतिक आवास में प्रवेश से वंचित हो गए हैं। औद्योगिक भारत के मंदिरों के प्रतीक बड़े बाँधों के निर्माण की सरकारी योजनाओं के कारण लाखों लोगों को क्षतिपूर्ति के बिना ही विस्थापित होना पड़ा है। यह बात एकदम स्पष्ट है कि आधुनिक औद्योगिक प्रगति ने पारिस्थितिक संतुलन को बिगाड़ दिया है। इस संतुलन को रहन-सहन के विभिन्न सांस्कृतिक प्रतिरूपों के द्वारा लम्बे समय के दौरान विकसित किया गया था। ऐसा देखा गया है कि अधिकांश औद्योगिक सभ्यताएँ पारिस्थितिकी-विरोधी हैं। विडंबना यह है कि जन लोगों ने अपने प्राकृतिक वातावरण को पोषित करने के लिए कार्य किया, आज उन्हें ही अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्राकृतिक वातावरण को नष्ट करना पड़ रहा है (देखिए इकाई 27)।

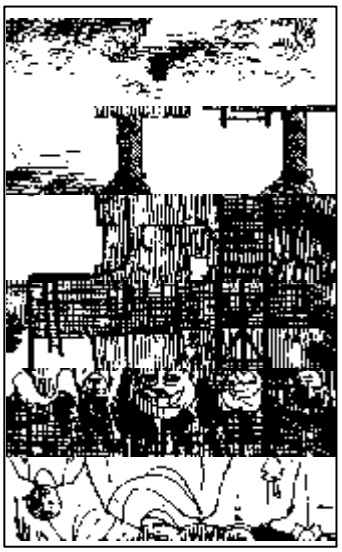

कारख़ानों से उमड़ता प्रदूषण

हमें प्रौद्योगिकी से प्रेरित औद्योगिक विकास के सामाजिक परिणामों को भी देखना होगा। विकासशील देशों में औद्योगिक विकास के लाभों का वितरण समान रूप से नहीं होता। विकास पर होने वाले व्यय का भार उन लोगों को उठाना पड़ता है जिन्हें उनसे लाभ नहीं मिलता। इसके परिणामस्वरूप बहुत से स्वैच्छिक संगठन तृणमूल स्तर पर बेहतर भरपाई ओर पुनर्वास कार्यक्रमों को लेकर उठ खड़े हुए हैं।

वस्तुत: विकासशील देशों में भारत में पर्यावरणीय मुद्दों में संलग्न सबसे अधिक संख्या में स्वैच्छिक संगठन हैं। उनमें से अनेक इस बातों से संबद्ध है :

i) पर्यावरण से संबंधित मामलों में जागरूकता लाना।

ii) ऐसी निजी/ सरकारी क्षेत्र की परियोजनाओं का विरोध करना, जो पर्यावरण या उन परियोजनाओं पर आश्रित लोगों के लिए हानिकर हों।

iii) वनों की कटाई, चरागाहों के क्षेत्रों में कमी होने, बंजर भूमि में वृद्धि, रेगिस्तान बनने आदि की पर्यावरण संबंधी समस्याओं का समाधान करना।

जो संगठन उपरोक्त मद (i) पर कार्य कर रहे हैं उनके नाम हैं – विज्ञान और पर्यावरण केंद्र (सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट), कल्पवृक्ष, दिल्ली विज्ञान फोरम, लोकायन, बंबई प्राकृतिक इतिहास समिति (बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी)। मद (ii) से संबंधित संगठन सारे

देश में फैले हुए हैं। ये संगठन सरकार की वनों और बंजर भूमि संबंधी वर्तमान नीतियों, बड़ बाँधों, परमाणवीय केंद्रों, मिसाइल (missile) परीक्षा स्थलों का विरोध करते हैं। उपयुक्त प्रौद्योगिकी समूह (Appropriate Technology Group) लखनऊ; ऐस्ट्रा, बंगलौर; एम.सी.आर. सी., मद्रास; डी.जी.एम.एस., चमोली आदि संस्थाएँ ऐसी प्रौद्योगिकी इस्तेमाल कर रही हैं जो पर्यावरण की दृष्टि से अनुकूल और पारिस्थितिक दशष्टि से हितकारी हैं। इन्हें ऊपर सूचीबद्ध विषयों की मद (iii) से संबंधित समूह में वर्गीकृत किया जा सकता है। केरल शास्त्र साहित्य परिषद् एक ऐसे समूह का उदाहरण है जो ऊपर वर्णित लगभग तीनों ही विषयों से संबंधित है।

उल्लिखित सुपरिचित समूहों के अलावा बहुत से अन्य छोटे-छोटे समूह भी हैं जो शीघ्र विलुप्त होने वाले प्राणियों को बचाने, पुराने स्मारकों के परिरक्षण, उपयोगी वृक्षों को लगाने और पुराने तालाबों तथा बाँधों की मरम्मत आदि के कार्यों में संलग्न हैं।

पर्यावरण संबंधी मामलों की ओर ध्यान दिलाने वाले स्वैच्छिक कार्य में संलग्न समूह कई तरह की कार्यनीतियों (strategies) का इस्तेमाल करते हैं। इनमें प्रचार माध्यमों, विरोध सभाओं, न्यायालयों में याचिका देकर और व्यापक नेटवर्क तैयार करके पर्यावरण संबंधी मामलों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है। इन्हीं कार्यनीतियों के कारण सरकार को 1982 में प्रस्तावित वन नीति के कार्यान्वयन को रोकना पड़ा। इस संदर्भ में नर्मदा घाटी परियोजना, टिहरी बाँध, मुन्ना बाँध, इंजमपल्ली बाँध या कोइलकारो बाँध के निर्माण से संबंधित जन-स्तरीय विवाद स्वैच्छिक प्रयास के कई उदाहरण हैं। इन प्रयासों का उद्देश्य विकास को ऐसी दिशा प्रदान करना है जिसमें जन-हित हो और पर्यावरण से अनुकूलता हो। चमोली में डी.जी.एस.एम. के प्रयासों से संचालित मिश्रित जाति के पेड़ों के रोपण की योजना का स्थान लोगों की भागीदारी से संचालित योजना ले सकती है। इस वर्णन से आप यह न समझ लें कि पर्यावरण परिरक्षण के लिए कार्यरत स्वैच्छिक समूहों में सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा है। सभी स्वैच्छिक समूहों की तरह इन्हें भी बहुत-सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है, इनकी चर्चा हमने इकाई के भाग 28.6 में की है। आइए, अब हम अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों को जिन सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनके संदर्भ में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका पर विचार करें।

28.5.2 अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका

इस पाठ्यक्रम के खंड 6 में आपने पढ़ा ही है कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों को अवसरों से वंचित रहने के कारण किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। प्रसाद (1987 : 588-612) ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के बीच काम करने वाले इन स्वैच्छिक समूहों में ईसाई मिशनरियाँ भी शामिल हैं। इन्होंने शिक्षा, स्वास्थ्य और मानव अधिकारों के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। उदाहरण के तौर पर, अमेरिकन मिशनरियों ने सन् 1830 में ही नागालैंड में कई स्कूल खोल दिए थे। बिहार के छोटानागपुर क्षेत्र में लूथर खोले। उन्होंने ईसाई और ग़ैर-ईसाई लोगों के लाभ के लिए दवाखाने खोले (देखिए विद्यार्थी 1977 : 40)। बाद में रोमन कैथोलिक मिशनरियों ने भी छोटानागपुर क्षेत्र में अपना कार्य शुरू किया।

मिशनरियों ने आरंभ में लोगों को ईसाई बनाने का प्रयास किया। वे अपने इन प्रयासों में सफल नहीं हुए। इसलिए उन्होंने जनजातीय लोगों को आकर्षित करने के लिए भूमि की पट्टेदारी और खेती में काम करने की दिशा जैसे ग़ैर-धार्मिक कार्यों में लोगों की सहायता शुरू की। वे उनके मामलों को लेकर अदालत में लड़े और उन्होंने उन्हें जिताया भी। इससे छोटानागपुर के जनजातीय लोगों के मन में मिशनरियों के प्रति विश्वास पैदा हो गया। रॉय (1931) के अनुसार

मिशनरियों ने जनजातीयों के लोगों को महाजनों के शिकंजे से भी बचाया। इसके अलावा, 1909 में फ़ादर हॉफमैन नामक कैथोलिक मिशनरी ने एक सहकारी समिति संगठित की। इस समिति के नेटवर्क ने पूरे छोटानागपुर क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों को मजबूत आधार आधार प्रदान किया। मध्य प्रदेश, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश और बिहार के जनजातीय क्षेत्रों में मिशनरियों ने जनजातीय लोगों की शिक्षा और स्वास्थ्य में सुधार के लिए बहुत काम किया।

1921 में स्वाधीनता आंदोलन के दौरान गाँधीवादी ठक्कर बापा ने पंचमहल जिले के मीराखेड़ी नामक स्थान पर आश्रम स्थापित किया। उन्होंने गुजरात में दोहद स्थान पर भील सेवा मंडल नामक एक अन्य संगठन भी स्थापित किया। केवल ये दो ही संगठन नहीं, ठक्कर बापा ने भारत के विभिन्न भागों में ऐसी 21 संस्थाएं स्थापित कीं। ढेबर (1961 : 303) ने ''**ए रोमान्स ऑफ सोशल वर्क इन इंडिया**'' नामक पुस्तक में सामाजिक सेवा के क्षेत्र में ठक्कर बापा की भूमिका के इतिहास का निरूपण किया है। ठक्कर बापा के इन संगठनों ने शिक्षा और जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। इसके पश्चात् सेवा केंद्र द्वारा बिहार में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रयास शुरू किए गए। अखिल भारतीय कांग्रेस के 1939 के अधिवेशन में महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू और पटेल जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने भारतीय समाज के आदिम जातियों और पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए कार्य करने का संकल्प किया। राजेन्द्र प्रसाद और उनके साथी श्री नारायण जी ने भी सेवा केंद्र में लोगों को पढ़ना-लिखने के लिए प्रोत्साहित किया।

मध्य प्रदेश में 1945-46 में मंडला के निकट महाराजपुर नामक स्थान पर एक अन्य स्वैच्छिक संगठन, **वनवासी सेवा मंडल**, की स्थापना की गई। इसने जनजातियों में शिक्षा के प्रसार के लिए काम किया। इसने एक कृषि फार्म का प्रबंध, तीन सहकारी समितियों, एक चल दवाखाना और पंचायती राज के प्रशिक्षण के लिए एक शिक्षण केंद्र भी संचालित किये।

इस तरह उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में स्वैच्छिक प्रयासों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। यह प्रयास मुख्य रूप से धर्म के क्षेत्र में हुए थे, परंतु लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए धर्म से बाहर अन्य क्षेत्रों में भी प्रयास हुए। हरिजन सेवक संघ, नई तालीम संघ और लेपर सोसाइटी (कोढ़ी समाज) आदि स्वैच्छिक संगठनों ने मानवतावादी परंपरा का प्रतिनिधित्व किया है (प्रसाद 1987 : 593)।

सन् 1947 के बाद सरकारी समर्थन से भारत में स्वैच्छिक प्रयासों को और अधिक प्रोत्साहन मिला। सरकार ने स्वैच्छिक अधिकरणों (agencies) के साथ मिलकर पिछड़े समुदायों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के समाधान का प्रयास किया। जनजातीय क्षेत्रों में कई संगठन आगे आए। इन संस्थाओं को सरकार और जनता से वित्तीय समर्थन प्राप्त हुआ। उदाहरण के लिए, सन् 1948 में जनजातीय समुदायों को भारत की सामाजिक-आर्थिक विकास की मुख्य धारा में लाने के लिए भारतीय आदिम जाति सेवक संघ की स्थापना की गई। इन संस्था से संबंधित कई संस्था से संबंधित कई संस्थाएं भारतभर में थीं। इसने जनजातीय कल्याण के लिए सरकार द्वारा नीति निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

इसके अलावा, रामकृष्ण मिशन, दी सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी, सेवा संघ, गाँधी स्मारक निधि, कस्तूरबा स्मारक निधि, भारत लोक कला मंदिर आदि संगठनों ने भारत के जन-जीवन पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। इन संगठनों ने भारत के जन-जीवन पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला है। इन संस्थाओं द्वारा संचलित शिक्षा संस्थाएं और चिकित्सा संस्थानों द्वारा शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में सुप्रशिक्षित कार्मिकों को तैयार करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका से सभी अच्छी तरह परिचित हैं।

अधिकांश स्वैच्छिक संगठनों ने ''भागीदारी के लोकतंत्र'' की संकल्पना के समर्थन में योगदान किया है। वे सरकारी क्षेत्र के बहुत-से विकासात्मक कार्यों को स्वैच्छिक क्षेत्र में ले जा रहे हैं।

यथा संभव वे योजना निर्माण, उसके कार्यान्वयन और विकासात्मक परियोजनाओं के मूल्यांकन में सफल भूमिका अदा करते हैं। यह अनुभव किया गया है कि स्वैच्छिक संगठन अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के विकास के विभिन्न क्षेत्रों में और अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, जैसा कि प्रसाद (1987 : 607) का सुझाव है कि जनजातियों के पट्टे की भूमि को सही-सही रिकॉर्ड करने का काम स्वैच्छिक संगठन भली-भाँति कर सकते हैं। वे बिहार और मध्य प्रदेश के जनजातीय क्षेत्रों में बंधुआ मज़दूरी के स्वरूप और उससे प्रभावित लोगों की संख्या की सही-सही जानकारी एकत्र कर सकते हैं। स्वैच्छिक संगठनों द्वारा आदिम जातीय समूहों के पारिस्थितिक अध्ययन से हमें उनके सामाजिक संगठन और अपने भौतिक पर्यावरण से उनके संबधों का पता चलेगा। वे जनजातीय स्त्रियों पर बहुत कम अध्ययन हुए हैं। जनजातीय स्त्रियों को विकासात्मक प्रयासों से अभी तक कोई लाभ नहीं हुआ है। इस क्षेत्र में स्वैच्छिक प्रयासों से काफ़ी लाभ हो सकता है।

अभी तक पिछले दो भागों में हमने पारिस्थितिक आंदोलनों और अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के विकास में स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका के बारे में विचार किया। आइए, अब हम इन स्वैच्छिक संगठनों को किस प्रकार की समस्याओं से जूझना पड़ता है इस विषय पर विचार करें।

सोचिए और करिए 2

अपनी पसंद के एक स्वैच्छिक संगठन को चुनिए और उनके कार्यकलापों की जानकारी प्राप्त कीजिए। उसके उद्देश्यों और कार्य-पद्धति के बारे में 250 शब्दों की एक टिप्पणी लिखिए।

28.6 स्वैच्छिक संगठनों के सामने आने वाली समस्याएँ

हमने पाया है कि भारत में स्वैच्छिक प्रयासों का प्रतिनिधित्व कई प्रकार के समूहों और व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है। स्वैच्छिक क्षेत्र की विशेषता इन संगठनों के आकार, विचारधारा, रुचि, क्रियाकलाप के केंद्र और उनके प्रभाव के द्वारा स्पष्ट होती है। कई स्वैच्छिक संगठन यदा-कदा और रुक-रुककर कार्य करते हैं। इससे इन संगठनों में समुचित योजना के अभाव आग्र गलत ढंग से सोचे हुए कार्यक्रमों का पता चलता है। जैसे ही इनमें थोड़ी-बहुत तेज़ी आती है और कार्यक्रम कुछ आगे बढ़ता है, इनमें अचानक निष्क्रियता के कारण दीर्घकालिक रुकावट आ जाती है। प्राय:, स्वैच्छिक प्रयास तभी तक सक्रिय रहते हैं जब तक उन्हें बाहरी सहायता मिलती रहती है। जैसे ही बाहरी वित्तीय या संगठनात्मक अथवा प्रेरणात्मक समर्थन वापस ले लिया जाता है, ये प्रयास रुक जाते हैं। ऐसा क्यों होता है?

भारत में स्वैच्छिक कार्य के बारे में उल्लेखनीय बात यह है कि प्राय: ऐसे सभी कार्य किसी भी क्षेत्र में बाहर के क्षेत्र के लोगों के द्वारा शुरू किए जाते हैं जिन्हें शीघ्र ही या कुछ समय के पश्चात् वहाँ से जाना पड़ जाता है। आम तौर पर, जैसे ही बाहरी व्यक्ति वहाँ से चले जाते हैं, तो विकास संबंधी प्रयास लड़खड़ा कर समाप्त हो जाते हैं। वही पुराना ढाँचा फिर सामने आ जाता है और यथापूर्व स्थिति बन जाती है। इससे बचने का एक ही तरीका है कि वह स्वैच्छिकता जन-स्तर से आरंभ हो। ऐसे प्रयासों का नेतृत्व बाहर से न आकर उसी समूह में से उभर कर सामने आना चाहिए। इस प्रमुख समस्या के अलावा स्वैच्छिक कार्य के मार्ग में आने वाले अन्य कारण नीचे दिए गए हैं।

i) अधिकांश स्वैच्छिक संगठन अपने निकटवर्ती और अप्रत्यक्षत: अधिक सम्पन्न लोगों के बीच कार्य करके खुश हो जाते हैं। ऐसे स्थानों पर उन्हें अच्छे परिणमा आसानी से मिल जाते हैं। वे महा ग़रीबी वाले क्षेत्रों में कार्य करने की चुनौती को स्वीकार नहीं करते।

ii) अधिकांश स्वैच्छिक समूहों के पास आय के स्वतंत्र स्रोत का अभाव होता है। उन्हें बाहरी वित्तीय स्रोत पर निर्भर करना पड़ता है। वित्तीय निधियों के अभाव और अनिश्चितता के कारण बहुत से स्वैच्छिक प्रयासों को बीच में ही बंद कर देना पड़ता है। जब स्वैच्छिक कार्यों के लिए सरकार से धन प्राप्त होता है तो सरकारी नौकरशाही व्यवस्था के दीर्घकालीन विलंब और उबाऊ प्रक्रिया के कारण उनकी परियोजना के कार्य को सुचारु रूप से चलाना कठिन हो जाता है। यहाँ तक कि बहुत-सी योजनाबद्ध ढंग से चलाई जाने वाली परियोजनाओं पर भी कार्यान्वयन के स्तर पर विलंब का बुरा प्रभाव पड़ता है।

आज भारत में विदेशी अभिकरणों से ग़ैर-सरकारी संगठनों को बहुत बड़ी मात्रा में धनराशि दान के रूप में प्राप्त हो रही है। ऐसी संस्थाओं को, विदेशी अभिकरणों से धन प्राप्त करने के लिए, स्वयं को गृह मंत्रालय में पंजीकृत कराना पड़ता है। माहेश्वरी (1987 : 506) के अनुसार 1984 में भारत की स्वैच्छिक संस्थाओं को 254 करोड़ रुपये की राशि योगदान के रूप में मिली, जो 1986 में बढ़कर 350 करोड़ रुपये हो गई। इसमें प्रमुख योगदान संयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिम जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन स्विटज़रलैंड, कनाडा, हॉलैंड और इटली का था। भारत में इन विदेशी निधियों को पाने वाले प्रमुख राज्य थे तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, केरल, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, बिहार और उत्तर प्रदेश। यदि इन निधियों के दुरुपयोग की बात प्रमाणित हो जाए तो गृह मंत्रालय गलत उपयोग करने वाले अभिकरणों का पंजीकरण निरस्त कर सकता है। उदाहरण के लिए, 1986 में नियमों का उल्लंघन करने के कारण 27 स्वैच्छिक समूहों का पंजीकरण निरस्त कर दिया गया था। ऐसा माना जाता है कि प्राय: विदेशी पैसे का उपयोग प्रच्छन्न रूप से जासूसी या धर्मांतरण जैसे क्रियाकलापों के लिए किया जाता है। ऐसी स्थिति में स्वैच्छिक संगठनों के सामने वास्तव में बड़ी दुविधा की स्थिति होती है कि विदेशी पैसे को स्वीकार करें या न करें।

iii) आजकल स्वैच्छिक कार्यों की पहल हमेशा उत्प्रेरित व्यक्तियों द्वारा नहीं होती। इसने अब व्यावसायिकता का रूप ग्रहण कर लिया है। इन क्रियाकलापों के केंद्र, व्यक्तियों के बजाय समुदाय हो गए हैं और वे अपने यहाँ कार्य करने वालों से यह अपेक्षा रखते हैं कि उनमें प्रशिक्षित कर्मिकों के विभिन्न कौशल हों। ये पेशेवर विशेषज्ञ, जिन्हें पर्याप्त प्रशिक्षण मिला होता है, अपने कौशल के बदले में ऊँचे वेतन की आशा करते हैं। सभी संगठन ऐसे विशेषज्ञों को रखने की स्थिति में नहीं होते। इस प्रकार स्वैच्छिक क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार के रोज़गार के प्रतिरूप के उभरकर आने के कारण बहुत से युवा लोग स्वैच्छिक समूहों में केवल इसलिए नौकरी करते हैं ताकि उन्हें आगे बढ़ने के अवसर मिल सके। इनमें से कुछ लोगों को तो किसी विशिष्ट परियोजना की मूलभूत आवश्यकताओं का भी पता नहीं होता।

iv) माहेश्वरी (1987 : 567) ने यह भी संकेत किया है कि प्राय: इन स्वैच्छिक संगठनों को सरकारी प्रशासन परेशान करता है। केवल इन संगठनों द्वारा बनाया गया एकत्रित मंच ही सरकारी नौकरशाही व्यवस्था को और अधिक जिम्मेदारी से व्यवहार करने को बाधित कर सकता है। कुछ क्षेत्रों में स्थानीय ज़मींदार, राज्य स्तर के विधानसभा सदस्य और अन्य शक्तिसम्पन्न वर्ग इन स्वैच्छिक अभिकरणों को धमकाने की कोशिश करते हैं क्योंकि ये अधिकरण जीवन के सभी क्षेत्रों में उनके अन्यायसंगत आधिपत्य को चुनौती दे रहे होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में, कोई अकेली स्वैच्छिक संस्था मुश्किल से ही टिक सकती है जबकि स्वैच्छिक संस्थाओं का संघ अपने सदस्य संगठनों के सफलतापूर्वक पैर जमाने में सहायक हो सकता है।

v) पर्यावरण संबंधी आंदोलनों में स्वैच्छिक संस्थाओं के सामने प्राय: यह समस्या होती है कि उनके पास विशेषज्ञों और पर्यावरण संबंधी समस्याओं की विशिष्ट जानकारी का अभाव

होता है। पर्यावरण संबंधी संतुलन की समस्या के प्रति सजगता बिल्कुल हाल ही में सामने आई है। वनों के क्षेत्र में कमी होना, मृदा अपरदन और प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक उपभोग जैसी पारिस्थितिक आपदाओं के संबंध में व्यवस्थित अभिलेखबद्ध आँकड़ों के अभाव के कारण सरकार की तथाकथित विकास परियोजनाओं के विरोध में स्वैच्छिक समूहों द्वारा दिए गए तर्क प्राय: प्रभावहीन हो जाते हैं। सामान्यत:, स्वैच्छिक समूहों के पास सीमित बजट होता है इसलिए वे कोई सर्वेक्षण और पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, भोपाल गैस आपदा से संबंधित कार्यों से जुड़े स्वैच्छिक समूहों के रिसाव के कारण पानी, पौधों, खाद्यान्न आदि पर हुए गैस के प्रभाव के आकलन करने के लिए इनके नमूनों का परीक्षण तक नहीं करा सके।

स्वैच्छिक समूहों के छोटे आकार के कारण उनकी बात पर कोई ध्यान नहीं देता। उदाहरण के तौर पर, नर्मदा बाँध के निर्माण के विरोध में आंदोलन करने वाले समूह पिछले दस साल से सक्रिय हैं। सरकार उनके नेताओं को गिरफ़्तार करके कुछ दिन बाद छोड़ देती है और अधिकारी वर्ग उनके आंदोलन को गंभीरता से नहीं लेता। कुछ समूहों के विरोध प्रयासों को देशविरोधी समझा जाता है और उसे कानून और व्यवस्था के लिए ख़तरा माना जाता है और उसे कानून और व्यवस्था के लिए ख़तरा माना जाता है। सरकार उनके विरुद्ध दंडात्मक कार्रवाई करती है।

vi) स्वैच्छिक समूहों द्वारा किए जाने वाले विरोध-प्रदर्शन और सार्वजनिक हित में की गई न्याय-याचिका (देखें शब्दावली) का भी कोई विशेष असर नहीं होता। इससे पता चलता है जन-हित के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मामलों के संबंध में भी स्वैच्छिक कार्योंह का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए, भारत सरकार ने टिहरी बाँध के निर्माण कार्य को उस समय भी अनुमति दे दी जबकि उच्चतम न्यायालय में इसके निर्माण कार्य को उस समय भी अनुमति दे दी जबकि उच्चतम न्यायालय में इसके निर्माण के विरोध में एक मामला सुनवाई के लिए दर्ज था। स्वैच्छिक संगठनों द्वारा उठाए गए मामलों पर जन-साधारण में कोई चर्चा नहीं होती। ऐसी कई संस्थाएँ सरकार द्वारा संचालित विकास परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए लोगों के पुनर्वास के लिए प्रयास कर रही है। सिंगरौली क्षेत्र से 1,50,000 लोगों के विस्थापित होने के बाद किसी भी प्रकार की सार्वजनिक चर्चा नहीं हुई, यद्यपि इस क्षेत्र में कई स्वैच्छिक संगठन कार्यरत हैं (देखिए जैन, 1993)।

vii) प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग से संबंधित राजनीति को चलाने वाले बहुत सशक्त स्वार्थी लोग हैं। इस शक्ति के खेल में स्वैच्छिक क्षेत्र की बात कौन सुनता है? पर्यावरणवादी यह समझाने की कोशिश करते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों से संबंधित मामले केवल न्यायसंगत वितरण से ही नहीं जुड़े हैं। वे मूलत: मानव के अस्तित्व और प्रकृति को हम किस रूप में समझते हैं, इससे संबंधित मामले हैं। उपयोगोन्मुख संस्कृति के प्रचलन से पैदा अंधी दौड़ में कोई भी पर्यावरणवादियों की बात सुनने को तैयार नहीं। इससे स्वैच्छिक समूह ऐसी स्थिति में पहुँच जाते हैं, जहाँ उनके लिए कुछ कर पाना संभव नहीं होता। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि उन्हें लोगों को और नीति-निर्माताओं को इसकी संवदेनशीलता का परिचय कराने तथा विकासात्मक परियोजनाओं के नकारात्मक प्रभाव का ज्ञान कराने मात्र से संतोष करना पड़ता है। इससे अधिक की वे अपेक्षा नहीं कर सकते। वे विकास परियोजनाओं से संबंधित सरकारी नीतियों को बदलवा पाने की भी आशा नहीं कर सकते।

स्वैच्छिक क्षेत्र को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनकी संख्या बहुत अधिक है और उनपर पार पाना काफी कठिन है। प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में इस विषय में क्या करना संभव है? अगले भाग में हमने ऐसी कुछ कार्यनीतियों की चर्चा की है, जिनका उपयोग करके स्वैच्छिक संस्थाएँ अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकती हैं।

बोध प्रश्न 3

1) क्या आपकी राय में, किसी स्वैच्छिक संगठन को विदेशी अभिकरणों से दान के रूप में निधियाँ प्राप्त करनी चाहिए? अपने उत्तर के समर्थन में कारण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) क्या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन की समस्याओं के समाधान के लिए सरकार पहले भी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर चुकी है? अपने उत्तर के पक्ष में कारण लिखिए।

.....

.....

.....

.....

28.7 स्वैच्छिक प्रयासों को बढ़ावा देने के लिए सुझाव

अभी तक हमने स्वैच्छिक संगठनों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के क्षेत्र की भूमिकाओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया था। भारत में स्वैच्छिक क्षेत्र को जिन समस्याओं को सामना करना पड़ता है हमने उन पर ध्यान दिया। पिछले भाग में हमने स्वैच्छिक संस्थाओं के एक एकत्रित मंत्र की आवश्यकता की चर्चा की थी। वास्तव में, कर्नाटक, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों में अभिकरणों ने एक संघ बनाया है। इससे उसमें एकत्व की भावना पैदा होगी और उन्हें साथ मिलकर राजनैतिक दृष्टि से अपना प्रभाव जमाने का अवसर मिलेगा। आइए, अब हम देखते हैं कि किस प्रकार से ऐसे प्रयासों को बल मिल सकता है।

i) संस्कृति और सामुदायिक अभिविन्यास

चिपको आंदोलन (देखिए जैन, 1984) में लोगों की भागीदारी ने यह बात सिद्ध कर दी कि किसी आंदोलन को स्थिर आधार प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जन-स्तर से शुरू हो। एक बड़े संगठनात्मक ढाँचे तथा उच्च-स्तरीय नेतृत्व के अभाव में भी इस आंदोलन ने वनों के संरक्षण और स्थानीय लोगों को सामुदायिक संसाधनों पर नियंत्रण देने के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त किया। इस क्षेत्र के जनसाधारण ने बाहरी लोगों को यह बात बखूबी समझा दी कि वन ऐसे संसाधन नहीं हैं जिनका वाणिज्यिक रूप में दोहन किया जा सकता है। वन लोगों को जीवन, आजीविका, जल और स्वास्थ्यदायक हवा देते हैं। हिमालय क्षेत्र के लोगों को विश्व के प्रति इस अंतर्दृष्टि ने उन्हें ऐसी शक्ति दी कि वे उन बाहरी लोगों से लड़ सके जिन्होंने उनके क्षेत्र की संस्कृति को नष्ट किया। चिपको आंदोलन अब मुख्यधारा में होने वाली चर्चाओं से परे का विषय बन गया है। यह इस क्षेत्र की सांस्कृतिक परंपरा को दृढ़ता से जीवन प्रदान कर रहा है और आज भी यह वनरोपण के महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रमों को हाथ में लिए हुए है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऊपर जिन समस्याओं का हमने उल्लेख किया, उनका समाधान निकालने का यह एक तरीका है।

ii) लाभ पाने वालों के संगठन

ऐसी परंपरा रही है कि स्वैच्छिक संगठन अपने क्रियाकलापों के लिए कोई एक इलाका चुन लेते हैं। संभवत: अब समय आ गया है जब स्वैच्छिकता का उद्‌भव स्वयं उन समूहों से होना चाहिए जिन समूहों के लोग कल्याण कार्यों का लाभ उठाना चाहते हैं और इसके लिए उन्हें संगठित होना चाहिए। उन्हें राजनैतिक मंच पर अपनी आवाज उठानी चाहिए। उन्हें सुविधाएँ और दूसरे लाभ पाने के लिए प्रशासन पर दबाव डालना चाहिए। उदाहरण के तौर पर बहुत से राज्यों में कृषि संबंधी कानून केवल दिखावा बनकर रह गए। छोटे और सीमांत कृषकों को अपने आपको संगठित करके कृषि संबंधी कानूनों को प्रभावी ढंग से लागू करने की माँग करनी चाहिए।

iii) अंतर्निहित और सतत मूल्यांकन

ऐसे स्वैच्छिक समूह जिनकी न केवल समाज के अभावग्रस्त लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के सुधार में रुचि है बल्कि जिनकी इस कार्य में संलग्न वर्गों की कार्य-पद्धति में भी रुचि है, उन्हें अपनी परियोजनाओं के मूल्यांकन के लिए परियोजना में अंतर्निहित और निरंतर चलने वाली प्रक्रिया की भी आवश्यकता है। परियोजनाओं के समयबद्ध और पूर्ण मूल्यांकन से उन्हें एक निश्चित अवधि में अपनी उपलब्धियों का संचित आकलन करने का अवसर मिल सकता है। परियोजना और उसकी सफलता के बारे में निर्णय करने का अधिकार स्वयं लोगों को है। मूल्यांकन के संबंध में किए जाने वाले सभी कार्यों से समस्या-प्रधान क्षेत्र के बारे में जानकारी मिलती है और इससे ऐसी परियोजनाओं में लगे सभी लोगों को अपने कार्य-निष्पादन में सुधार की आवश्यकता का ज्ञान होता है। सुधरी आर्थिक स्थिति, सुधरे हुए स्वास्थ्य के मूल्यांकन के लिए कुछ तकनीकें उपलब्ध हैं, स्वैच्छिक संस्थाओं को अपने कार्य-निष्पादन की जाँच के लिए इन तकनीकों का उपयोग करना चाहिए। हमें लोगों की भागीदारी और निर्णय करने के लिए लोकतंत्रीय प्रक्रिया जैसी अमूर्त बातों के मूल्यांकन के लिए नई पद्धतियों का विकास करना होगा ताकि लोगों में ऐसे विषयों के प्रति जागरूकता पैदा हो।

इसके अलावा, स्वैच्छिक अभिकरणों के लिए यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें विभिन्न विषयों के गुणात्मक एवं मात्रात्मक विश्लेषण में संतुलन बनाए रखना चाहिए। यदि कोई स्वैच्छिक समूह भौतिक विकास पर कार्य कर रहा हो तो मात्रात्मक विश्लेषण अधिक उपयोगी होगा। इसी तरह जब लोगों के विकास और उनके संगठन पर ध्यान केंद्रित करना हो तो उस स्वैच्छिक कार्य में लगे समूह को गुणात्मक विश्लेषण करना चाहिए। चूँकि लोगों का भौतिक विकास और उनकी अपने अधिकारों तथा उनके अनुरूप कर्तव्यों के प्रति सचेतता का विकास साथ-साथ होता है। इसलिए यह उचित है कि गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों प्रकार के विश्लेषणों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाए। अभावग्रस्त वर्गों को प्राप्त होने वाले प्रत्येक भौतिक लाभ के साथ-साथ उनमें उस लाभ से मिलने वाले परिणामों को स्वीकार करके शक्तिमान बनने की क्षमता भी होनी चाहिए। प्राय: स्वैच्छिक संगठन एक पहलू पर ध्यान केंद्रित करके दूसरे पहलू को नज़रअंदाज कर देते हैं। लेकिन, अंतत: अधिक प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि लाभ पाने वाला वर्ग आर्थिक विकास के लाभों के साथ उनके अनुरूप संगठनात्मक अधिकार से मिलने वाले लाभों को मिलाकर संतुलित दृष्टिकोण अपनाए।

सोचिए और करिए 3

कल्पना कीजिए कि आप एक ऐसी पर्यावरण संस्था बनाने की योजना बना रहे हैं जो कूड़े-कचरे को फिर से इस्तेमाल करने का कार्य करेगी। आपके विचार में पहले-पहल किस प्रकार का कूड़ा-कचरा इकट्‌ठा करना चाहिए? यदि आपके तीन तरह के कूड़े-कचरे वाली सामग्री का फिर से इस्तेमाल करना हो तो प्राथमिकता का आपका क्रम क्या होगा? अपनी योजनाओं पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

28.8 सारांश

इस इकाई के शुरुआत हमने राज्य को एक संस्था के रूप में मानते हुए की। राज्य की परिभाषा एक विशेष प्रकार की संस्था के रूप में की। इसकी अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इसे दूसरी संगतियों से अलग करती हैं। इसके बाद हमने राज्य की अपने क्षेत्र में कानून और व्यवस्था बनाए रखने तथा उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों के सामान्य कल्याण हेतु कार्य करने की भूमिका का वर्णन किया। फिर हमने ग़ैर-सरकारी और अन्य संगठनों के स्वरूप तथा भूमिका की परीक्षा की और स्वैच्छिक संगठनों एवं ग़ैर-सरकारी संगठनों के बीच अंतर को स्पष्ट किया। स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका को स्पष्ट करने के लिए हमने पारिस्थितिक आंदोलनों और अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजातियों के विकास के इन दो क्षेत्रों को चुना। उसके बाद स्वैच्छिक संस्थाओं के सामने जो समस्याएँ आती हैं उनमें से कुछ के बारे में चर्चा की। अंत में, भारत में स्वैच्छिक प्रयासों को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ सुझाव दिए गए।

28.9 शब्दावली

पारिस्थितिकी (Ecology) : विज्ञान की वह शाखा जिसमें प्राणी मात्र तथा उनके पर्यावरण के बीच अंतर्संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

प्रभुसत्ता (Sovereignty) : यह अवधारणा इस इकाई मे एक स्वायत्त राज्य के लिए प्रयुक्त की गई है। ऐसा राज्य जो बाह्य नियंत्रण से मुक्त हो।

भागीदारी वाला प्रजातंत्र (Participatory Democracy) : ऐसी सरकार जिसमें चरम शक्ति जनसत्ता के हाथ में हो तथा जिसमें सरकार के कार्यकलापों में जनसाधारण का सक्रिय योग हो।

संस्था (Association) : समान हित के लिए जुड़ने वाले लोगों का संघ।

सार्वजनिक हित में की गई न्याय याचिका (Public Interest Litigation) : वंचित वर्गों और सामाजिक शोषण से त्रस्त लोगों को कानूनी की सुविधा प्राप्त हो सके, इसके लिए स्वैच्छिक संगठनों द्वारा किये गए उपायों को सार्वजनिक हित में की गई न्याययाचिका को (PIL) कहते हैं।

संकल्पवाद (Voluntarism) : उन व्यक्तियों की मंशाएँ या प्रेरणाएँ जिनको माना जाता है कि वे स्वेच्छा से कार्य करते हैं, न कि जो उसके अनुसार जो सामाजिक ढाँचा निर्धारित करता है।

28.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) राज्य का स्वरूप अन्य संस्थाओं के समान नहीं होता। यह अपने आप में एक अलग कोटि है। इसका कारण यह है कि राज्य की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं, संस्थाओं की नहीं होतीं। ये विशेषताएँ हैं : (क) क्षेत्र, (ख) प्रभुसत्ता, (ग) बल-प्रयोग की शक्ति।

2) समाज में राज्य होता है, इसलिए राज्य समाज की अपेक्षा छोटी इकाई है। दूसरी ओर, आपको ऐसा राज्य भी मिल सकता है जिसके क्षेत्र में कई समाज हों। समाज ऐसी अवधारणा है जिसमें एक ओर व्यक्तियों के बीच और दूसरी ओर व्यक्तियों तथा समूहों के बीच परस्पर विभिन्न वर्गों के बीच संबंधों की शृंखला होती है। इस अर्थ में, राज्य की अवधारणा का तात्पर्य केवल एक विशिष्ट प्रकार के संबंध से है न कि संबंधों की शृंखला से। स्पष्ट है कि राज्य तथा समाज अलग-अलग अवधारणाएँ हैं।

बोध प्रश्न 2

1) स्वैच्छिक संगठनों का निर्माण उनके सदस्यों की स्वतंत्र इच्छा से होता है। किंतु जहाँ तक, राज्य का संबंध है, इसमें रहने वाले सभी लोगों को, वे चाहें या न चाहें, राज्य का सदस्य होना पड़ता है। दूसरे, स्वैच्छिक संगठनों का अस्तित्व राज्य के दायरे में होता है और वे इसके विरुद्ध कार्य नहीं कर सकते। राज्य अपने क्षेत्र में कानून और व्यवस्था कायम रखने के लिए जिम्मेदार होता है और वह राज्य के लोगों के सामान्य कल्याण के लिए कार्यरत रहता है। स्वैच्छिक संगठन सामान्यतः, समाज के विशिष्ट वर्गों के विशिष्ट हितों के लिए कार्य करते हैं।

2)

स्वैच्छिक संगठन	**ग़ैर-सरकारी संगठन**
1) विज्ञान और पर्यावरण केंद्र	1) जन-कार्य और ग्रामीण प्रौद्योगिकी विकास परिषद् (कापार्ट)
2) कल्पवृक्ष	2) राष्ट्रीय बंजर भूमि बोर्ड
3) दिल्ली विज्ञान फोरम	3) केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड
4) लोकायन	4) नाबार्ड
5) बंबई प्राकृतिक इतिहास समिति	5) खादी ग्रामोद्योग आयोग

बोध प्रश्न 3

1) जो स्वैच्छिक संगठन विदेशी सहायता देने वालों से पैसे की माँग करते हैं या योगदान की अपेक्षा रखते हैं, उनके अपने पास निजी आय के कई साधन नहीं होते। ऐसी संस्थाएँ पैसे की राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय सहायता पर निर्भर करती हैं। विभिन्न मुद्दों के, विशेष रूप से पारिस्थितिक मामलों के सार्विकीकरण के कारण पारिस्थितिक दृष्टि से अधिक संतुलित विश्व के निर्माण के लिए हमारे लिए अपने संसाधनों और प्रयासों को इकट्ठा करके चलना अधिक अच्छा होगा।

2) राज्य से यह अपेक्षा करना कि वह समाज के किसी समूह की सभी समस्याओं का समाधान कर सकेगा, न तो यह उचित है और न ही यह राज्य के लिए संभव ही है कि वह समाज के किसी वर्ग की सभी समस्याओं का समाधान कर सके। इस दृष्टि से, यह नहीं कहा जा सकता है कि राज्य ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं का पहले ही समाधान कर लिया है। हमारे सामने इतनी अधिक समस्याएँ हैं कि राज्य और स्वैच्छिक संस्थाओं दोनों के प्रयास से मिलकर ही समाधान संभव होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

अग्रवाल, अनिल (1985) *ग्रेजिंग लैड्स : पीपल एण्ड एनवायरनमेंट द स्टेट ऑफ इंडियाज एनवायरमेंट 1984-85 दी सैकंड सिटीजन्स रिपोर्ट में,* सेंटर फॉर साइंस एण्ड एनवायरनमेंट: नई दिल्ली, पृष्ठ 3-15; पृष्ठ 157-162

अग्रवाल, अनिल, डैरिल डी मॉन्ट और उज्ज्वल समर्थ (1987) द *फाइट फॉर सरवाइवल : पीपल्स एक्शन फॉर एनवायरनमेंट*, सेंटर फॉर साइंस एण्ड एनवायरनमेंट : नई दिल्ली

अग्रवाल, अनिल और सुनीता नारायण (1985) *वूमैन एण्ड नैचुरल रिसोर्सेज़ सोशल एक्शन 35* (नंबर 4 अक्टूबर-दिसंबर), पृष्ठ 301-325

_____, (1989) *ग्रीनिंग इंडियाज़ विलेज़ेज : स्ट्रैटर्जी फॉर एनवायरनमेंटली साउंड पार्टीसिपेटरी रूरल डेवलपमेंट सेंटर फॉर साइंस एण्ड एनवायरनमेंट* : नई दिल्ली

अग्रवाल, पी.सी., *वेरिएबिलिटी एण्ड ट्रैड्स ऑफ एनुअल रैनफाल इन दी छत्तीसगढ़ रीजन,* मध्य प्रदेश, प्रोसिडिंग्स ऑफ दी सिम्पोजियम ऑन टॉपिकल मानसून्स, पॉवर : भारत प्रौद्योगिकी संस्थान्

अली, अलमास, (1980) *हैल्थ एण्ड न्यूट्रिशिनल स्टेटस ऑफ पौड़ी भूमियाँ ऑफ जलधि विलेज इन सुंदरगढ़ डिस्ट्रिक्ट, उड़ीसा,* द न्यूज़लैटर (जनजातीय विकास प्रभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार), 13 (एन-1), पृष्ठ 115-130

बालगोपाल, के. (1988) *प्रोबिंग्स इन द पॉलीटिकल इकनॉमी ऑफ़ अग्रेरियन क्लासेज़ एण्ड कॉनफ्लिक्ट्स,* पर्सपेक्टिव्स : हैदराबाद

बनर्जी, सुमंत, (1980), इन दे वेक ऑफ़ *नक्सलबाड़ी,* सुबर्णरेखा : कलकत्ता।

बनर्जी, तरुण कुमार (1980) *गिरिजन मूवमेंट इन श्रीकाकुलम* – 1967-70, सोसाइटी एण्ड चेंज, 1(4), अक्तूबर-दिसंबर

भांबरी, सी.पी. (1987) द *मॉडर्न स्टेट एण्ड वालैंटरी सोसाइटीज़, दी इंडियन जर्नल ऑफ़ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन,* xxxiii (3) : 395-398

भाटिया, बेला (1988) *ऑफिशियल ड्रॉउट रिलीफ मैज़र्स : ए केस स्टडी ऑफ़ गुजरात,* सोशल एक्शन, 38 (एन-2, अप्रैल-जून), पृष्ठ 138-161

बिश्वास, बी.सी. (1980) *इफैक्ट ऑफ़ फॉरेस्ट कवर ऑन रेल्फान डिस्ट्रिब्यूशन इन अंडमान एण्ड निकोबार आइलैंड्स,* मौसम, नंबर 1, जनवरी

चतुर्वेदी , एम.सी. और पीटर रॉजर्स (1985) *वाटर रिसोर्सेज सिस्टम्स प्लानिंग : सम केस स्टडीज़ फॉर इंडिया,* इंडियन ऐकेडमी ऑफ़ साइंस : बंगलौर

सी.पी.आर. (1985) *पीपल्स पार्टीसिपेशन एज़ ए की टु हिमालयन ईको-सिस्टम डेवलपमेंट,* सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च : नई दिल्ली

सी.एस.ई. (1985) द *स्टेट ऑफ़ इंडियाज़ एनवायरनमेंट, 1984-85 : दी सैकंड सिटीजन्स रिपोर्ट,* सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट : नई दिल्ली

सी.डब्ल्यू.सी. (1990) *डाइरेक्टरी ऑफ़ लार्ज डैम्स इन इंडिया* : केंद्रीय जल आयोग : नई दिल्ली

दांडेकर, वी.एम. और खुदानपुर, जी. जे. (1957) *वर्किंग ऑफ़ बॉम्बे टिनैंसी एक्ट, 1948, रिपोर्ट ऑफ़ इनवेस्टीगेशन,* महाराष्ट्र सरकार : बंबई

देसाई, ए.आर., (1979) (संपा.), *पैजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली

धनागरे, डी.एन. (1976) *पैज़ेंट प्रोटैस्ट एंड पॉलिटिक्स – द तेभागा मूवमेंट इन बेंगाल (इंडिया)* 1946-47, द जर्नल ऑफ़ पैजेंट स्टडीज़, 8(3), अप्रैल

_____, (1983) पैज़ेंट *मूवमेंट्स इन इंडिया* 1920-50, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली

ढेबर, यू.एन., (1961) रिपोर्ट ऑफ़ द शेड्यूल्ड कास्ट्स एंड शेड्यूल्ड ट्राइब्स कमीशन, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया प्रेस : नई दिल्ली

फर्नान्डेस, वॉल्टर, (1986) *कंस्ट्रक्शन वर्कर्स*, पॉवरलैसनैस एंड बौंडेज : द केस ऑफ़ द एशियन गेम्स, सोशल एक्शन, 36 (एन. 3, जुलाई-सितम्बर), पृष्ठ 264-291

_____, (1987) *ड्रॉउट इन इंडिया : इट्स कॉसेज़ एंड विक्टिम्स*, सोशल एक्शन 37 (एन. 4, अक्तूबर-दिसंबर), पृष्ठ 421-443

_____, (1988) द *ड्राफ्ट फोरेस्ट पॉलिसी* 1987 एंड द नेशनल वाटर पॉलिसी 1987, सोशल एक्सन, वॉल्यूम 38, नंबर 1, जनवरी-मार्च, पृष्ठ 84-94

_____, और एनाक्षी गांगुली ठुकराल (संपा.) (1989) *डेवलपमेंट, डिस्प्लेसमेंट एंड दि-हैब्लीटेशन : इशूज़ फॉर ए नेशनल डिबेट*, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट : नई दिल्ली

_____, और गीता मेनन, (1987) *ट्राइबल वूमैन एंड फॉरेस्ट इकोनॉमी : डिफॉरेस्टेशन, एक्सप्लॉयटेशन एंड स्टेटस चेंज*, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट : नई दिल्ली

_____, गीता मेनन और फ़िलिप विगस, (1988) *फॉरेस्टस, एनवायरनमेंट एंड ट्राइबल इकोनॉमी : डिफॉरेस्टेशन, इम्पावरिशमेंट एंड मार्जिनलाइजेशन इन उड़ीसा*, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट : नई दिल्ली

_____, और कुलकर्णी, एस., (1983) *टूवर्ड्स् ए न्यू फॉरेस्ट पॉलिसी*, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट : नई दिल्ली

गाडगिल, माधव, (1983) फॉरेस्ट्री विद ए सोशल पर्पज़ इन वॉल्टर फर्नान्डेस एंड शरद कुलकर्णी (संपा.) *टूवर्ड्स ए न्यू फॉरेस्ट पॉलिसी : पीपल्स राइट्स एंड एनवायरनमेंटल नीड*, इंडियन सोशल इंस्टीट्यूट : नई दिल्ली, पृष्ठ 111-133

_____, (1989) *डिफॉरेस्ट्टेशन : प्रॉब्लम्स एंड प्रॉस्पैक्ट्स, सोसाइटी फॉर प्रोमोशन* ऑफ़ वेस्टलैंड डेवलपमेंट : नई दिल्ली

गफ़, कैथलीन, (1974) *इंडियन पैज़ेंट अपराइजिंग, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल विकली*, 9(32-34), स्पेशल नंबर, अगस्त

गौडा, के. और श्रीधर, एम.वी., (1987) अर्बन *फॉरेस्ट्री एंड इम्पैक्ट ऑन एनवायरनमेंट : ए स्टडी ऑफ़ मैसूर सिटी, प्रमोद सिंह* (संपा.) इकोलॉजी अर्बन इंडिया, वॉल्यूम-II, आशीष पब्लिशिंग हाउस : नई दिल्ली

गुहा, रणजीत, (1983) द *प्रोज़ ऑफ़ काउंटर-इनसर्जंसी''*, रणजीत गुहा द्वारा संपादित सबऑल्टर्न स्टडीज़-II, ऑक्सफोर्ड प्रेस : नई दिल्ली

गुप्ता, आर., प्रवा बनर्जी और अमर गुलरिया, (1981) *ट्राइबल अनरेस्ट एंड फॉरेस्ट मैनेजमेंट इन बिहार*, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ मैनेजमेंट : अहमदाबाद

हर्डग्रेव, रॉबर्ट, जूनियर, (1977) द *मॉपिला रिबिलियन 1921 : पैज़ेंट रिवोल्ट इन मालाबार*, मॉडर्न एशियन स्टडीज़, 2 (1)

_____, (1981) *पैज़ेंट नेशनलिस्ट्स ऑफ़ गुजरात,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : नई दिल्ली

हैनिंघम, स्टीफ़न, (1982) *पैज़ेंट मूवमेंट्स इन कोलॉनिअल इंडिया, नॉर्थ बिहार 1917-1942,* ऑस्ट्रलियन नेशनल एशियन यूनिवर्सिटी : कैनबरा

जैन, शाभिता, (1984) *स्टैंडिंग अप फॉर ट्रिज,* यूनासिल्वा, 36(4) : 12-20

_____, (1988) *केस स्टडीज़ ऑफ़ फार्म फॉरेस्ट्री एण्ड वेस्टलैंड डेवलपमेंट इन गुजरात, इंडिया,* एफ.ए.ओ. : बैंककॉक

_____, (1993) *हैबीटट, ह्यूमन डिस्प्लेसमेंट एण्ड डेवलपमेंट कॉस्ट : ए केस-स्टडी,* रेलेवंट सोशियोलॉजी, अक्टूबर/नवम्बर अंक

जोधा, एन.एस. (1990) रूरल *कॉमन प्रॉपर्टी रिसोर्सेज़ : कॉन्ट्रीब्यूशन्स एंड क्राइसिज़* (16 मई, 1992 को स्थापना दिवस के अवसर पर दिया गया भाषण), सोसाइटी फॉर प्रमोशन ऑफ़ वेस्टलैंड्स डेवलपमेंट : नई दिल्ली

जोशी, गोपा, (1983) *फॉरेस्ट्स एंड फॉरेस्ट पॉलिसी इन इंडिया,* सोशल साइंटिस्ट, 11(1) : 43 : 52

कालिता, एस. और एस. के. शर्मा, (1981) *सेमिनार ऑन द स्टेट्स ऑफ़ एनवायरनमेंटल स्टडीज़ इन इंडिया* पर त्रिवेन्द्रम में हुए सेमिनार में प्रस्तुत लेख ''ए प्रॉबेबल इफैक्ट ऑफ़ डिफॉरेस्ट्टेशन ऑन द रेनफ़ाल क्लाइमेटॉलॉजी इन द अर्स्टब्हाइल लखीमपुर डिस्ट्रिक्ट ऑफ़ असम''

खुसरो, ए. एम., (1958) *इकोनॉमी एंड सोशल इफ़ैक्ट ऑफ़ जागीरदारी एबॉलिशन एंड लैंड रिफॉर्म इन हैदराबाद,* उस्मानिया विश्वविद्यालय प्रेस : हैदराबाद

कोठारी, आर., (1987) *वॉलेंटरी ऑर्गेनाइजेशन इन ए प्लूरल सोसाइटी, द इंडियन जर्नल ऑफ़ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन,* xxxiii(3) : 115-128

मूर, बैरिंग्टन, जूनियर, (1967) *सोशल ओरिजिन्स ऑफ़ डिक्टैटरशिप एंड डेमोक्रेसी,* एलन लेन : लंदन

मुखर्जी, मृदुला, (1979) *पैज़ेंट मूवमेंट इन पटियाला स्टेट 1937-48, स्टडीज़ इन हिस्ट्री,* 1(2), जुलाई-दिसम्बर

मुरिश्वर, जॉय और वाल्टर फ़नन्डिस, (1988) *मार्जिनलाइज़ेशन, कोपिंग मेकेनिज़्म एंड लौंग-टर्म सोल्यूशन्स ऑन ड्रॉउट,* सोशल एक्शन, वॉल्यूम 38, नंबर 2, अप्रैल-जून, पृष्ठ 162-178

नाग, बी.एस. और कठपालिया, जी.एन., (1975) *वाटर रिर्सोस ऑफ़ इंडिया, इन वाटर एंड ह्यमैन नीड्स,* जल संसाधनों पर हुए द्वितीय विश्व सम्मेलन के कार्यवृत्त, वॉल्यूम 2, सीबीआईपी : नई दिल्ली

नम्बूदिरिपाद, ई.एम.एस., (1943) *एक शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ द पैजैंट मूवमेंट इन केरल,* पीपल्स पब्लिशिंग हाउस : बंबई

एन.सी.ए., (1976) नेशनल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर वॉल्यूम 9 और 15, भारत सरकार सिंचाई मंत्रालय, नई दिल्ली

एन.सी.एच.एस.ई. (1986) *रिहैब्लीटेशन ऑफ़ डिस्प्लेस्ड पर्सन्स ड्यू टॅ कंस्ट्रक्शन ऑफ़ मेजर डैम्स, वॉल्यूम* I नेशनल सेंटर फॉर ह्यूमैन सेटेलमेंट्स एंड एनवायरनमेंट : नई दिल्ली

पणिक्कर, के.एन., (1979) ''पैजेंट, रिवोल्ट्स इन मालाबार इन द नानटिंथ एंड ट्ब्टिंयथ सेंचरीज़'' *इन पैज़ेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया,* ए.आर., देसाई द्वारा संपादित, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली

प्रसाद, गुरु, (1986) द ग्रेट स्ट्रगल, इन एग्रेरियन स्ट्रगल्स इन इंडिया आफ्टर इंडीपेंडेंस, ए. आर. देसाई द्वारा संपादित, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : नई दिल्ली

राव, वी.एम., (1992) लैंड रिफॉर्म एक्सपीरियेंसस : पर्सपेक्टिव फॉर स्ट्रेटजी इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, xxi/11 (26) : ए 30 से ए 64 तक

रॉय, एस.सी., (1931) द इफैक्ट्स ऑन द एबोरिजिनिस ऑफ़ छोटानागपुर एंड देयर कॉन्ट्रेक्टस विद वेस्टर्न सिविलाइज़ेशन, जर्नल ऑफ़ बिहार एंड रिसर्च सोसाइटी, 17(iv)

रॉय, एस.के., (1983) सोशल फॉरेस्ट्री, फॉर वूम? सामाजिक वानिकी पर हुई कार्यशाला में प्रस्तुत लेख, जुलाई 5-6, इंडियन एनवायरनमेंट सोसाइटी : नई दिल्ली

सेंट, किशोर, (1988) ड्रॉउट्स इन द अरावलीज़, सोशल एक्शन, वॉल्यूम 38, नंबर 2, अप्रैल-जून पृष्ठ 129-137

सेनगुप्ता, निर्मल, (1991) मैनेजिंग कॉन प्रॉपर्टी : इरिगेशन सिस्टम्स इन इंडिया इंड द फिलिपीन्स, सेज : नई दिल्ली

शाह, घनश्याम, (1990) सोशल मूवमेंट्स इन इंडिया : ए रिव्यू ऑफ़ द लिट्रेचर, सेज पब्लिकेशन्स : नई दिल्ली

सिद्दीकी, एम.एचत्र (1978) *एग्रेरियन अन्रैस्ट इन नॉर्थ इंडिया : द यूनाइटेड प्रोविसेज*, विकास पब्लिसिंग हाउस : नई दिल्ली

सिंह प्रमोद, (1987) *इकोलॉजी ऑफ़ अरबेन इंडिया, वॉल्यूम-II*, आशीष पब्लिकशंग हाउस : नई दिल्ली

सिंह, शेखर, आशीष कोठारी और कुलन अमीन (1992) इवेल्यूएटिंग मेजर इरिगेशन प्रोजेक्ट्स इन इंडिया, एनाक्षी गांगुली ठुकराल (संपा.) बिग डैक्स, डिस्प्लेस्ट पीपल्स : रिवर्स ऑफ़ सौरो, रिवर्स ऑफ़ चेंज, सेज पब्लिकेशन्स 1992, पृष्ठ 169-186 में

सिंहरॉय, डी.के., (1992) वूमैन इन पैज़ेंट मूवमेंट्स : तेभागा, नेक्सलाइट एंड आफ्टर मनोहर: नई दिल्ली

सुराणा, पुष्पेन्द्र, (1979) पैज़ेंट मूवमेंट स्टडीज़ : ए सोशोलॉजीकल एनालिन्सीस, इमर्जिंग साशोलॉजी, 1(1), जनवरी

_____, (1983) *सोशल मूवमेंटल एंड सोशल स्ट्रक्चर*, मनोहर : दिल्ली

विद्यार्थी, एल.पी., (1977) *द पैजेंट ऑर्गेनाइजेशन इन इंडिया,* सामाजिक और सांस्कृतिक अनुसंधान परिषद् : रांची।

चतुर्वेदी, टी.एन. (संपादक) (1987) स्पेशल नंबर ऑन वॉलंटरी ऑर्गनाइजेशन्स एंड डवलपमेंट, देयर रोल एंड फंक्शन्स (स्वैच्छिक संगठन और विकास के संबंध में विशेष अंक : इनकी भूमिका और कार्य।) *दी इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन,* 33 (3)

फ्रंडा, एम. (1983) *वालण्टरी एसोसिएशन्स एंड लोकल डवलपमेंट इन इंडिया,* यंग एशिया पब्लिकेशन्स : नई दिल्ली